1221

२

काव्यशास्त्रविमर्श

भाग-२

KĀVYAŚĀSTRAVIMARŚA

Part II

लेखक की अन्य प्रकाशित कृतियां :

१. भारतीय संस्कृति के आधार तत्व
२ अलङ्कारशास्त्र का इतिहास
३. वैदिक साहित्य का इतिहास
४. संस्कृत साहित्य का इतिहास
५. पं० अम्बिकादत्त व्यास - एक अध्ययन
६. ऋक्सूक्त-सुधाकर
७. ऋक्सूक्त-संग्रह
८. चतुर्वेद-सूक्त-संग्रह
९. वैदिक-सूक्त-संग्रह
१०. विषविज्ञान
११. पोषण के लिए खनिज और विटामिन
१२. संस्कृत-नाटक-सूक्तितरङ्गिणी
१३. छन्दोऽलङ्कारप्रकाश
१४. प्राचीन कथायें
१५. गढ़वाल के प्रमुख तीर्थ
१६. गढ़वाल के संस्कृत अभिलेख
१७. उदयनचरितम् (संस्कृत उपन्यास)
१८. ध्वन्यालोक व्याख्या
१९. अभिज्ञानशाकुन्तलम् व्याख्या
२०. प्रियदर्शिका व्याख्या
२१. प्रतिमानाटकम् व्याख्या
२२. हर्षचरितम् पञ्चम उच्छ्वास व्याख्या
२३. किरातार्जुनीयम् प्रथम सर्ग व्याख्या
२४. रघुवंशम् द्वितीय वर्ग व्याख्या
२५. रघुवंशम् त्रयोदश सर्ग व्याख्या
२६. कुसुमलक्ष्मी व्याख्या
२७. शिवराजविजय व्याख्या
२८. कुन्दमाला व्याख्या
२९. अस्ति कश्चिद् वागर्थीयम् (संस्कृत नाटक)
३०. संस्कृत नाटकों का भौगोलिक परिवेश
३१. Descriptive Catalogue of Sanskrta Manusripts Part I
३२. Descriptive Catalogue of Sanskrta Manusripts Part II
३३. Descriptive Catalogue of Sanskria Manusripts Part III
३४. संस्कृत नाटकों का वानस्पतिक पर्यावरण
३५. संस्कृत नाटकों का जीव-जगत्
३६. चौरपञ्चाशिका
३७. अस्ति कश्चिद् वाग्विशेष:
३८. अन्त:स्रावी ग्रन्थियां
३९. प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास
४०. तपोवनवासिनी (संस्कृत उपन्यास)
४१. तपोवनवासिनी (हिन्दी उपन्यास)
४२. केदारखण्ड पुराण (चार खण्डों में)
४३. मेघदूतानुशीलनम्
४४. गढ़वाल के प्राचीन अभिलेख एवं उनका ऐतिहासिक महत्त्व
४५. प्राचीन भारत की राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्थायें
४६. विधिपौरुषम् (संस्कृत उपन्यास)
४७. भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति
४८. भाग्य और पुरुषार्थ (हिन्दी उपन्यास)
४९. काव्याशास्त्रविमर्श: (संस्कृत)
५०. काव्याशास्त्रविमर्श (हिन्दी)

काव्यशास्त्रविमर्श

(हिन्दी अनुवाद)

भाग २

डा० कृष्णकुमार
एम.ए. साहित्याचार्य,
पी-एच.डी.,डी.लिट्.

मयंक प्रकाशन
मिश्राबाग, हनुमानगढी
कनखल (हरिद्वार)

काव्यशास्त्रविमर्श

KĀVYAŚĀSTRAVIMARŚA

(हिन्दी)

डा० कृष्णकुमार :

प्रकाशक:
मयंक प्रकाशन
मिश्रा बाग,हनुमानगढ़ी
कनखल (हरिद्वार)

२०००

मूल्य : ११७ [illegible]

मयंक प्रिन्टर्स
कनखल (हरिद्वार)

काव्यशास्त्रविमर्श

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ।।

काव्यशास्त्रविमर्श

भाग-२

(काव्यशास्त्रविमर्शः का हिन्दी अनुवाद)

Published with the
financial assistance
from the Rashtriya
Sanskrit Sansthan.

काव्यशास्त्रविमर्श

प्रस्तावना

भारतवर्ष के प्राचीन मनीषियों, विद्वानों और काव्यशास्त्र के प्रणेताओं ने काव्यशास्त्र का प्रवर्तन और निरूपण जिस उज्ज्वल प्रतिभा, व्युत्पत्ति, परिश्रम, अभ्यास और मनोयोग से किया था, वाणी द्वारा उसका वर्णन करना, प्रशंसा करना और लिखना असम्भव ही है। काव्य के प्रत्येक अंग की सम्पूर्ण रूप से विवेचना, गुणों और दोषों के स्वरूप का कथन और सर्वांग रूप से विश्लेषण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

भरत से लेकर वर्तमान समय तक काव्यों की समीक्षा का वैज्ञानिक रूप से सुस्पष्ट विकास जिस प्रकार भारतवर्ष में हुआ, विश्व साहित्य में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। इस सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय साहित्य का सर्वेक्षण और विश्लेषण इस स्वल्पकाय ग्रन्थ में मेरी स्वल्पविषया बुद्धि द्वारा यद्यपि असम्भव सा ही है, तथापि उसका प्रयत्न करने की धृष्टता मैंने की ही है। कालिदास के शब्दों में अज्ञानवश छोटी नौका द्वारा दुस्तर सागर को पार करने की इच्छा कर रहा हूँ।

लेखक का यह प्रयत्न है कि काव्य-समीक्षा के विषय में प्राचीन आचार्यों और काव्यशास्त्र के ज्ञाताओं ने जो प्रयत्न किये थे तथा जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे, उनका संग्रह एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया जावे। इससे काव्यशास्त्र के शिक्षक और छात्र उस विषय के साहित्य से सरलता से परिचित हो जायेंगे। अत: प्राय: प्राचीन सभी काव्यशास्त्रकारों और उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का परिचय इस ग्रन्थ में सम्मिलित कर दिया गया है। परन्तु उन आचार्यों का तथा उनके द्वारा प्रतिपादित विषयों का विस्तार से अध्ययन करने के लिये उन उन ग्रन्थों के अध्ययन की आवश्यकता होगी।

विषय को प्रस्तुत करने और समझने की सरलता की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विभाजन चार खण्डों में किया गया है। प्रत्येक खण्ड अनेक अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में अलङ्कारशास्त्र का सामान्य परिचय दिया गया है। इस खण्ड में दो अध्याय हैं। काव्यरचना का तथा काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रारम्भ कब और किस रूप में हुआ था, यह प्रथम अध्याय का विषय है। दूसरे अध्याय में शास्त्र के नामकरण पर विचार किया गया है। उसके बाद अन्य शास्त्रों के साथ काव्यशास्त्र के सम्बन्ध की समीक्षा की गई है।

द्वितीय खण्ड में काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों का सामान्य रूप से संक्षिप्त परिचय है। इनमें उन आचार्यों के महत्त्व, समय, जीवनवृत्त, रचनाओं, टीकाओं आदि विषयों पर लेखक ने संक्षेप से विचार किया है। इस खण्ड में ५१ आचार्य प्रस्तुत हुये हैं।

तृतीय खण्ड में काव्य के आत्मतत्त्व की समीक्षा है। काव्यशास्त्र के प्रवर्तन के प्रसंग में काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ था। इनके प्रवर्तक आचार्यों ने काव्य के विभिन्न तत्त्वों में काव्य के आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया था। इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्र में छः सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुये -

रस सम्प्रदाय, अलङ्कार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय। इस तृतीय खण्ड में इन सम्प्रदायों की समुचित समीक्षा की गई है और अन्तिम निष्कर्ष प्रतिपादित किया गया है।

चतुर्थ खण्ड काव्यशास्त्र के विविध विषयों से सम्बद्ध है। काव्य की समालोचना के लिये इसके विविध तत्त्वों का, काव्य के अंगों का विश्लेषण किया गया है। इस खण्ड में उन्हीं तत्त्वों का विचार हुआ है। काव्य के कुछ तत्त्वों -रस, अलङ्कार,रीति, वक्रोक्ति, औचित्य और ध्वनि तत्त्वों का निरूपण तो तृतीय खण्ड में हो ही चुका है। छः अध्यायों के इस चतुर्थ खण्ड में अवशिष्ट तत्त्वों - काव्य के प्रयोजन, हेतु, लक्षण, भेद, गुण और दोषों की विवेचना इस खण्ड में हुई है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र और शब्दव्यापार विषयों के अतिरिक्त सभी काव्यांगों और काव्य-तत्त्वों की समीक्षा सम्पन्न हो गई है। अत्यधिक विस्तार हो जाने के भय से, प्रकृत विषय में अनुपयोगी होने से और विषयान्तर हो जाने के कारण इन विषयों की यहां समीक्षा नहीं की गई । इन विषयों के अध्ययन के लिये अन्य ग्रन्थ के लेखन की अपेक्षा होगी।

इस ग्रन्थ के लेखन में अनेक प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों की सहायता लेखक ने ली है। इन ग्रन्थों की विस्तृत सूची परिशिष्ट ५ दी गई है। उन सब आचार्यों, लेखकों और ग्रन्थकारों के प्रति यह विनम्र लेखक अतिशय आभार और कृतज्ञता प्रकट करता है। उनके अध्ययन के विना इस ग्रन्थ का लेखन असम्भव ही होता।

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों के चरणों में ही लेखक की यह रचना समर्पित है, जिन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा, परिश्रम, व्युत्पत्ति और मनोयोग से काव्यशास्त्र की विविध धाराओं को प्रवर्तित किया था।

इस ग्रन्थ के गुण-दोषों की विवेचना विद्वानों की प्रतिभारूपी निकष के लिये अर्पित है।

दीपावली
कार्तिकी अमावस्या
नवम्बर ७, १९९९

विदुषां वंशवद
कृष्णकुमार

संस्तुतिः

बहु-आयामी व्यक्तित्व के धनी डा० कृष्णकुमार साहित्यशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् तथा जाने-माने समीक्षक हैं। वे अपनी सशक्त लेखनी से समाज को पचास से अधिक ग्रन्थ दे चुके हैं। इनमें प्रस्तुत ग्रन्थ **काव्यशास्त्रविमर्श** विषय तथा सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय है। यद्यपि इससे पूर्व इस विषय पर डा० पी० वी० काणे, सुशीलकुमार डे, बलदेव उपाध्याय, कन्हैयालाल पोद्दार आदि के ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। डा० ए. बी. कीथ ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर** के एक अध्याय में इस विषय का स्पर्श किया है। तथापि प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना वैशिष्ट्य है। इसमें लेखक ने काव्यशास्त्र से सम्बद्ध आचार्यों का समय निर्धारण तथा ग्रन्थ परिचय आदि ही प्रस्तुत नहीं किये, प्रत्युत प्रत्येक आचार्य का व्यक्तिगत वैशिष्ट्य, काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन और सभी विषयों का विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति से किया है। विभिन्न मतों की तुलना के अनन्तर अपने अनुसन्धान के आधार पर अपना मत प्रस्तुत किया है। इससे ग्रन्थकार की अनुसन्धायक प्रवृत्ति और सूक्ष्मदर्शिता का परिचय मिलता है। उदाहरण के लिये दण्डी व भामह की पूर्ववर्तिता का प्रसंग लिया जा सकता है। ध्वनिकार सम्बन्धी प्रश्न भी ऐसा ही है।

यह विस्तृत ग्रन्थ बहुत परिश्रम से रचा गया है। प्रथम चार खण्डों में विभक्त करके पुनः प्रत्येक खण्ड को अध्यायों में विषयानुसार बांटा गया है। प्रथम खण्ड में दो अध्याय हैं, जिनमें काव्यशास्त्र के उदय पर विचार हुआ है। द्वितीय खण्ड में इक्यावन अध्याय हैं। इनमें भरत से लेकर नरसिंह कवि तक कुल इक्यावन आचार्यों के समय, रचना व वैशिष्ट्य का विवेचन मिलता है। इनमें काव्यकल्पलताकार अमरचन्द व देवेश्वर को प्रथम बार स्थान मिला है। आशाधर भट्ट व सागरनन्दी जैसे अल्प चर्चित आचार्य भी इन में आ गये हैं। **चमत्कारचन्द्रिका** के रचयिता विश्वेश्वर कविचन्द्र और **साहित्यसुधाबिन्दु** के लेखक विश्वनाथदेव को भी, जिनका अन्य समीक्षकों ने आलोचन नहीं किया था, डा० कृष्णकुमार

ने इस ग्रन्थ में महनीय स्थान दिया है।

तृतीय खण्ड के सात अध्यायों में काव्य की आत्मा के प्रश्न पर विचार के पश्चात् काव्यशास्त्र के छः सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन है। चतुर्थ खण्ड के छः अध्यायों में से प्रथम में प्राच्य व प्रतीच्य दृष्टि से काव्य-प्रयोजन पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में काव्य-हेतु की परीक्षा की गई है। तृतीय में काव्य-लक्षण पर विचार हुआ है और उसमें मम्मट केन्द्र बिन्दु हैं। चतुर्थ में काव्य-भेद व काव्यों का वर्गीकरण विचारणीय है। पञ्चम अध्याय में काव्य-गुणों का तथा षष्ठ में काव्य-दोषों का विवेचन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र की समीक्षा के सभी तत्त्व प्रतिबिम्बित हैं। अन्त में पांच परिशिष्ट हैं, जिनमें क्रमशः ग्रन्थ में चर्चित लेखकों की कृतियों, कारिकाओं, गद्योक्तियों व उदाहरणों की अकारादि क्रम से सूची दी गई है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ केवल साहित्यशास्त्र का इतिहास न होकर उसके समस्त सम्बद्ध तत्त्वों का प्रतिपादक प्रामाणिक ग्रन्थ बन गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ काव्यशास्त्र का अध्ययन करने वालों के लिये बहुत अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं। काव्य-तत्त्वों के जिज्ञासु इसका अनुशीलन करके सरलता से उनसे परिचित हो सकते हैं। अनुसंधायकों के लिए तो यह अत्युपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ है, क्योंकि अपेक्षित समस्त सामग्री के साथ साथ प्रमाण व स्रोत-निर्देश सब इसमें ही प्राप्त हो जाते है।

जिस अकल्पनीय और अश्रान्त परिश्रम से ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है, उसके लिए वे समस्त संस्कृत प्रेमियों व साहित्य-सेवियों द्वारा अभिनन्दनीय हैं। मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि यह ग्रन्थ रत्न विद्वत्समाज और छात्र वर्ग में सदा ही अनुशीलनीय रहेगा।

शिवप्रसाद भारद्वाज
सेवां निवृत्त प्रोफेसर संस्कृत
विश्वेश्वरानन्द संस्कृत इन्स्टीट्यूट
साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब)

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

काव्यशास्त्र के प्राचीन प्रमुख आचार्य

तृतीय खण्ड

काव्य की आत्मा

चतुर्थ खण्ड

काव्यशास्त्र के विषय

प्रथम अध्याय - काव्य के प्रयोजन

काव्यशास्त्रविमर्श

काव्यशास्त्रविमर्श

प्रथम खण्ड

विषय-प्रवेश

प्रथम अध्याय

काव्य एवं काव्यशास्त्र का प्रादुर्भाव

साहित्य की विविध विधाओं में काव्य नामक विधा की रचना कवि के आन्तरिक भावों तथा संवेगों के प्रस्फुटित होने और बौद्धिक विकास के परिणामस्वरूप होती है। काव्य की रचना के लिए हृदयगत भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ परिष्कृत भाषा, विषय को प्रतिपादित करने के लिये कवि की प्रवृत्ति आदि इन सभी तत्त्वों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। किसी भी तत्त्व के न होने पर काव्य की रचना नहीं हो सकेगी। काव्य की रचना के लिए अनिवार्य इन तत्त्वों की उपस्थिति प्राचीनतम काव्यों में भी परिलक्षित होती है। प्राचीन भारत में काव्य-रचना का विकास इस परिप्रेक्ष्य में, संक्षेप से देखना उपयोगी भी है और रोचक भी।

१. काव्य-रचना का प्रारम्भिक युग

हजारों वर्षों की अवधि व्यतीत हो गई होगी, जबकि ऋषि विश्वामित्र अपने अनुयायियों सहित शतद्रु और विपाशा के संगम पर पहुंचे थे। नदियों की उमड़ती जल की राशि का अवलोकन करके उनके हृदय के भाव उमड़ पड़े और सहसा कविता प्रवाहित होने लगी -

> प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
> गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।।

ऋग्वेद ३.३३.१।।

पर्वतों की गोदी से निकलती हुई और समुद्र की ओर जाने की कामना करती हुई, खुली हुई दो घोड़ियों के समान, हंसी से खिलखिलाती हुई, बछड़ों वाली दो शुभ्र गौओं के समान चाटने की इच्छा करती हई ये विपाशा और शुतुद्री नदियां अपनी जलधारा से वेग के साथ जा रही हैं।

'ऋग्वेद' के इस मन्त्र में उत्तम काव्य के सभी तत्त्व निहित हैं। इसमें शृङ्गार और वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति है, माधुर्य गुण है तथा सामाजिक सहृदय जन उपमा अलङ्कार के चमत्कारिक सौन्दर्य का अनुभव करते हैं।

'ऋग्वेद' यद्यपि आर्य जाति का मूल धर्मग्रन्थ है, तथापि इसमें काव्यात्मक सौन्दर्य बहुत अधिक है। रस, गुण, अलङ्कार आदि के सौन्दर्याधायक तत्त्व इसमें बहुधा दृष्टिगोचर होते हैं। यथा -

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्ये उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।।[१]

उदय होते हुये प्रातःकालीन सूर्य की शोभा को देख कर दीर्घतमा के पुत्र कक्षीवान् ऋषि के ये उद्‌गार काव्य के रूप में प्रस्फुटित हो गये थे। इस मन्त्र में चार चमत्कारिणी उपमायें तो हैं ही, उसके साथ शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति होती है तथा सामाजिक सत्य भी प्रकट होता है।

इसी प्रकार से गौतम ऋषि ने जब उदय होती हुई उषा के सुन्दर दृश्य को देखा, तो यह उषा उनको सुन्दर वस्त्राभूषण पहने हुये और वक्ष को खोले हुये नर्तकी के समान प्रतीत हुई। यह उषा सारे संसार को प्रकाश देने वाली है। यह उसी प्रकार गति करती है, जैसे गौयें अपने गोष्ठ में जाती हैं -

अधिपेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव वर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः।।

ऋग्वेद १.९२.४।।

'ऋग्वेद' का निम्न मन्त्र अपने अतिशयोक्ति अलङ्कार के तथा गहन भावों की अभिव्यक्ति के लिये बहुत प्रसिद्ध है -

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षमभिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।ऋग्वेद १.१६४.२०।।

इस मन्त्र में रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार का सौन्दर्य निहित है। यहां आत्मा, परमात्मा और प्रकृति, इन तीन उपमेयों के लिये दो सयुजा पक्षी एवं पिप्पल इन तीन उपमानों का कथन किया गया है। इन उपमानों ने उपमेयों का निगरण कर लिया है, अतः यहां अतिशयोक्ति अलङ्कार है[२]। रसगंगाधरकार जगन्नाथ ने भी इस अतिशयोक्ति की प्रशंसा की है।[३] इस मन्त्र में केवल अतिशयोक्ति अलङ्कार ही नहीं है, अपितु अनुप्रास अलङ्कार की छटा के साथ विभावना एवं विशेषोक्ति अलङ्कार भी हैं। यहां माधुर्य गुण है और पदद्योत्य ध्वनि है, जिसमें आत्मा तथा परमात्मा की नित्यता एवं चेतनता अभिव्यक्त होती है। इसी प्रकार की सौन्दर्य सम्पन्न अतिशयोक्ति का वर्णन निम्न मन्त्र में भी होता है -

चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आ विवेश।।

ऋग्वेद ४.५८.३।।

इस मन्त्र में वामदेव ऋषि ने वृषभ के वर्णन द्वारा वेद, सूर्य, यज्ञ, महादेव आदि का वर्णन किया है, जिससे यहां रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार स्पष्ट रूप से अवभासित होता है।

श्लेष अलङ्कार का सौन्दर्य निम्न मन्त्र में बहुत चमत्कारपूर्ण है -

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमंनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश।।

ऋग्वेद १.१६४.२१।।

इस मन्त्र के दो अर्थ किये जाने से यहां श्लेष अलङ्कार है। एक अर्थ आध्यात्मिक और दूसरा अर्थ आधिभौतिक है। आध्यात्मिक अर्थ प्रकृति आदि विषय का वर्णन करता है और आधिभौतिक अर्थ में पक्षी-वृक्ष आदि का वर्णन है। इन दोनों ही अर्थों में काव्यत्व निहित है।

'ऋग्वेद' में प्रकृति, अध्यात्म आदि विषयों के वर्णन करने में तो काव्यत्व निहित है ही, लोक के व्यावहारिक विषयों के वर्णन करने में भी काव्यत्व के दर्शन होते हैं। इसका एक बहुत सुन्दर उदाहरण दसवें मण्डल का अक्ष सूक्त है। ऐलूष कवष ऋषि कहते हैं कि अक्षफलक पर फैंके हुए पांसे जुआरी को उसी प्रकार उन्मत्त बना देते हैं, जिस प्रकार सोमरस का पान करने से उन्माद हो जाता है -

प्रावेपा: मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेऽजा इरिणे वर्वृताना:।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो बिभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्।।

ऋग्वेद १०.३४.१।

जुआ खेलने से उत्पन्न जुआरी की अवस्था का काव्यमय भाषा में वर्णन निम्न मन्त्र में है -

द्वेष्टि श्वश्रूरपजाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्।।

ऋग्वेद १०.३४.३।।

जुआरी की सास उससे द्वेष करती है और उसकी पत्नी उसको ढकेल देती है। प्रार्थना करने पर भी वह किसी सुख देने वाले को पाता नहीं है। बेचने योग्य बूढे घोड़े के समान वह जुआरी जीवन में किसी भोग के आनन्द को नहीं पाता है।

मनोमोहक सुन्दर काव्य की रचना का विकास अति प्राचीन काल में, ऋग्वैदिक युग में ही हो गया था, इसके प्रमाण प्राय: सम्पूर्ण 'ऋग्वेद' के मन्त्रों में मिलते हैं। काव्य-साहित्य की अधिष्ठात्री देवी के रूप में वाग् देवता की प्रतिष्ठा भी उस युग में हो चुकी थी। ऋषिगण वाणी के द्वारा ही सशक्त, नवीन और विजयप्रद मन्त्रों की रचना किया करते थे -

प्रतव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे।
अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः।।
ऋग्वेद १.१४३.१।।

'ऋग्वेद' के उत्तर काल में यह वाग् देवता अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा भी अधिक सामर्थ्य से युक्त समझी जाने लगी थी। यह वाग् देवता अन्य देवताओं - रुद्रों, वसुओं, आदित्यों, विश्वेदेवों, मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी, सोम, त्वष्टा, भग आदि सभी देवताओं की धारक थी। इस वाग् देवता को सभी धनों की अध्यक्षा, उनको प्राप्त कराने वाली तथा यज्ञों में पूजनीय व्यक्तियों का अन्वेषक समझा जाता था। देवताओं ने इसको अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से कल्पित किया था -

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यविशयन्तीम्।।
ऋग्वेद १०.१२५.३।।

'ऋग्वेद' में काव्यत्व का यह विकास केवल मुक्तक काव्य के रूप में ही नहीं हुआ, अपितु प्रबन्ध काव्य के रूप में भी विकास के बीज उगने लगे थे। 'ऋग्वेद' में अनेक सूक्त ऐसे हैं, जिनमें कथानक के तत्त्व निहित हैं, तथा जिन कथानकों का विकास उतरवर्ती युग में ब्राह्मणों, पुराणों, 'रामायण', 'महाभारत' आदि में देखा जा सकता है।

'ऋग्वेद' के नदी सूक्त (३.३३) में विश्वामित्र और नदियों का रोचक संवाद है; यम सूक्त (१०.१०) में यम और यमी का संवाद है; सरमा (१०.१०८) सूक्त में सरमा और पणियों का संवाद है। अन्य सूक्तों में भी अनेक संवाद उपलब्ध होते हैं। जैसे कि १.१६५ सूक्त में इन्द्र, मरुतों और अगस्त्य का संवाद है; १.१७९ सूक्त में अगस्त्य, उसके शिष्य तथा लोपामुद्रा का संवाद है; ४.१८ सूक्त में इन्द्र, अदिति और वामदेव का संवाद है; ७.३३ सूक्त में वसिष्ठ, उसके पुत्र और इन्द्र का संवाद है; ८.१०० सूक्त में नृमेध और इन्द्र का संवाद है; १०.२८ सूक्त में इन्द्र और वसुक्र की पत्नी का संवाद है; १०.५१-५३ सूक्तों में देवताओं और अग्नि में संवाद है; ८.८६ सूक्त में इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि का संवाद है। इन संवादों की पृष्ठभूमि में कुछ कथानक निहित हैं। इनमें अनेक कथानकों का विकास उत्तरवर्ती साहित्य में प्रबन्ध काव्य के रूप में हुआ है।

'ऋग्वेद' का सबसे रोचक और चमत्कारपूर्ण संवाद पुरूरवा-उर्वशी संवाद (१०.९५) है, जिसमें नायक-नायिका पुरूरवा-उर्वशी की प्रणयगाथा की प्रभु ने कल्पना की। इस संवाद का प्रबन्ध काव्य के रूप में उज्ज्वल विकास 'शतपथ ब्राह्मण' और 'महाभारत' में दृष्टिगोचर होता है। कालिदास ने इससे महान् प्रेरणा प्राप्त करके 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक मनोरम नाटक लिखने की कल्पना की।

'ऋग्वेद' में काव्य, कविता आदि शब्दों के प्रयोग भी अनेक स्थानों पर मिलते हैं। अग्नि को सभी काव्यों का ज्ञाता कहा गया है[४]। गाथा पद का प्रयोग भी 'ऋग्वेद' में हुआ है[५]। 'ऋग्वेद' में अनेकों पद उत्तम ध्वनि काव्य की रचना के द्योतक हैं, जो उन मन्त्रों की काव्यात्मक शैली के अभिव्यञ्जक हैं।

'ऋग्वेद' के पश्चात् अन्य वेदों -'सामवेद','यजुर्वेद' और 'अथर्ववेद' में भी काव्यात्मक रूप के दर्शन होते हैं। 'यजुर्वेद' के निम्न मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा तथा यमक अलङ्कारों का सुन्दर विन्यास है -

सप्त तेऽग्ने समिधः सप्तजिह्वा सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त होता सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा।।

यजुर्वेद १७.७९।।

'यजुर्वेद' में न केवल अर्थालङ्कारों की, अपितु शब्दालङ्कारों की शोभा भी स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होती है -

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योष्मिांश्च।
शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यꣳहा।। यजुर्वेद १७.८०।।
ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च।
मितश्च संमितश्च सभराः।। यजुर्वेद १७.८१।।

'अथर्ववेद' में आख्यानात्मक काव्य तो प्रायः नहीं हैं, तथापि काव्य के तत्त्व यत्र-तत्र अवश्य प्राप्त होते हैं। इस वेद के पहले काण्ड के पहले सूक्त में ही वाणी के पति वाचस्पति से प्रार्थनायें की गई हैं। इसका पहला मन्त्र स्वयं में काव्यत्व से परिपूर्ण है -

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।। अथर्ववेद १.१.१।।

'अथर्ववेद' के अप्सरा सूक्त, राष्ट्र सूक्त, सूर्या सूक्त आदि काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। 'अथर्ववेद' के अनुसार वेद उस परमात्मा के काव्य हैं। वे न तो कभी नष्ट होते हैं तथा न कभी जीर्ण होते हैं[६]।

वेदों की रचना के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेक काव्यमयी रचनायें हैं। इनमें अनेक आख्यान भी हैं, जो उस युग की उत्तम काव्य-रचना को प्रस्तुत करते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' की मनु-मत्स्य कथा, पुरूरवा-उर्वशी कथा एवं अन्य विभिन्न कथोपकथन इसके उदाहरण हैं।'शतपथ ब्राह्मण' में[७] नारी-सौन्दर्य के आदर्शों को ऋषियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जिसको कि उत्तरवर्ती संस्कृत कवि भी अपनी रचनाओं में मान्यता देते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित विभिन्न यज्ञों - अश्वमेध, राजसूय यज्ञ आदि में इस प्रकार की क्रियाओं और कर्मकाण्डों में अभिनयों का वर्णन है, जिनसे प्रमाणित होता है कि

उस युग में उत्तम काव्यों की सृष्टि हुई थी।

'वाजसनेयिसंहिता' (३०.६) में तथा 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (३.४.२) में सूत को नृत्य का एवं शैलूष (नट) को गीत का उपदेश दिया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में (७.१८.१०) शुनःशेप की कथा आती है, जिसको शौनःशेपांख्यान नाम दिया गया है। विधान के अनुसार होता पुरोहित इस कथा का गान राजसूय यज्ञ में किया करता था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (३.२५.१) में सौपर्णाख्यान भी दिया गया है।

उपनिषदों में यद्यपि भारतीय दर्शन के विविध पक्षों का उपदेश मिलता है, तथापि उसमें काव्य के तत्त्व न हों, ऐसा नहीं है। 'कठोपनिषद्', 'मुण्डकोपनिषद्' 'छान्दोग्य उपनिषद्' आदि में काव्यत्व के उत्तम उदाहरण हैं। निम्न मन्त्रों में रूपक अलङ्कार का मनोहारी सन्निवेश है -

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि।।

मुण्डकोपनिषद् २.२.३।।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव वा।। कठोपनिषद् १.३.३।।

वेदों में काव्यत्व का विकास हुआ था, इस तथ्य को उत्तरवर्ती मुनियों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। भरत मुनि के अनुसार नाट्य के सभी तत्त्वों को चारों वेदों से ग्रहण किया गया था। 'ऋग्वेद' से पाठ्य, 'सामवेद' से गीत, 'यजुर्वेद' से अभिनय और 'अथर्ववेद' से रसों को ग्रहण करके ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना की थी[९]।

२. लौकिक संस्कृत में काव्य-रचना का प्रारम्भ

लौकिक संस्कृत में काव्य की रचना के प्राचीनतम रूप 'रामायण' और 'महाभारत' हैं। संस्कृत के उत्तरवर्ती काव्य-साहित्य पर इनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है तथा ये इन काव्यों के उपजीव्य काव्य बन गये हैं। उत्तरवर्ती संस्कृत काव्यों के लिये प्राचीन युग की तीन रचनायें मुख्य उपजीव्य बन गई थीं - 'रामायण', 'महाभारत' और 'बृहत्कथा'।

इनमें 'रामायण' और 'महाभारत' तो मूल रूप से उपलब्ध हैं, परन्तु 'बृहत्कथा', जो कि पैशाची प्राकृत में लिखी गई थी, मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। वह लुप्त हो चुकी है। इसके संस्कृत रूपान्तर ही वर्तमान समय में प्राप्त होते हैं।

'रामायण' को संस्कृत का आदि काव्य कहा जाता है तथा इसके रचयिता वाल्मीकि को आदि कवि। वाल्मीकि का यह आदि काव्य उत्तरवर्ती कवियों के लिये प्रेरणा का महान् स्रोत रहा। दशरूपककार ने नाटककारों को यह सम्मति दी थी कि वे नाटक

की कथावस्तु के स्रोत को, 'रामायण' और 'बृहत्कथा' से ग्रहण करें[९]।

वाल्मीकि को काव्य लिखने की प्रेरणा किस प्रकार प्राप्त हुई, इसका भी अपना अद्‌भुत इतिहास है। वाल्मीकि के हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई कि किसी अद्‌भुत वीर, पराक्रमी, सदाचारी, संयमी, कान्तिमान् पुरुष को नायक बना कर काव्य की रचना की जावे। उन्होंने इस सम्बन्ध में नारद जी से परामर्श किया। नारद जी ने बताया कि इस प्रकार के गुणों से युक्त पुरुष तो इस समय इक्ष्वाकुवंशी राम ही दृष्टिगोचर होते हैं।

नारद जी को विदा करके वाल्मीकि तमसा नदी पर स्नान करने के लिए गये। वहां उन्होंने विहार करते हुए क्रौञ्च पक्षियों के एक युगल को देखा। उसी समय एक व्याध ने वाण के प्रहार से नर क्रौञ्च का वध कर दिया। क्रौञ्च को रुधिर से संलिप्त, भूमि पर गिरा देख कर क्रौञ्ची विलाप करने लगी। इस भयानक दृश्य को देख कर वाल्मीकि के मुख से अनायास ही यह श्लोक निकल गया -

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ रामायण १.२.२५॥

यह श्लोक लौकिक संस्कृत काव्य की प्रथम रचना थी। इससे पूर्व छन्दोबद्ध रचनायें केवल वैदिक संस्कृत में हुआ करती थीं। तमसा नदी से लौट कर भी वाल्मीकि की चेतना उसी शोक से व्याप्त रही और विस्मय से विमुग्ध वे सोचते रहे कि उनके मुख से यह कौन सी वाणी प्रस्फुटित हुई है। उसी समय ब्रह्मा जी वहां उपस्थित हुये। शोक और श्लोक के चमत्कार से समाधिस्थ से वाल्मीकि से उन्होंने कहा -

"मेरी ही प्रेरणा से तुम्हारे हृदय से इस श्लोक का प्रस्फुटन हुआ है। तुम इसी छन्द में श्रीराम के इस चरित्र का गान करो, जिसका वर्णन नारद ने आज किया है।" तब वाल्मीकि ने योगशक्ति से समाधिस्थ होकर राम के चरित का साक्षात्कार किया तथा 'रामायण' की रचना की।

संस्कृत-साहित्य के प्रायः सभी समालोचकों ने यह प्रतिपादित किया है कि उपर्युक्त श्लोक लौकिक संस्कृत का प्रथम छन्दोमय काव्य है। 'आनन्दवर्धन' का कथन है कि काव्य में अभिव्यक्त रसरूप अर्थ ही काव्य की आत्मा है, जैसा कि आदि कवि वाल्मीकि का शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हो गया था[१०]। स्वयं 'रामायण' के रचयिता वाल्मीकि ने इस श्लोक की व्याख्या ब्रह्मा के मुख से इसी प्रकार कराई कि वाल्मीकि का यह शोक, श्लोक के रूप में परिणत हुआ[११]।

उद्देश्य, स्वरूप, विषय आदि की दृष्टि से 'रामायण' में काव्य के सभी तत्त्व निहित हैं। इसमें वर्णनों की प्रचुरता है और कल्पनाओं की ऊंची उडानें हैं। समुद्र, ऋतु, आकाश, सूर्योदय, सूर्यास्त, वन, पर्वत, युद्ध आदि के कल्पनामय चित्रण सहृदयों के मनों

को अभिभूत करने में समर्थ हैं। इसमें करुण रस प्रधान है और अन्य रस अङ्गभूत हैं। सभी रसों की इसमें यथास्थान निष्पत्ति होती है। समालोचकों ने 'रामायण' के श्लोकों को काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। जैसा कि 'रामायण' का एक श्लोक ध्वनिकार ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के उदाहरण के रूप में 'ध्वन्यालोक' में प्रस्तुत किया है[१२]।

'रामायण' को करुण रस प्रधान काव्य कहा गया है। आलङ्कारिकों का मत है कि काव्य में एक रस को अङ्गी रूप से और अन्य रसों को अङ्ग रूप से निबद्ध करना चाहिये। यद्यपि 'रामायण' में सभी रसों की निष्पत्ति होती है, तथापि प्रधान रस करुण ही है। ध्वन्यालोककार का कथन है -

"शोकः श्लोकत्वमागतः" कहते हुये आदि कवि ने 'रामायण' में करुण रस को निबद्ध किया तथा सीता के वियोग पर्यन्त प्रबन्ध की रचना करते हुये उन्होंने इसका निर्वाह किया[१३]।

काव्य-रचना के प्रारम्भिक युग में 'महाभारत' का महत्त्व है। यद्यपि यह काव्य होने के साथ ही इतिहास और धर्मशास्त्र भी है, तथापि इसमें काव्य के सभी तत्त्व निहित हैं। उत्तरवर्ती कवियों के लिए इस काव्य ने उपजीव्य के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। स्वयं महाभारतकार ने भी इसका संकेत दिया था[१४]।'महाभारत' में धर्मशास्त्र और इतिहास की प्रधानता होते हुये भी समालोचकों ने इसको काव्य माना। 'ध्वन्यालोक' में 'महाभारत' के अन्तर्गत 'भगवद्गीता' प्रकरण के निम्न श्लोक को 'आनन्दवर्धन' ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के वाक्यप्रकाशता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है -

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूताति सा निशा पश्यतो मुनेः।।

यहां वाक्यप्रकाशता को स्पष्ट करते हुये आनन्दवर्धन ने लिखा है -

"अनेन वाक्येन निशार्थो न च जागरणार्थः कश्चिद् विवक्षितः। किं तर्हि? तत्त्वज्ञानावहितत्वम् अतत्त्वपराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्याऽस्य व्यञ्जकत्वम्"[१५]।

अर्थात्, इस वाक्य से निशा का रात्रि अर्थ और जागरण का जागना अर्थ विवक्षित नहीं है। तो क्या विवक्षित है ? मुनि तत्त्वज्ञान की ओर अवहित रहते हैं तथा अतत्त्व की ओर से पराङ्मुख रहते हैं, यह अर्थ प्रतिपादित होता है। इस प्रकार यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि की व्यञ्जकता है।

'महाभारत' के काव्यत्व के अन्य भी अनेक उदाहरण काव्यशास्त्रियों ने दिये हैं। विरोधी रसों को अङ्गाङ्गी भाव से प्रस्तुत करने से उनमें विरोध नहीं रहता, इसके

उदाहरण के रूप में मम्मट ने 'महाभारत' के एक श्लोक को प्रस्तुत किया है[१६]। इसी प्रकार अर्थशक्तिमूलध्वनि के प्रबन्धगत भेद के उदाहरण के रूप में 'काव्यप्रकाश' में 'महाभारत' के निम्न गृध्र-गोमायु संवाद को दिया गया है -

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले।
कंकालबहले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे।।
न चेह जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी।।
आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम्।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन।।
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम्।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः।।

काव्यप्रकाश ४.४२ का उदाहरण।

ध्वनिकार ने प्रबन्धकाव्य के रूप में 'महाभारत' के काव्यत्व को स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया है, परन्तु साथ ही वे इसको शास्त्र और काव्य दोनों की छाया बताते है तथा इसको शान्त रस प्रधान काव्य कहते हैं[१७]।

'रामायण' तथा 'महाभारत' के अनन्तर भी काव्य की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही। 'अष्टाध्यायी' के रचयिता पाणिनि ने भी काव्य की रचना की थी, यह प्रसिद्ध है। पाणिनि के **"अधिकृत्य कृते ग्रन्थे"** (अष्टाध्यायी ४.३.८७) सूत्र तथा इस पर लिखी **"लुबाख्यायिकेभ्यो बहुलम्"** वार्तिक से स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व लौकिक संस्कृत में काव्यों की रचना की जाती रही थी। पाणिनि के एक काव्य 'पातालविजय' का उल्लेख 'रुद्रट' के टीकाकार नमिसाधु ने किया[१८] है। अपने मत की पुष्टि के लिये उसने पाणिनि-कृत 'पातालविजय' काव्य के श्लोकों को उद्धृत किया। राजशेखर ने लिखा है -

"वैयाकरण पाणिनि ने 'जाम्बवतीजय' नामक काव्य की रचना की थी[१९]।" शास्त्रीय ग्रन्थों में उदाहरणों के रूप में तथा 'सूक्तिमुक्तावली' आदि संग्रह ग्रन्थों में पाणिनि के नाम से कुछ श्लोक उद्धृत हुये हैं। कुछ श्लोक निम्न हैं -

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्।।
ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरदद्धानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार।।

पाणिनि के पश्चात् वररुचि (कात्यायन) ने भी काव्यों की रचना अवश्य की थी। इनके एक काव्य का नाम 'स्वर्गारोहण' था। इसके लिये पतञ्जलि ने **"वाररुचं**

काव्यम्" कह कर उल्लेख किया है[२०]। पतञ्जलि ने इसके साथ कुछ श्लोकों को उद्धृत करके उनकी व्याख्या की है। इन श्लोकों को कैयट ने कात्यायन रचित माना है। समुद्रगुप्त ने 'कृष्णचरित' में वररुचि के इस काव्य का उल्लेख किया है[२१]।

'महाभारत' में "लुबाख्यायिकेभ्यो बंहुलम्" वार्तिक की व्याख्या करते हुये पतञ्जलि ने 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' नामक तीन आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि पतञ्जलि से पूर्व आख्यायिकाओं की रचना प्रारम्भ हो गई थी। पतञ्जलि ने भी सम्भवत: एक महाकाव्य की रचना की थी, जिसका नाम 'महानन्द' था। समुद्रगुप्त ने 'कृष्णचरित' की प्रस्तावना में इसका उल्लेख किया है[२२]।

पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' में 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक काव्यों का उल्लेख करके उनके अभिनय की बात कही है। 'महाभाष्य' में पूर्ववर्ती अनेक कवियों के उद्धरणों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा इनमें विलक्षण काव्यगत सौन्दर्य है। 'महाभाष्य' के अनेक उदाहरण स्वयं काव्य रूप हैं। यथा - **"उपमानानि सामान्यवचनै:"** सूत्र की व्याख्या में निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया गया है -

"चन्द्रमुखी देवदत्तेति बहवश्चन्द्रे गुणा या चासौ प्रियदर्शना सा गम्यते।"

'महाभारत' के समय तक रूपकों की रचना तथा उनके अभिनय का पर्याप्त प्रचलन हो चुका था, यह सिद्ध है। महाभाष्यकार ने नाटकों की रचना के संकेत तो दिये ही हैं, अभिनय से सम्बन्धित तथ्य भी दिये हैं। अभिनेताओं की पत्नियों का उन्होंने इस प्रकार उल्लेख किया है -

"व्यजनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। नटानां स्त्रियो रङ्गं गता यो य: पृच्छति कस्य यूयं तं तं तवेत्याहु:।"

"आख्यातोपयोगे" (पाणिनीय सूत्र १.४.२९) पर भाष्य करते हुये पतञ्जलि लिखते हैं-

"यदारम्भका रङ्गं गच्छन्ति नटस्य श्रोष्याम: ग्रन्थिकस्य श्रोष्याम:"।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि पतञ्जलि के समय तक काव्यों की रचना का, दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार की काव्य-रचना का अच्छा विकास हो चुका था।

पतञ्जलि के अनन्तर काव्यों की रचना का विकास सुन्दर और उज्ज्वल रूप में हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं है । इस उत्तरवर्ती युग के अनेक सुन्दर काव्य कालिदास, शूद्रक, अश्वघोष, भारवि, सुबन्धु, बाण, माघ, दण्डी, हर्ष, भवभूति, राजशेखर आदि श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं के रूप में उपलब्ध हैं। काव्यों की रचना की इस विकसित परम्परा से यह भी स्पष्ट है कि इनके साथ-साथ काव्य-रचना के सिद्धान्तों तथा साहित्यिक समालोचना के सिद्धान्तों की रचना भी आरम्भ हो गई होगी। काव्यशास्त्र के

इतिहास में ईसा से पूर्व काव्य-रचना की विकसित परम्परा के वर्णन करने का अभिप्राय यही है कि इससे यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य की रचना के साथ ही काव्य-रचना के तथा साहित्य की समालोचना के सिद्धान्तों का निर्माण भी स्वाभाविक रूप से प्रारम्भ हो गया होगा। अर्थात् काव्य-रचना के इसी युग में काव्यशास्त्र की रचना भी प्रारम्भ हो चुकी होगी। अब अगले प्रकरण में, संक्षेप से, काव्यशास्त्र की रचना के प्रारम्भ को समझाया गया है।

३.काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की रचना का आरम्भ तथा भरत से पूर्व के आचार्य

भारतीय काव्यशास्त्र की रचना का आरम्भ कब से हुआ, इसको निश्चित करना बहुत सरल नहीं है। काव्यशास्त्र से सम्बन्धित सबसे प्राचीन जो ग्रन्थ हमको उपलब्ध है, वह भरत का 'नाट्यशास्त्र' है। इसको भी पूर्णरूप से काव्यशास्त्र का ग्रन्थ कहना कठिन है। वस्तुतः, इसमें रूपकों का ही विशेष रूप से निरूपण किया गया है। नाट्य के सम्बन्ध से जिन रस, गुण, अलङ्कार आदि तत्त्वों का समावेश हो सकता था, वह इसमें किया गया है।

भरत के पश्चात् विशुद्ध रूप से काव्यशास्त्र पर जिस ग्रन्थ की रचना हुई थी और जो हमको उपलब्ध है, वह भामह का 'काव्यालङ्कार' है। भरत से पूर्व यदि किसी ग्रन्थ में काव्यशास्त्र का कुछ संकेत मिलता है, तो वह यास्क का 'निरुक्त' है। इसमें उपमा का यत्किञ्चित् विवेचन किया गया है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' और पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में भी इस विषय पर कुछ विचार हैं।

भरत से पूर्व काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की रचना न हुई हो, ऐसा नहीं है। यह हो सकता है कि वे ग्रन्थ इस समय हमको उपलब्ध न होते हों। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में काव्यशास्त्र के उद्‌गम पर प्रकाश डाला है। यद्यपि राजशेखर का यह कथन बहुत कुछ कल्पना ही प्रतीत होता है, तथापि इससे काव्यशास्त्र के उद्‌गम के सम्बन्ध में कुछ अनुमान तो किया ही जा सकता है।

राजशेखर ने लिखा है -

"श्रीकण्ठशिव ने ब्रह्म, वैकुण्ठ आदि अपने ६४ शिष्यों को काव्यविद्या का उपदेश दिया। इन शिष्यों में सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष सबसे वन्दनीय था। प्रजा के हित की कामना से प्रेरित होकर प्रजापति ने इसी सर्वज्ञ काव्यपुरुष को काव्यविद्या के प्रवर्तन के लिये नियुक्त किया। उसने अठारह अधिकरणों में इस विद्या को लिख कर इसे अपने अठारह शिष्यों को पढ़ाया[२३]।"

राजशेखर पुनः लिखते हैं-

"इस प्रकार यह विद्या १८ अधिकरणों से युक्त थी। काव्यपुरुष ने एक-एक

अधिकरण को एक-एक शिष्य को पढ़ाया। इनमें सहस्राक्ष (इन्द्र) ने कविरहस्य को, उक्तिगर्भ ने औक्तिक को, सुवर्णनाभ ने रीति-निर्णय को, प्रचेता ने आनुप्रासिक (अनुप्रासविषय) को, यम ने यमक को, चित्राङ्गद ने चित्र को, शेष ने शब्दश्लेष को, पुलस्त्य ने वास्तव (स्वभावोक्ति) को, औपकांयन ने औपम्य (उपमाविषय) को ,पाराशर ने अतिशय को, उतथ्य ने अर्थश्लेष को, कुबेर ने उभयालंकार विषय को, कामदेव ने विनोद के विषय को, भरत ने रूपकों के निरूपण को, नन्दिकेश्वर ने रस के अधिकार को, धिषण ने दोष के अधिकरण को, उपमन्यु ने गुणों के उपादान को और कुचुमार ने औपनिषदिक को सीखा। इसके पश्चात् इन सबने पृथक्-पृथक् अपने शास्त्रों की रचना की[२४]।"

राजशेखर के वर्णन का यह अभिप्राय है कि इस प्रकार यह काव्यविद्या भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा १८ अधिकरणों में विभक्त करके रचित हुई थी। परन्तु वह भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त होकर छिन्न-भिन्न सी हो गई। उसको वे संक्षेप करके १८ प्रकरणों (अधिकरणों) में लिख रहे हैं। परन्तु 'काव्यमीमांसा' का 'कविरहस्य' नामक प्रथम अधिकरण ही इस समय उपलब्ध है।

काव्यविद्या के उद्गम के विषय में 'राजशेखर' के इस वक्तव्य को अनेक समालोचक यद्यपि काल्पनिक कहते हैं, परन्तु इसको सर्वथा काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता। राजशेखर ने काव्यविद्या के जिन १८ आचार्यों द्वारा रचित १८ अधिकरणों का उल्लेख किया है, उनमें से कुछ के नाम अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं, तथा उनके ग्रन्थ भी मिलते हैं।

सुवर्णनाभ तथा कुचुमार नामक आचार्यों का उल्लेख 'कामसूत्र' में आता है। 'कामसूत्र' में सुवर्णनाभ को कामसूत्र के साम्प्रयोगिक खण्ड का[२५] तथा कुचुमार को औपनिषदिक खण्ड का[२६] आचार्य कहा गया है। राजशेखर ने नन्दिकेश्वर को रस का अधिष्ठाता कहा है। रस के विवेचन के प्रसंग में नन्दिकेश्वर का नाम उत्तरवर्ती साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि नन्दिकेश्वर के नाम से किसी रसविषयक ग्रन्थ की उपलब्धि नहीं होती, तथापि कामशास्त्र, संगीत और अभिनय के विशेषज्ञ के रूप में शास्त्रज्ञों द्वारा इनका बहुधा उल्लेख हुआ है। 'पञ्चसायक' और 'रतिरहस्य' नामक ग्रन्थों में नन्दिकेश्वर को कामशास्त्र के आचार्य के रूप में स्मरण किया गया है। 'संगीतरत्नाकर' ग्रन्थ में इनको संगीत का आचार्य कहा गया है। प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर का रसविषयक ग्रन्थ अभिनवगुप्त को भी प्राप्त नहीं था। इसीलिये उसने 'अभिनवभारती' टीका में नन्दिकेश्वर के मत को कीर्तिधर की साक्षी के आधार पर प्रस्तुत किया है[२७]। शारदातनय का कथन है कि नन्दिकेश्वर ने भरत को नाट्य की शिक्षा दी थी[२८]।

'नन्दिकेश्वर' का एक ग्रन्थ, जिसको कि 'अभिनयदर्पण' नाम दिया गया है, मनमोहन घोष के सम्पादकत्व में १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें ३२४ पद्य हैं। इसका प्रकाशन 'कलकत्ता संस्कृत सीरीज' न० ५ में हुआ। यद्यपि इस ग्रन्थ के अनेक विषय और सिद्धान्त भरत के 'नाट्यशास्त्र' में मिलते हैं, तथापि कई बातों में यह उससे पर्याप्त भिन्न भी है। पी०वी० काणे लिखते हैं कि 'अभिनयदर्पण' ग्रन्थ की रचना 'नाट्यशास्त्र' के बाद हुई थी।

राजशेखर ने रूपकों का निरूपक भरत को कहा है। राजशेखर का यह कथन बहुत कुछ यथार्थ है। भरत द्वारा लिखित 'नाट्यशास्त्र' इस तथ्य को प्रमाणित करता है। राजशेखर द्वारा उल्लिखित अन्य आचार्यों के अस्तित्व के प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

अलङ्कार आदि विषयों के लेखक के रूप में प्राचीन साहित्य में 'काश्यप' का नाम भी उपलब्ध होता है। अभिनवगुप्त ने रागों के विषय पर काश्यप के मत को उद्धृत किया है। 'अभिनवभारती' की हस्तलिखित प्रति में काश्यप के ७५ श्लोक उद्धृत हैं। 'संगीतरत्नाकर'(२.२.३१) की टीका में 'मल्लिनाथ' ने काश्यप के पद्य उद्धृत किये हैं।

'अग्निपुराण'(३३६.२२) में काश्यप का उल्लेख छन्दःशास्त्र के रचयिता के रूप में किया गया है। नान्यदेव ने काश्यप को प्राचीन आचार्य बताया है। 'काव्यादर्श' की 'हृदयङ्गमा' टीका में टीकाकार लिखते हैं -

"काश्यप, वररुचि आदि ने अलङ्कारशास्त्र पर ग्रन्थों की रचनायें की थीं[१९]।" 'काव्यादर्श' की ही वादिजंघलकृत 'श्रुतानुपालिनी टीका' में भी काश्यप को प्राचीन आचार्य बताया गया है।

ऊपर कहे गये आचार्यों के अतिरिक्त प्राचीन अलङ्कार ग्रन्थों में अनेक अन्य आचार्यों के नामों का भी उल्लेख है। परन्तु इनकी रचनाओं के विषय में कुछ भी सन्दर्भ नहीं मिलते। कुछ आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं -

सदाशिव, गौरी, वासुकि, नारद, अगस्त्य, व्यास, आञ्जनेय, ब्रह्मा, मतङ्ग, कोहल, तुम्बरु, वृद्ध काश्यप, विशाखिल, नन्दिन्, दन्तिल, वररुचि, ब्रह्मदत्त, नन्दिस्वामी आदि।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भरत से पूर्व काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई तो होगी, परन्तु इस समय वे उपलब्ध नहीं हैं। तथापि वेदाङ्गों में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित विषयों का विवेचन स्वल्प अंश में मिल ही जाता है। इनमें दो वेदाङ्ग विशेष रूप से देखने चाहियें - निरुक्त और व्याकरण।

४. निरुक्त में काव्यशास्त्र का विवेचन

वेदाङ्ग 'निरुक्त' में उपमा अलङ्कार का संक्षेप में व्यावहारिक विवेचन किया

गया है। भाषा का विवेचन करते हुये भाषा को अलङ्कृत करने वाले अलङ्कारों का थोड़ा सा विवेचन स्वाभाविक है। यास्क ने स्वयं तो उपमा के लक्षण को लिखा ही है, उन्होंने उसके साथ इस सम्बन्ध में गार्ग्य नामक आचार्य के मत को भी उद्धृत किया है। यास्क का उपमा का लक्षण इस प्रकार है -

"अथात उपमा यद् अतत् तत्सदृशं तदासां कर्म इति गार्ग्यः। ज्यायसा वा गुणेन प्रख्यातमेनं वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वोपमिमीते अथापि कनीयसा ज्यायांसम्"[३०]।

अर्थात् इसके पश्चात् उपमा का निरूपण करते हैं। जहां एक वस्तु दूसरी से भिन्न होते हुये भी उसी के सदृश हो, वह उनका अर्थात् उपमाओं का कर्म होता है, यह गार्ग्य का अभिमत है। उपमा में अधिक गुण वाले या अत्यन्त प्रख्यात उपमान का कम गुण वाले अथवा अप्रख्यात उपमेय के साथ सादृश्य दिखाया जाता है।

'निरुक्त' में उपमा का यह सामान्य लक्षण है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी थोड़े अन्तर के साथ उपमा का प्रायः यही लक्षण किया है। निरुक्तकार ने अधिक गुण वाले उपमान के साथ न्यून गुण वाले उपमेय के सादृश्य में तो उपमा कही है, साथ में, न्यून गुण वाले उपमान के साथ अधिक गुण वाले उपमेय के सादृश्य में भी उपमा का निर्देश किया है। परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने दूसरी अवस्था के सादृश्य को उपमा का एक दोष कहा है तथा उसको हीनोपमा माना है। परन्तु निरुक्तकार दोनों ही अवस्थाओं में उत्तम उपमा मानते हैं तथा दूसरी अवस्था को दोष स्वीकार नहीं करते। इसका उदाहरण उन्होंने 'ऋग्वेद' से दिया है -

तनुत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।
इयन्ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयदभिरङ्गैः।।

ऋग्वेद १०.४.६।।

इस मन्त्र में इन्द्रियों का संयम उपमेय तथा वन में रहने वाले तस्करों की दृढ़ता उपमान है।

'निरुक्त' में उपमा के वाचक शब्दों को भी बताया गया है। ये हैं - इव, यथा, था, न, चित्, नु, आ, वत्, आदि। इनके उदाहरण भी दिये गये हैं -

(१) **यथा** - यथा वातो यथा वनं यथा समुद्रे एजति।
(२) **आ** - जार आ भगम् (जार इव भगम्)।
(३) **था** - तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वमथेमथा (प्रत्न इव, पूर्व इव, विश्वइव)।
(४) **वत्** - प्रियमेधवत् अत्रिवत् जातवेदो विरूपवत्।

'निरुक्त' में उपमा के भेद भी बतलाये गये हैं। ये भेद पाञ्च हैं - कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा।

(१) **कर्मोपमा** - उपमा वाचक पदों के उपस्थित होने पर कर्मोपमा होती है।
(२) **भूतोपमा** - उपमेय के स्वयं उपमान बन जाने पर भूतोपमा होती है।
(३) **रूपोपमा** - जहां उपमेय उपमान के साथ स्वरूप की समता रखता है।
(४) **सिद्धोपमा** -इसमें उपमान स्वतः सिद्ध रहता है और एक विशेष गुण या कर्म के द्वारा अन्य वस्तुओं से बढ कर होता है।
(५) **लुप्तोपमा** - इसमें वाचक शब्द का लोप होता है। इसके उदाहरण हैं "काकः पुरुषः", "सिंहः पुरुषः" आदि। इसको अर्थोपमा भी कहा गया है। उत्तरवर्ती काल में ही यही उपमा, रूपक अलङ्कार के रूप में प्रतिपादित हुई।

'यास्क' के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उस युग में अलङ्कारशास्त्र का विकास होने लगा था।

५. व्याकरणशास्त्र में काव्यशास्त्र का विवेचन

व्याकरणशास्त्र की गणना भी छः वेदाङ्गों में की जाती है। प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों में पाणिनि का व्याकरण (अष्टाध्यायी) ही सर्वाङ्गपूर्ण रूप में उपलब्ध होता है। इसके अध्ययन से विदित होता है कि पाणिनि से पूर्व भी व्याकरणशास्त्र का प्रचलन हो चुका था, यद्यपि वे ग्रन्थ पूर्णतः उपलब्ध नहीं है। 'अष्टाध्यायी' में काव्यशास्त्र सम्बन्धी तत्त्व उपलब्ध होते हैं। वहां उपमा अलङ्कार से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द दिये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि पााणिनि के समय में उपमा का काव्यशास्त्रियों द्वारा शास्त्रीय विवेचन हो चुका था।

'उपमा' अलङ्कार के चार अंग होते हैं - उपमेय, उपमान, सामान्य धर्म तथा वाचक शब्द। पाणिनीय सूत्रों में इनका स्पष्ट निर्देश किया गया है। 'अष्टाध्यायी' में यह निर्देश इस प्रकार है -

"तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्" । २.३.७२।।
"उपमानानि सामान्यवचनैः" । २.१.५५।।
"उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" । २.१.५६।।

इन सूत्रों में उपमित, उपमान, सामान्य और उपमा इन शब्दों का स्पष्ट प्रयोग यह सिद्ध करता है कि पाणिनि के समय में अलङ्कारों की शास्त्रीय कल्पना हो चुकी होगी। इसके अतिरिक्त कृत्, तद्धित, समासान्त प्रत्यय, समास और स्वरों के विधान में सादृश्य के कारण उत्पन्न होने वाले प्रभावों का पाणिनि ने वर्णन किया है। इनके आधार पर उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों ने उपमा के भेदों का विवेचन किया था।

सादृश्य के कारण उदात्त आदि स्वरों के विधान पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका

स्पष्ट उल्लेख 'शान्तनव' नामक आचार्य ने फिट् सूत्रों में किया है[३१]। **"उपमानानि सामान्यवचनैः"** सूत्र की व्याख्या करते हुये पतञ्जलि ने उपमान शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है[३२] -

"अज्ञात वंस्तु के निर्धारण के लिये **"मान"** शब्द का प्रयोग किया जातां है। मान के समान ही उपमान पद होता है। वह वस्तु का अत्यन्त रूप से नहीं, अपितु सामान्य रूप से निर्धारण करता है। जैसे - **गौरिव गवयः** = गाय, नील गाय के समान होती है, परन्तु वह गाय नहीं है।"

यद्यपि इस उदाहरण में चमत्कार न होने से काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में उपमा अलङ्कार नहीं होगा, तथापि शास्त्रीय दृष्टिकोण से इसमें उपमा का प्रारम्भिक विवेचन अवश्य हो गया है।

६. काव्यशास्त्र के विकास का क्रम-विभाजन

ऊपर किये गये विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि काव्यों के विकास का प्रारम्भ और उनकी रचना वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो गई थी। काव्यों की रचना के साथ रचना-पद्धति का निर्णय करने तथा समालोचना के दृष्टिकोण से काव्यशास्त्र की रचना भी अवश्य होने लगी होगी। अति प्राचीन युग से, वैदिक काल से ही काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचना की कल्पना करना भी स्वाभाविक है। परन्तु भरत से पूर्व का कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसका सम्बन्ध मुख्य रूप से काव्यशास्त्र से हो। काव्यों के शास्त्रीय स्वरूप का निरूपण करने वाला पहला ग्रन्थ हमको भरत के 'नाट्यशास्त्र' के रूप में ही मिला है। भरत का यह समय इतिहासज्ञों द्वारा विक्रम से लगभग दो शताब्दी पूर्व का समझा जाता है। इससे पूर्व का विशुद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः काव्यों के शास्त्रीय स्वरूप का निरूपण करने वाला प्राचीनतम ग्रन्थ भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' को ही मानना चाहिए।

तदनन्तर काव्यशास्त्र सम्बन्धी जिस प्रमुख ग्रन्थ की उपलब्धि हुई है, वह है - भामह का 'काव्यालङ्कार'। भामह के पश्चात् तो काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों की रचना का प्रवाह निरन्तर बढता गया और अठारहवीं शताब्दी ई० तक इसके सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले मौलिक ग्रन्थों की रचना होती रही। इस सम्पूर्ण समय में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के क्रमिक विकास को चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है -

(१) **प्रारम्भिक काल** - वैदिक युग से लेकर भामह के पूर्व तक।
(२) **रचनात्मक काल** - भामह से लेकर आनन्दवर्धन से पूर्व तक।
(३) **निर्णयात्मक काल** - आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक।
(४) **व्याख्यात्मक काल** - मम्मट के बाद से लेकर विश्वेश्वर पाण्डेय तक।

यद्यपि काव्यशास्त्र के क्रमिक विकास के इस काल-विभाजन के लिए कोई निर्णयात्मक रेखा नहीं खींची जा सकती, तथापि यह विभाजन काफी कुछ सीमा तक विकास के क्रम को द्योतित करता है। इसका संक्षेप से स्पष्टीकरण करना उपयोगी होगा।

(१) प्रारम्भिक काल -

प्रारम्भिक काल वैदिक युग से प्रारम्भ होकर भामह से पूर्व तक का है। वैदिक साहित्य में तथा इसके पश्चात् निरुक्त, व्याकरण, उपनिषद्, 'रामायण', 'महाभारत' आदि साहित्य में ऐसी रचनायें हैं, जो काव्य रूप हैं। इनके अध्ययन से यह स्पष्ट रूप से अवभासित होता है कि उस युग में काव्यशास्त्र का किसी न किसी रूप में प्रारम्भ अवश्य हो चुका होगा। परन्तु इस युग का वर्तमान समय में कोई ग्रन्थ ऐसा उपलब्ध नहीं है, जिसको विशुद्ध काव्यशास्त्रविषयक कहा जा सके। काव्यशास्त्रविषयक जो प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध है, वह भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही है। इसमें रस और नाट्य के तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में ४ अलङ्कारों, १० गुणों और १० दोषों का भी निरूपण है। भरत के इस निरूपण को अलङ्कारशास्त्र की प्रारम्भिक रूपरेखा समझा जा सकता है।

भरत के पश्चात् काव्यशास्त्रकारों में मेधाविन् का नाम लिया जा सकता है। परन्तु इन आचार्य का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, यद्यपि इनके उद्धरण अन्य ग्रन्थों में अवश्य मिलते हैं। प्राचीन परम्पराओं के अनुसार 'अग्निपुराण' भी इसी युग का ग्रन्थ है। इस पुराण में अनेक वैज्ञानिक विषयों का विवेचन है तथा इसके ११ (३३६-३४६) अध्यायों में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित तत्त्वों का विवेचन किया गया है। अनेक समालोचक इस पुराण को बहुत बाद की रचना मानते हैं। परन्तु प्राचीन भारतीय परम्पराओं को स्वीकार करके इसको प्रारम्भिक रचना के रूप में लिया जा सकता है। धर्मकीर्ति और 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' इसी युग के समझे जा सकते हैं।

(२) रचनात्मक काल -

काव्यशास्त्र के विकास के दूसरे क्रम को रचनात्मक काल कहा जा सकता है। यह युग भामह से प्रारम्भ होता है और आनन्दवर्धन से पहले तक का है। इस युग में काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ था। इन सम्प्रदायों का तथा इनके प्रतिपादक प्रमुख आचार्यों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है -

(क) **अलङ्कार सम्प्रदाय** - भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट।

(ख) **रीति सम्प्रदाय** - वामन।

(ग) **रस सम्प्रदाय** - भरत के रससूत्र के व्याख्याकार।

काव्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से यह युग बहुत महत्त्व का है। इस युग में

काव्यों में अलङ्कारों की प्रधानता प्रतिपादित की गई और मनीषियों ने सिद्ध किया कि काव्य में शोभा की उत्पत्ति प्रधानतः अलङ्कारों द्वारा होती है। भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट ने अलङ्कारों का विवेचन किया था। दण्डी ने अलङ्कारों के साथ रीति का भी निरूपण किया। वामन ने मुख्यतः गुणों को काव्य की शोभा का उत्पादक तत्त्व प्रतिपादित करके रीति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया था। अलङ्कारों के सम्बन्ध में वामन ने कहा कि ये शोभा के अतिशय के कारण होते हैं। इसी युग में भरत के रससूत्र की विशद व्याख्या काव्यशास्त्रियों ने की। इसके मुख्य व्याख्याकार भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त थे। इन व्याख्याकारों में कुछ की स्थिति आनन्दवर्धन के बाद की थी।

(३) निर्णयात्मक काल -

काव्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से यह युग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन करके ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था। उन्होंने निर्णय किया कि काव्य में ध्वनि ही सबसे प्रमुख और आह्लादक तत्त्व है। रस, गुण, अलङ्कार, रीति आदि सब उसके गुणों का उत्कर्ष करते हैं। 'ध्वन्यालोक' के टीकाकार अभिनवगुप्त ने ध्वनिकार के मत का समर्थन किया। उसके पश्चात् मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' की रचना करके ध्वनि-विरोधियों की युक्तियों का प्रबल शब्दों में खण्डन किया और ध्वनि की निर्णयात्मक रूप से स्थापना की। मम्मट के पश्चात् किसी प्रमुख आलङ्कारिक ने ध्वनि के सिद्धान्त का खण्डन करने का साहस नहीं किया तथा इसको काव्य की आत्मा के रूप में अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया।

आनन्दवर्धन के पश्चात् कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ की रचना करके वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रचलन किया, परन्तु इसका प्रचलन अधिक नहीं हुआ। इस प्रकार इस युग में दो सम्प्रदायों का विकास हुआ - ध्वनि सम्प्रदाय और वक्रोक्ति सम्प्रदाय। इस युग के प्रमुख आचार्य हुये - आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, रुद्रट, भोजराज, धनिक, धनञ्जय और मम्मट।

(४) व्याख्यात्मक काल -

काव्यशास्त्र के विकास का चतुर्थ काल व्याख्यात्मक काल कहा जा सकता है। यह समय मम्मट के समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी ई० में विश्वेश्वर पाण्डेय तक विस्तृत है। इस युग में अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुये, जिन्होंने काव्य के सभी तत्त्वों की विवेचना करते हुये सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ लिखे थे। इन आचार्यों में हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जयदेव, जगन्नाथ आदि अधिक प्रसिद्ध और कीर्तिशाली हैं। इन आचार्यों ने यद्यपि मौलिक चिन्तन तो किया था, तथापि प्राचीन आचार्यों के मन्तव्यों का, विशेष रूप से ध्वनि का

ही अधिक पोषण किया।

परन्तु इस युग में आचार्य क्षेमेन्द्र ने वस्तुतः सम्पूर्ण रूप से मौलिक चिन्तन करके 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थ लिखा तथा औचित्य सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। इस युग के प्रमुख आचार्य निम्न हैं -

(क) ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य -

रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ आदि।

(ख) रस की व्याख्या करने वाले आचार्य -

शारदातनय, शिङ्गभूपाल, रूपगोस्वामी, भानुदत्त आदि।

(ग) अलङ्कारों की व्याख्या करने वाले आचार्य -

रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ, विश्वेश्वर आदि।

(घ) औचित्य को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करने वाले आचार्य -

क्षेमेन्द्र।

काव्यशास्त्र के विकास के क्रम में ध्वनि की उद्भावना तथा इसका काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादन एक प्रमुख घटना है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करके काव्यशास्त्र के विकास को एक नवीन पथ पर प्रवर्तित किया था। इस दृष्टि से काव्यशास्त्र के विकास का इतिहास तीन युगों में विभक्त हो सकता है -

(क) **ध्वनि से पूर्व का युग** - वैदिक युग से ८ वीं शताब्दी ई० तक।

(ख) **ध्वनि का युग** - ८ वीं शताब्दी ई० से १० वीं शताब्दी ई० तक।

(ग) **ध्वनि की व्याख्या का युग** - १० वीं शताब्दी ई० से १८ वीं शताब्दी ई० तक।

सन्दर्भ-

१. ऋग्वेद १.१२४.७।।

२. निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा।। काव्यप्रकाश, १०.१००-१०१।।

३. इयं चातिशयोक्तिर्वेदेऽपि दृश्यते, यथा 'द्वा सुपर्णा......शीति"।। रसगंगाधर - अतिशयोक्ति प्रकरण।।

४. अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्।। ऋग्वेद ३.१.१८।।
आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्।। ऋग्वेद ३.१.१७।।

५. गायद्गाथं सुतसोमो दुवस्यन्। ऋग्वेद १.१६७.६।।

६. पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।। अथर्ववेद १७.८.३२।।

७. शतपथ ब्राह्मण १.२.५.१६।।

८. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। भरत - नाट्यशास्त्र १.१७।।

९. इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रां कथामुचितचारुवचः प्रपञ्चैः।। दशरूपक १.१७।।

१०. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। ध्वन्यालोक १.५।।

११. समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः।। रामायण, बालकाण्ड २.४०।।

१२. रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।।
ध्वन्यालोक २.१ की वृत्ति में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण ।।

१३. "रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः "शोकः श्लोकत्वमागत" इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।। ध्वन्यालोक ४.५ की वृत्ति।।

१४. (क) "इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः"।। महाभारत आदिपर्व २.३८५।
(ख) "इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते"।। महाभारत आदिपर्व २.३८९।

१५. ध्वन्यालोक (३.१) वृत्ति।।

१६. अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।। काव्यप्रकाश ७.६५ का उदाहरण।

१७. "महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः"।। ध्वन्यालोक ४.५ की वृत्ति।।

१८. काव्याङ्कार - रुद्रट - २०८ पर 'नमिसाधु' की टीका।।

१९. स्वस्ति पाणिनये तस्मै यस्य रुद्रप्रसादतः।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयः।। सूक्तिमुक्तावली।

२०. पाणिनीय सूत्र ४.३.१०१ पर महाभाष्य।

२१. यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः सदा।। कृष्णचरितम्।।

२२. पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा।
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्।
योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम्।। कृष्णचरितम्।।

२३. "अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे, यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये सिद्धेभ्यः। सोऽपि भगवान् स्वयम्भूरिच्छाजन्मेभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। तं च सर्वसमयविदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवः स्वस्त्रितयवर्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्तनायै प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच"।। -- काव्यमीमांसा, पृ० १-३।।

२४. "तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमकं यमः, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमार इति। ततस्ते पृथक्-पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः ।। काव्यमीमांसा, पृ० ३-५ ।।

२५. कामसूत्र १.१.१३ ।।

२६. कामसूत्र १.१.१७ ।।

२७. "यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमत्रागमित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टं तत्प्रत्ययात्तत् लिख्यते संक्षेपतः" । भरत नाट्यशास्त्र - अभिनवभारतीटीका - अध्याय २९ ।।

२८. भावप्रकाशन, अध्याय ३ ।।

२९. "पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य................ ।।

काव्यादर्श १.२ की हृदयंगमा टीका ।।

३०. निरुक्त ३.१३ ।।

३१. फिट्सूत्र २१६.४.१८ ।

३२. "मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यत् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानं गौरिव गवय इति।" अष्टाध्यायी २.१.५५ पर महाभाष्य ।।

द्वितीय अध्याय

नामकरण एवं अन्य शास्त्रों का प्रभाव

(अ) नामकरण

काव्य की समालोचना करने तथा इसके गुण-अवगुण की परीक्षा करने वाली विद्या को अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि अनेक नाम दिये गये हैं। इस नामकरण का हेतु क्या है तथा ये नाम कैसे प्रचलित हुये इस विषय पर विचार करना उपयोगी है।

१. अलङ्कारशास्त्र

काव्य की समालोचना की विद्या के लिए सबसे पहले अलङ्कारशास्त्र नाम प्रचलित हुआ था। यह नाम अति प्राचीन काल से बहुत लोकप्रिय रहा। प्राचीन आचार्यों- भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, आदि ने अपने ग्रन्थों के नामों में अलङ्कार पद का प्रयोग किया। वामन के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' है, उद्भट के ग्रन्थ को 'अलङ्कारसारसंग्रह' कहा जाता है, वामन का ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' है तथा रुद्रट ने अपने ग्रन्थ को 'काव्यालङ्कार' नाम दिया है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में समालोचना की विद्या को "काव्यालङ्कार" या "अलङ्कारशास्त्र" नाम दिया जाता रहा होगा।

काव्य-समालोचना के प्रारम्भिक युग में काव्य का प्रमुख सौन्दर्याधायक तत्त्व अलङ्कार को माना जाता रहा था। न केवल भामह, अपितु भामह से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया था। उद्भट, वामन और रुद्रट भी काव्य में अलङ्कारों के महत्त्व को प्रतिपादित करते रहे। इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के नामों के साथ अलङ्कार शब्द को संयुक्त रखा। इन सब आचार्यों के अनुसार काव्य का सौन्दर्य आधायक तत्त्व अलङ्कार ही था। वामन का कथन है कि अलङ्कार के कारण ही काव्य ग्राह्य होता है[१] तथा काव्य में सौन्दर्य ही अलङ्कार है[२]। अलङ्कृति को ही अलङ्कार कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति करण के रूप में होने से (अलङ्क्रियते अनेन) उपमा आदि को अलङ्कार कहा जाता है[३]। दण्डी ने भी काव्य की शोभा के आधायक तत्त्वों को अलङ्कार माना था[४]।

अनेक प्राचीन काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के नामकरण में 'अलङ्कार' पद का प्रयोग किया है। अनेक आचार्यों ने ग्रन्थ का नाम रखने में अलङ्कार पद का

व्यवहार न करते हुए भी अपनी विवेचना में अलङ्कारों को ही प्रधानता दी। उदाहरण के लिए दण्डी ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यादर्श' रखा, किन्तु उनके ग्रन्थ के तीन चौथाई भाग में अलङ्कारों का ही विवेचन किया गया है।

समालोचना की विद्या के लिए सम्भवतः पहले काव्यालङ्कार पद का प्रयोग किया जाता रहा होगा, परन्तु उत्तरवर्ती समय में अलङ्कारशास्त्र पद का व्यवहार होने लगा। यद्यपि काव्य के रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि अनेक तत्त्व काव्य-समालोचना के विषय रहे, तथापि इन सब में अलङ्कार को ही प्रधानता दिये जाने के कारण इस विद्या का नाम अलङ्कारशास्त्र ही प्रसिद्ध हुआ। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की 'रत्नापण टीका' में मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुये कहा है -

"छत्रि न्याय से इस शास्त्र का नाम अलङ्कारशास्त्र है[४]।"

'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' की कामधेनु टीका के लेखक गोपेन्द्रतिप्पभूपाल ने अलङ्कारशास्त्र नामकरण के औचित्य को निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है -

"योऽयमलङ्कारः काव्यग्रहणहेतुत्वेन उपन्यस्यते तद्व्युत्पादकत्वाच्छास्त्रमपि अलङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यत इति शास्त्रस्याऽलङ्कारत्वेन प्रसिद्धिः प्रतिष्ठिता स्यादिति सूचयितुमयं विन्यासः कृतः ग्राह्यमलङ्काराद् इति ।।"

वस्तुतः काव्य की समालोचना के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले आचार्यों ने काव्य के विभिन्न तत्त्वों की समालोचना की थी और उन्होंने इस आधार पर काव्य का लक्षण भी किया था। दण्डी कहते हैं -

"वे यथाशक्ति काव्य का लक्षण कर रहे हैं"[६]।"

भामह ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' रख कर भी कहा कि वे उत्तम कवियों के मतों को समझ कर अपनी बुद्धि के अनुसार काव्य का लक्षण कर रहे हैं[७]। आनन्दवर्धन ने भी आलङ्कारिकों को काव्यलक्षणविधायी कहा था[८]।

काव्य की समालोचना का प्रारम्भ अलङ्कारों की विवेचना से हुआ था और इनको काव्य का अनिवार्य उपकरण समझा जाता था। अलङ्कार ही काव्य का सबसे प्रमुख सौन्दर्य-आधायक तत्त्व था। अलङ्कार की समुचित गहन मीमांसा करने से वक्रोक्ति अलङ्कार का प्रतिपादन हुआ और उससे वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ। अनेक अलङ्कार ऐसे हैं, जिनमें वाच्यार्थ के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ का बोध होता है, जैसे - दीपक, पर्यायोक्त, तुल्ययोगिता, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि। यह अन्य अर्थ प्रतीयमान है, जिससे कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ। अतः काव्य की समालोचना के सिद्धान्तों का मूल कारण अलङ्कार के होने से इस समालोचना की विद्या को या शास्त्र को अलङ्कारशास्त्र नाम देना समुचित ही है। 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ के रचयिता कुन्तक ने भी अपने ग्रन्थ की मूल कारिकाओं को 'काव्यालङ्कार' नाम दिया था।

२.सौन्दर्यशास्त्र

समालोचना की विद्या को किन्हीं आचार्यों ने सौन्दर्यशास्त्र नाम भी दिया था। इसका कारण यह है कि काव्यों की सूक्ष्मता से विवेचना करने के लिये समालोचक की दृष्टि उसके तत्त्वों के सौन्दर्य पर ही जाकर ठहरती है। काव्य में आनन्द प्रदान करने वाला और सहृदयों को आकर्षित करने वाला तत्त्व सौन्दर्य ही है। इसके अभाव में काव्य में न तो अलङ्कारत्व ही रहता है, न रसत्व ही रहता है और न ध्वनित्व रहता है। दण्डी, वामन, अभिनवगुप्त, भोज, अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों ने काव्य के सौन्दर्य की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया है। दण्डी ने काव्य में उन्हीं तत्त्वों को अलङ्कार माना है, जो सौन्दर्य का आधान करते हैं[९]। वामन ने अलङ्कार का लक्षण ही सौन्दर्य किया है, अर्थात् सौन्दर्य का ही दूसरा नाम अलङ्कार है[१०]।

समालोचकों का अभिमत है -

काव्य में अलङ्कार यदि सौन्दर्य का आधान नहीं करेंगे, तो वे भूषण न होकर दूषण हो जायेंगे। चारुत्व का अतिशय होना ही सौन्दर्य का आधान है। चारुत्व के अतिशय के न होने पर काव्य में अलङ्कार की उपयोगिता नहीं है। यदि किसी आभूषण के पहने जाने पर पर वह आभूषण शरीर के सौन्दर्य को बढ़ाने में समर्थ नहीं है, तो जिस प्रकार शरीर के लिये उसकी कोई उपयोगिता नहीं है, उसी प्रकार की स्थिति काव्य में भी है। काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि न करने पर अलङ्कार नाम को धारण करने वाले तत्त्व का भी उसमें कोई उपयोग नहीं। यह व्यर्थ का बोझ ही है। अभिनवगुप्त का कथन है कि अलङ्कार वही है, जो चारुत्व के अतिशय का आधान करता है[११]।

अभिनवगुप्त अलङ्कारों को सौन्दर्य का वास्तविक उपकरण नहीं मानते, अपितु ध्वनि में ही सौन्दर्य की अपेक्षा करते हैं। ध्वनिवादी आचार्यों का स्पष्ट मत है कि ध्वनि वहीं होती है, जहां कि वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का सौन्दर्य अधिक होता है[१२]। सौन्दर्य से विहीन प्रतीयमान अर्थ कभी भी ध्वनि का विषय नहीं हो सकता। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है -

"ध्वनन व्यापार होने पर भी गुण और अलङ्कार के औचित्य से सम्पन्न सुन्दर शब्द तथा अर्थ वाले वाक्य को काव्य कहा जाता है[१३]।"

अत: व्यञ्जना व्यापार द्वारा प्रतीयमान अर्थ के प्रतीत होने पर भी वहां ध्वनि है ही, यह नहीं कहा जा सकता । इसका कारण यह है कि ध्वनि काव्य में व्यञ्जना व्यापार द्वारा केवल प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उस प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्यशाली होना भी अनिवार्य है। इसलिये अभिनवगुप्त का कथन है कि ध्वनन होने पर भी सर्वत्र ध्वनि काव्य हो ऐसा नहीं है[१४]। वे सौन्दर्य की प्रतीति

को ही निर्विवाद रूप से काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं[१५]।

भोज ने भी काव्य में सौन्दर्य की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया है। वे अलङ्कार उसी को मानते हैं, जो काव्य में सौन्दर्य का आधान करता है। उनका कहना है कि **"धूमोऽयमग्ने:"** यह वाक्य कभीं भी काव्य नहीं हो सकता तथा यह किसी भी अलङ्कार का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें सौन्दर्य का अभाव है। अप्पय दीक्षित का भी यह कथन है कि किसी वाक्य में सादृश्य होने पर भी अलङ्कार तभी होता है, जबकि वहां किसी प्रकार का सौन्दर्य होता है। **"गोसदृश: गवय:"** में सादृश्य होने पर भी उपमा अलङ्कार इसलिये नहीं हुआ, क्योंकि इसमें किसी प्रकार का सौन्दर्य नहीं है[१६]।

ऊपर किये गये विवेचन से यह स्पष्ट है कि अलङ्कार को सौन्दर्यपरक मान कर इस विद्या का नाम सौन्दर्यशास्त्र या काव्य-सौन्दर्यशास्त्र रखा जा सकता है। इस प्रकार भारतीय आलोचक काव्य के बाह्य उपकरणों को भेद कर उसके अन्त:स्तर तक पहुंच चुके थे। वे अलङ्कार को तब तक अलङ्कार मानने को सहमत नहीं थे, जब तक कि वह सौन्दर्य का आधायक न हो। काव्य के इस सौन्दर्य के लिए अनेक संज्ञायें दी गई थीं - चमत्कार, वैचित्र्य, विच्छित्ति, वक्रता आदि।

परन्तु समालोचना की विद्या का यह सौन्दर्यशास्त्र नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं हुआ। वस्तुत: सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्य या साहित्य से कहीं अधिक व्यापक है। काव्य की समालोचना के माध्यम से हम शब्द और अर्थ से निर्मित कला की ही अलोचना करते हैं, परन्तु सौन्दर्यशास्त्र सभी ललित कलाओं - नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र, मूर्ति आदि के चारुत्व को अपने अन्दर समाविष्ट करता है। इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र शब्द का क्षेत्र अलङ्कारशास्त्र की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इसलिये सौन्दर्यशास्त्र शब्द को अलङ्कारशास्त्र शब्द के पर्याय के रूप में प्राय: स्वीकार नहीं किया गया।

३.साहित्यशास्त्र

समालोचना की विद्या के लिये एक अन्य नाम साहित्यशास्त्र भी प्रसिद्ध हुआ था। शास्त्रीय रूप से सबसे पहले राजशेखर ने इस विद्या को साहित्यविद्या कहा[१७]। इसके पश्चात् रुय्यक और विश्वनाथ ने इस अभिधान को लोकप्रिय बनाया। उन्होंने अपने ग्रन्थों का नाम क्रमश: 'साहित्यमीमांसा' और 'साहित्यदर्पण' रखा। इन आचार्यों द्वारा इस नाम को स्वीकार करने से साहित्यशास्त्र नाम अधिक व्यापक और लोकप्रिय हुआ।

काव्य में साहित्य पद का प्रयोग नया नहीं है। यह बहुत प्राचीन है। वस्तुत: साहित्य पद का प्रयोग केवल काव्य के लिए नहीं, अपितु सम्पूर्ण वाङ्मय के लिये किया गया है[१८]। प्रतिहारेन्दुराज ने अपने गुरु मुकुलभट्ट की जब **"साहित्यमुरारे:"** कह कर प्रशंसा की तो उन्होंने अपने गुरु में सभी प्रकार के वाङ्मय - मीमांसा, तर्क, व्याकरण, काव्य आदि की निपुणता को अभिव्यक्त किया था।

साहित्य शब्द की उत्पत्ति मूलतः व्याकरण के अनुसार इस प्रकार है -

"सहितस्य भावः साहित्यम्"।

प्राचीन अलङ्कारिकों ने काव्य को शब्द और अर्थ से युक्त माना था। इसका अभिप्राय यह है कि साहित्य वह है, जिसमें शब्द और अर्थ सहित रूप में रहते हैं - **"सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्"**। भामह ने काव्य का लक्षण दिया है -

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"। काव्यालङ्कार १.१६ ।।

अर्थात् शब्द और अर्थ के साहित्य का नाम ही काव्य है। इससे भामह ने भविष्य में प्रचलित होने वाले साहित्यशास्त्र अभिधान का संकेत कर दिया था। उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य को स्वीकार किया। राजशेखर ने साहित्यविद्या की परिभाषा इस प्रकार की है -

"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या"। काव्यमीमांसा, पृ० ५ ।।

'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ में आचार्य कुन्तक ने काव्य में शब्द और अर्थ की स्थिति को एक साथ आवश्यक मान कर काव्य की परिभाषा इस प्रकार की थी -

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।। वक्रोक्तिजीवित १.७ ।।

अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने वाले सुन्दर कवि-व्यापार से युक्त रचना में शब्द और अर्थ के सहित होकर स्थित होने पर काव्य होता है। कुन्तक ने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की एकसी मनोहारिणी स्थिति को साहित्य कहा है[१९]।

काव्य में शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य को अनिवार्य समझा गया। आचार्यों ने शास्त्रों को शब्दप्रधान, पुराण-स्मृति आदि को अर्थप्रधान तथा काव्य को शब्दार्थ प्रधान बताया है। 'व्यक्तिविवेक' के टीकाकार ने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों के प्रयोग को अनिवार्य कहा है[२०]। माघ का कथन है कि उत्तम कवि काव्य-रचना के लिए शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा करता है[२१]।

काव्य के लिए साहित्य शब्द का प्रयोग सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० में प्रारम्भ हो गया था। जैसे कि पहले कहा जा चुका है कि सर्वप्रथम राजशेखर ने काव्य की समालोचना के लिये साहित्यविद्या पद का व्यवहार किया और इसके वाद यह विद्या साहित्यविद्या या साहित्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुई। रुय्यक ने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यमीमांसा' और विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यदर्पण' रख कर इस अभिधान को और भी लोकप्रिय बनाया था।

४. क्रियाकल्प

काव्य की समालोचना की विद्या का एक नाम क्रियाकल्प भी प्रसिद्ध हुआ। यह

नाम सम्भवतः अन्य नामों से प्राचीन है। डा० राघवन् का विचार है -

"भामह और दण्डी से भी पहले इस शास्त्र का नाम **"क्रियाकल्प"** प्रसिद्ध था[२२]।"

'कामसूत्र' में ६४ कलाओं की सूची दी गई है तथा इनमें एक कला का नाम क्रियाकल्प है। सम्भवतः यह नाम काव्यक्रियाकल्प का संक्षेप है। पहले काव्यक्रिया की सहायक दो विद्यायें होती हैं - अभिधानकोश और छन्दोज्ञान। पुनः क्रियाकल्प का कला के रूप में उल्लेख किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि काव्य की समालोचना की विद्या का नाम वात्स्यायन के समय में क्रियाकल्प प्रसिद्ध था।

क्रियाकल्प शब्द का प्रयोग 'कामसूत्र' में ही मिलता हो, ऐसा नहीं है। यह नाम अन्यत्र भी मिलता है। 'ललितविस्तर' नामक बौद्ध ग्रन्थ में कलाओं की गणना में क्रियाकल्प की भी गणना की गई है। 'जयमंगला टीका' के अनुसार क्रियाकल्प पद की निरुक्ति है -

"क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालङ्कार इत्यर्थः।"

इसका अभिप्राय यह है कि क्रियाकल्प नाम का प्रयोग अलङ्कारशास्त्र के लिये किया जाता था। दण्डी भी इस नाम से परिचित जान पड़ते हैं। उनका कथन है -

"वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।। काव्यादर्श १.९ ।।

दण्डी के टीकाकारों के अनुसार यहां क्रियाविधि पद का अभिप्राय क्रियाकल्प से ही है। 'रामायण' के उत्तरकाण्ड में भी इस पद का प्रयोग किया गया है। लवकुश द्वारा रामकथा के गान को सुनने के लिए राम की सभा में **पण्डित, नैगम, पौराणिक, शब्दविद् (वैयाकरण), स्वरलक्षणज्ञ, गान्धर्व, कलामात्रविभागज्ञ, पदाक्षरसमासज्ञ, छन्दोविद्याविशेषज्ञ** तो उपस्थित थे ही, उनके साथ **क्रियाकल्पवित्** और **काव्यवित्** भी उपस्थित थे[२३]। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'रामायण' के युग में समालोचना की विद्या को क्रियाकल्प कहा जाता होगा और यह विद्या ६४ कलाओं में से एक थी।

पी०वी० काणे ने इस मत का प्रबल विरोध किया है कि काव्यों की समालोचना की विद्या को प्राचीन काल में क्रियाकल्प कहा जाता रहा होगा। उनका मत है कि क्रियाकल्प को काव्य-रचना प्रक्रिया कहा जा सकता है, न कि काव्यशास्त्र का समग्र ग्रन्थ। क्रिया पद का अर्थ मृत्यूत्तर संस्कार या अन्य प्रक्रियायें हो सकता है। ललित कला सम्बन्धी किसी ग्रन्थ या शास्त्र में काव्य-समालोचना को कला कहा गया हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। 'कामसूत्र' में जिन ६४ कलाओं की गणना की गई है, उनको कन्याओं को एकान्त में सीखना होता था[२४]। ये ही कलायें वेश्याओं को भी सीखनी होती

थीं[२५]। इस स्थल पर निम्न पंक्तियां शास्त्रकार ने लिखी हैं -

"संपाठ्यं मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोषः, छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्पः, छलितकयोगः।"

इससे यह प्रकट होता है कि क्रियाकल्प का तात्पर्य काव्यरचना की प्रक्रिया से रहा होगा न कि समालोचना से । प्राचीन शास्त्रों में क्रियापद का प्रयोग संस्कार, प्रक्रिया आदि के अर्थ में है, समालोचना के नहीं। 'रामायण' का उत्तरकाण्ड उसी का मूल भाग है और वाल्मीकि की रचना है, यह निश्चित नहीं है, यह सन्दिग्ध है। यह भी सन्दिग्ध है कि उत्तरकाण्ड का ९४ वां अध्याय उसी का भाग है तथा प्रक्षिप्त नहीं है। यदि दुर्जनतोष न्याय से उत्तरकाण्ड को और उसके ९४ वें अध्याय को हम आदि कवि वाल्मीकि की कृति मान भी लें, तो भी क्रियाकल्प का अर्थ काव्य-समालोचना की विद्या या काव्यशास्त्र नहीं माना जा सकता। यहां **"क्रियाकल्पविदः"** पद का अर्थ **"विभिन्न प्रक्रियाओं को जानने वाले"** तथा **"काव्यविदः"** पद का अर्थ **"काव्यशास्त्र को जानने वाले"** हो सकता है। अतः काव्यशास्त्र या अलङ्कारशास्त्र का नाम प्राचीन युग में क्रियाकल्प रहा था, इसका कोई सुदृढ़ आधार नहीं है[२६]।

२. काव्यशास्त्र

काव्यों की समालोचना की विद्या का सबसे प्राचीन नाम काव्यशास्त्र है। यह नाम अति प्राचीन काल से प्रचलित है। क्योंकि इस शास्त्र में काव्य के विभिन्न अङ्गों की समीक्षा की जाती है, अतः इसको काव्यशास्त्र नाम से कहना बहुत उपयुक्त है। काव्य की समीक्षा करने के लिये प्राचीन काल से ही जिन ग्रन्थों की रचना की गई थी, उनमें यह स्पष्ट कहा गया था कि वे काव्य का लक्षण कर रहे हैं[२७]। अलङ्कारवादी आचार्यों को आनन्दवर्धन ने काव्यलक्षणविधायी कहा था।

"काव्यशास्त्र" में काव्य के साथ शास्त्र पद को संयुक्त करने का आचार्यों का क्या हेतु हो सकता था, यह विचारणीय है। सामान्य रूप से शास्त्र पद का अर्थ है = **"शासनात् शास्त्रम्"**। शासन करने वाला, उपदेश देने वाला होने से यह शास्त्र होता है। यह अर्थ वेद आदि शास्त्रों के लिये तो उपयुक्त हो सकता था, क्योंकि उनका प्रमुख उद्देश्य उपदेश देना ही है। परन्तु काव्य के साथ शास्त्र पद को संयुक्त करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। काव्यों का प्रयोजन उपदेश देना नहीं है। यदि काव्य का प्रयोजन उपदेश देना है भी तो भी यह उपदेश कान्तासम्मित होता है, शासनात्मक या प्रभुसम्मित नहीं।

शास्त्र शब्द की एक और भी व्युत्पत्ति हो सकती है - **"शंसनात् शास्त्रम्"**। किसी गूढ तत्त्व का शंसन करने वाला, प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ शास्त्र कहलाता है।

काव्य पद के साथ शास्त्र पद को संयुक्त करने का अभिप्राय यही है कि इस काव्यशास्त्र में काव्य के गूढ तत्त्वों का प्रतिपादन मनीषियों द्वारा किया गया है। अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि पदों में भी शास्त्र पद का यही अभिप्राय समझना चाहिए।

समालोचना की विद्या के लिये काव्यशास्त्र पद का प्रयोग बहुत प्राचीन नहीं है। सम्भवतः भोजराज ने सबसे पहले समालोचना की विद्या के लिये काव्यशास्त्र पद का प्रयोग किया था। परन्तु उन्होंने शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति **"शासनात् शास्त्रम्"** मान कर ही इस पद का प्रयोग किया । शास्त्र पद की परिभाषा भोज ने इस प्रकार की थी -

यद् विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।

तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।। सरस्वतीकण्ठाभरण २.१३८।।

अर्थात्, जो तत्त्व विधि या निषेध का ज्ञान कराने वाला है, उसका अध्ययन करना चाहिये। इसी को लेकर लोक में व्यवहार का संचालन होता है। इस विधि या निषेध के तीन हेतु हैं - काव्य, शास्त्र और इतिहास। इन तीनों के मिश्रण से तीन हेतु और बनते हैं - काव्यशास्त्र, काव्येतिहास और शास्त्रेतिहास। इस प्रकार भोज ने विधि और निषेध के ६ हेतु बताये - काव्य, शास्त्र, इतिहास, काव्यशास्त्र, काव्येतिहास और शास्त्रेतिहास। इस कथन का प्रतिपादन इन्होंने इस प्रकार किया -

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।

काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ।।

सरस्वतीकण्ठाभरण २.१३९ ।।

इस प्रकार भोज ने काव्य की समालोचना के शास्त्र को काव्यशास्त्र नाम दिया था।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्य की समालोचना की विद्या के लिये प्राचीन काल से ही विभिन्न नाम प्रचलित होते रहे - काव्यालङ्कार, अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, क्रियाकल्प और काव्यशास्त्र। यद्यपि इन शब्दों से भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति होती है, तथापि सामान्यतः सब एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। वह अर्थ है - काव्यों की समालोचना या समीक्षा करना।

(ब) काव्यशास्त्र पर अन्य शास्त्रों का प्रभाव

भारतवर्ष में प्राचीन काल में जिन आचार्यों ने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का विकास किया था, वे काव्यशास्त्र के ही पण्डित नहीं थे, अपितु अन्य अनेक शास्त्रों - व्याकरण, दर्शन आदि के भी पण्डित थे। अतः उनकी काव्यशास्त्रीय विवेचना पर अन्य शास्त्रों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस कारण संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास पर अन्य शास्त्रों का प्रभाव स्वभावतः निश्चित रूप से परिलक्षित होता है। काव्यशास्त्र पर

जिन शास्त्रों का प्रभाव मुख्य रूप से पड़ा है, वे हैं - व्याकरण, न्याय, सांख्य, उपनिषत् और मीमांसा। इन प्रभावों का संक्षिप्त दिग्दर्शन इस विषय के जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी है।

१. काव्यशास्त्र पर व्याकरणशास्त्र का प्रभाव

काव्यशास्त्र के विकास पर व्याकरणशास्त्र का प्रभाव अनेक प्रकार से लक्षित होता है। व्याकरणशास्त्र का यह प्रभाव ध्वनि की विवेचना में, अभिधेय अर्थ के प्रतिपादन में और उपमा अलङ्कार के विभिन्न भेदों को करने में मुख्य रूप से परिलक्षित होता है।

ध्वनि के सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले आनन्दवर्धन ने किया था। आनन्दवर्धन का मत है -

"सबसे प्रमुख विद्वान् वैयाकरण होते हैं, क्योंकि व्याकरण ही सब विद्याओं का मूल है। वैयाकरण सुनाई देने वाले शब्दों में ध्वनि पद का व्यवहार करते हैं। काव्यशास्त्रियों ने भी उन्हीं के मत का अनुसरण करते हुए वाच्य अर्थ, वाचक शब्द, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द तथा व्यञ्जना व्यापार, इन सभी के लिये ध्वनि पद का व्यवहार किया है[२८]।"

'काव्यप्रकाश' के रचयिता मम्मट ने भी आनन्दवर्धन के इस कथन का समर्थन किया था और कहा था कि ध्वनि पद का व्यवहार करने में काव्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों का अनुसरण किया है। वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोटरूप व्यङ्ग्य के व्यञ्जक शब्द को ध्वनि कहा था। इसका अनुसरण करके काव्यशास्त्रियों ने वाच्य अर्थ को अतिशयित करने वाले व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जक शब्दार्थ युगल को ध्वनि कहा[२९]।

इस प्रकार काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त के विकास में व्याकरणशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव है। ध्वनिसिद्धान्त का विकास वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से हुआ है। महाभाष्यकार ने शब्द को ध्वनि कहा था। उनका विवेचन इस प्रकार है -

"अथ शब्दानुशासनम्।....अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? किं यत्तत् सास्नालाङ्गूलककुदखुरविशाण्यर्थरूपं स शब्दः? नेत्याह, द्रव्यं नाम तत्। कस्तर्हि शब्दः? येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। अथवा प्रतिपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।

तद्यथा - शब्दं मा कुरु, शब्दं मा कार्षीः, शब्दकार्ययं को माणवक इति। ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् 'ध्वनिः' शब्दः"[३०]।

वैयाकरणों का मन्तव्य इस प्रकार है - **"गौः"** पद का उच्चारण करने पर हम तीन वर्णों **"ग्+औ+ः** (विसर्ग)" को सुनते हैं। इनकी एक साथ उपस्थिति नहीं होती। **"ग्"** वर्ण के उच्चारण के पश्चात् **"औ+ः"** वर्णों की ध्वनि नहीं रहती। तदनन्तर **"औ"**

वर्ण का उच्चारण होने पर "ग् और :" ध्वनि नहीं रहतीं। तदनन्तर ":" वर्ण का उच्चारण होने पर "ग्+औ" ध्वनि नहीं रहती। वर्णों का उच्चारण होने के पश्चात् तुरन्त उनका विनाश हो जाता है। अतः सम्पूर्ण पद का अर्थ किसके द्वारा प्रकट होगा, यह प्रश्न उत्पन्न होता है । अर्थ का बोध ":" द्वारा होगा या "गौः" इस पूरे पद के द्वारा। ":" द्वारा अर्थ का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि यह पूरे पद के अर्थ का बोध कराने में समर्थ नहीं है। "गौः" पद द्वारा भी अर्थ का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि तीनों वर्णों की उपस्थिति एक साथ सम्भावित न हो सकने के कारण पूरा "गौः" पद भी उपस्थित नहीं हो सकेगा। इस प्रश्न का उत्तर वैयाकरणों ने स्फोट के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके दिया। उनका कथन है -

पूर्व-पूर्व वर्ण का उच्चारण करने के अनन्तर बाद के वर्ण का उच्चारण करने पर पूर्व वर्णों की स्मृति बनी रहती है। वह स्मृति अन्तिम वर्ण की ध्वनि से मिल कर अर्थ का बोध कराती है। यह स्फोट कहलाता है तथा ध्वन्यात्मक होता है (**पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनित-संस्कारसहकृतान्त्यवर्णानुभवः स्फोटो व्यज्यते स च ध्वन्यात्मकः**)।

वैयाकरणों ने ध्वनि पद का व्यवहार केवल शब्द में किया था। काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि पद को ग्रहण करने में वैयाकरणों का अनुकरण तो किया, किन्तु उसके अभिप्राय में कुछ परिर्वतन कर लिया। उन्होंने वाच्य अर्थ, वाचक शब्द, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द और व्यञ्जना व्यापार, इन सभी पांचों तत्त्वों के लिये ध्वनि पद का व्यवहार किया।

अभिधेय अर्थ के स्वरूप को निर्धारित करने के लिये भी काव्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों का अनुसरण किया था। मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है -

"संकेतित अर्थ या तो चार प्रकार का (जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा) होता है, या केवल जाति रूप"[३१]। संकेतित अर्थ के चतुर्विधत्व का प्रतिपादन करने के लिए मम्मट ने प्रमाण के रूप में महाभाष्यकार को प्रस्तुत किया है -

"गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः"।

अनेकार्थक शब्दों की वाचकता को नियन्त्रित करने के लिये मम्मट ने 'वाक्यपदीय' को प्रमाण माना तथा उसके निम्न दो श्लोक उद्धृत किये थे -

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।

उपमा के भेदों का विवेचन करने के लिये भी काव्यशास्त्रियों ने व्याकरण का बहुत कुछ अनुसरण किया था। 'साहित्यदर्पण' में पूर्णोपमा के दो भेद किये गये हैं - श्रौती और आर्थी। उनके लक्षण इस प्रकार हैं -

श्रौती यथेव वा शब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।

आर्थी तुल्यसमानाद्या तुल्यार्थो यत्र वा वतिः।। साहित्यदर्पण १०.१६ ।।

श्रौती उपमा वहां होती है, जहां उपमा के साथ यथा, इव, वा आदि शब्दों का प्रयोग हो, अथवा "**तत्र तस्येव**" (अष्टाध्यायी ५.१.११६) सूत्र से "**वति**" प्रत्यय "**इव**" के अर्थ में किया गया हो। आर्थी उपमा वहां होती है,जहां **तुल्य, समान** आदि उपमावाचक शब्दों का प्रयोग हो, अथवा "**तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः**" (अष्टाध्यायी ५.१.११६) सूत्र से "**तुल्य**" के अर्थ में "**वति**" प्रत्यय किया गया हो।

पूर्णोपमा के भेदों का प्रतिपादन करते हुये मम्मट ने भी व्याकरण का आश्रय लिया है -

....**साग्रिमा।**

श्रौत्यार्थी च भवेद् वाक्ये समासे तद्धिते तथा।। काव्यप्रकाश १०.८७ ।।

पहली, अर्थात् पूर्णोपमा दो प्रकार की है - श्रौती और आर्थी। ये पुनः तीन-तीन प्रकार की होती हैं - वाक्यगत, समासगत, और तद्धितगत।

पूर्णोपमा के ये श्रौती और आर्थी भेद तो कुछ ही अंशों में व्याकरणशास्त्र से नियन्त्रित होते हैं, परन्तु लुप्तोपमा के पाञ्चों भेद पूर्ण रूप से व्याकरण के सूत्रों से नियन्त्रित हैं। 'साहित्यदर्पण' में ये भेद इस प्रकार हैं -

आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि।

कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः।। साहित्यदर्पण १०.१९ ।।

'काव्यप्रकाश' में ये भेद इस प्रकार से हैं -

वादेर्लोपे समासे वा कर्माधारक्यचि क्यङि।

कर्मकर्त्रोर्णमुलि ....।। काव्यप्रकाश १०.८९ ।।

इस प्रकार उपमा के भेदों का निर्धारण करने में व्याकरणशास्त्र का बहुत अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह प्रभाव मम्मट ही नहीं, उससे बहुत पूर्व भी दृष्टिगोचर होता है। भामह ने "**वतिनापि क्रियासाम्यम्**"[३२] लिख कर यह प्रभाव प्रदर्शित किया था। उद्भट ने इसको और अधिक विस्तार से प्रदर्शित किया। वामन ने 'काव्यालङ्कार' के छठे अध्याय के ३०-३१ श्लोकों में, काव्य की भाषा में, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धता पर बहुत बल दिया है। काव्य में व्याकरण सम्बन्धी दोष को "च्युतसंस्कृति" कह कर नित्य दोष माना है। उत्तम कवि को चाहिये कि इनका सर्वथा परित्याग करे।

२. न्यायशास्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव

काव्यशास्त्र पर न्यायशास्त्र का भी कुछ प्रभाव है। तर्कशास्त्र में शब्दशक्ति (अभिधा) का विवेचन है। 'अभिधावृत्तिमातृका', 'शब्दव्यापारविचार', 'त्रिवेणिका', 'वृत्तिवार्तिक' आदि ग्रन्थों में शब्दशक्ति के आधार पर विषय का विवेचन किया गया है।

'व्यक्तिविवेक' के रचयिता महिम भट्ट ने व्यञ्जनावादियों के व्यङ्ग्य अर्थ के बोध को अनुमान से ही प्रतिपादित करके ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में करने का प्रयास किया था।

अनेक अलङ्कारों के विकास में अनुमान का योग है। काव्यशास्त्रियों ने अनुमान को स्वयं भी अलङ्कार माना है। इसके अतिरिक्त हेतु, काव्यलिङ्ग आदि अलङ्कारों की उद्भावना में अनुमान का आश्रय लिया गया है। अप्पय दीक्षित ने प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को भी अलङ्कार मान लिया था।

रस की निष्पत्ति की व्याख्या में भी अनुमान का प्रभाव रससूत्र के व्याख्याकारों ने ग्रहण किया है। **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"** रससूत्र की व्याख्या शंकुक ने अनुमान के आधार पर की थी। वे **"संयोगात्"** पद का अर्थ **"अनुमाप्यानुमापक-सम्बन्धात्"** और **"निष्पत्तिः"** का अर्थ **"अनुमितिः"** करते हैं।

३. सांख्यशास्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव

काव्यशास्त्र पर सांख्य का प्रभाव अधिक तो परिलक्षित नहीं होता, तथापि कहीं-कहीं है अवश्य। भट्टनायक द्वारा भरत के रससूत्र की व्याख्या में यह प्रभाव परिलक्षित हुआ है। रससूत्र की व्याख्या करते हुये भट्टनायक ने सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों का तथा भोजकत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। सांख्य दर्शन में प्रकृति त्रिगुणात्मिका (सत्त्वरजस्तमोमयी) कही गई है और पुरुष को उसका भोक्ता कहा गया है। भट्टनायक का कथन है -

"भावकत्व व्यापार से स्थायी भाव के भावित हो जाने पर उसके रजोगुण और तमोगुण का अभिभव होता है तथा सत्त्व गुण का उद्रेक हो जाता है। तदनन्तर सामाजिक भोजकत्व व्यापार से उसका भोग (आस्वादन) करता है।"

४. काव्यशास्त्र पर वेदान्त(उपनिषद्) का प्रभाव

काव्यशास्त्र पर वेदान्त या उपनिषदों का भी कुछ प्रभाव परिलक्षित होता है। यह प्रभाव मुख्य रूप से रस के स्वरूप के विवेचन पर है। ध्वनिवादी आचार्यों ने **रस, आनन्द** और **आत्मा** को सामान्यतः एक जैसा कहा है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' की ब्रह्मानन्द वल्ली में आत्मा को रस कहा गया है, जिससे कि वह आनन्दरूप होता है[३३]। रस के स्वरूप का विवेचन करने में पण्डितराज जगन्नाथ ने 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के एक

अवतरण को उद्धृत किया है[३४]। 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने रस की अनुभूति को ब्रह्मानन्द सदृश बताया है, तथा उसकी अनुभूति होने पर अन्य सभी वेद्य तिरोहित हो जाते हैं[३५]। मम्मट के इस कथन पर 'बृहदारण्यक उपनिषद्' के निम्न वचन का स्पष्ट प्रभाव है -

"तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्मै तदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्। अत्र पिताऽपिता भवति........तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति[३६]।"

५. मीमांसाशास्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव

काव्यशास्त्र के विकास पर मीमांसा दर्शन (पूर्वमीमांसा) का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। शब्दशक्तियों की विवेचना में मीमांसा का यह प्रभाव अधिक है। ध्वनिवादी आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीन प्रकार की शब्दशक्तियों और वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य तीन प्रकार के अर्थों को स्वीकार किया था। परन्तु मीमांसक व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते।

मीमांसकों का एक सम्प्रदाय (**अभिहितान्वयवादी**) वाक्यार्थ के बोध के लिये तात्पर्या वृत्ति को अनिवार्य मानता है तथा वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ कहता है। इनका कथन है कि वाक्य में प्रत्येक पद अभिधा से केवल पदार्थ का ही बोध कराता है, वाक्यार्थ का नहीं। वाक्य का अर्थ पदों के अर्थों के अन्वय करने पर ही बोधित होगा। पदों का यह अन्वय तात्पर्या वृत्ति से होता है, ऐसा कुमारिल भट्ट ने प्रतिपादित किया था।

इसके विपरीत प्रभाकर भट्ट तात्पर्या वृत्ति का खण्डन (**अन्विताभिधानवादी**) करते हैं। तात्पर्या वृत्ति मानने वाले मीमांसकों को अभिहितान्वयवादी और न मानने वालों को अन्विताभिधानवादी कहा गया है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में इन दोनों मतों का उल्लेख करते हुये कहा है कि कुछ आचार्य तात्पर्या वृत्ति को भी मानते हैं[३७]।

तात्पर्यार्थ के प्रतिपादन के लिये तात्पर्या वृत्ति को अभिहितान्वयवादी मानते हैं, इसका उल्लेख विश्वनाथ ने भी 'साहित्यदर्पण' में किया है[३८]।

संकेतग्रह के प्रकरण में भी ध्वनिवादी आचार्यों ने मीमांसा दर्शन का स्पर्श किया था। संकेत-ग्रहण किसमें होता है, इस विषय में मम्मट ने दो पक्ष प्रस्तुत किये थे - जात्यादिवादी और जातिवादी। वैयाकरणों का पक्ष है कि संकेत का ग्रहण जात्यादि (जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा) में होता है। परन्तु मीमांसक संकेत का ग्रहण जाति में ही मानते हैं। इनके मत का निदर्शन करने में मम्मट ने गुण, क्रिया तथा संज्ञा को भी जाति रूप में सिद्ध किया है[३९]।

लक्षणा के निरूपण में मीमांसादर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। **"गौर्वाहीक:"** और **"गौरयम्"** इन गौणी सारोपा तथा गौणी साध्यवसाना लक्षणाओं के उदाहरणों में गोगत गुण वाहीक में किस प्रकार लक्षित होते हैं, इस विवेचना में मम्मट ने कुमारिल भट्ट के 'तन्त्रवार्तिक' ग्रन्थ के एक श्लोक को उद्धृत किया है

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।

लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।।

मीमांसक व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते। व्यञ्जनावादियों के व्यङ्ग्य अर्थ को वे अभिधावृत्ति द्वारा प्रतिपाद्य कहते हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने मीमांसकों की विभिन्न युक्तियों तथा वादों का - **अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते, इषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार:, यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:, लोहितोष्णीषा ऋत्विज: प्रचरन्ति, श्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापार:**, इन सभी मतों का खण्डन करके मम्मट ने काव्य में व्यञ्जना वृत्ति तथा व्यङ्ग्य अर्थ की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया है।

लक्षणा वृत्ति द्वारा प्रतिपादित लक्ष्य अर्थ तथा उसके प्रयोजन भिन्न होते हैं, इस तथ्य को ध्वनिवादी आचार्यों ने मीमांसा तथा तर्कशास्त्र के प्रमाणों से ही सिद्ध किया था। आचार्य मम्मट का कथन था कि जिस प्रकार मीमांसक ज्ञान के विषय को तथा ज्ञान के फल को भिन्न मानते हैं उसी प्रकार लक्षणाजन्य ज्ञान (लक्ष्य अर्थ) और फल (प्रयोजन) भिन्न होते हैं[४०]।

शब्दशक्तियों के निरूपण के अतिरिक्त अलङ्कारों के निरूपण में भी काव्यशास्त्र पर मीमांसा दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। मीमांसकों के अर्थापत्ति प्रमाण के आधार पर काव्यशास्त्रियों ने अर्थापत्ति को एक अलङ्कार स्वीकार किया। इसी प्रकार परिसंख्या अलङ्कार का परिसंख्या नाम भी मीमांसकों का एक प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द है[४१]।

सन्दर्भ –

१. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् ।। काव्यालङ्कारसूत्र १.१.१।।

२. सौन्दर्यमलङ्कार: ।। काव्यालङ्कारसूत्र १.१.२।।

३. अलङ्कृतिरलङ्कार:। करणव्युत्पत्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु प्रवर्तते।।
काव्यालङ्कार १.१.२ की वृत्ति।।

४. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।। काव्यादर्श २.१ ।।

५. यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते।।
प्रतापरुद्रयशोभूषण की रत्नापण टीका।।

६. यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्।। काव्यादर्श १.२।।

७. अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।।
भामह - काव्यालङ्कार ६.६४।।

८. किं च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते ....।। ध्वन्यालोक की १.१ वृत्ति।।

९. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।। काव्यादर्श २.१।।

१०. सौन्दर्यमलङ्कारः ।। काव्यालङ्कारसूत्र १.१.२।।

११. तथाजातीयानामिति । चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः। सुलक्षिता इति यत् किलैषां तद् विनिर्मुक्तं रूपं न तत् काव्येऽभ्यर्थनीयम्। उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवय' इति...एवमन्यत्। न चैवमादि काव्योपयोगीति। ध्वन्यालोक - लोचन टीका पृ० ११०।।

१२. इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।। काव्यप्रकाश १.४।।

१३. गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वन्यात्मनि आत्मनि काव्यरूपताव्यवहारः।।
ध्वन्यालोक - लोचन - टीका पृ० १७।।

१४. तेन सर्वत्र न ध्वननसद्भावेऽपि तथा व्यवहारः।। ध्वन्यालोक - लोचन-टीका पृ० २७।।

१५. यच्चोक्तम्......."चारुत्वप्रतीतिः तर्हि काव्यस्यात्मा" इति तदङ्गीकुर्म एव।नास्ति खल्वयं विवाद इति।। ध्वन्यालोक - लोचन-टीका पृ० ३३।।

१६. सर्वोऽपि ह्यलङ्रः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एव अलङ्कारतां भजते। अतः "गोसदृशः गवय" इति नोपमा।। चित्रमीमांसा पृ० ६।।

१७. पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः।
स हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः।। काव्यमीमांसा पृ० ४।।

१८. साहित्यपायोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।। विक्रमाङ्कदेवचरित १.११।।

१९. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काव्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ।। वक्रोक्तिजीवित १.१७।।

२०. न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते सहितयोः। शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वें न न्यूनातिरिक्तत्वम्।। व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ३६ ।।

२१. शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।। शिशुपालवध २.८६ ।।

२२. सम कान्सेप्टस् आफ अलङ्कारशास्त्र - डा० राघवन् पृ० २६४-२६७।।

२३. क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।। रामायण - उत्तरकाण्ड ९४.७।।

२४. अभ्यासप्रयोज्यांश्च चातुःषष्टिकान् योगान् कन्या रहस्येकाकिन्यभ्यसेत्।। कामसूत्र १.३.१४।।

२५. कामसूत्र १.३.२० ।।

२६. पी० वी० काणे की युक्तियों को विस्तार से जानने के लिये उनके "संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ के पृ० ४२४-४२६ को देखना चाहिये।

२७. (क) अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।।
भामह : काव्यालंकार ६.६.४।।

(ख) यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्।। काव्यादर्श १.२।।

२८ प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभि काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।। ध्वन्यालोक १.१३ की वृत्ति।।

२९ बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।तत-स्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।।

काव्यप्रकाश १.४ की वृत्ति।।

३०. महाभाष्य प्रथम आह्निक पृ० ७।।

३१. संकेतितश्चतुर्भेदः जात्यादिर्जातिरेव वा ।। काव्यप्रकाश २.८।।

३२. काव्यालङ्कार २.३३।।

३३. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। तैत्तिरीय उपनिषद् - ब्रह्मानन्द वल्ली - ७।।

३४. अस्त्यत्रापि "रसो वै सः", "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इत्यादिश्रुतिः।।

रसागङ्गाधर प्रथम आनन रसस्वरूपविवेचन।।

३५. अन्यत् सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः। काव्यप्रकाश ४.२७-२८ की वृत्ति ।।

३६. बृहदारण्यक उपनिषत् ४.३.२१-२२।।

३७. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्।। काव्यप्रकाश २.६।।

३८. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे।। साहित्यदर्पण २.२० ।।

३९. गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामपि भेद इव लक्ष्यते। यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्। हिमपयःशङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इति अभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुलपाकादिषु एवमेव पाकत्वादि। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थत्वाद्यर्थेषु डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये।।

काव्यप्रकाश २.८ की वृत्ति।।

४०. प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।। काव्यप्रकाश २.१७-१८।।

४१. जैमिनि - मीमांसा दर्शन - १.२.३४ तथा ३.७.३३।।

काव्यशास्त्रविमर्श

द्वितीय खण्ड
काव्यशास्त्र के प्राचीन प्रमुख आचार्य

प्रथम अध्याय

भरत मुनि

संस्कृत काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास भरत मुनि से प्रारम्भ होता है। अतः काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों का वृत्तान्त प्रारम्भ करते हुये सबसे पहले भरत मुनि का परिचय देना आवश्यक है।

१. भरत का महत्त्व

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में भरत सबसे प्राचीन आचार्य हैं। भरत मुनि द्वारा विरचित 'नाट्यशास्त्र' काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के विषयों का एक महान् कोष है। यद्यपि इस ग्रन्थ का प्रधान लक्ष्य नाट्य की रचना तथा उसका अभिनय है, तथापि इसमें काव्य के अन्य अंगों का भी सर्वांगीण, विशद एवं सूक्ष्म विवेचन हुआ है। नाट्य की उत्पत्ति, प्रेक्षागृह की रचना, अभिनय, वेषभूषा, संगीत, नृत्य, भाषा, छन्द आदि नाट्य के विभिन्न तत्त्वों के विवेचन के साथ ही भरत मुनि ने इस ग्रन्थ में रस, गुण, रीति, अलङ्कार आदि का भी सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है।

यद्यपि भरत से पहले भी साहित्य में इन तत्त्वों की समीक्षा प्रारम्भ हो गई थी, तथापि सबसे पहले भरत ने ही इन तत्त्वों का सांगोपांग विवेचन एक ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया था। इस ग्रन्थ के अवलोकन से प्राचीन काल के नाट्य, अभिनय, नृत्य, संगीत, छन्द, रस, गुण, अलङ्कार आदि से सम्बन्धित नियमों का तथा उनके विकास का बोध होता है। 'नाट्यशास्त्र' के अभाव में इन सभी विषयों का ज्ञान तथा विकास का रूप अधूरा ही रहता है। भरत ने ही सबसे पहले यह प्रतिपादित किया था कि काव्य में सबसे प्रमुख तत्त्व रस है। यह विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से निष्पन्न होता है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भरत के 'नाट्यशास्त्र' को ही आधार बना कर अपने काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचना की थी। इन सभी ने भरत को अत्यधिक आदर के साथ उद्धृत किया और उनको प्रमाण माना।

भरत के महत्त्व को न केवल भारतीय आलोचकों ने ही स्वीकार किया था,

पाश्चात्य आलोचकों ने भी उनकी मुक्तकण्ड से प्रशंसा की। 'दी मेकिग आफ दी लिटरेचर' नामक ग्रन्थ में डा० स्काट जेम्स ने 'नाट्यशास्त्र' की तुलना अरिस्टोटल के पेरिपोएटिक्स' ग्रन्थ के साथ की है तथा 'नाट्यशास्त्र'की बहुत अधिक प्रशंसा की है। उन्होंने बहुत दुःख के साथ लिखा है -

"नाट्यशास्त्र विषय पर अरिस्टोटल की एक छोटी सी कृति का योरुप में बहुत अधिक सम्मान हुआ है। परन्तु भारतवर्ष में अरिस्टोटल से बहुत पहले भरत मुनि ने एक बृहदाकार 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ की रचना की थी। जिसमें रंगमञ्च, छन्द, अभिनय, अलङ्कार, वेषभूषा, नृत्य, संगीत भाषा आदि नाट्य के सभी अंगों का विशद विवेचन किया गया था। परन्तु उस ग्रन्थ का अभी तक हमको कोई प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध नहीं हो सका है।"

संस्कृत में ललित साहित्य का, विशेष रूप से काव्य की रचना का विकास होने के साथ ही उसकी आलोचना की प्रणाली का भी विकास हुआ था। इस आलोचना-प्रणाली को व्यवस्थित करने का सबसे पहला कार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना करके किया। काव्य के विविध अंगों का निरूपण करके भरत ने इस आलोचना-पद्धति को नियमों में बांध दिया था। भरत के इस ग्रन्थ में काव्य के उभयविध रूप - दृश्य एवं श्रव्य काव्यों के तत्त्वों का निरूपण एवं व्याख्या उपलब्ध है। इस प्रकार यह 'नाट्यशास्त्र' संस्कृत काव्यों की आलोचना के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाला प्रथम एवं सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। इसी को आधार बना कर उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपने काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचना की थी।

२. भरत का व्यक्तित्व

'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरत मुनि ही लोक में प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह अत्यधिक दुःख का विषय है कि हम भरत के व्यक्तित्व तथा जीवनचरित से नितान्त अपरिचित हैं। अनेक समालोचक इनको एक काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं। भरत नाम से कोई मुनि नहीं हुये, जिनके नाम से यह 'नाट्यशास्त्र' प्रसिद्ध हुआ। प्राचीन साहित्य में जो भरत का वर्णन किया गया है, उसने भी इनको एक काल्पनिक व्यक्ति सिद्ध करने में काफी योग दिया है।

भरत के नाम से प्राचीन काल के पांच प्रसिद्ध व्यक्तित्व उपस्थित होते हैं -

(१) दशरथपुत्र भरत

(२) दुष्यन्तपुत्र भरत

(३) मान्धाता का प्रपौत्र भरत

(४) जड भरत और

(५) नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरत।

इस प्रसंग में हमको 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरत का विवेचन करना है।

कुछ पाश्चात्य आलोचकों तथा उनके अनुयायी भारतीय आलोचकों ने 'नााट्यशास्त्र' के प्रणेता भरत को काल्पनिक व्यक्ति सिद्ध किया है। भरत के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं को देखते हुये इस प्रकार की कल्पना अनुचित भी नहीं कही जा सकती। 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरत की देवलोक और मनुष्यलोक दोनों लोकों में अबाध गति है। वे ब्रह्मा से नाट्य का उपदेश ग्रहण करते हैं। अपने पुत्रों तथा अप्सराओं की सहायता से वे देवलोक में नाटकों के अभिनय को प्रस्तुत करते हैं। मनुष्यलोक में भी वे नाटकों के अभिनय का प्रचार करते हैं। भरत देवताओं की सभा में नाटकों का अभिनय कराया करते थे, इसकी पुष्टि महाकवि कालिदास ने भी की थी[1]।

डा० मनमोहन घोष ने 'नाट्यशास्त्र' के अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना में भरत को काल्पनिक व्यक्ति माना है। इस मत को मानने वालों का विचार है -

"प्राचीन काल में नाटकों का अभिनय करने वाले नटों या अभिनेताओं को भरत के नाम से पुकारा जाता था। अथवा भरत नाम की एक जाति थी, जो नाटकों के अभिनय का कार्य किया करती थी। उनके मूल पुरुष के रूप में भरत मुनि के व्यक्तित्व की कल्पना लोक में कर ली गई तथा उसके चारों ओर पौराणिक कल्पनाओं का ताना-बाना बुन दिया गया।"

परन्तु दूसरें समालोचक भरत के सम्बन्ध में इस मत को स्वीकार नहीं करते। आचार्य विश्वेश्वर आदि विद्वानों का मत है कि भरत नाम के नाट्याचार्य मुनि अवश्य हुये थे। मूल रूप से उन्होंने ही 'नाट्यशास्त्र' की रचना की थी। यह हो सकता है कि उत्तरवर्ती काल में इस रचना में परिवर्धन एवं परिष्कार हुये हों तथा भारतीय परम्पराओं के अनुसार इसमें पौराणिक कल्पनाओं को अनुस्यूत कर दिया गया हो।

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में - पुराणों में, काव्यों में और काव्यशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों में भरत का वर्णन 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता के रूप में किया गया है। 'मत्स्यपुराण' के २४ वें अध्याय के २७-३२ श्लोकों में भरत मुनि का उल्लेख है, जिन्होंने देवलोक में 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक का अभिनय कराया था। इस अभिनय को देखने वालों में देवराज इन्द्र के साथ पुरूरवा भी उपस्थित थे। पुरूरवा को देख कर नटी के रूप में नाटक का अभिनय करती हुई उर्वशी अपने अभिनय को भूल गई थी। तब भरत ने पुरूरवा तथा उर्वशी दोनों को शाप दिया। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में यह कल्पना कि स्वर्ग में 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक का अभिनय करते हुये उर्वशी ने नामग्रहण में भूल की थी तथा भरत मुनि ने उसको शाप दिया था, सम्भवत: 'मत्स्यपुराण' के इसी प्रसंग से ग्रहण की गई होगी।

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में उनके १०० पुत्रों तथा अभिनय करने वाली अप्सराओं की विस्तृत नामावली दी गई है। इनके द्वारा भरत ने देवसभा में नाटक का प्रथम अभिनय प्रस्तुत किया था। सभी प्राचीन आचार्यों - दामोदरगुप्त, हेमचन्द्र, राजशेखर, अभिनवगुप्त, शिंगभूपाल आदि ने भरत मुनि को 'नाट्यशास्त्र' का प्रणेता माना है। अतः इनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व अवश्य रहा होगा। यह सम्भव है कि इस स्मृति में उनको आदर प्रदान करने के लिये संस्कृत नाटकों की समाप्ति भरतवाक्य के साथ करने की परम्परा प्रचलित हुई होगी।

३. नाट्यशास्त्र के संस्करण तथा उसका प्रकाशन

यद्यपि संस्कृत के आलोचना साहित्य में 'नाट्यशास्त्र' का सबसे अधिक महत्त्व रहा, तथापि वर्तमान युग में यह ग्रन्थ बहुत समय तक उपलब्ध नहीं रहा। १४ वीं शताब्दी ई० तक के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भरत को बहुत अधिक आदर के साथ उद्धृत किया जाता रहा। परन्तु प्रतीत होता है कि उसके पश्चात् विद्वानों को इस ग्रन्थ के अवलोकन का अवसर नहीं मिला। इस महान् ग्रन्थ का ज्ञान विद्वानों को अन्य ग्रन्थों के उद्धरणों से ही होता रहा होगा।

१९ वीं शताब्दी ई० में (१८२५ ई० में) जब विलसन ने संस्कृत के कुछ नाटकों का अंग्रेजी में अनुवाद किया तो उनको 'नाट्यशास्त्र' की कोई भी प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी थी। उन्होंने बहुत दुःख के साथ यह लिखा -

"ऐसा प्रतीत होता है कि भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' अब सदा के लिये विलुप्त हो गया है। उसकी कोई आशा नहीं बची है।" तथापि विद्वान् इसको प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहे।

इसके ४० वर्ष पश्चात् (१८६५ ई० में) फ्रेड्रिक हाल महोदय को 'नाट्यशास्त्र' की एक हस्तलिखित प्रति अधूरी अवस्था में प्राप्त हुई। इसके चार अध्यायों को (१७,१९,२०, और २४) उन्होंने धनञ्जयकृत 'दशरूपक' के संस्करण के साथ परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किया था। इन अध्यायों में क्रमशः १३२,१३३,६३ और १२१ श्लोक थे। इन श्लोकों की संख्या तथा अध्यायों के क्रम 'भरतनाट्यशास्त्र' के काव्यमाला संस्करण से बहुत भिन्न हैं। फ्रेड्रिक हाल द्वारा 'नाट्यशास्त्र' के इस प्रकाशन से विद्वानों की यह धारणा विलुप्त हो गई कि यह ग्रन्थ विलुप्त हो चुका है और इसकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। इसकी खोज और अधिक उत्साह के साथ प्रारम्भ हो गई। इसमें फ्रांस और जर्मनी के विद्वानों ने अधिक उत्साह प्रदर्शित किया था।

१८७४ ई० में जर्मनी के हेमान नामक एक विद्वान् को 'नाट्यशास्त्र' की एक प्रति उपलब्ध हुई। उसको उन्होंने विस्तृत परिचय के साथ प्रकाशित किया। पी० रैग्नोद

नामक एक फ्रेंच विद्वान् ने १८८० ई० में 'नाट्यशास्त्र' के १५ वें और १६ वें अध्यायों को प्रकाशित किया था। इनमें छन्द: सम्बन्धी श्लोक हैं, जिनकी संख्या क्रमश: ६८ और १६० है। रैग्नोद ने ही १८८४ ई० में छठे तथा सातवें अध्याय को फ्रेंच अनुवाद सहित प्रकाशित किया। इन अध्यायों की श्लोक संख्या क्रमश: ८४ और १२३ है। रैग्नोद के शिष्य ग्रोस ने गुरु के कार्य को आगे बढाया था। उन्होंने १८८८ ई० में 'नाट्यशास्त्र' के २८ वें अध्याय को प्रकाशित किया, जो संगीत विषयक है। इन्होंने १८८८ ई० में ही इस ग्रन्थ के पहले १४ अध्यायों को प्रकाशित किया था।

इधर भारतवर्ष में भी 'नाट्यशास्त्र' के प्रति विद्वानों की रुचि जागृत हो गई थी। १८९४ ई० में बम्बई के निर्णयसागर प्रेस ने काव्यमाला सीरीज में इस ग्रन्थ को सम्पूर्ण रूप में प्रकाशित किया। इसका सम्पादन पण्डित शिवदत्त तथा काशीनाथ पाण्डुरंग ने किया था। इसके कुछ अन्य संस्करण भी प्रकाशित हुये। एक संस्करण १९३५ ई० में काशी संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन पं० बटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय ने किया था। परन्तु इन संस्करणों में पाठभेद इतना अधिक था कि इनकी शुद्धता पर विश्वास करना कठिन हो गया। २० वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भिक वर्षों में काव्यशास्त्री विद्वानों को यह टीका उपलब्ध हुई।

प्रसिद्ध काश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' नामक टीका लिखी थी। परन्तु यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं थी। विक्रम की २१ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में काव्यशास्त्री विद्वानों को यह टीका उपलब्ध हुई।

मद्रास के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् रामकृष्ण कवि ने 'अभिनवभारती' टीका सहित मूल 'नाट्यशास्त्र' को प्रकाशित करने का भार उठाया। सन् १९२६ ई० में इस ग्रन्थ के सात अध्यायों का प्रकाशन प्रथम भाग के रूप में हुआ और १९३४ ई० में दूसरे भाग का प्रकाशन १८ अध्यायों तक हुआ। इसके तीसरे भाग का प्रकाशन १९५४ ई० में हुआ, जिसमें १९-२७ तक अध्याय थे। चौथा भाग भी प्रकाशित हो चुका है। इसमें २८-३६ अध्याय हैं। प्रकाशन का यह कार्य गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा से हुआ है।

परन्तु इन प्रकाशनों में बहुत अधिक अशुद्धियां तथा पाठभेद हैं। इस कठिनाई के दो कारण हैं। पहला यह है कि सम्पादक महोदय को 'अभिनवभारती' टीका की जो प्रति प्राप्त हुई थी, वह अनेक स्थानों पर कीड़ों की खाई हुई थी। दूसरा कारण यह था कि इसके पृष्ठों पर संख्यायें अंकित नहीं थीं एवं वे अव्यवस्थित थे। इनको जैसे का तैसा मुद्रित कर दिया गया था। इस कारण इस संस्करण की शुद्धता सदा सन्देहास्पद बनी रही और 'नाट्यशास्त्र' का अर्थ अस्पष्ट बना रहा । 'नाट्यशास्त्र' के वाच्यार्थ और

अभिप्राय भी स्पष्ट नहीं किये गये।

अभी कुछ समय पूर्व आचार्य विश्वेश्वर ने 'अभिनवभारती' टीका के पाठों का संशोधन करके एक नया संस्करण प्रस्तुत किया है। इसमें दीमक से खाये गये पाठों को पूरा करने का प्रयत्न किया गया है और पृष्ठों को यथास्थान व्यवस्थित किया गया है। इसका प्रकाशन दिल्ली विश्वविद्यालय की "हिन्दी-अनुसंधान-परिषद्" ने किया है।

डा० मनमोहन घोष ने 'नाट्यशास्त्र' का अंग्रेजी अनुवाद किया था, जो एक विस्तृत भूमिका सहित "रायल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल" द्वारा १९५० ई० में प्रकाशित किया गया । वर्तमान समय में अन्य प्रकाशन संस्थाओं ने भी नाट्यशास्त्र के प्रकाशन के लिये प्रयास किया है।

४. नाट्यशास्त्र का विकास

'नाट्यशास्त्र' एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें नाट्य एवं समालोचना से सम्बन्धित नियमों का विस्तृत विवेचन भरत मुनि ने किया है। वर्तमान समय में उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' में ३६ अध्याय हैं तथा ५००० से अधिक श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त इसमें गद्य का भाग पर्याप्त है। अध्यायों की संख्या निश्चित नहीं है। काव्यमाला के संस्करण में ३७ तथा चौखम्बा के संस्करण में ३६ अध्याय हैं। इन दोनों सस्करणों में अध्यायों की विषयवस्तु तथा श्लोकों की संख्या में भी भिन्नता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार 'नाट्यशास्त्र' में अध्यायों की संख्या ३६[२] तथा ६००० श्लोक थे। सम्भवत: अभिनवगुप्त ने गद्य भाग के परिमाण को भी श्लोकों में परिगणित करके उनकी संख्या ६००० कही होगी।

जिस रूप में भरत का 'नाट्यशास्त्र' वर्तमान समय में उपलब्ध है, विद्वानों ने सम्भावना प्रकट की है कि मूल रूप में यह ऐसा नहीं रहा होगा। इस बात की भी अधिक सम्भावना है कि यह एक ही समय तथा एक ही व्यक्ति की रचना नहीं है। समय-समय पर इसमें परिवर्तन तथा संशोधन होते रहे हैं। 'नाट्यशास्त्र' के अन्त में स्वयं भरत ने कहा है कि उनका कथन पूर्ण नहीं है तथा इसके शेष भाग को कोहल विस्तार से कहेंगे[३]।

भरत के 'नाट्यशास्त्र' का अध्ययन करने से इसके तीन हिस्से अलग-अलग स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हैं - (१) सूत्र, (२) वृत्ति या भाष्य और (३) कारिकायें या श्लोक। 'नाट्यशास्त्र' का मूल रूप सूत्रों में ही रहा होगा तथा भरत ने स्वयं ही उनका भाष्य किया होगा। अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ को 'भरतसूत्र' कहा है। भरत का स्वयं का यह कहना है कि इस ग्रन्थ में सूत्र, भाष्य और कारिकाओं का संग्रह किया गया है[४]। इस तथ्य को संक्षेप में स्पष्ट करना उपयोगी होगा --

(१) 'नाट्यशास्त्र' में सूत्र रूप में वे अंश हैं, जिनमें लेखक ने लक्षण कहे

हैं। ये लक्षण गद्य के रूप में भी हो सकते हैं और पद्य के रूप में भी। रस का लक्षण भरत ने निम्न सूत्र में दिया है –

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।"

शृङ्गार कां लक्षण निम्न सूत्र में है –

"तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः।"

(२) वृत्ति या भाष्य के रूप में भरत ने स्वयं इन सूत्रों की व्याख्या की है। जैसे रसविषयक सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है –

"विभावानुभावव्यभिचारिभावाद् रसनिष्पत्तिः। को वा दृष्टान्त इति चेदुच्यते। यथा नानाव्यञ्जनौषधि.....रसत्वमाप्नुवन्ति। ऋषय ऊचुः। रस इति कः पदार्थः। अत्रोच्यते आस्वाद्यत्वात्।"

यहां प्रथम वाक्य सूत्र है तथा शेष भाग भाष्य या वृत्ति है। व्यभिचारी भावों की व्याख्या भरत ने इस प्रकार की है -

"व्यभिचारिण इदानीं वक्ष्यामः। अत्राह – व्यभिचारिण इति कस्मादुच्यन्ते। वि अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर गतौ धातुः।"

अभिनवगुप्त का भी कथन है कि इस ग्रन्थ में भरत ने पहले सूत्रों को कह कर तदनन्तर उसकी वृत्ति या सूत्रविवरणस्वभावा कारिकाओं को कहा है[५]।

(३) कारिकाओं या अन्य श्लोकों के रूप में भरत ने अपने सिद्धान्तों की व्याख्या तो की है, परन्तु इसके साथ ही प्राचीन आचार्यों के मतों को भी उद्धृत किया है। ये श्लोक चार प्रकार के हो सकते हैं -

(क) भरतमुनि द्वारा अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले श्लोक। 'नाट्यशास्त्र' में इन्हीं श्लोकों की बहुतायत है।

(ख) आनुवंश्य श्लोक – 'नाट्यशास्त्र' में इनकी संख्या ३१ है। इनमें १५ अनुष्टुप् छन्द में तथा १६ आर्या छन्द में है। ये श्लोक अधिकांशतः छठे तथा सातवें अध्यायों में हैं। अन्य अध्यायों में कम हैं। आनुवंश्य श्लोकों का यह अभिप्राय है कि ये श्लोक गुरु-शिष्य-परम्परा से बहुत समय से प्रचलित रहे थे। लेखक ने इनको यथास्थान ग्रन्थ में निविष्ट कर दिया था। आनुवंश्य पद के लिए **"अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः"** की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है -

"अत्रेति भाष्ये। अनुवंशभवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तविशेषौ सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवन्तौ पठति यथेत्यादि।"

इसका अभिप्राय यह है कि आनुवंश्य पद द्वारा दिये गये श्लोक बहुत पहले रचे गये थे। भरत को ये गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा प्राप्त हुये थे तथा उन्होंने अपने ग्रन्थ में

इनको भी संगृहीत कर दिया था। इसी प्रकार के श्लोक 'महाभारत' आदि ग्रन्थों में भी मिलते हैं।

(ग) **सूत्रानुविद्ध श्लोक** – 'नाट्यशास्त्र' में कुछ श्लोक इस प्रकार के हैं, जिनको "**सूत्रानुविद्धे आर्ये भवतः**" कह कर उद्धृत किया गया है। ये श्लोक आर्या छन्द में हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ये श्लोक पूर्ववर्ती अनुविद्ध सूत्रों के भाव को सरल भाषा में स्पष्ट करते हैं।

(घ) **पूर्वाचार्यों के श्लोक** – 'नाट्यशास्त्र' में अनेक श्लोकों से पहले "**भवन्ति चात्र श्लोकाः**", अथवा "**अत्रार्ये भवतः**" अथवा "**अत्र श्लोकाः**" पदों का प्रयोग है। इसका अभिप्राय है कि भरत ने इनके द्वारा रचित प्राचीन आचार्यों के मन्तव्यों को उद्धृत किया था तथा इनको विभिन्न प्रकरणों में यथास्थान निवेशित कर दिया था। इन पद्यों के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने इस प्रकार कहा था –

"ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।"

'नाट्यशास्त्र' की रचना में केवल भरत मुनि का ही योग हो, ऐसा नहीं है। भरत ने स्वयं ही कहा है – इस ग्रन्थ के विस्तार का कथन कोहल करेंगे।

उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों के कथनों से भी स्पष्ट होता है कि 'नाट्यशास्त्र' के विकास में अन्य लेखकों का भी योग है, जो सम्भवतः भरत के ही शिष्य रहे होंगे। कोहल नाम के आचार्य का परिचय अनेक ग्रन्थों से मिलता है। 'कुट्टनीमत' के लेखक दामोदर ने भरत के साथ कोहल का नाम भी प्राचीन नाट्याचार्यों में परिगणित किया है[६]। 'संगीतरत्नाकर' के रचयिता शाङ्र्गदेव ने कोहल को अपना आधार माना है[७]। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में नाटकों के भेदों को बताते हुये कोहल को भी प्रमाण माना था[८]। शिंगभूपाल ने 'रसार्णवसुधाकर' में भरत के साथ शाण्डिल्य, दन्तिल तथा मतंग को प्रमाण मानते हुये कोहल को नाट्यकर्ता कहा था[९]। अभिनवगुप्त ने भी 'अभिनवभारती' टीका में कोहल को स्थान-स्थान पर उद्धृत किया था।

कोहल और दन्तिल ने जो भरत के ही शिष्य थे, अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे। कोहलकृत एक ग्रन्थ की तालपत्र पर लिखित पाण्डुलिपि इण्डिया आफिस लन्दन में सुरक्षित है। इनके एक अन्य ग्रन्थ 'तालशास्त्र' का भी वर्णन मिलता है। दन्तिल और कोहल के द्वारा रचित एक संगीत ग्रन्थ 'दन्तिलकोहलीय' भी उपलब्ध हुआ है।

इससे स्पष्ट है कि 'नाट्यशास्त्र' के विकास में कोहल, दन्तिल, शाण्डिल्य आदि आचार्यों का भी योग रहा होगा। ये सब भरत के ही शिष्य थे तथा इन्होंने 'नाट्यशास्त्र' के विकास में योग दिया था। 'नाट्यशास्त्र' में इनका उल्लेख मिलता है।

'भावप्रकाशन' के लेखक शारदातनय ने लिखा है -'नाट्यशास्त्र' के दो रूप थे। एक तो १२००० श्लोकों का था और दूसरा ६००० श्लोकों का था। शारदातनय ने इस सम्बन्ध में यह भी लिखा कि प्राचीन काल में यह 'नाट्यवेद' १२००० श्लोकों में था तथा बाद में विषयं की सुगमता के लिये इसको ६००० श्लोकों में संक्षिप्त कर संगृहीत किया गया[१०]।

शारदातनय ने पहले के 'नाट्यशास्त्र' का रचयिता वृद्ध भरत या आदि भरत को बताया तथा बाद के 'नाट्यशास्त्र' का रचयिता भरत को। इस सम्बन्ध में अनेक अनुमान किये जाते हैं। कुछ समालोचकों का विचार है -

'नाट्यशास्त्र' के प्रथम प्रणेता आदि भरत मुनि रहे होंगे। उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' की रचना सूत्र रूप में की होगी। इस सूत्रात्मक रचना के अनेक भाष्य होकर उसका रूप विस्तृत हो गया होगा। भरत ने इस सब सामग्री को संकलित करके वर्तमान रूप में उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' की रचना की होगी। यही कारण है कि वर्तमान समय में उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' में सूत्रात्मक सामग्री यत्र-तत्र विखरी हुई है।

आदि भरत का अस्तित्व अन्य अनेक प्रमाणों से भी उपलब्ध होता है। शारदातनय ने उनका उल्लेख तो किया ही है, साथ ही उनको उद्धृत भी किया है[११]। इसके अनुसार उन्होंने गद्य में भी लिखा था। भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में 'नाट्यसर्वस्वदीपिका' नामक एक पाण्डुलिपि सुरक्षित है, जिसको आदि भरत पर टीका बताया जाता है। राघवभट्ट ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की टीका में आदि भरत और भरत दोनों को अनेक बार उद्धृत किया है। बहुरूप मिश्र ने 'बहुरूपक' पर अपनी टीका में षट्साहस्री तथा द्वादशसाहस्री दोनों प्रकार के नाट्यशास्त्रों को उद्धृत किया था। इससे प्रतीत होता है कि ये दोनों प्रकार के 'नाट्यशास्त्र' प्राचीन काल में प्रचलित रहे होंगे। इनमें से एक को आदि भरत का तथा दूसरे को भरत का समझा जाता रहा होगा।

'अभिनवभारती' टीका से विदित होता है -

कुछ नास्तिक आचार्यों की मान्यता थी कि 'नाट्यशास्त्र' के तीन प्रवर्तक थे - सदाशिव, ब्रह्मा और भरत। वस्तुत: ब्रह्मा के मत की मान्यता को प्रतिपादित करने के लिये ही इस ग्रन्थ की रचना हुई थी, यह भरत की अपनी रचना नहीं थी। परन्तु अभिनवगुप्त ने इस मान्यता का खण्डन करके भरत मुनि को ही 'नाट्यशास्त्र' का रचयिता प्रतिपादित किया[१२]। अभिनवगुप्त ने नन्दिकेश्वर का भी सम्बन्ध 'नाट्यशास्त्र' के साथ प्रतिपादित किया।

विद्वानों की यह भी मान्यता है कि वर्तमान समय में उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' का प्रणयन एक ही समय में नहीं हुआ था और इसके विभिन्न अंश विभिन्न समयों में लिखे

गये थे। यदि भरत को ही इसका मूल रूप में प्रणेता माना जावे, तो बाद में अन्य आचार्यों ने इसमें परिवर्तन तथा परिवर्धन अवश्य किया था। परन्तु यदि 'नाटयशास्त्र' की परम्परा को भरत से पहले का मान लिया जावे, तो भरत ने 'नाट्यशास्त्र' के सम्बन्ध में प्रचलित प्राचीन सिद्धान्तों का समन्वय एवं सम्पादन करके इस ग्रन्थ को वर्तमान रूप में निबद्ध किया था।

५. नाट्यशास्त्र की रचना का समय

पहले यह कहा जा चुका है कि वर्तमान समय में उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' का प्रणयन एक ही समय में नहीं हुआ होगा। उसका क्रमशः विकास हुआ था। काणे महोदय का विचार है कि 'नाट्यशास्त्र' के छठे तथा सातवें अध्यायों के गद्य भागों तथा आर्याओं की रचना ई०पू० दूसरी शताब्दी में हो गई होगी। तदनन्तर 'नाट्यशास्त्र' के किसी विद्वान् ने इनको संगृहीत तथा समन्वित करके वर्तमान छठा तथा सातवां अध्याय लिखा होगा। इसके साथ ही विभिन्न प्रकार के अभिनय, अङ्गसञ्चालन और गतियों का निरूपण करने वाले ८ से १४ तक के अध्याय लिखे गये होंगे। सम्भवतः १७ से ३५ तक अध्याय भी इसके साथ लिखे गये होंगे।

प्रथम अध्याय और इसके बाद के ४ अध्याय पांचवीं शताब्दी ई० से कुछ पहले जोड़े गये होंगे। कुछ समीक्षकों की यह भी मान्यता है कि प्रथम अध्याय के पहले ६ श्लोक एवं ग्रन्थ के अन्दर का प्रश्नोत्तर भाग भरत के किसी शिष्य द्वारा लिखा गया था तथा मूल पाठ भरत का था।

परन्तु अभिनवगुप्त ने इन मान्यताओं का खण्डन किया । वे सम्पूर्ण 'नाट्यशास्त्र' को एक ही व्यक्ति की रचना प्रतिपादित करते हैं[१३]। इसलिये अभिनवगुप्त के मत का अवलम्बन करके यह निष्कर्ष निकलता है कि यह सम्पूर्ण 'नाट्यशास्त्र' भरत की रचना है और एक ही समय में लिखा गया था। अब इसकी रचना के समय को निर्धारित करना उचित होगा।

'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरत के चारों ओर पौराणिक कल्पनाओं का घना आवरण हो जाने के कारण इनके सही समय का निर्धारण करना बहुत कठिन है। इसी कारण 'नाट्यशास्त्र' की रचना के समय का निर्धारण करना भी कठिन है। 'नाट्यशास्त्र' की विषय-वस्तु में लेखक ने अपने जीवनवृत्त तथा समय का कोई संकेत नहीं दिया। तथापि बाह्य एवं आन्तरिक प्रमाणों द्वारा इसकी रचना के समय का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

विभिन्न विद्वानों के अनुसार 'नाट्यशास्त्र' की रचना के समय के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं तथा यह समय ५०० ई० पू० से ६०० ई० तक प्रतिपादित किया गया है।

तथापि इस सम्बन्ध में जो अन्वेषण हुये हैं और युक्तियां प्रतिपादित की गई हैं, उनसे इस ग्रन्थ की रचना का समय बहुत कुछ ई०पू० दूसरी शताब्दी का प्रतिपादित होता है। 'नाट्यशास्त्र' की रचना के समय के सम्बन्ध में निम्न तथ्य विचारणीय हैं -

(i) प्रसिद्ध वैयाकरण पं० युधिष्ठर मीमांसक का कथन है कि 'नाट्यशास्त्र' के १५ वें अध्याय में **"वाचकाभिनये छन्दोविभाग:"** विषय पर कातन्त्र व्याकरण का प्रभाव है। कातन्त्र व्याकरण की रचना का समय ५०० ई० पू० है । अत: 'नाट्यशास्त्र' की रचना का समय इसके समीप का हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'नाट्यशास्त्र' के अनेक अंशों के सूत्रात्मक होने से इसका समय ई० पू० पांचवी-चौथी शताब्दी का अनुमान किया जा सकता है।

(ii) मैकडानल का विचार है कि 'नाट्यशास्त्र' की कारिकाओं की भाषा ईसा की छठी शताब्दी की है, अत: इनकी रचना का यही समय होना चाहिये।

(iii) प्रो० सिलवाँ लेवी ने यह प्रतिपादित किया है कि 'नाट्यशास्त्र' की रचना ईसा की दूसरी शताब्दी में हुई होगी। उस समय भारत में इण्डोसीथियन क्षत्रपों का शासन था। इनमें से कुछ **"स्वामी"** कहे जाते थे। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में राजा के सम्बोधन के लिये **"स्वामिन्"** शब्द का विधान किया गया है। अत: 'नाट्यशास्त्र' का यही समय होना चाहिये। इन विदेशी शासकों की राजसभाओं में भारतीय रंगमञ्च का विकास हुआ था। 'नाट्यशास्त्र' में शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, आवन्ती, दाक्षिणात्या आदि प्राकृतों के प्रयोग का विधान किया गया है। इसमें पाशुपत, शाक्त, निर्ग्रन्थ आदि शब्दों के प्रयोग तथा आभीर एवं शकों के उल्लेख भी यही समय प्रतिपादित करते हैं।

'नाट्यशास्त्र' के समय से सम्बन्धित ऊपर कही गई युक्तियां उसके समय का ठीक-ठीक निर्धारण करने में असमर्थ हैं तथा उनसे सत्य--असत्य का निर्णय करने में विद्वानों को सन्तोष नहीं होता । वे भरत को या तो बहुत पहले का या बहुत बाद का सिद्ध कर रही हैं। भारत के विभिन्न प्राचीन काव्यों और काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भरत का तथा उनके सिद्धान्तों का उल्लेख है। इनसे 'नाट्यशास्त्र' के समय के सम्बन्ध में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं -

(i) 'कुट्टनीमत' में 'नाट्यशास्त्र' को ब्रह्मा द्वारा उक्त कहा गया है[१४]। यह कथन 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय में उल्लिखित है। इसके साथ ही 'कुट्टनीमत' में 'नाट्यशास्त्र' की कुछ कथाओं और विषयों का संकेत है। इसमें 'नाट्यशास्त्र' के ३६वें अध्याय की नहुष की कथा का संकेत ९४६ वें श्लोक में है। 'नाट्यशास्त्र' के अन्य भी अनेक विषय 'कुट्टनीमत' में स्थान-स्थान पर कहे गये हैं। 'कुट्टनीमत' ग्रन्थ का समय आठवीं शताब्दी ई० माना गया है। अत: 'नाट्यशास्त्र' की प्रसिद्धि ८ वीं शताब्दी ई० में

हो चुकी थी।

(ii) ध्वनिप्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन ९वीं शताब्दी ई० में हुये थे। उन्होंने अनेक स्थानों पर भरत को उद्धृत किया है। भरत द्वारा प्रतिपादित वृत्तियों, रसों, एवं पात्रों विषयक सिद्धान्तों का उन्होंने समर्थन किया है[१५]। आनन्दवर्धन के अनुसार 'वेणीसंहार' नाटक में भरत के नियमों का पालन करने के लिये ही प्रकृत रस के प्रतिकूल भी प्रतिमुख सन्धि के विलास नामक अंग की रचना की गई थी[१६]। वेणीसंहार' की रचना सातवीं शताब्दी ई० की है। अतः भरत की प्रसिद्धि इससे पहले ही हो गई होगी।

(iii) 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने भरत के रससूत्र **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"** को उद्धृत किया है। इसके साथ ही उन्होंने इस सूत्र पर भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त की व्याख्याओं को उद्धृत किया। अभिनवगुप्त का समय ९९०-१०२० ई० का, भट्टनायक का समय दसवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध, शङ्कुक का समय नवम शताब्दी ई० का प्रारम्भ और भट्टलोल्लट का समय ७५०-८०० ई० माना गया है। इससे सिद्ध है कि भरत आठवीं शताब्दी ई० से पूर्व ही विद्वानों में प्रसिद्ध हो चुके थे।

(iv) भवभूति ने, जिसका समय सातवीं शताब्दी ई० का है, भरत को **"तौर्यत्रिकसूत्रधार"** तथा अप्सराओं द्वारा नाटकों का अभिनय कराने वाला लिखा था[१७]। भवभूति का समय सातवीं शताब्दी ई० माना गया है। इस प्रकार उन्होंने भरत को वाल्मीकि से भी प्राचीन मान लिया था।

(v) बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में चन्द्रापीड का वर्णन करते हुये उसको भरत रचित नृत्तशास्त्र में प्रवीण कहा है। 'हर्षचरित' में उसने भरत को संगीत की पद्धति का निर्देष्टा कहा है। एक अन्य स्थल पर वाणभट्ट नटों द्वारा प्रयुक्त रेचक तथा आरभटी का उल्लेख करते हैं। इनका प्रतिपादन भरत ने भी किया था। बाणभट्ट का समय सातवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध है, अतः भरत को उनसे बहुत पहले का होना चाहिये।

(vi) भामह, दण्डी, भट्टि और उद्भट ने लगभग ३०-३० अलङ्कारों का विवेचन किया था। भरत ने केवल चार अलङ्कारों - उपमा, दीपक, रूपक, और यमक की विवेचना की थी। प्रतीत होता है कि उनके समय में चार से अधिक अलङ्कारों का आविष्कार नहीं हुआ था। यदि होता तो वे उनकी विवेचना भी अवश्य करते। इससे सिद्ध है कि भामह आदि आलङ्कारिकों और भरत के मध्य शताब्दियों का अन्तर रहा होगा।

(vii) अश्वघोष के नाटक 'सारिपुत्रप्रकरण' की रचना की कला पर 'नाट्यशास्त्र' का बहुत अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। इस नाटक में अनेक ऐसे

संकेत और शब्द मिलते हैं, जो अश्वघोष का 'नाट्यशास्त्र' से परिचित होना सिद्ध करते हैं। अश्वघोष का समय निश्चित है और वह ईसा की पहली शताब्दी का है। अतः 'नाट्यशास्त्र' की रचना इससे पूर्व की होनी चाहिये।

(viii) कालिदास ने भरत को 'नाट्यशास्त्र' का प्रवर्तक, अप्सराओं द्वारा अभिनय का प्रयोजक, आठ रसों का प्रतिपादक तथा देवताओं के सम्मुख अभिनय का प्रयोक्ता कहा। विक्रमोर्वशीय के एक श्लोक से यह तथ्य स्पष्ट है[१८]। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी ये सब बातें पाई जाती हैं[१९]। 'कुमारसम्भव' के दो श्लोकों में भरत के 'नाट्यशास्त्र' के ६, २१, और २२ अध्यायों की विषय-वस्तु का संकेत है[२०]। 'रघुवंश' के १९.२१ में खण्डिता नायिका का वर्णन 'नाट्यशास्त्र' ३१.१०९-११० के नायिका-भेद के आधार पर किया गया है। इसी प्रकार 'रघुवंश' के १९.३६ में[२१] नृत्य का प्रयोग 'नाट्यशास्त्र' के २४.१[२२] के आधार पर है। इससे सिद्ध है कि भरत का 'नाट्यशास्त्र' कालिदास से बहुत पहले रचा गया था। कालिदास का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी का है, इसलिये भरत को तथा उनके 'नाट्यशास्त्र' को ई० पू० द्वितीय शताब्दी या इससे पहले भी माना जा सकता है।

ऊपर कहे गये विवरणों से यह स्पष्ट है कि भरत के 'नाट्यशास्त्र' की रचना ईसा से तीसरी-दूसरी शताब्दी पूर्व अवश्य हो चुकी होगी।

६.नाट्यशास्त्र की विषय-वस्तु

'नाट्यशास्त्र' एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें रूपकों एवं काव्यों की रचना तथा आलोचना से सम्बन्धित नियमों का विस्तार से विवेचन किया गया है। उनका विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना तो यहां सम्भव नहीं है, तथापि अध्यायों के क्रम के अनुसार विषय-वस्तु का संक्षेप से वर्णन किया जा रहा है।

(i) पहला अध्याय -

इस अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति का विस्तृत विवरण है। देवताओं द्वारा ब्रह्मा से सभी वर्णों के योग्य मनोरंजन के साधन की प्रार्थना करना, ब्रह्मा द्वारा चारों वेदों से सामग्री लेकर पञ्चम नाट्यवेद की रचना, भरत को उसका उपदेश, भरत द्वारा इन्द्रध्वज महोत्सव पर अपने पुत्रों एवं अप्सराओं द्वारा नाट्य का अभिनय कराना, अभिनय में विघ्न एवं उनका निवारण, नाटक के लक्षण और स्वरूप की व्याख्या इस अध्याय के विषय हैं।

(ii) दूसरा अध्याय -

इस अध्याय में नाट्य-मण्डपों के भेदों, प्रेक्षागृहों की रचना, उनके विभिन्न भागों के स्वरूप, शीर्ष, रंगपीठ, मत्तवारणी, प्रेक्षाभवन, यवनिका आदि की रचना का वर्णन किया गया है।

(iii) तीसरा अध्याय -

इस अध्याय के वर्ण्य-विषय हैं - रंगदैवत की पूजा, अनेक देवताओं - महादेव, ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति तथा ग्रहों का पूजन और उनसे वरदान की प्राप्ति।

(iv) चौथा अध्याय -

इस अध्याय में 'अमृतमन्थन' और 'त्रिपुरदाह' नाटकों के अभिनय, ताण्डव नृत्य की उत्पत्ति तथा तकनीक, ताण्डव नृत्य के १०८ उपकरणों, ३२ अलंकारों और रेचकों का उपदेश, गीतों के प्रयोग आदि का वर्णन है।

(v) पांचवां अध्याय -

इस अध्याय में पूर्वरङ्ग, नान्दी, ध्रुवा, और प्रस्तावना का वर्णन है।

(vi) छठा अध्याय -

यह अध्याय रसविषयक है। इसके विषय हैं - मुनियों द्वारा रस विषयक ५ प्रश्न, रस, विभाव, और स्थायीभाव का विवेचन, **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः"** यह प्रसिद्ध रससूत्र, आठ रसों की विवेचना, वृत्तियों, प्रवृत्तियों, सिद्धियों, सात स्वरों, वाद्य, गीत आदि का वर्णन।

(vii) सातवां अध्याय -

रस, भाव, स्थायी भाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के भेद-प्रभेदों का वर्णन इस अध्याय में है।

(viii) आठवां अध्याय -

अंगों एवं उपांगों के अभिनय, आंगिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य इस चतुर्विध अभिनय का इस अध्याय में वर्णन है।

(ix) नवां अध्याय -

इस अध्याय का विषय हस्ताभिनय है। इसमें हाथों और अंगुलियों की विभिन्न मुद्राओं का तथा अंग सञ्चालन में हाथों के संचालन का मार्ग बताया गया है।

(x) दसवां अध्याय -

इस अध्याय का विषय शरीराभिनय है। इसमें वक्ष, पार्श्व, कटि तथा शरीर के अन्य भागों के अभिनय की विधि बताई गई है।

(xi) ग्यारहवां अध्याय -

इस अध्याय का विषय चारी-विधान है। इसमें १६ प्रकार की भौमी तथा १५ प्रकार की आकाशिकी चारियों की परिभाषायें एवं प्रयोग कहे गये हैं। इसके साथ पात्रों के अभिनय की गति, धनुर्विज्ञान का प्रदर्शन, व्यायाम आदि का वर्णन है।

(xii) बारहवां अध्याय -

इस अध्याय का विषय मण्डल-विधान है, जिसमें मण्डलों के नामों एवं लक्षणों का कथन है।

(xiii) तेरहवां अध्याय -

इस अध्याय में गतिप्रचार का वर्णन है। इसमें रसों तथा विभिन्न प्रकार के पात्रों के अनुकूल गति का सूक्ष्म वर्णन है। स्त्रियों द्वारा पुरुषों और पुरुषों द्वारा स्त्रियों का अभिनय करनें की विधि भी बताई गई है।

(xiv) चौदहवां अध्याय -

इस अध्याय का वर्ण्य-विषय है - अभिनय में प्रवृत्तिधर्म की व्यञ्जना। इसमें भारतवर्ष तथा अन्य वर्षों का स्वरूप, पाञ्चाली, आवन्ती, दाक्षिणात्या तथा औड्रमागधी इन चार प्रवृत्तियों, दिशा आदि के विभागों; लोक-धर्म तथा नाट्यधर्म; सुकुमार एवं आविद्ध दो प्रकार के अभिनय आदि को बताया गया है।

(xv) पन्द्रहवां अध्याय -

इस अध्याय में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत छन्दों का विभाग किया गया है; स्वरों, व्यञ्जनों, संज्ञाओं, क्रियाओं, उपसर्गों, सन्धियों आदि की आलोचना है; नाटक में संस्कृत और प्राकृत के प्रयोग के नियम हैं; छन्दों के भेदों, आठ गणों, गुरु, लघु, यति आदि के वर्णन हैं।

(xvi) सोलहवां अध्याय -

इस अध्याय में वृत्तों की परिभाषायें तथा नियम दिये गये हैं। इसमें सम तथा विषम वृत्त और आर्या छन्द का वर्णन है।

(xvii) सतरहवां अध्याय -

इस अध्याय के वर्ण्य विषय हैं - काव्य का निरूपण; कविता के ३६ लक्षण; उपमा, दीपक, रूपक और यमक अलङ्कारों का स्वरूप, इनके भेद तथा उदाहरण; काव्य के दस दोष तथा दस गुण।

(xviii) अठारहवां अध्याय -

इस अध्याय में भाषा का विधान किया गया है कि किन पात्रों को संस्कृत बोलनी चाहिये तथा किनको प्राकृत। इसमें बताया गया है कि शौरसेनी प्रमुख प्राकृत है तथा मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, अर्धमागधी, बाह्लीक और दाक्षिणात्या अन्य प्राकृतें हैं। इनके अतिरिक्त शबर, आभीर, चाण्डाल, शकार, द्रविड, औड्र आदि विभाषायें भी बताई गई हैं।

(xix) उन्नीसवां अध्याय -

इस अध्याय के विषय हैं - काकु स्वर की व्यञ्जना और विधान; पात्रों द्वारा एक-दूसरे से सम्भाषण करने तथा सम्बोधन करने की विधि; द्विजातियों तथा वेश्याओं के नाम रखने की विधि; पाठ्य के गुण; सात स्वर एवं उनका रसों में विनियोग; काकु के दो प्रकार; द्रुतविलम्बित स्वर और अलङ्कार आदि।

(xx) बीसवां अध्याय -

इस अध्याय में रूपकों के १० भेदों और अन्य उपभेदों का सांगोपांग निरूपण है। इसके साथ नाटक के अंगों - अंक, प्रवेशक, विष्कम्भक आदि की रचना; नाटिका तथा उपरूपकों के भेद; लास्य का लक्षण एवं प्रयोग बताये गये हैं।

(xxi) इक्कीसवां अध्याय -

इस अध्याय का विषय है - नाटक की कथावस्तु की रचना करना। आधिकारिक कथा, प्रासंगिक कथा, पाञ्च अवस्थायें, पाञ्च सन्धियां तथा उनके अंग, पाञ्च कार्य, पाञ्च अर्थप्रकृतियां, अर्थोपक्षेपक आदि का विस्तृत विवरण इसमें दिया गया है कि नाट्य में सभी वस्तुओं के समावेश की सम्भावना हो सकती है[२३]।

(xxii) बाईसवां अध्याय -

इस अध्याय में वृत्तियों का विस्तृत विवरण है, जिसमें वृत्तियों की उत्पत्ति; भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी , इन चतुर्विध वृत्तियों की उत्पत्ति, लक्षण तथा विभिन्न रसों में इनके उपयोग का वर्णन है।

(xxiii) तेईसवां अध्याय -

इस अध्याय में आहार्य अभिनय का विवेचन है, जिसमें आहार्य अभिनय के स्वरूप, नेपथ्य, वेशभूषा के उपाय, नेपथ्य के चार प्रकार - पुस्त, अलङ्कार, अंगरचना एवं सञ्जीव बताये गये हैं।

(xxiv) चौबीसवां अध्याय -

इस अध्याय का विषय सामान्य अभिनय है। इसमें अभिनय तत्त्व की बाह्य उत्पत्ति; तरुणियों के बीस प्रकार के अलङ्कार - तीन अंगज, दस स्वभावज और सात अयत्नज; रस तथा भावों के अनुसार शारीरिक अभिनय; बारह प्रकार के वाचिक अभिनय; दर्शन आदि का अभिनय; विभिन्न प्रकार की स्त्रियां; दस कामावस्थायें; दूतियों का भेजना; अष्टविध नायिकायें तथा उनके कामतन्त्र का वर्णन आदि विषय हैं।

(xxv) पच्चीसवां अध्याय -

इस अध्याय का विषय है - अभिन५ में बाह्य उपचार। इसमें वैशिक के लक्षण तथा उसके स्वाभाविक एवं सम्पादित ३३ गुण; वैशिक के मित्र एवं दूतियां; प्रेम तथा घृणा

करने वाली स्त्रियों की चेष्टायें; स्त्रियों के यौवन की चार अवस्थायें; प्रेमियों के चार प्रकार; स्त्रियों को वश में करने के पाञ्च उपाय आदि विषय हैं।

(xxvi) छब्बीसवां अध्याय -

इस अध्याय में चित्राभिनय का वर्णन है। इसमें बताया गया है कि चन्द्र, सूर्य की अवस्थाओं को; सायंकाल, रात्रि, अन्धकार आदि समयों को; हर्ष, शोक, आदि भावों को किस प्रकार प्रकट करना चाहिये। इसके साथ ही इसमें निम्न विषय कहे गये हैं - आकाशभाषित, स्वगत, जनान्तिक एवं अपवारितक संवादों के अभिप्राय; स्वप्नावस्था, मरण, विषी के वेग आदि के अभिनय; वृद्ध, बालक, आसन्नमृत्यु के बोलने के ढंग तथा जनसाधारण के लिये अभिनय को सीखना।

(xxvii) सत्ताईसवां अध्याय -

इस अध्याय का विषय सिद्धि-व्यञ्जन है। इसमें दैवी तथा मानुषी सिद्धियों; दर्शकों द्वारा अभिनय की सफलता पर सन्तोष प्रकट करने के तरीकों; दैवी सिद्धि का अभिप्राय; दुर्घटनाओं और अपशकुनों के न होने और नाट्य के परीक्षकों की योग्यता को बताया गया है।

(xxviii) अठाईसवां अध्याय -

इस अध्याय में चार प्रकार के वाद्यों - तत, अवनद्ध, घन और सुषिर का; सात प्रकार के स्वरों का; स्वरों के ग्रामों, मूर्छनाओं, श्रुतियों और जातियों का वर्णन है।

(xxix) उनतीसवां अध्याय -

इस अध्याय में ततातोद्य वाद्यों का विवरण है। इसके साथ विशेष रस में जाति तथा स्वरों के प्रयोग का विधान किया गया है। चार वर्णों - आरोही, अवरोही, स्थायी, एवं सञ्चारी का वर्णन करके इन पर आश्रित ३३ अलङ्कार कहे गये हैं।

(xxx) तीसवां अध्याय -

इस अध्याय का विषय सुषिरातोद्य है। इसमें वीणा की विधि एवं बांसुरी के स्वरों का विवरण है।

(xxxi) इकतीसवां अध्याय -

इस अध्याय में ताल और लय के भेदों का विवरण है; गीतों के लक्षण और अंगों का विवेचन है; ध्रुवा, ताल, विधान और लास्य की व्याख्या है।

(xxxii) बत्तीसवां अध्याय -

इस अध्याय में ध्रुवाओं का प्रतिपादन है। ध्रुवाओं के ५ भेद तथा अन्य प्रभेद; गायक तथा वादक की योग्यता; स्त्रियों द्वारा गायन और पुरुषों द्वारा वादन; संगीत के आचार्य तथा शिष्य की योग्यता इस अध्याय में बताये गये हैं।

(xxxiii) तैंतीसवां अध्याय -

इस अध्याय में वाद्यों का विस्तृत विवेचन है। मृदंग, पणव, दर्दुर आदि अवनद्ध वाद्यों (चमडा मढे हुये वाद्य) का यहां वर्णन है। इसके साथ ही स्वाति तथा नारद द्वारा वाद्यों का प्रवर्तन; सब प्रकार के वाद्यों को बजाने के अवसर; वाद्यों के देवता आदि विषय कहे गये हैं।

(xxxiv) चौतीसवां अध्याय -

इस अध्याय के वर्ण्य विषय हैं - पुरुषों और स्त्रियों की उत्तम, मध्यम तथा अधम इन तीन प्रकार की प्रवृतियों का विचार; चार प्रकार के नायक - धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त; विभिन्न श्रेणियों की स्त्रियां; अन्तःपुर की परिचारिकाओं और राजसेवकों के गुण।

(xxxv) पैतीसवां अध्याय -

इस अध्याय का प्रमुख विषय भूमिकापात्र की रचना है। इसमें निम्न विषय वर्णित हैं - विभिन्न पदार्थों द्वारा कृत्रिम दृश्यों का निर्माण; सुकुमार तथा आविद्ध दो प्रकार का अभिनय; सूत्रधार, पारिपार्श्विक, नट, शकार, विट, चेट, नायिका आदि के गुण; विविध पात्रों की भूमिकाओं की विस्तृत विवेचना।

(xxxvi) छत्तीसवां अध्याय -

इस अध्याय का वर्ण्य-विषय है - नाट्य का भूमि पर अवतरण; ऋषियों के नाम तथा उनके द्वारा किये गये प्रश्न; नट-वंशों की उत्पत्ति का इतिहास एवं नाट्यशास्त्र का माहात्म्य।

७. नाट्यशास्त्र की प्राचीन टीकायें

'नाट्यशास्त्र' जैसे बहुचर्चित तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर प्राचीन काल में अनेक टीकायें लिखी गई थीं, परन्तु वर्तमान समय में केवल एक ही टीका उपलब्ध होती है और वह है - अभिनवगुप्तकृत 'अभिनवभारती' टीका। इस टीका को लेखक ने 'नाट्यवेदविवृति' नाम भी दिया था। अभिनवगुप्त की इस टीका में यद्यपि अनेक प्राचीन टीकाकारों के नाम एवं इनके मतों का उल्लेख किया गया है, तथापि उनमें से कोई टीका वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। अभिनवगुप्त की टीका में - भट्टलोल्लट, भट्टोद्भट, शङ्कुक, भट्टनायक, राहुल और भट्टयन्त्र नामक टीकाकारों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त शाङ्र्गधर ने भरत के छः टीकाकारों - भट्टलोल्लट, उद्भट, शङ्कुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त तथा कीर्तिधर के नाम गिनाये हैं[२४]। टीकाकारों में हर्षवार्तिक तथा मातृगुप्त के नाम भी मिलते हैं। इस प्रकार भरत के 'नाट्यशास्त्र' के दस प्राचीन टीकाकारों के संकेत प्राचीन साहित्य में मिलते हैं -

(i) उद्भट
(ii) भट्टलोल्लट
(iii) शङ्कुक
(iv) भट्टनायक
(v) राहुल
(vi) भट्टयन्त्र
(vii) अभिनवगुप्त
(viii) कीर्तिधर
(ix) हर्षवार्तिक
(x) मातृगुप्त

इन टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय निम्न है -

(i) उद्भट -

'अभिनवभारती' टीका में उद्भट का उल्लेख अभिनवगुप्त ने अनेक स्थानों पर किया है। 'नाट्यशास्त्र' के ६.१०, ९.१८३, १८.७६ श्लोकों की व्याख्याओं में और वृत्तिचतुष्टय की व्याख्या में उद्भट के मतों का उल्लेख है। 'नाट्यशास्त्र' के २१.१७ श्लोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने उद्भट के मत का खण्डन किया है। 'नाट्यशास्त्र' की उद्भट कृत टीका तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु अभिनवगुप्त तथा शाङ्र्गधर के अनुसार वे भरत के टीकाकार हैं। इनका समय ८०० ई० के लगभग का समझा गया है।

(ii) भट्टलोल्लट -

भट्टलोल्लट भी भरत के टीकाकार थे। इनका परिचय न केवल 'अभिनवभारती' और शाङ्र्गधर से मिलता है, अपितु मम्मट, हेमचन्द्र, मल्लिनाथ और गोविन्द ठक्कर ने भी इनको भरत के रससूत्र के व्याख्याता के रूप में उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टलोल्लट ने उद्भट के मत का खण्डन किया था, अत: उनका समय उद्भट के बाद का होना चाहिये। इनका समय ८००-८४० ई० के मध्य माना गया है। "अभिनवभारती' में भरत के रससूत्र की व्याख्या के प्रसंग में भट्टलोल्लट का उद्धरण है। यह भी कहा गया है कि भट्टलोल्लट के अनुसार रसों की संख्या सीमित नहीं है। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में भट्टलोल्लट के दो श्लोक उद्धृत किये हैं तथा इनको अपराजिति नाम से लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि भट्टलोल्लट के पिता का नाम अपराजित रहा होगा। नाम से स्पष्ट है कि भट्टलोल्लट काश्मीरी ब्राह्मण थे।

(iii) शङ्कुक -

अभिनवगुप्त तथा मम्मट के अनुसार शङ्कुक ने भट्टलोल्लट द्वारा की गई

भरत के 'रससूत्र' की व्याख्या का खण्डन किया था। 'अभिनवभारती' टीका में शङ्कुक के नाट्यशास्त्र सम्बन्धी मन्तव्यों का उल्लेख अनेक स्थानो पर है। 'नाट्यशास्त्र' के ३.२१-३२ श्लोकों की व्याख्या में, रंगपीठ के सम्बन्ध में, १८.१० श्लोक की व्याख्या में नाटक के सम्बन्ध में, १८.१२ श्लोक की व्याख्या में "नृपतीनां" पद की व्याख्या में, १८.६० की व्याख्या में नाटिका के सम्बन्ध में; २१.४० श्लोक की व्याख्या में प्रतिमुख सन्धि की व्याख्या में, २१.४२ श्लोक की व्याख्या में विमर्श सन्धि के सम्बन्ध में, २१.९१ श्लोक की व्याख्या में गर्भ के अङ्गविद्रव की चर्चा में, अध्याय २४ की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने शङ्कुक की मान्यताओं को उद्धृत किया है। उसने अनेक स्थलों पर शङ्कुक की मान्यताओं का खण्डन भी किया है। 'नाट्यशास्त्र' के २४.६६-७१ श्लोकों की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने बताया है कि शङ्कुक के अनुसार अभिनय के भेदों की संख्या ४० हजार है[२५]।'अभिनवभारती' टीका में २९ अध्यायों में शङ्कुक के उद्धरण स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि शङ्कुक ने सम्पूर्ण 'नाट्यशास्त्र' पर टीका लिखी होगी।

शङ्कुक का उल्लेख कह्लण ने "भुवनाभ्युदय" काव्य के लेखक के रूप में किया था[२६]। यह काव्य काश्मीर के राजा अजितपीड को सम्मानित करने के लिये लिखा गया था। उसका समय ८१३ ई० का है। अत: शङ्कुक नवम शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में रहे होंगे।

(iv) भट्टनायक –

भरत के रससूत्र के चार व्याख्याताओं में तीसरे भट्टनायक हैं। 'अभिनवभारती' टीका में दिखाया गया है कि इन्होंने भट्टलोल्लट और शङ्कुक कृत भरत के रससूत्र की व्याख्याओं का खण्डन किया था। रसचर्वणा के सम्बन्ध में इन्होंने भोग सम्बन्धी सिद्धान्त की स्थापना की थी। अभिनवगुप्त ने कुछ स्थानों पर भट्टनायक के मत को उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने भट्टनायक द्वारा लिखित 'सहृदयदर्पण' ग्रन्थ को भी अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है। पी० वी० काणे के अनुसार भट्टनायक ने सम्पूर्ण 'नाट्यशास्त्र' की व्याख्या नहीं की थी[२६]।

भट्टनायक ने आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन किया था। उसने वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि को असंगत माना। उनका ग्रन्थ 'सहृदयदर्पण' जो कि उपलब्ध नहीं है, ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करने के कारण 'ध्वनिध्वंस' के नाम से विख्यात था। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का खण्डन किया था। इसलिये भट्टनायक को आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मध्यवर्ती का समय का माना जा सकता है[२७]। 'राजतरङ्गिणी' में कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र शङ्करवर्मा के समय में

भट्टनायक नाम के विद्वान् का उल्लेख किया गया है[२८]। अतः भट्टनायक का समय नवम शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध समझा जा सकता है।

(v) राहुल -

अभिनवगुप्त ने राहुल के मत का उल्लेख भी 'अभिनवभारती' में कुछ स्थानों पर किया है। यह उल्लेख तीन स्थानों पर है। राहुल का एक श्लोक वैशाखरेचित के सम्बन्ध में उद्धृत है[२९]। दूसरा उल्लेख चतुर्थ अध्याय की टीका में इस प्रकार है -

परोक्षेऽपि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत् प्रियः।
सखी च नाट्यधर्मोऽयं भरतेनोदितं द्वयम्।।[३०]

अध्याय २४ की टीका में लिखा गया है - भरत ने नवयुवतियों के जिन २० अलङ्कारों का वर्णन किया है, इनके अतिरिक्त राहुल ने मौग्ध्य, मद, भावविकृत और परिपतन अलङ्कारों को भी कहा है[३१]।

(vi) भट्टयन्त्र -

भट्टयन्त्र ने भी 'नाट्यशास्त्र' पर टीका लिखी होगी, इसके संकेत मिलते हैं। अभिनवगुप्त ने एक स्थान पर भट्टयन्त्र के मत को इस प्रकार उद्धृत किया है -

"शिक्षार्हस्वेच्छान्यनृत्तकतिपयनाट्याङ्गकृतं, नृत्तमभ्यासफलमिति भट्टयन्त्रः।[३२]

(vii) कीर्तिधर -

'नाट्यशास्त्र' के टीकाकारों में कीर्तिधर का भी उल्लेख है। इनका उल्लेख अभिनवगुप्त ने निम्न प्रकार से किया है -

"नाट्यमेवेदमिति कीर्तिधराचार्यः"।[३३]

शाङ्र्गधर ने भी इनको भरत का टीकाकार कहा था।

(viii) वार्तिक -

'नाट्यशास्त्र' पर एक वार्तिक ग्रन्थ की रचना अभिनवगुप्त से पहले हो चुकी थी, इस प्रकार का संकेत 'अभिनवभारती' टीका से मिलता है। अभिनवगुप्त ने कतिपय स्थानों पर इस वार्तिक के मत को उद्धृत किया है। सम्भवतः वार्तिककार का नाम हर्ष या श्रीहर्ष था। 'अभिनवभारती' में इसके लिये कहीं तो **"वार्तिककृताप्युक्तम्"**[३४] और कहीं **'श्रीहर्षवार्तिकम्'**[३५] कहा गया है। 'अभिनवभारती' में इस वार्तिककार के मत का उल्लेख 'नाट्यशास्त्र' के २.९७-९८, १.८४, ४.२६७-६८, ४.३३१, ५.८-१५ और ५.१८० श्लोकों की व्याख्याओं में है। इनमें वार्तिककार ने भरत के नाट्य और नृत्त की भिन्नता प्रतिपादित की है, परन्तु वार्तिककार के अनुसार नाट्य और नृत्त भिन्न नहीं हैं[३६]।

'नाट्यशास्त्र' पर यह वार्तिक मुख्य रूप से आर्या छन्द में थी। परन्तु कहीं-कहीं इसमें गद्य भाग भी है। सम्भवतः यह टीका छठे अध्याय तक ही लिखी गई होगी, क्योंकि 'अभिनवभारती' में छठे अध्याय तक ही उसके उद्धरण हैं। वार्तिककार हर्ष के समय और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। डा० शङ्करन् ने 'रससिद्धान्त का इतिहास' पुस्तक में कान्यकुब्जाधीश हर्षवर्धन को तथा वार्तिककार हर्ष को एक ही व्यक्ति बताया है। परन्तु इस कथन का कोई प्रबल प्रमाण नहीं है।

(ix) मातृगुप्त -

अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' टीका में मातृगुप्त नामक आचार्य का भी उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि इन्होंने भी 'नाट्यशास्त्र' पर कोई टीका लिखी होगी। अभिनवगुप्त ने "पुष्प" नामक पारिभाषिक शब्द की व्याख्या में मातृगुप्त के मत को उद्धृत किया है[३७]। अन्य ग्रन्थों में भी मातृगुप्त के मत उद्धृत हैं। 'भावप्रकाशन' में कथावस्तु के सम्बन्ध में मातृगुप्त का मत उद्धृत है[३८]।

राघवभट्ट ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की टीका में पारिभाषिक शब्दों - सूत्रधार, नान्दी, नाटक आदि के लक्षणों में मातृगुप्त के श्लोकों को उद्धृत किया है। भरत के आरम्भ और बीज के लक्षण वाले पद्यों को उद्धृत करके वे मातृगुप्त के सम्बन्ध में कहते हैं -

"अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्यैरुक्तः।
क्वचित् कारणमात्रं तु क्वचिच्च फलदर्शनम्।।

सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में मातृगुप्त के श्लोक उद्धृत किये हैं। कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' में और क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' में मातृगुप्त के श्लोकों को उद्धृत किया है। सुन्दरमिश्र ने 'नाट्यप्रदीप' में भरत के नान्दी के लक्षण को उद्धृत करके मातृगुप्त की व्याख्या की और इस प्रकार संकेत दिया -

"अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशांघ्रिपदापीयम् उदाहृता।"

'राजतरङ्गिणी' में यह उल्लेख मिलता है कि हर्ष विक्रमादित्य ने मातृगुप्त कवि को शासन सौंप दिया था और स्वयं वे वाराणसी जाकर संन्यासी हो गये थे। ये मातृगुप्त भर्तृमेण्ठ के समकालीन थे[३९]। इस आधार पर मातृगुप्त का समय सातवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध समझा जा सकता है। परन्तु इन कवि मातृगुप्त का तथा नाट्याचार्य मातृगुप्त का एकत्व संशयास्पद है[४०]। किन्हीं विद्वानों ने तो मातृगुप्त तथा कालिदास के एकत्व को भी प्रतिपादित करने का प्रयास किया है[४१]। परन्तु इस तथ्य को किन्ही प्रमाणों से प्रतिपादित नही किया जा सका है।

(x) अभिनवगुप्त -

'नाट्यशास्त्र' की टीकाओं में सबसे प्रसिद्ध तथा पाण्डित्यपूर्ण टीका अभिनवगुप्त की है, जो कि 'अभिनवभारती' या 'नाट्यवेदविवृति' के नाम से प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्त की यह टीका 'नाट्यशास्त्र' के विषयों को सम्यक् रूप से प्रकाशित करती है। इस टीका में प्राचीन टीकाकारों एवं नाट्याचार्यों के अभिमतों को भी विस्तृत रूप में उद्धृत किया गया है। 'अभिनवभारती'टीका के अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर 'ध्वन्यालोकलोचन' टीका की रचना भी की थी। वे शैव थे तथा इन्होंने शैव दर्शन पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया था। अभिनवगुप्त द्वारा साहित्य की रचना का समय ९८०-१०२० ई० रहा होगा। अभिनवगुप्त की यह 'अभिनवभारती' टीका भी बहुत समय तक उपलब्ध नहीं रही। २० वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में इसके कुछ अंश प्राप्त हुये थे। अब इसका अधिकांश भाग प्राप्त हो चुका है, जिसका प्रकाशन श्री रामकृष्ण कवि के सम्पादकत्व में गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा से हुआ है। आचार्य विश्वेश्वर ने भी कुछ अध्यायों का सम्पादन किया है।

'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याताओं में यद्यपि अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है, तथापि 'अभिनवभारती' टीका के अतिरिक्त अन्य कोई भी टीका उपलब्ध नहीं है।

सन्दर्भ-

१. मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः।। विक्रमोर्वशीयम् २.१८ ।।

२. षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्, मध्ये षट्त्रिंशाध्यायम्। अभिनवभारती ।।

३. शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति। भरत, नाट्यशास्त्र ३६.१५।।

४. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः।
निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः।।
रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथा तोद्यं गानं रङ्गञ्च संग्रहः।।
अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः।
सूत्रतः सा तु विज्ञेया कारिकार्थप्रयोगिनी।।
एवमेषोऽर्थसूत्रार्थो व्यादिष्टो नाट्यसंग्रहः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम्।। भरत ना० शा० ६.१९-२१ तथा ३१ ।।

५ सूत्रं सूत्रकं लक्षणं वक्ष्यामि। तेनैव च कारिका संगृहीता। ग्रन्थो भाष्यं तत्कृत विकल्पनमाक्षेप-प्रतिसमाधानात्मकमिति परीक्षा निरुक्तशब्दवाच्या प्रतिज्ञाता। सूत्रविवरणस्वभावा तु कारिका सूत्रमपि प्रकाशयन्ती बहुतराक्षेपसमाधानव्याकुलशिष्यजनस्थितिपक्षं निरूपणेनोपकरोति इति भाष्यस्य पश्चादस्याः पाठः। अभिनवभारती।

६. कुट्टनीमत -- श्लोक सं० ८१ ।।

७ संगीतरत्नाकर - ११५ ।।

८ प्रपञ्चस्तु भरतकोहलादिशास्त्रेभ्योऽवगन्तव्यः । काव्यानुशासन ।।

९. रसार्णवसुधाकर १.५०-५२ ।।

१० एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः।।
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः।। भावप्रकाशन पृ० २८७ ।।

११. एवं हि नाट्यवेदेऽस्मिन् भरतेनोच्यते रसः।
तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्।।
यथा नानाप्रकारैर्व्यञ्जनोषधैः पाकविशेषैश्च।। भावप्रकाशन ।।

१२. एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रन्थ-खण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रं न तु मुनिविरचितमिति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रयुक्तं सर्वान-पह्नवनीयाबाधितशब्दलोकप्रसिद्धिविरोधाच्च।। अभिनवभारती।।

१३. एकस्य ग्रन्थस्यानेकवक्तृवचनसन्दर्भमयत्वे प्रमाणाभावात् स्वपरव्यवहारेण पूर्वपक्षोत्तरपक्षादीनां श्रुतिस्मृतिव्याकरणतर्कादिशास्त्रेष्वेकविरचितेष्वपि दर्शनात् ।। अभिनवभारती ।।

१४. ब्रह्मप्रोक्तनाट्यशास्त्रे।। कुट्टनीमत -श्लोक ७५।।

१५. इति वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनाम् ।......एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव।.....अत एव च भरतेन प्रबन्धप्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकत्वेनोपन्यस्तम्।। ध्वन्यालोक।।

१६. यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धनाननुगुणमपि भरतमता-नुसरणमात्रेच्छया घटनम्।। ध्वन्यालोक।।

१७. तं च स्वहस्तलिखितं मुनिर्भगवान् व्यसृजद् भगवतो भरतस्य तौर्यत्रिकसूत्रधारस्य। स किल भगवान् भरतस्तमप्सरोभिः प्रयोजयिष्यति ।। उत्तररामचरितम् सप्तम अंक।

१८. मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः।। विक्रमोर्वशीयम् २.१८ ।।

१९. नाट्यशास्त्र का प्रवर्तन - भ० ना० शा० अध्याय - १। अप्सराओं द्वारा अभिनय का प्रयोग भ० ना०शा० १.४७-५०। लोकपालों के समक्ष अभिनय - भ०ना०शा० १.५५।
आठ रस - शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतंसज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।। भ०ना०शा० ६.१५।।

२०. तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ।। कुमारसम्भव ७.९१।।

२१. अंगसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय कल्पनम्।। रघुवंश १९.३६।।

२२ सामान्यभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः।। भ०ना०शा० २४.१ ।।

२३ न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते।। भ०ना०शा० २१.१२२।
२४. व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरोऽपरः ।। संगीतरत्नाकर ।।
२५ ननु यथा श्रीशङ्कुकेनोक्तं चत्वारिंशत्सहस्राणीत्यादि। अभिनवभारती ।।
२६ कविबुर्धमनाः सिन्धुशशाङ्कशङ्कुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्।। राजतरङ्गिणी ४.७०५।।
२७. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे (प्रथम संस्करण) पृ० २०८।।
२८. राजतरङ्गिणी ५.१५९ ।।
२९ नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती टीका सहित) गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, पृ० ११५।।
३०. वही - पृष्ठ १७२।।
३१. वही - पृष्ठ १६४।।
३२. वही - पृष्ठ २०८।।
३३. वही - पृष्ठ २०८।।
३४. नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती टीका सहित) गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, पृष्ठ १७२।।
३५. वही " पृष्ठ २०७ ।।
३६. वाच्यानुगतेऽभिनये प्रतिपाद्येऽर्थे च गात्रविक्षेपैः।
उभयोरपि हि समानः को भेदो नृत्तनाट्यगतः।। वही पृष्ठ १७२
३७. यथोक्तं मातृगुप्तेन । पुष्पं च जनयन्नेको भूयोऽनुस्पर्शनान्वितः।
भरतनाट्यशास्त्र (अभिनवभारती टीका) पृ० ४०२।।
३८ पूर्ववृत्ताश्रयमपि किञ्चिदुत्पाद्यवस्तु च।
विधेयं नाटकमिति मातृगुप्तेन भाषितम् ।। भावप्रकाशन, पृ० २३४।।
३९. राजतरङ्गिणी ३.२६०-२६२ ।।
४०. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स - एस० के० डे० भाग १, पृ० ३३।
४१ जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी - १८६१, डा० भाऊ दाजी पृ० २०८ ।।

द्वितीय अध्याय

मेधावी

प्राचीन काव्यशात्रीय ग्रन्थों में मेधावी का उल्लेख एक अलङ्कारशास्त्री के रूप में बहुधा मिलता है। भामह, नमिसाधु और राजशेखर ने उनका उल्लेख किया है। यद्यपि मेधावी द्वारा रचित कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ, तथापि इन समालोचकों के उल्लेखों से यह विदित होता है कि मेधावी नाम के किन्हीं आचार्य ने किसी अलङ्कार ग्रन्थ की रचना की थी।

राजशेखर ने मेधावी के नाम का उल्लेख प्रतिभा के प्रभाव के निरूपण में किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि मेधावी आदि विद्वान् जन्मान्ध थे, तथापि अपनी प्रतिभा के कारण उनको कोई भी विषय प्रत्यक्ष के समान प्रतिभासित होता था[1]। ऐसा भी संकेत मिलता है कि मेधावी ने सम्भवत: कालिदास उपाधि को धारण किया होगा। 'त्रिकाण्डशेष' में मेधाविरुद्र तथा कालिदास पदों को पर्यायवाची माना गया है। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में कालिदास को एक आलङ्कारिक के रूप में उद्धृत किया है।

भामह ने मेधावी का उल्लेख दो बार किया है। उनके अनुसार मेधावी ने उपमा के सात दोषों का निरूपण किया था। वे दोष हैं - हीनता, असम्भव, लिङ्गभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य तथा उपमानासादृश्य[2]।

वामन ने इनमें विपर्यय दोष को हीनता तथा आधिक्य के अन्तर्गत मान कर उपमा के छ: दोष ही स्वीकार किये थे[3]। तदनन्तर वामन ने दोषों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये थे।

भामह ने मेधावी का दूसरी बार उल्लेख यथासंख्य और उत्प्रेक्षा अलङ्कार के प्रसंग में किया था -

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदु:।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्।।[4]

इस पद्य से यह प्रतीत होता है कि मेधावी ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार को संख्यान नाम भी दिया था। परन्तु दण्डी ने यह लिखा है कि कुछ आलङ्कारिक यथासंख्य अलङ्कार को संख्यान नाम देते हैं। अत: कुछ समालोचकों का विचार है कि भामह के ग्रन्थ का पाठ अशुद्ध है और दण्डी का पाठ अधिक शुद्ध है। दण्डी का पाठ इस प्रकार है -

यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि।[५]

इस कारण 'काव्यालङ्कार' का शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिये -

यथासंख्यमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्।

इसका अभिप्राय यह होगा कि मेधावी ने यथासंख्य को संख्यान का नाम दिया है तथा कुछ अलङ्कार-ग्रन्थों में उत्प्रेक्षा को नहीं कहा गया ।

मेधावी का उल्लेख नमिसाधु ने भी किया था। उसके अनुसार दण्डी, मेधावी, रुद्रट, भामह आदि ने अलङ्कारशास्त्रों की रचना की थी[६]। रुद्रट के 'काव्यलङ्कार' की टीका करते हुये उपमा के सात दोषों के प्रसंग में नमिसाधु ने मेधावी की पुनः चर्चा की। नमिसाधु ने उपमा के सात दोषों का मेधावी के नाम से उल्लेख करके[७] उनके उदाहरण भी दिये। इनमें से पाञ्च उदाहरण तो भामह के 'काव्यालङ्कार' के हैं, परन्तु दो उदाहरण नये हैं। ये दो उदाहरण निम्न हैं -

भक्षिताः सक्तवो राजन् शुद्धाः कुलवधूरिव।
परमातेव निःस्नेहा शीतलाः परकार्यवत् ।।
स्फुरन्ति निखिला नीले तारका गगने निशि।
भास्कराभीशुसंस्पृष्टा कृमयः कर्दमे यथा।।

इस स्थल पर नमिसाधु ने इन उदाहरणों को मेधावी का नाम उद्धृत करके प्रस्तुत किया था। इसलिये इनको मेधावी द्वारा रचित अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थ का समझा जा सकता है।

मेधावी का अनुसरण करते हुये नमिसाधु ने शब्दों के चार विभेद माने हैं - नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। उसने कर्मप्रवचनीयों की गणना शब्दों में नहीं की[८]।

इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि भामह से पूर्व कोई मेधावी नाम के आचार्य हुये थे, जिनके अलङ्कारशास्त्र सम्बन्धी मन्तव्यों के उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। परन्तु इनका स्वरचित कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है।

मेधावी के नाम के सम्बन्ध में कुछ विवाद है। भामह ने इनको मेधाविन् नाम से उद्धृत किया है। राजशेखर और नमिसाधु इनको मेधाविरुद्र नाम से उद्धृत करते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ समालोचकों का, बलदेव उपाध्याय आदि का यह विचार है -

इन आचार्य का पूरा नाम मेधाविरुद्र था या मेधावी और रुद्र दो नाम थे, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता । परन्तु दूसरे समालोचक यह मानते हैं कि मेधाविन् और रुद्र दोनों अलग-अलग नाम हैं । राजशेखर एवं नमिसाधु ने मेधाविन् कह कर मेधाविन् और रुद्र इन दो आचार्यों का संकेत किया है।

सन्दर्भ–

१ प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव, यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जन्मान्धाः कवयः श्रूयन्ते ।। काव्यमीमांसा पृ० ११-१२।।

२ हीनतासम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः ।
उपमानाधिकत्वञ्च तेनासदृशतापि च ।।
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः ।। भामह - काव्यालङ्कार २.३९-४०।।

३ अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड् दोषा इति।। काव्यालङ्कारसूत्र ४.२.११ की वृत्ति।।

४. भामह - काव्यालङ्कार २.८८ ।।

५. काव्यादर्श २.२७३ ।।

६. ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवालङ्कारशास्त्राणि।
रुद्रट - काव्यालंकार १.२ पर नमिसाधु की टीका।।

७. अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणाद् यन्मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं यथा लिङ्गवचनभेदौ हीनताधिक्यमसम्भवो विपर्ययोऽसादृश्यमिति सप्तोपमादोषा.....तदेतन्निरस्तम्।।
रुद्रट - काव्यालङ्कार ११.२४ पर नमिसाधु की टीका।।

८. एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यङ्मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवनीयाः नोक्ताः भवेयुः।। रुद्रट - काव्याङ्कार २.२ पर नमिसाधु की टीका।।

तृतीय अध्याय

धर्मकीर्ति

प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति का न तो कोई काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ उपलब्ध है और न ही काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप में इनको किसी ने उद्धृत किया था। तथापि कुछ समालोचकों का यह विचार है कि इन्होंने किसी काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ की रचना अवश्य की होगी। सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता' नामक गद्यकाव्य में एक पंक्ति है -

"बौद्धसङ्गीतिमिवालङ्कारभूषिताम्"

सुबन्धु की इस पंक्ति से आफ्रेक्ट, पीटर्सन आदि समालोचकों ने यह अनुमान किया है कि धर्मकीर्ति ने अलंकारशास्त्र विषय पर किसी ग्रन्थ की रचना की होगी[1]।

धर्मकीर्ति कवि भी थे। इनके रचे हुये कुछ श्लोक 'शाङ्र्गधरपद्धति' और 'सुभाषितावली' में संग्रहीत हैं।'ध्वन्यालोक' के तीसरे उद्योत में आनन्दवर्धन ने इनके एक श्लोक को उद्धृत किया है[2]। इस प्रसंग में आनन्दवर्धन ने बताया है कि कुछ विद्वान् इसमें व्याजस्तुति अलङ्कार बताते हैं, परन्तु यहां वस्तुतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

धर्मकीर्ति अलङ्कारशास्त्र के आचार्य थे तथा उन्होंने इस विषय पर किसी ग्रन्थ की रचना की थी, इस कथन की पुष्टि किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती। उनके द्वारा रचित श्लोकों से यह तो अनुमान हो सकता है कि वे कवि थे, परन्तु कवि होने के साथ ही वे अलङ्कारशास्त्र के आचार्य भी अवश्य होंगे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सुबन्धु की पूर्वोक्त पंक्ति के आधार पर ही उनके अलङ्कारशास्त्री होने की कल्पना की गई है। परन्तु 'वासवदत्ता' के कुछ अन्य संस्करणों में दूसरा पाठ भी मिलता है -

"सत्कविकाव्यरचनामिवालङ्कारभूषिताम्"

अतः बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति को अलङ्कारशास्त्र का आचार्य मानना सन्देहास्पद ही है।

डा० पी० वी० काणे का कथन है कि सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता' में सही पाठ है -

"बौद्धसंगीतिमिवालङ्कारभूषिताम्"।

यहां संगीति से अभिप्राय विचार परिषद् से है तथा उस साहित्य से भी, जिसमें बुद्ध का सर्वप्रथम परिचय दिया गया है। अलङ्कार नाम वाली दो बौद्ध रचनायें प्रसिद्ध हैं - अश्वघोष का 'सूत्रालङ्कार' और असंग का 'महायानसूत्रालङ्कार'। अतः सुबन्धु की इस पंक्ति में बौद्धसंगीति से अभिप्राय बौद्धों की विचार-परिषद् से है तथा अलङ्कार से अभिप्राय इन दो बौद्ध ग्रन्थों से है। सुबन्धु की पूर्वोक्त पंक्ति के आधार पर यह प्रतिपादित करना कि धर्मकीर्ति ने किसी अलङ्कार ग्रन्थ की रचना की होगी, उचित नहीं माना जा सकता।[३]

सन्दर्भ-

१. भारतीय साहित्यशास्त्र (प्रथम खण्ड) - बलदेव उपाध्याय, पृ० ३८।।

२. लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महानर्जितः
स्वच्छन्दं चरतो जनस्य हृदये चिन्ताज्वरो निर्मितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता।। ध्वन्यालोक ३.४१ की वृत्ति से।

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी०वी०काणे पृ० ६१-८२।।

चतुर्थ अध्याय

अग्निपुराण

प्राचीन भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्त्व है। इनको भारतीय ज्ञान का कोष कहा जा सकता है। पुराणों में पुराणकारों ने भारतीय धर्म, संस्कृति और परम्पराओं का सरल भाषा में संग्रह किया है। ये हिन्दू धर्म के आधार हैं और ज्ञान-विज्ञान के अमूल्य कोष हैं।

पुराणों की संख्या १८ है - ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, वायु, नारद, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त, वराह, स्कन्द, मार्कण्डेय, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्माण्ड और भविष्य। इनके अतिरिक्त १८ उपपुराण भी हैं। कुछ अन्य पुराण भी उपलब्ध होते हैं। कुछ पुराण क्षेत्रिय हैं जैसे कि - केदारखण्ड, मानसखण्ड, आदि।

१. अग्निपुराण का महत्त्व

अठारह पुराणों में 'अग्निपुराण' का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस पुराण में विविध विधाओं का संकलन किया गया है। धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित अनेक तथ्यों का विवेचन करने के साथ ही 'अग्निपुराण' में अनेक शास्त्रों का विवेचन भी है। उदाहरण के लिये इस पुराण में व्याकरण, औषधि-विज्ञान, कोष, काव्यशास्त्र, ज्योतिष आदि शास्त्रों के सम्बन्ध में पुष्कल सामग्री दी गई है। भारतीय एवं पाश्चात्य समालोचकों ने 'अग्निपुराण' की सामग्री को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है और इसको विश्वकोष के रूप में स्वीकार किया है। डा० बलदेव उपाध्याय[१] और विन्टरनिट्ज[२] के अनुसार यह पुराण एक विश्वकोष है। 'अग्निपुराण' में भारतीय साहित्य एवं विज्ञानों के प्रत्येक विषय को सम्मिलित किया गया है। 'अग्निपुराण' के ३३७ से ३४७ तक के ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित सामग्री का संकलन है।

२. अग्निपुराण का लेखक

भारतीय परम्पराओं के अनुसार १८ पुराणों के लेखक महर्षि वेदव्यास हैं। परन्तु आधुनिक आलोचना के आधार पर यह कहा जाता है कि महर्षि व्यास इन १८ पुराणों के मूल रचयिता नहीं हैं, अपितु इनका संकलन और सम्पादन इन्होंने किया था। अतः पुराणों के मूल प्रणेता का विषय विचारणीय हो जाता है।

'अग्निपुराण' का रचयिता कौन था, इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही दे दिया गया है। इस पुराण को सूत मुनि ने शौनक आदि ऋषियों को सुनाया था तथा सूत ने इस विद्या को महर्षि व्यास से सीखा था। व्यास ने यह विद्या महर्षि वसिष्ठ से सीखी थी एवं वसिष्ठ ने यह उपदेश अग्नि से प्राप्त किया था। इस प्रकार मूल रूप में इस पुराण का उपदेश अग्नि ने वसिष्ठ को दिया था[३], अतः इस पुराण के प्रणेता अग्नि समझे जा सकते हैं।

अग्नि नामक किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के होने का प्रमाण नहीं मिलता। वे एक पौराणिक देवता हैं। अतः आधुनिक समालोचकों की दृष्टि में 'अग्निपुराण' के मूल लेखक का नाम जानना कठिन ही है। डा० एस०के० डे० लिखते हैं -

'अग्निपुराण' के लेखक का नाम अज्ञात है[४]। इसके लेखक के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न समयों में अनेक लेखकों ने इसको लिखा और संकलित किया तथा इसका अन्तिम रूप से संकलन और सम्पादन महर्षि व्यास ने किया था।

३. अग्निपुराण का समय

'अग्निपुराण' के समय को निर्धारित करना भी एक कठिन कार्य है। प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अनुसार 'अग्निपुराण' में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित सिद्धान्त सबसे पहले लिखे गये थे। महेश्वर ने 'काव्यप्रकाशादर्श' में लिखा है -

भरत ने अलङ्कारशास्त्र की सामग्री को 'अग्निपुराण' से लिया था और इसको संक्षिप्त करके कारिकाओं में निबद्ध किया था[५]। इसी प्रकार 'साहित्यकौमुदी' की टीका में विद्याभूषण लिखते हैं कि भरत ने 'अग्निपुराण' आदि को देख कर संक्षिप्त कारिकाओं द्वारा साहित्य की प्रक्रिया का निबन्धन किया था[६]। इस प्रकार 'अग्निपुराण' का समय भरत से भी पहले का प्रतिपादित होता है।

परन्तु आधुनिक समालोचकों के अनुसार 'अग्निपुराण' बहुत बाद की रचना है तथा इसका वर्तमान रूप भरत, भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन और भोज के भी बाद का है। 'अग्निपुराण' को इतना अर्वाचीन सिद्ध करने के लिये निम्न युक्तियां दी जाती हैं -

(१) 'अग्निपुराण' में 'रामायण', 'महाभारत', 'हरिवंश', पिंगल, धन्वन्तरि और सुश्रुत के उल्लेख हैं। इसमें शब्दकोष से सम्बन्धित सामग्री भी है। 'भगवद्गीता' को भी सार रूप में दिया गया है। लेखक द्वारा यह सम्पूर्ण सामग्री इन ग्रन्थों से ली गई होगी। अतः 'अग्निपुराण' की रचना इस सबके बाद हुई होगी। 'अमरकोष' के रचयिता अमरसिंह का समय चौथी शताब्दी ई० के पूर्व नहीं ले जाया जा सकता।

(२) 'अग्निपुराण' में भारती वृत्ति के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि भरत द्वारा प्रणीत होने से इसको भारती कहा गया है[७]। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में स्वयं यह

कहा है कि इस वृत्ति का प्रणयन इन्होंने स्वयं किया था[८]। 'नाट्यशास्त्र' के अनेक पद्य और पद्यांश 'अग्निपुराण' में उद्धृत हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि 'अग्निपुराण' की रचना निश्चित रूप से भरत के बाद हुई थी।

(३) 'अग्निपुराण' की अनेक परिभाषायें भामह और दण्डी से मिलती हैं। भामह के 'काव्यालङ्कार' में प्रस्तुत की गई रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति और पर्यायोक्त अलङ्कारों की परिभाषायें, लगभग 'अग्निपुराण' की ही हैं। भामह का कथन है कि इन परिभाषाओं की रचना उन्होंने स्वयं की थी[९]। रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति और समाधि अलंकारों की जो परिभाषायें 'अग्निपुराण' में दी गई हैं, वे दण्डी के 'काव्यादर्श' की परिभाषाओं से मिलती हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों ग्रन्थों के अनेक पद्यांश परस्पर समान हैं। अतः 'अग्निपुराण' को भामह और दण्डी की रचना मानना चाहिये।

(४) 'अग्निपुराण' के काव्यशास्त्रीय भाग का रचयिता ध्वनि सिद्धान्त से परिचित था[१०]। 'अग्निपुराण' में एक स्थान पर कहा गया है कि ध्वनि का पर्यायोक्त, अपह्नुति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा या आक्षेप अलंकारों में समावेश हो जाता है[११]।'ध्वन्यालोक' के दो पद्य **(१) अपारे काव्यसंसारे०** और **(२) शृङ्गारी चेत् कविः०** 'अग्निपुराण' में मिलते हैं[१२]। 'ध्वन्यालोक' के प्रसंगों से तथा उत्तरवर्ती टीकाकारों के कथन से यह प्रतीत होता है कि इन पद्यों की रचना स्वयं आनन्दवर्धन ने की थी। अतः 'अग्निपुराण' को आनन्दवर्धन के बाद की रचना मानना चाहिये।

(५) भोजकृत 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गारप्रकाश' का भी प्रभाव 'अग्निपुराण' पर पड़ा है। भोज ने 'शृङ्गारप्रकाश' में रससिद्धान्त का विवेचन किया था। उसने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में यह प्रतिपादित किया था कि शृङ्गार रस ही आनन्द, अहङ्कार तथा अभिमान रस है[१३]। 'अग्निपुराण' में इस सम्बन्ध में भोज का अनुसरण किया गया है। उसमें आनन्द, अहङ्कार और अभिमान के माध्यम से शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति निष्पन्न प्रदर्शित की गई है[१४]। भोज के अनुकरण में ही 'अग्निपुराण' में, शृङ्गार रस को सब रसों का मूल कहा गया है। पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी तथा लाटी इन चार रीतियों के जो लक्षण भोज ने दिये हैं, उनका अनुकरण बहुत कुछ 'अग्निपुराण' में हुआ है। डा०डे० ने यह प्रतिपादित किया था कि 'अग्निपुराण' के अनुकरण पर ही भोज ने अपने व्यापक रस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी। परन्तु काणे महोदय ने इस कथन का प्रबल खण्डन किया है[१५]।

(६) 'अग्निपुराण' बहुत बाद की रचना है, यह तथ्य इस बात से भी सिद्ध होता है कि काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने 'अग्निपुराण' को प्रमाण के रूप में कम उद्धृत

किया था। भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन, भोज आदि विद्वानों द्वारा भरत को तो आदर के साथ उद्धृत किया जाता रहा, परन्तु 'अग्निपुराण' को नहीं। सबसे पहले 'साहित्यदर्पण' के रचयिता विश्वनाथ ने, जो १४ वीं शताब्दी ई० में हुये थे, 'अग्निपुराण' को उद्धृत किया था[१६]। अतः 'अग्निपुराण' के काव्यशास्त्रीय भाग को बहुत प्राचीन मानना युक्तिसंगत नहीं है। यह रचना भरत, भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन और भोज के बाद की समझनी चाहिये।

परन्तु वर्तमान समय में उपलब्ध 'अग्निपुराण' की रचना समग्र रूप से भोज के बाद, अर्थात् १२ वीं शताब्दी ई० में हुई थी, यह कथन भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसके लिये निम्न युक्तियां प्रस्तुत की जाती हैं।

(१) 'अग्निपुराण' विश्वकोष के रूप में है तथा उसमें अनेक विषयों का संकलन है। प्रतीत होता है कि इसमें विभिन्न विषयों का संकलन विभिन्न समयों में होता रहा था। समय-समय पर इसका सम्पादन होता रहा होगा तथा इसमें श्लोकों की संख्या बढती रही होगी और घटाई भी जाती रही होगी। 'मत्स्यपुराण' (३५.२८-३०) तथा 'स्कन्दपुराण' (१.२.४७-५०) के अनुसार 'अग्निपुराण' में १६००० श्लोक होने चाहियें। परन्तु वर्तमान समय में उपलब्ध 'अग्निपुराण' में ११५०० श्लोक मिलते हैं। यह भी हो सकता है कि 'अग्निपुराण' के एक से अधिक संस्करण रहे हों। बल्लालसेन (१२ वीं शताब्दी ई०) ने अपने 'दानसागर' और 'अद्भुतसागर' ग्रन्थों में 'अग्निपुराण' के जो अंश उद्धृत किये हैं, उनका अधिकांश भाग वर्तमान समय में उपलब्ध 'अग्निपुराण' में नहीं है।

(२) डा० विलसन का कहना है कि 'अग्निपुराण' की रचना तथा संकलन एक समय में नहीं हुये थे। यह कार्य विभिन्न समयों में हुआ था[१७]। डा० विन्टरनिट्ज के अनुसार इस पुराण की रचना के समय को निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि इसमें परस्पर विरोधी विचारों का संकलन है[१८]।

(३) कुछ समालोचकों का यह विचार है कि 'अग्निपुराण' की रचना भारत पर मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के समय हुई होगी।'अग्निपुराण' में एक स्थल पर लिखा है कि इस देश के राजा म्लेच्छ होंगे और वे मनुष्यों का भक्षण करेंगे[१९]। ये म्लेच्छ मुसलमान ही थे, जिन्होंने नवीं शताब्दी ई० में भारत पर आक्रमण किया था। अतः 'अग्निपुराण' की रचना का समय नवम शताब्दी ई० निश्चित किया जा सकता है।

(४) 'अग्निपुराण' में जिन रीति-रिवाजों तथा सामाजिक व्यवहारों का उल्लेख है, उन पर तान्त्रिक उपासना पद्धति का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। अतः इस पुराण की रचना उस समय हुई होगी, जिस समय इस देश में तान्त्रिक पूजा आरम्भ हो गई थी।

तान्त्रिक पूजा का प्रारम्भ भारतवर्ष में ८ वीं-९ वीं शताब्दी ई० के लगभग हुआ था।

इन युक्तियों के आधार पर 'अग्निपुराण' की रचना की सम्भावना ९ वीं शताब्दी ई० के लगभग की मानी जा सकती है।

ऊपर कहे गये तथ्यों औरं तर्कों को दृष्टि में रख कर यह कहा जा सकता है कि अभी तक 'अग्निपुराण' की रचना के समय को निस्सन्दिग्ध रूप से निर्धारित नहीं किया जा सका है। इस विषय पर अधिक गम्भीर अध्ययन तथा अन्वेषण की आवश्यकता है।

४. अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का परिचय

'अग्निपुराण' के ३३७ से ३४७ तक के ११ अध्यायों में काव्यशास्त्र के विषयों का निरूपण किया गया है। इन ११ अध्यायों में ३६२ श्लोक हैं। अध्याय-क्रम से इनकी विषय-वस्तु निम्न प्रकार से है -

(i) अध्याय ३३७ -

इस अध्याय में सबसे पहले काव्य के महत्त्व, लक्षण, और भेदों का वर्णन किया गया है। तदनन्तर गद्य काव्य के भेदों-उपभेदों का विवेचन है। इसके पश्चात् पद्य-काव्य के भेदों का उल्लेख करके महाकाव्य के स्वरूप का विस्तृत वर्णन है। अन्त में काव्य के भेदों का संक्षेप में स्वरूप बताया गया है।

(ii) अध्याय ३३८ -

इस अध्याय में नाट्य सम्बन्धी विषयों को बताया गया है। इसमें रूपकों के दस भेदों तथा उपरूपकों का कथन किया गया है। तदनन्तर नाटकीय सामग्री - प्रस्तावना, पांच अर्थप्रकृतियां, पांच सन्धियां आदि उल्लिखित हैं। अन्त में श्रेष्ठ नाटक के गुण तथा उनमें अपेक्षित देश-काल पर विचार किया गया है।

(iii) अध्याय ३३९ -

यह अध्याय रस से सम्बन्धित है। इसमें रस, स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव आदि का वर्णन करके नायक तथा नायिका के भेदों तथा उनके गुणों का वर्णन है।

(iv) अध्याय ३४० -

यह अध्याय रीतियों और वृत्तियों से सम्बन्धित है। इसमें पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी इन चार रीतियों की विवेचना है। इसके अनन्तर भारती, सात्त्वती, कौशिकी (कैशिकी) और आरभटी इन चार वृत्तियों का निरूपण है।

(v) अध्याय ३४१ -

इस अध्याय में नायिकाओं की चेष्टाओं तथा उनके हाव-भावों का वर्णन किया गया है। तदनन्तर नृत्यकला में प्रयुक्त होने वाले अंगों - हाथ, पैर, आंख, पलक आदि के सञ्चालन की विधि बताई गयी है।

(vi) अध्याय ३४२ -

इस अध्याय में बताया गया है कि अभिनय के चार अंग हैं - सात्त्विक, वाचिक, आङ्गिक और आहार्य। इसके पश्चात् शृङ्गार आदि रसों के लक्षण और भेदों का निर्देश किया गया है। तदनन्तर अलङ्कार का लक्षण, उसके भेद एवं कुछ शब्दालङ्कारों का निरूपण है।

(vii) अध्याय ३४३ -

इस अध्याय में शब्दालङ्कार निरूपित हैं। इस प्रसंग में इन अलङ्कारों का निरूपण है - अनुप्रास, यमक और उसके दस भेद, चित्रकाव्य और उसके सात भेद, प्रहेलिका और उसके सोलह भेद, गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र, बन्ध आदि अलङ्कार।

(viii) अध्याय ३४४ -

इस अध्याय का विषय अर्थालङ्कार हैं। इसमें उपमा, रूपक, सहोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारों के लक्षण और भेद बताये गये हैं।

(ix) अध्याय ३४५ -

इस अध्याय का मुख्य विषय शब्दार्थालङ्कार हैं। ये अलङ्कार ६ प्रकार के हैं- प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता, और अभिव्यक्ति। इन अलङ्कारों का निरूपण करके समाधि, आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्त अलङ्कारों की विवेचना है। लेखक ने यह भी प्रतिपादित किया है कि ध्वनि का समावेश इन्ही अलङ्कारों में हो जाता है।

(x) अध्याय ३४६ -

यह अध्याय गुणों के विवेचन से सम्बन्धित है। इसमें गुण की परिभाषा, महत्त्व तथा भेदों का विवेचन किया गया है। यहां सात शब्द-गुण, छः अर्थ-गुण और छः शब्दार्थ-गुण बताये गये हैं।

(xi) अध्याय ३४७ -

यह अध्याय मुख्य रूप से दोषों की विवेचना करता है। सर्वप्रथम सात प्रमुख दोष बताकर पुनः उनके भेद कहे गये हैं। दोषों के परिहार का उपाय भी बताया गया है। अन्त मे कवियों के समुदाचार का वर्णन है।

५. अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का स्रोत तथा उनका उत्तरवर्ती साहित्य पर प्रभाव

पहले कहा जा चुका है कि भारतीय परम्पराओं के अनुसार भारतीय काव्यशास्त्र का मूल स्रोत 'अग्निपुराण' का काव्यशास्त्रीय भाग है। भरत ने इस ग्रन्थ से सामग्री लेकर काव्यशास्त्र के नियमों का प्रतिपादन किया था। महेश्वर लिखित 'काव्यप्रकाशादर्श' तथा 'साहित्यकौमुदी' की विद्याभूषणकृत 'कृष्णनन्दिनी' टीका से यह कथन सिद्ध होता

है। इनके अनुसार 'अग्निपुराण' ही भारतीय काव्यशास्त्र का मूल है।

परन्तु आधुनिक आलोचक इस मत को स्वीकार नहीं करते। इनका मत है कि 'अग्निपुराण' बहुत बाद की रचना है। यह पुराण नवीं शताब्दी ई० में या इसके भी बहुत बाद लिखा गया था। विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का इस पर प्रभाव पड़ा था और उन ग्रन्थों से 'अग्निपुराण' में सामग्री संकलित की गई थी। पी० वी० काणे महोदय का मत है -

"अनेक अलङ्कारों - रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, विभावना आदि का लक्षण करने, पद्य की परिभाषा करने आदि में भामह के 'काव्यालङ्कार' और दण्डी के 'काव्यादर्श' का 'अग्निपुराण' पर प्रभाव पड़ा है। भोज के रस सिद्धान्त का भी 'अग्निपुराण' पर प्रभाव है। इसमें ध्वनि का भी उल्लेख है[२०]।" परन्तु दूसरे समालोचक काणे महोदय के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है -

"यह हो सकता है कि 'अग्निपुराण' की रचना भरत के 'नाट्यशास्त्र' के बाद हुई हो, परन्तु इसका लेखन अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से पहले ही हुआ था। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का मत है कि दण्डी और भामह की रचनाओं का स्रोत 'अग्निपुराण' है तथा यह ग्रन्थ भरत के बाद एवं भामह और दण्डी से पहले लिखा गया था[२१]।"

'अग्निपुराण' में अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नवीन ढंग से किया गया है। इसमें कुछ ऐसे भी तथ्य हैं, जो दूसरे ग्रन्थों में नहीं हैं। गुणों और दोषों का वर्गीकरण एवं विवेचन इस पुराण में दूसरे प्रकार से किया गया है। इसी प्रकार शृङ्गार रस को अभिमान एवं अहङ्कार से उत्पन्न मानना भी नवीन कल्पना प्रतीत होती है। भोज ने भी इस तथ्य का विस्तृत विवेचन किया था। इस पुराण में अलङ्कारों का वर्गीकरण भी नये प्रकार से किया गया था।

'अग्निपुराण' को उत्तरवर्ती आचार्यों - आनन्दवर्धन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, राजशेखर आदि ने प्रमाण के रूप में उद्धृत नहीं किया। सबसे पहले विश्वनाथ (१४ वीं शताब्दी ई०) ने 'साहित्यदर्पण' में इस पुराण को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया। इससे प्रतीत होता है कि इस पुराण ने उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को अधिक प्रभावित नहीं किया। उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इसको मान्यता भी अधिक नहीं दी। तथापि यदि इस पुराण को भामह और दण्डी की रचनाओं से पहले का मान लिया जावे, जैसा कि सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का अभिमत है, तो 'काव्यालङ्कार', 'काव्यादर्श', 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'शृङ्गारप्रकाश' आदि ग्रन्थ इससे प्रभावित समझे जा सकते हैं।

सन्दर्भ-

१ बलदेव उपाध्यायकृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५१।।

२ ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर - (प्रथम भाग) विन्टरनिट्ज, पृ० ५६६।।

३ यत्तदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्य च।
वसिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत्प्रचक्ष्यते ।। अग्निपुराण १.१६।।

४ ए हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स - एस० के० डे०, पृष्ठ २५४।।

५ सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुम् अग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणम् अलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।।
काव्यप्रकाशादर्श।।

६ काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणदि दृष्ट्वा साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबबन्ध।।
साहित्यकौमुदी की विद्याभूषणकृत कृष्णनन्दिनी टीका।।

७. भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती वृत्तिरुच्यते।। अग्निपुराण ३३९.६।।

८. स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता।
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः।। नाट्यशास्त्र २०.२६।।

९ गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः।
स्वयं विनिश्चित्य क्रिया मयोदितः।। काव्याङ्कार ३.८५।।

१० स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः।। अग्निपुराण ३४४.१४।।

११ एषामेकतमस्यैव समाख्या ध्वनिरित्यतः।। अग्निपुराण ३४४.८१।।

१२ अग्निपुराण ३३८.१०-११।।

१३ सरस्वतीकण्ठाभरण ५.१-४।।

१४ अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया।।
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्।।
अभिमानाद् रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते।।
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।। अग्निपुराण ३३८.१-५।।

१५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे - पृ० १०।।

१६. साहित्यदर्पण - १.२ की वृत्ति ।।

१७. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० ५६६।।

१८. विष्णुपुराण की भूमिका में उद्धृत - एम० एन० दत्त - पृ० ६।।

१९. मनुष्यान् भक्षयिष्यन्ति मलेच्छाः पार्थिवरूपिणः ।। अग्निपुराण १६.७।।

२१ संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे, पृ० ८ -११।।।

२२ संस्कृत साहित्य का इतिहास - सेठ कन्हैयालाल पोद्दार - पृ० १२।।

पञ्चम अध्याय

विष्णुधर्मोत्तरपुराण

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में भी काव्यशास्त्र सम्बन्धी प्रचुर सामग्री है। अतः काव्यशास्त्र का विवरण प्रस्तुत करते हुये इस पुराण का भी विवरण देना उचित है।

१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण का महत्त्व

पुराणों में धार्मिक विषयों के वर्णन के साथ ही अनेक लौकिक विषयों का संकलन भी किया गया है। इस विषय में 'अग्निपुराण', जिसका उल्लेख ऊपर के अध्याय में किया जा चुका है, बहुत प्रसिद्ध है। 'अग्निपुराण' में काव्यशास्त्र के विषयों की विस्तृत चर्चा है। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में भी काव्यशास्त्र के विषयों का प्रतिपादन दृष्टिगोचर हुआ है। सबसे पहले पी०वी० काणे का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने लिखा -

"'अग्निपुराण' के समान 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में भी काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के विषय की महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। यह सामग्री इस पुराण के तीसरे खण्ड के पहले ३५ अध्यायों में संकलित है। इनमें १८, १९, ३२ और ३३ अध्याय गद्य में हैं तथा शेष अध्यायों में लगभग १००० श्लोक हैं।"

२. विष्णुधर्मोत्तरपुराण का समय

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' की रचना छठी शताब्दी ई० के लगभग हुई होगी। इसकी पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती सीमायें निम्न प्रकार से निर्धारित की जा सकती हैं -

(१) 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में अलङ्कारशास्त्रीय सिद्धान्तों के सम्बन्ध में बहुत कुछ भरत के 'नाट्यशास्त्र' का अनुकरण किया गया है। इसलिये भरत के 'नाट्यशास्त्र' की तुलना में इसको बहुत बाद का होना चाहिये।

(२) 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में १७ अलङ्कारों के नाम तथा उनकी परिभाषायें दी गई हैं। भट्टि ने ३६ अलङ्कारों के उदाहरण दिये हैं। दण्डी, भामह और वामन ने ३० से ४० अलङ्कारों का वर्णन किया है। इनसे पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों ने चार, पांच या आठ ही अलङ्कारों का वर्णन किया था। भरत ने केवल चार अलङ्कार प्रदर्शित किये थे। भामह के अनुसार पूर्ववर्ती आचार्यों ने केवल पांच ही अलङ्कार बताये थे।[१] उद्भट का कहना था कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने केवल ८ अलङ्कारों को प्रस्तुत किया था[२]। अतः

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' को भरत के तथा पांच या आठ अलङ्कारों का वर्णन करने वाले आचार्यों के बाद का मानना चाहिए। इसके साथ ही इसको भट्टि, भामह आदि से पहले का समझना चाहिये। भट्‌ट का समय सातवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध है।

(३) 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में 'गीता', 'मनुस्मृति', 'नाट्यशास्त्र' तथा 'नारदस्मृति' को उद्धृत किया गया है। इस पुराण के दूसरे खण्ड में वराहमिहिर की 'बृहद्योगयात्रा' के उद्धरण हैं।[३] अतः इस पुराण को छठी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध का मानना उचित होगा।

(४) बल्लालसेन (१२ वीं शताब्दी ई०) ने 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के तीसरे खण्ड के अनेक श्लोकों को अपने 'दानसागर' ग्रन्थ में उद्धृत किया था। उसने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से लिखा कि उनका ग्रन्थ 'विष्णुधर्मोत्तर' तथा अन्य पुराणों पर आधारित है[४]।

(५) अलबेरुनि (१०३० ई०) ने अपने इतिहास ग्रन्थ में 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के ३० पाठों को उद्धृत किया था।

ऊपर कही गयी युक्तियों को देखते हुये 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' का सम्भावित समय ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध हो सकता है।

३. विष्णुधर्मोत्तरपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का परिचय

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के तीसरे खण्ड के पहले ३५ अध्यायों में अलङ्कारशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के विषयों से सम्बन्धित सामग्री संकलित है। अध्याय के क्रम से यह इस प्रकार है -

(i) पहला अध्याय -

पहला अध्याय बज्र और मार्कण्डेय के सम्वाद के साथ प्रारम्भ होता है। इसमें बताया गया है कि चित्रसूत्र[५] के विधान के अनुसार निर्मित देवता की पूजा करनी चाहिये[६]।

(ii) दूसरा अध्याय -

दूसरे अध्याय में यह बताया गया है कि चित्रसूत्र के ज्ञान के विना मूर्तिकला समझ में नहीं आती, नृत्तशास्त्र के ज्ञान के विना चित्रसूत्र समझ में नहीं आता, वाद्य के विना नृत्त सम्भव नहीं है और गीत के विना वाद्य में पटुता नहीं आती। गीत तीन भाषाओं - प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत में होते हैं। देशी भाषाओं की विशेषता से अपभ्रंश भाषायें अनेक प्रकार की होती हैं।

(iii) तीसरा अध्याय -

इस अध्याय में छन्द की परीक्षा है।

(iv) चौथा अध्याय -

इस अध्याय में वाक्य की परीक्षा है।

(v) पांचवां अध्याय -

पांचवें अध्याय में अनुमान के पांच अवयवों; सूत्र की छः व्याख्याओं; प्रत्यक्ष-अनुमान-आप्तवाक्य इन तीन प्रमाणों की परिभाषाओं; स्मृति, उपमान तथा अर्थापत्ति का वर्णन किया गया है।

(vi) छठा अध्याय -

छठे अध्याय में तन्त्रयुक्ति की व्याख्या है।

(vii) सातवां अध्याय -

सातवें अध्याय में विभिन्न प्राकृतों का वर्णन है।

(viii) आठवां अध्याय -

आठवें अध्याय में देव आदि शब्दों के पर्याय दिये गये हैं।

(ix-x) नवां-दसवां अध्याय -

नवें तथा दसवें अध्याय में शब्दकोश है।

(xi-xii-xiii) ग्यारह-बारह-तेरहवां अध्याय -

११ वें, १२ वें तथा १३ वें अध्याय में लिंगानुशासन है। प्रत्येक अध्याय में १५ श्लोक हैं।

(xiv) चौदहवां अध्याय -

१४ वें अध्याय में अलङ्कारों के नाम तथा परिभाषायें दी गई हैं। यहां निम्न अलङ्कारों का वर्णन है - अनुप्रास, रूपक, यमक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, उपन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, वार्ता, यथासंख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निन्दास्तुति, निदर्शन और अनन्वय।

(xv) पन्द्रहवां अध्याय -

पन्द्रहवें अध्याय में काव्य का निरूपण किया गया है। इसका शास्त्र और इतिहास से भेद भी बताया गया है। इसमें कहा गया है कि काव्य की रचना रस से युक्त होनी चाहिए। रसों की संख्या ९ बताई गई है।

(xvi) सोलहवां अध्याय -

सोलहवें अध्याय में २१ प्रहेलिकाओं का निरूपण है।

(xvii) सतरहवां अध्याय -

सतरहवें अध्याय में रूपकों का निरूपण है। रूपकों की संख्या १२ कही गई है। भरत ने रूपकों की संख्या १० बताई थी। इसमें बताया गया है कि किन दृश्यों का प्रदर्शन रंगमंच पर साक्षात् रूप से नहीं होना चाहिये और उनको प्रवेशक द्वारा सूचित करना

चाहिये[७]। इस अध्याय में आठ प्रकार की नायिकाओं का भी वर्णन है।

(xviii) अठारहवां अध्याय -

अठारहवां अध्याय अधिकांशतः गद्य में है। इसमें गति, स्वर, ग्राम तथा मूर्छनाओं का वर्णन है।

(xix) उन्नीसवां अध्याय -

उन्नीसवां अध्याय भी गद्य में है। इसमें निम्न विषयों का प्रतिपादन है - चार प्रकार के वाद्य, २० मण्डल, ३६ अंगहार, १०८ करण, पिण्डीबन्ध, चार वृत्तियां और चार प्रवृत्तियां।

(xx) बीसवां अध्याय -

बीसवें अध्याय में नाट्य की परिभाषा देकर नृत्त को उसका शोभाधायक कहा गया है[८]। इसमें चार प्रकार के अभिनयों का वर्णन है।

(xxi-xxii-xxiii) इक्कीस-बाईस-तेईसवां अध्याय -

२१, २२, और २३ वें अध्यायों में शय्या, आसन तथा स्थानकों का प्रतिपादन है।

(xxiv-xxv) चौबीस-पच्चीसवां अध्याय -

२४ तथा २५ वें अध्यायों में आंगिक अभिनय का वर्णन है।

(xxvi) छब्बीसवां अध्याय -

२६ वें अध्याय में नृत्त के १३ संयुक्त और २२ असंयुक्त संकेत बताये गये हैं। नृत्त में हाथों की गतियों की विशेषता होती है[९]।

(xxvii) सत्ताईसवां अध्याय -

२७ वें अध्याय में पुस्त, अलङ्कार, अंगरचना तथा सञ्जीव के भेद से चार प्रकार के आहार्य अभिनय का प्रतिपादन किया गया है।

(xxviii) अठाईसवां अध्याय -

२८ वें अध्याय में सामान्य अभिनय का वर्णन है।

(xxix) उन्तीसवां अध्याय -

२९ वें अध्याय में यह बताया गया है कि रंगमञ्च पर विभिन्न प्रकार के पात्रों की गति किस प्रकार होनी चाहिये।

(xxx) तीसवां अध्याय -

३० वें अध्याय में रसों का विस्तृत विवेचन है। नाट्य में ९ प्रकार के रस कहे गये हैं।

(xxxi) इकतीसवां अध्याय -

३१ वें अध्याय में ५८ श्लोकों में भावों का निरूपण है। इसमें ४९ प्रकार के

भाव कहे गये हैं। स्थायी भावों तथा सञ्चारी भावों का भेद भी समझाया गया है[१०]।

(xxxii) बत्तीसवां अध्याय -

३२ वे अध्याय में हस्तमुद्राओं का वर्णन है।

(xxxiii) तैंतीसवां अध्याय -

३३ वें अध्याय में नृत्यशास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न मुद्राओं का वर्णन किया गया है।

(xxxiv) चौतीसवां अध्याय -

३४ वें अध्याय में यह बताया गया है कि नृत्य की उत्पत्ति कैसे हुई। जब मधु और कैटभ नाम के दो दैत्य वेदों को लेकर भाग गये तो भगवान् विष्णु का उनसे युद्ध हुआ। इस युद्ध से ही नृत्य की उत्पत्ति हुई[११]। इस अध्याय में नृत्य का उद्देश्य भी बताया गया है। नृत्य का विक्रय करने वाले की निन्दा की गई है। नृत्य का उद्देश्य देवताओं की आराधना करना है। इससे सभी कामनायें पूर्ण होती हैं और मोक्ष प्राप्त होता है। यह यश और आयु को देने वाला है तथा स्वर्ग प्रदान करता है। यह ऐश्वर्यशालियों का विलास है, पीड़ितों के दुःख का विनाशक है, मूर्खों को उपदेश करने वाला है और स्त्रियों के सौभाग्य को बढाने वाला है[१२]।

(xxxv) पैंतीसवां अध्याय -

३५ वें अध्याय में इस प्रकरण का उपसंहार है। इसमें बताया गया है कि नारायण ने चित्रसूत्र की रचना की थी। तदनन्तर उन्होंने विश्वकर्मा को इसकी शिक्षा दी। नृत्य के समान ही चित्रकला में भी तीनों लोकों का अनुसरण होता है।

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के इस खण्ड के अगले अध्यायों में चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्य कला का वर्णन किया गया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में अलङ्कारशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित प्रचुर मूल्यवान् सामग्री संकलित है। यह पुराण भी 'अग्निपुराण' के समान ही एक प्रकार का विश्वकोश है। अलङ्कारशास्त्र के विषयों को जानने के लिये यह पुराण भी उत्तम सामग्री प्रदान करता है।

सन्दर्भ-

१. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः।। भामह - काव्यालङ्कार २.४।।

२ पुनरुक्तवदाभासो छेकानुप्रास एव च।
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतु ।।
उपमा दीपकं चैव प्रतिवस्तूपमा तथा ।
इत्येत एवालङ्कारा वाचां कैश्चिदुदाहृता: ।। काव्याङ्लकारसारसंग्रह १.१०२ ।।

३. विष्णुधर्मोत्तरपुराण २.१७६ तथा ९.११ ।।

४. दानसागर - प्रस्तावना - श्लोक १४ ।।

५. चित्रकला, मूर्तिकला, नाट्यकला तथा काव्यशास्त्र के नियमों के प्रतिपादन को चित्रसूत्र कहा जाता है। इसके अध्ययन का विधान कुट्टनीमत में किया गया है। कुट्टनीमत - श्लोक १२३ ।।

६. चित्रसूत्रविधानेन देवतार्चां विनिर्मिताम्।
सुरूपां पूजयेद् विद्वान् तत्र सन्निहितो भवेत्।। विष्णुधर्मोत्तरपुराण १.७।।

७. मरणं राज्यविभ्रंशो नगरस्योपरोधनम्।
एतानि दर्शयिन्नाङ्के तथा युद्धं च पार्थिव।।
प्रवेशकेन कर्तव्यं तेषामाख्यानकं बुधै: ।। विष्णुधर्मोत्तरपुराण १७.१२-१३।।

८. परस्यानुकृतिर्नाट्यं नाट्यज्ञै: कथितं नृप।
तस्य संस्कारकं नृत्तं भवेच्छोभाविवर्धनम् ।। विष्णुधर्मोत्तरपुराण २०.१।।

९. सर्वं करायत्तं हि नृत्तम्।। वही २६.१५ ।।

१०. बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रस: स्थायी शेषा: सञ्चारिण: स्मृता:।। वही ३१.५३ ।।

११. नाट्यशास्त्र २२.१-२३ में भी नृत्य की उत्पत्ति इसी प्रकार बताई गई है।

१२. देवताराधनं कुर्याद्यस्तु नृत्तेन धर्मवित्।
स सर्वकामानवाप्नोति मोक्षोपायं च विन्दति।।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्गलोकप्रदं तथा।
ईश्वराणां विलासं तु चार्तानां दु:खनाशनम्।
मूढानामुपदेशं तत् स्त्रीणां सौभाग्यवर्णनम्।। विष्णुधर्मोत्तरपुराण अ० ३४।।

छठा अध्याय

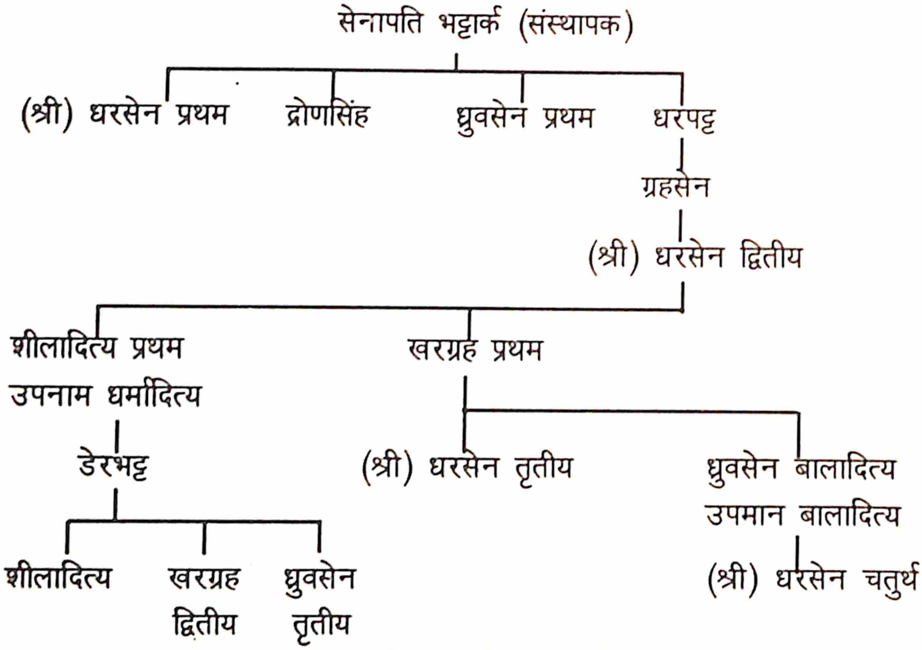
भट्टि

१. भट्टि का महत्त्व

अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों में सामान्य रूप से भट्टि का भी परिगणन किया जाता है। इनकी एक ही रचना इस समय उपलब्ध है, जिसका नाम 'भट्टिकाव्य' या 'रावणवध' है। इस काव्य में भट्टि ने 'रामायण' की कथा का वर्णन किया है, जिसमें राम और लक्ष्मण के महर्षि विश्वामित्र के साथ वन में जाने से लेकर रावण-वध तक की कथा कही गई है। इस काव्य में भट्टि ने 'रामायण' की कथा कहने के निमित्त से व्याकरणशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र के नियमों के उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। अत: इस काव्य को शास्त्रकाव्य कहा जा सकता है। व्याकरण जानने वालों के लिये यह ग्रन्थ दीपक के समान है, परन्तु व्याकरण न जानने वालों के लिये इस ग्रन्थ का होना इसी प्रकार है, जैसे अन्धे के हाथ दर्पण[१]।

२. भट्टि का समय

भट्टि के ही कथन के अनुसार 'भट्टिकाव्य' की रचना श्रीधरसेन के राज्य-काल में सौराष्ट्र की राजधानी बलभी नगरी में हुई थी[२]। अत: भट्टि के समय को निर्धारित करने के लिये सौराष्ट्र के राजा श्रीधरसेन के समय का निर्धारण करना चाहिये। बलभी के राजवंश के एक सौ से अधिक ताम्रपत्र अब तक प्राप्त हो चुके हैं। इनसे विदित होता है कि बलभी में श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुये थे। इनका समय ५०२ ई० से लेकर ६४१ ई० तक का है। इन राजाओं की वंशतालिका पी० वी० काणे ने इस प्रकार प्रस्तुत की है[३] -



इस राजवंश की तालिका में श्रीधरसेन नाम के चार राजा हैं। यह विश्लेषण करना चाहिये कि इनमें किस श्रीधरसेन के समय में भट्टि हुये होंगे।

(i) श्रीधरसेन द्वितीय के ताम्रपात्रों में किसी भट्टि नामक विद्वान् को कुछ भूमि देने का उल्लेख है। अतः समालोचकों ने अनुमान किया है कि भट्टि की स्थिति श्रीधरसेन द्वितीय के समय में (६०० ई० के लगभग) रही होगी।

(ii) भट्टि ने अपने आश्रयदाता को नरेन्द्र कहा है। श्रीधरसेन प्रथम को सेनापति के नाम से और श्रीधरसेन चतुर्थ को महाराजाधिराज परमेश्वर चक्रवर्ती के विरुद से लिखा गया है। अत इन दोनों के शासनकाल में भट्टि का होना सम्भव प्रतीत नहीं होता । इस कारण उनको श्रीधरसेन द्वितीय या तृतीय के समकालीन होना चाहिये।

(iii) कीथ का कथन है कि भट्टि को श्रीधरसेन प्रथम का समकालीन मानना चाहिये। उनकी इस सम्बन्ध में युक्ति यह है कि भट्टि ने जितने अलङ्कारों के उदाहरण दिये हैं, दण्डी और भामह ने प्रायः उतने ही अलङ्कारों का वर्णन किया है। अतः भट्टि उनसे पहले हुये थे। इसके अतिरिक्त भट्टि तथा इन दोनों आचार्यों के मध्य का समय भी बहुत कम होना चाहिये।

(iv) जयादित्य एवं वामनकृत 'पाणिनीयाष्टक' की 'काशिकावृत्ति' में निम्न श्लोक है -

वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनामपारायणादिषु।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः।।

इस वृत्ति के 'काशिकाविवरणपञ्जिका' भाष्य में जिनेन्द्रबुद्धि का कहना है कि चूल्लि, भट्टि और नल्लूर ने पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या 'काशिका' से पहले की थी। इससे सिद्ध है कि भट्टि का समय जयादित्य से पहले रहा होगा। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार जयादित्य की मृत्यु का समय ६६१ ई० था। अतः भट्टि को ६०० ई० का माना जा सकता है।

(v) श्री वी० सी० मजूमदार ने मन्दसौर के सूर्य मन्दिर में प्राप्त शिलालेख के रचयिता वत्सभट्टि के साथ 'भट्टिकाव्य' के रचयिता भट्टि की एकता को प्रतिपादित किया है और इसके द्वारा उन्होंने भट्टि का समय श्रीधरसेन प्रथम के युग का या इससे भी पहले का निर्धारित किया है। परन्तु इस एकता के लिये कोई अच्छा प्रमाण नहीं है तथा इसका खण्डन किया जा चुका है। इस एकत्व के लिये प्रमाण यह दिया जाता है कि दोनों लेखकों का शरद् वर्णन एकसा है, अतः ये दोनों लेखक एक ही हैं। परन्तु केवल शरद् वर्णन में समानता के आधार पर दोनों को एक नहीं माना जा सकता। अन्य प्रमाणों से उनकी भिन्नता स्पष्ट सिद्ध है।

ऊपर दिये गये विवरण के आधार पर भट्टि का समय ६००-६४४ ई० के मध्य का निर्धारित किया जा सकता है।

३. भट्टिकाव्य का शास्त्रीय परिचय

'भट्टिकाव्य' में २२ सर्ग तथा १६२४ श्लोक हैं। ये २२ सर्ग ४ काण्डों में विभक्त किये गये हैं -

(१) प्रकीर्ण काण्ड (१-५ सर्ग),
(२) अधिकार काण्ड (६-९ सर्ग)
(३) प्रसन्न काण्ड (१०-१३ सर्ग)
(४) तिङन्त काण्ड (१४-२२ सर्ग)

इस काव्य के तीसरे काण्ड (प्रसन्न काण्ड) में अलङ्कारशास्त्र से सम्बन्धित नियमों और उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है। सर्ग के क्रम से इनको इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

(i) दसवें सर्ग में ३८ अलङ्कारों के उदाहरण हैं। इनमें अनुप्रास और यमक दो शब्दालङ्कार तथा शेष अर्थालङ्कार हैं। इस सर्ग में ७५ श्लोक हैं।
(ii) ग्यारहवें सर्ग के ४७ श्लोकों में माधुर्य गुण के उदाहरण दिये गये हैं।
(iii) बारहवें सर्ग में ८७ श्लोक हैं। इनमें भाविक नामक अलङ्कार के उदाहरण हैं। भामह और दण्डी ने भाविक को प्रबन्ध का विषय माना है।
(iv) तेरहवें सर्ग में ५० श्लोक हैं तथा इसमें भाषासम के उदाहरण हैं। इसमें ऐसे श्लोक भी हैं, जो संस्कृत और प्राकृत में समान हैं।

'भट्टिकाव्य' के प्रसन्न काण्ड में चार सर्गों में विद्यमान इन आलंकारिक तत्त्वों के कारण ही भट्टि को काव्यशास्त्र के आचार्यों में स्थान प्राप्त हो सका है। भट्टि ने जिन अलङ्कारों को उदाहरण के रूप में जिस क्रम से प्रस्तुत किया है, प्राय: वे ही अलङ्कार उसी क्रम से भामह और दण्डी के अलङ्कार ग्रन्थों में हैं। इस आधार पर अनेक समालोचकों का विचार है कि भट्टि ने भामह और दण्डी का अनुसरण किया था। वे इनके पश्चाद्वर्ती थे। दूसरे समालोचकों का विचार इससे विपरीत है। वे कहते हैं कि भामह और दण्डी ने भट्टि का अनुकरण करके अपने अलङ्कार ग्रन्थों में अलङ्कारों का निरूपण किया था।

परन्तु ये दोनों ही मत भ्रमपूर्ण हैं। यदि भामह, दण्डी और भट्टि के ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन किया जावे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह, दण्डी और भट्टि में से किसी ने किसी का अनुकरण नहीं किया था। इनमें यदि कुछ समानता है तो अनेक स्थानों पर भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिये -

(१) भामह ने विरोध अलङ्कार के पश्चात् तुल्ययोगिता का उदाहरण दिया है, जबकि भट्टि ने तुल्ययोगिता अलङ्कार को उपमा एवं रूपक अलङ्कार से बाद में तथा विरोध से पहले रखा।

(२) भामह ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार का लक्षण तो दिया, परन्तु भट्टि ने उसका उदाहरण नहीं दिया।

(३) भट्टि द्वारा प्रस्तुत हेतु और वार्ता नामक अलङ्कार भामह और दण्डी द्वारा स्वीकार नहीं किये गये थे।

(४) भट्टि ने निपुण नामक अलङ्कार का उदाहरण दिया है, जबकि भामह और दण्डी इसको अलङ्कारों में नहीं गिनते।

(५) भट्टि ने श्लेष तथा सूक्ष्म नामक अलङ्कारों के उदाहरण नहीं दिये, जबकि दण्डी श्लेष, सूक्ष्म तथा हेतु अलङ्कारों को उत्तम अलङ्कार मानते हैं। भामह इन तीनों को ही अलङ्कार नहीं मानते ।

(६) भट्टि और दण्डी ने यमक को बहुत विस्तार से दिया है, जबकि भामह ने इसको संक्षेप से दिया है।

अत: यह नहीं कहा जा सकता कि इन आलङ्कारिकों में से एक ने दूसरे का अनुसरण किया था।

४. भट्टिकाव्य की प्राचीन टीकायें

'भट्टिकाव्य' पर प्राचीन काल में अनेक टीकायें लिखी गई थीं। इनमें से वर्तमान समय में दो टीकायें उपलब्ध हैं -

(१) एक टीका 'जयमंगला' है। यह प्राचीन टीका है, जो सम्भवत: नवम

शताब्दी ई० में लिखी गई होगी। इस टीकाकार ने भट्टि के पिता के नाम का उल्लेख किया है। इसके अनुसार भट्टि के पिता श्रीस्वामी थे।

(२) दूसरी टीका मल्लिनाथविरचित है। इसके अनुसार भट्टि के पिता का नाम श्रीधरस्वामी था।

ये दोनों टीकायें प्रकाशित हो चुकी हैं।

यह प्रायः प्रश्नचिन्ह बना रहा है कि भट्टि को अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों में गिना जावे या नहीं। परन्तु अलङ्कारशास्त्र के विषयों का विवेचन उदाहरणों द्वारा करने के कारण इनको यह स्थान प्राप्त हुआ। भट्टि का ग्रन्थ अपने समय में न केवल अपने देश में, अपितु दूसरे देशों में भी प्रसिद्ध हुआ। डा० ह्यूकास ने 'भट्टिकाव्य' के अलङ्कार भाग पर एक निबन्ध लिखा था। उनका कथन है कि प्राचीन जावा भाषा में उपलब्ध 'रामायण' पर 'भट्टिकाव्य' का प्रभाव है।

सन्दर्भ –

१. दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ।। भट्टिकाव्य २२.२३।।

२. काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां
श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम् ।
कीर्तिरतां भवतान्नृपस्य तस्य
प्रेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्।। भट्टिकाव्य २२.३५।।

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे, पृ० ४९।।

४. सर राल्फ टरनर अभिनन्दन ग्रन्थ ।। पृ० ३५१।।

सातवां अध्याय

भामह

१. भामह का महत्त्व

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रणेताओं में भामह का महत्त्व बहुत अधिक है। भरत मुनि के पश्चात् वे काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हुये थे। भरत को 'नाट्यशास्त्र' का प्रथम आचार्य माना जावे, तो भामह अलङ्कारशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं। काव्यशास्त्र के उत्तरवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने भामह तथा उनकी कृति 'काव्यालङ्कार' का आदर के साथ उल्लेख किया है तथा उनको प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। अनेक आचार्यों ने उनके ग्रन्थ से विषय-वस्तु ग्रहण की है। जिन आचार्यों का भामह के साथ मतभेद भी है, उन्होंने भी उनको आदर के साथ स्मरण किया है। भामह ने न केवल प्राचीन आचार्यों को ही प्रभावित किया था, अपितु आधुनिक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान् भी उनकी ओर आकृष्ट हुये हैं। भामह के सम्बन्ध में विविध पक्षों का अन्वेषण करके नये ऐतिहासिक तथ्यों की खोज की गई है।

काव्यशास्त्र के इतिहास में भामह का महत्त्व अनेक कारणों से है। उनको संक्षेप से निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है -

(i) भामह की रचना 'काव्यालङ्कार' काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। यद्यपि भरत का 'नाट्यशास्त्र' भामह की इस रचना से बहुत प्राचीन है, तथापि वह मुख्य रूप से नाट्य से सम्बन्धित है। भामह ने काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र से पृथक् करके इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ की रचना की और काव्य के सभी अंगों पर विचार किया।

(ii) भामह ने सबसे पहले काव्य के शरीर का स्वरूप निर्धारित किया था और बताया था कि शब्द और अर्थ मिल कर काव्य होते हैं[१]। उत्तरवर्ती मम्मट आदि अधिकांश आचार्यों ने भामह के इस मत को स्वीकार किया। परन्तु भामह काव्य की आत्मा को स्पष्ट नहीं कर सके थे, जिसको कि बहुत बाद में आनन्दवर्धन ने परिभाषित किया।

(iii) भामह ने काव्य के प्रमुख अंगों - गुण, अलङ्कार आदि का विशद विवेचन किया था। भरत ने दस गुणों की तथा दण्डी ने भी दस गुणों की गणना की थी।

वामन ने २० गुण बताये थे - दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण। परन्तु सबसे पहले भामह ने ही यह प्रतिपादित किया था कि काव्य में तीन ही गुण होते हैं - माधुर्य, ओजः और प्रसाद। उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों की संख्या के सम्बन्ध में भामह के अभिमत को स्वीकार करके तीन ही गुण माने, यद्यपि गुणों की परिभाषा के सम्बन्ध में उनका भामह से मतभेद रहा।

(iv) भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में केवल चार ही अलङ्कार बताये थे। भामह भरत के बहुत बाद में हुये। उन्होंने अलङ्कारों का विशद विवेचन करके अनेक अलङ्कारों की उद्भावना की। भामह ने निम्न अलङ्कारों का निरूपण किया -

अनुप्रास (दो भेद), यमक (पांच भेद), रूपक (दो भेद), दीपक, उपमा (सात दोषों सहित), प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप (दो भेद), अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (दो भेद), श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक, आशीः।

(v) भामह ने यह मान्यता प्रस्तुत की थी कि वक्रोक्ति के विना अलङ्कार नहीं हो सकता[२]। हेतु, सूक्ष्म और लेश को उन्होंने इसी कारण अलङ्कार नहीं माना, क्योंकि उनमें वक्रोक्ति नहीं है[३]। काव्यशास्त्र के इतिहास में वक्रोक्ति का बहुत अधिक महत्त्व रहा है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राण प्रतिपादित किया था और इस प्रकार वक्रोक्ति सम्प्रदाय को जन्म दिया। यद्यपि भामह द्वारा कथित वक्रोक्ति का रूप पूर्णतः वही नहीं है, जिसका प्रतिपादन कुन्तक ने किया था, तथापि वक्रोक्ति के प्रथम व्याख्याता भामह ही हुये।

(vi) काव्यगत दोषों की विस्तृत वैज्ञानिक व्याख्या करने वाले भामह ही हुये। उन्होंने काव्यगत दोषों का विवेचन तो किया ही, काव्य की शोभा के आधायक अलङ्कारों के दोषों को भी बताया।

(vii) भामह ने काव्य की रचना करने वाले के लिये न्याय तथा शब्दशास्त्र के ज्ञान को आवश्यक बताया था। इसको जानने पर ही दोषरहित काव्य की रचना की जा सकती है।

२. भामह का व्यक्तित्व

भामह के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी है। अन्य प्राचीन साहित्य से उनके सम्बन्ध में जो कुछ जाना जा सका है, वह नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्राचीन परम्पराओं से यह विश्वास किया जा रहा है कि भामह काश्मीर के

निवासी थे। व्हूलर, नरसिंहाचार्य, कृष्णाचार्य आदि विद्वानों ने अपने लेखों द्वारा इस तथ्य का प्रतिपादन किया है। यद्यपि इन आचार्यों के इस मन्तव्य के प्रतिपादन में कोई प्रबल युक्ति नहीं है, तथापि इनका खण्डन करने के लिये विरोध में भी कोई प्रबल युक्ति समालोचकों ने प्रस्तुत नहीं की। 'काव्यांलङ्कार' की पाण्डुलिपि दक्षिण में भी प्राप्त हुई है। इससे कुछ समालोचकों ने यह अनुमान लगाया है कि भामह दाक्षिणात्य थे। परन्तु इस युक्ति में कोई सार नहीं है। सबसे पहले काश्मीर के ग्रन्थों में ही भामह का उल्लेख हुआ था तथा काश्मीरी आचार्य उद्भट ने ही उनके ग्रन्थ पर 'भामहविवरण' नाम से टीका लिखी थी। इसलिये भामह को काश्मीरी मानना ही अधिक उपयुक्त है।

'काव्यालङ्कार' के अन्तिम श्लोक से अनुमान होता है कि भामह के पिता का नाम रक्रिल गोमिन् था[४]। भामह ने 'काव्यालङ्कार' को प्रारम्भ करते हुये सार्वसर्वज्ञ की स्तुति की है[५]। भामह के पिता के रक्रिल गोमिन् नाम से तथा उनके आराध्य के सार्वसर्वज्ञ पद से कुछ समालोचकों ने यह अनुमान लगाया है कि भामह बौद्ध थे। नरसिंह आयंगार महोदय का कथन है -

"रक्रिल पद का सादृश्य राहुल, पोत्तल, सोमिल आदि बौद्ध नामों से है, इसलिये वे बौद्ध रहे होंगे। गोमिन् पद भी इसी तथ्य को सिद्ध करता है, क्योंकि बुद्ध के एक शिष्य का नाम गोमिन् था"।

परन्तु पाठक महोदय का कथन है कि "गोमिन्" पद का अर्थ पूज्य है, जैसा कि चान्द्र व्याकरण में प्रतिपादित है[६]।

सार्वसर्वज्ञ पद से भी भामह का बौद्ध होना प्रतिपादित होता है। सर्वज्ञ पद का अर्थ बुद्ध है[७]। **"सार्व"** पद की व्युत्पत्ति है - **"सर्वेभ्यो हितः"**। सर्वहितकारी बुद्ध की स्तुति करने के कारण भामह को बौद्ध मतावलम्बी माना जा सकता है।

परन्तु अधिकांश समालोचकों ने भामह के बौद्ध होने की धारणा का विरोध किया है। इस सम्बन्ध में निम्न युक्तियां दी गई हैं -

(i) केवल रक्रिल नाम से ही किसी व्यक्ति को बौद्ध नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष में बौद्धों और हिन्दुओं के साथ-साथ रहने के कारण उनका एक दूसरे के नामों को ग्रहण कर लेना स्वाभाविक था।

(ii) गोमिन् पद का प्रयोग केवल बौद्धों द्वारा किया गया हो, ऐसा नहीं है। काश्मीर के कुछ ब्राह्मणों के लिये गोमिन् पद जातिवाचक रहा है। दक्षिण में इस पद का प्रयोग आचार्य के लिये होता था। 'निरुक्त' के अनुसार गोमिन् पद गोस्वामिन् का संक्षिप्त रूप है।

(iii) **"सार्व"** पद का अर्थ **"सर्वेभ्योः हितः"** ही है। परन्तु इसका प्रयोग विशेषण के रूप में था। नाम के रूप में केवल बुद्ध के लिये ही नहीं हुआ। इसके

अतिरिक्त किसी भी कोष ग्रन्थ में "सार्व" पद को "बुद्ध" का पर्याय नहीं बताया गया। अमरसिंह ने बौद्ध होते हुये भी "सार्व" पद का प्रयोग "बुद्ध" के लिये नहीं किया।

(iv) "सर्वज्ञ" पद का प्रयोग केवल बुद्ध के लिये किया जाता रहा हो, ऐसा नहीं है। 'अमरकोश' में शिव को भी "सर्वज्ञ" कहा गया है[८]। कुमारिल भट्ट ने 'श्लोकवार्तिक' में "सर्वज्ञ" की लम्बी स्तुति की है।

(v) भामह ने बौद्धों के अपोहवाद की कठोर आलोचना की है[९]। यदि वे बौद्ध होते तो इस प्रकार की आलोचना कभी न करते।

(vi) यदि भामह बौद्ध होते तो उनके ग्रन्थों में बौद्ध कथाओं तथा सिद्धान्तों के संकेत अवश्य रहते। 'काव्यालङ्कार' में कहीं भी उनके संकेत नहीं हैं। इसके विपरीत उनके ग्रन्थ में वैदिक देवताओं तथा पौराणिक कथाओं के संकेत प्रचुरता से मिलते हैं। सोमपान करने वालों[१०], वैदिक देवताओं,[११] शिव द्वारा कामदेव को भस्म करने,[१२] 'रामायण' की घटनाओं[१३], 'महाभारत' की घटनाओं[१४], कृष्णपुत्र प्रद्युम्न[१५] आदि का वर्णन इस ग्रन्थ में है। 'काव्यालङ्कार' में इस प्रकार की अन्य अनेक घटनाओं के संकेत हैं। इसमें गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के प्रसंग आये हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि भामह को बौद्ध मतावलम्बी मानना असंगत है। वे वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मण थे, यह कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

३. भामह का समय

भामह के समय के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद रहा है। भामह का समय पांचवीं-छठी शताब्दी ई० के मध्य का माना गया है। इस सम्बन्ध में मुख्य युक्ति यह दी जाती है -

भामह ने 'काव्यालङ्कार' के पांचवें परिच्छेद में न्याय सम्बन्धी सिद्धान्तों की जो पर्यालोचना की है, उस पर प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग का प्रभाव है।

इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र का कथन है - "प्रमाणों की विविधता, प्रत्यक्ष प्रमाण का कल्पनापोढ होना, कल्पना का नाम-जाति आदि योजना रूप होना, तीन प्रकार के लिङ्ग आदि का भामह ने जो निरूपण किया है, इस पर दिङ्नाग का अनुकरण स्पष्ट है। अत: भामह को दिङ्नाग के बाद का होना चाहिये।"

दिङ्नाग का समय उनके गुरु वसुबन्धु के समय के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। वसुबन्धु का समय चतुर्थ शताब्दी ई० का प्रतिपादित किया जाता है। कुमारजीव ने वसुबन्धु की एक जीवनी ४०१-४०९ ई० मध्य लिखी थी। इसलिये इनको चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन माना जा सकता है। अत: दिङ्नाग का समय ४०० ई० के लगभग रहा होगा। इस आधार पर भामह को हम ४०० ई० के बाद का मान सकते हैं।

भामह का समय धर्मकीर्ति तथा बाण से पहले का होना चाहिये। धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के प्रत्यक्ष कि लक्षण में थोड़ा सा परिवर्तन किया है[१६] जबकि भामह ने उसको वैसा का वैसा ही रखा। उन्होंने धर्मकीर्ति का अनुकरण नहीं किया। अतः भामह धर्मकीर्ति से पहले हुये होंगे। धर्मकीर्ति का समय ६२० ई० के लगभग का है।

आनन्दवर्धन के एक उल्लेख से भामह का समय बाण से पहले का सिद्ध होता है। 'ध्वन्यालोक' के चतुर्थ उद्योत की एक कारिका का अभिप्राय है -

"पूर्ववर्ती कवियों के वर्णनों में भी रस का निवेशन करके उनमें उसी प्रकार नवीनता लाई जा सकती है, जैसे कि मधुमास में वृक्ष नवीन से प्रतीत होते हैं[१७]।" उदाहरण के रूप में उन्होंने लिखा है -

"तथाहि- विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रकारसमाश्रयेण नवत्वम्। यथा -"धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः" इत्यादौ -

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम् ।।

"इत्यादिषु सत्स्वपि तस्यैवार्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्।"

आनन्दवर्धन ने इस वर्णन द्वारा **"धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः"** वाक्य को प्राचीन कहा और उसके आधार पर रचित **"शेषो हिमगिरिस्त्वं च०"** वाक्य को नवीन बताया। पहला वाक्य भामह का है तथा दूसरा वाक्य बाण के 'हर्षचरित' का है। इससे यह सिद्ध होता है कि भामह निश्चित रूप से बाण से पहले हुये होंगे। बाण का समय सातवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध है।

इस प्रकार भामह का समय पांचवीं तथा छठी शताब्दी ई० के मध्य का निर्धारित किया जा सकता है।

भामह के समय का निर्धारण करने में संस्कृत के अन्य कवियों तथा समालोचकों के समय के साथ तुलनात्मक विवेचन करने से बहुत सहायता मिल सकती है। अतः अन्य प्राचीन विद्वानों के साथ उसके सम्बन्ध में संक्षेप से विचार किया जा रहा है -

(i) भामह और कालिदास -

समालोचकों की यह मान्यता है कि भामह कालिदास के पश्चात् हुये थे। इस सम्बन्ध में भामह द्वारा वर्णित **"अयुक्तिमद्"** दोष को उद्धृत किया जा सकता है -

अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः।।
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दौत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते।।

यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेघोभिः प्रयुज्यते।। काव्यालङ्कार १.४२-४४।।

मेघ आदि के वाणी रहित होने के कारण इनको दूत बना कर काव्य की रचना करने को भामह ने "अयुक्तिमत्" दोष कहा है। भामह ने कालिदास के 'मेघदूत' काव्य को दृष्टि में रख कर इस दोष की कल्पना की होगी। इसके साथ ही कालिदास जैसे महाकवि में दोष की उद्‌भावना न हो, इसीलिये उन्होंने कालिदास द्वारा कथित उपाय द्वारा ही दोष का परिहार भी कर दिया तथा उनके लिये "सुमेघोभिः" पद का प्रयोग किया। कालिदास के यक्ष ने उन्मत्त होकर ही मेघ को दूत बनाया था।

किन्तु इसी आधार पर दूसरे समालोचक यह प्रतिपादित करते हैं कि भामह की स्थिति कालिदास से पहले की थी। भामह ने क्योंकि मेघ आदि को दूत बना कर काव्य की रचना किये जाने में "अयुक्तिमद्" दोष कहा था, परन्तु पात्र की उन्मत्त अवस्था में इस प्रकार की काव्य रचना में दोष नहीं कहा, अतः कालिदास ने 'मेघदूत' काव्य में मेघ के दूतत्व की जब कल्पना की तो यक्ष की उन्मत्त अवस्था में ही की। इसीलिये पहले उन्होंने यक्ष की कामपीडित अवस्था का वर्णन किया और उसके बाद ही यक्ष मेघ से दूत बनने की प्रार्थना करता है -

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।। मेघदूत, पूर्वमेघ-५ ।।

टी० गणपति शास्त्री का कथन है -

"भामह ने मेधावी, रामशर्मा, अश्मक वंश, रत्नहरण आदि अप्रसिद्ध कवियों का तथा काव्यों का तो वर्णन किया था, परन्तु कालिदास जैसे प्रसिद्ध कवि को उद्धृत नहीं किया। इसलिये भामह को कालिदास से पहले होना चाहिये।"

भामह और कालिदास के पूर्वापर सम्बन्ध में दोनों प्रकार की युक्तियां हैं तथा इसको निश्चयात्मक रूप में कहना कठिन है। तथापि कालिदास के पूर्ववर्ती होने की युक्ति ही अधिक प्रबल प्रतीत होती है। भारतीय परम्परायें भी कालिदास को ई० पू० प्रथम शताब्दी का मानती हैं और भामह के समय को इतने पीछे तो ले जाना असम्भव ही है। अतः कालिदास को भामह का पूर्ववर्ती ही मानना चाहिये।

(ii) भामह और भास -

कुछ समालोचक भामह के समय को निर्धारित करने के लिये भास को भी उद्धृत

करते हैं। भामह ने 'काव्यालङ्कार' के चतुर्थ परिच्छेद में वत्सराज उदयन की कथा का निर्देश किया है -

विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्।
तस्यैव कृतिनः पश्चादभ्यधाच्चरशून्यताम्।।
अन्तर्योधशताकीर्णं सालङ्कायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत् स स्वभूगतम्।।
यदि वोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मन्दिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्तरि।।
शराः दृढधनुर्मुक्ताः मन्युमद्भिरिरातिभिः।
मर्माणि परिहृत्यास्य पतिष्यन्तीति काऽनुमा।।
हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतसः।।
अस्यन्तो विविधान्याजावायुधान्यपराधिनम्।
एकाकिनमरण्यानां न हन्युर्बहवः कथम्।।
नमोऽस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो येऽभिप्रायं कवेरिमम्।
शास्त्रलोकावपास्यैव वदन्ति नयवेदिनः।।
सचेतसो वनेभस्य चर्मणा निर्मितस्य च।
विशेषं वेद बालोऽपि कष्टं किन्नु कथं नु तत्।।

काव्यालङ्कार ४.३६-४७।।

भामह के इन श्लोकों के आधार पर समालोचकों का कथन है कि उन्होंने यह वृत्तान्त भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक के आधार पर लिखा था। इसलिये भामह को निश्चित रूप से भास से उत्तरवर्ती मानना चाहिये।

परन्तु भामह के इस वर्णन द्वारा ही भास को भामह का पूर्ववर्ती मानना उचित नहीं है। वत्सराज उदयन की कथा 'बृहत्कथा' में आती है। यह 'बृहत्कथा' तो इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसके संस्कृत रूपान्तर 'कथासरित्सागर' तथा 'बृहत्कथामञ्जरी' उपलब्ध हैं। भामह ने इन वृत्तान्तों को 'बृहत्कथा' से ही लिया होगा, न कि 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' से। यह सत्य है कि भामह का समय भास के बाद का ही है, परन्तु उपरोक्त वर्णनों द्वारा भामह को भास का उत्तरवर्ती सिद्ध करना युक्तिसंगत नहीं है।

(iii) भामह और न्यासकार -

भामह ने एक स्थान पर न्यासकार का उल्लेख किया है -

शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन च।
तृचा स मस्तषष्ठीकं न कथञ्चिदुदाहरेत्।।
सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा।। काव्यालङ्कार ६.३६-३७ ।।

इसका अर्थ यह है कि शिष्ट व्यक्तियों के प्रयोग के अनुसार और न्यासकार के मत के अनुसार "तृच्" प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी समास नहीं होना चाहिये। अतः "**वृत्रस्य हन्ता**" में षष्ठी समास होकर " वृत्रहन्ता" रूप होना उचित नहीं है। इसी प्रकार "**अक**" प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी समास नहीं होना चाहिये और "**तस्य गमकः**" में समास होकर "**तद्गमकः**" रूप बनाना ठीक नहीं है।

पाणिनि का सूत्र "**तृजकाभ्यां कर्तरि**" है, जो कि "तृच्" तथा "अक" प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी समास के विधान का कर्तृकारक में निषेध करता है। इस कारण "**अपां स्रष्टा**", "**बज्रस्य भर्ता**", "**ओदनस्य पाचकः**" आदि पदों में समास नहीं हो सकता।

इस आधार पर प्रो० पाठक महोदय का कथन है -

भामह को न्यासकार का पश्चाद्वर्ती होना चाहिये[१८]। उनके अनुसार ये न्यासकार प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् जिनेन्द्रबुद्धि हैं। इन्होंने 'काशिकाविवरणपञ्जिका' टीका की रचना की थी। यह टीका 'न्यास टीका' कहलाती है। चीनी यात्री इत्सिंग के विवरणों के आधार पर जिनेन्द्रबुद्धि का समय सातवीं शताब्दी ई० है। अतः भामह को आठवीं शताब्दी ई० का होना चाहिये।

परन्तु अन्य विद्वानों ने प्रो० पाठक के इस मत का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है। इनमें डा० त्रिवेदी मुख्य हैं[१९]। उनका अभिमत है -

न्यास पद के आधार पर ही भामह को जिनेन्द्रबुद्धि का पश्चाद्वर्ती तथा आठवीं शताब्दी ई० का सिद्ध करना उचित नहीं है। भामह ने इन श्लोकों में न्यास पद का जो प्रयोग किया, वह 'काशिकाविवरणपञ्जिका' नामक न्यास टीका का द्योतक नहीं है। न्यास पद का प्रयोग सामान्य रूप से वृत्ति या विवरण के लिये होता है। माधवाचार्य ने 'माधवीया धातुवृत्ति' में अनेक न्यासों का उल्लेख किया है। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में प्रयुक्त "कृतगुरुपदन्यासाः" पद की व्याख्या शङ्कर ने इस प्रकार की है -

"कृतोऽभ्यस्तो गुरुपदे दुर्बोधशब्दे न्यासो वृत्तिर्विवरणं यैः ते"।

अतः भामह का यह "**न्यासकार**" पद उनसे पूर्ववर्ती किसी अन्य पाणिनीय टीकाकार की सूचना देता है, न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि की नहीं। यदि 'न्यासकार' पद से जिनेन्द्रबुद्धि का ही बोध होता, तो "**कृतगुरुपदन्यासाः**" पद के कारण बाण को भी जिनेन्द्रबुद्धि का उत्तरवर्ती मानना पड़ता, जो कि असम्भव है। अतः "न्यासकार" पद के प्रयोग की युक्ति के आधार पर भामह को जिनेन्द्रबुद्धि का उत्तरवर्ती मानना उचित नहीं।

(iv) भामह और भट्टि -

भामह के समय को निर्धारित करने के लिये भट्टि को भी उद्धृत किया जाता है। भट्टि ने 'भट्टिकाव्य' या 'रावणबध' की रचना की थी। भारतीय पण्डितों में परम्परा से यह विचार चला आया है -

"भट्टि ने भामह के 'काव्यालङ्कार' के लक्षणों के उदाहरणों को प्रदर्शित करने के लिये ही अपने काव्य में दशम से त्रयोदश सर्गों तक की रचना की थी।"

'भट्टिकाव्य' के दशम सर्ग में दिये गये अलङ्कारों के उदाहरणों को देखने से यह प्रतीत होता है कि उनके सम्मुख लक्षण ग्रन्थ के रूप में भामह का 'काव्यालङ्कार' था। 'भट्टिकाव्य' की टीकाओं 'जयमङ्गला' तथा 'मल्लिनाथ टीका' में अलङ्कारों के लक्षण के लिये भामह के 'काव्यालङ्कार' का ही उपयोग किया गया है। 'भट्टिकाव्य' के एक श्लोक पर 'काव्यालङ्कार' के एक श्लोक का प्रभाव है[२०]। भामह और भट्टि के इन श्लोकों में इतना अधिक साम्य है कि दोनों में से किसी एक ने दूसरे के भाव को अवश्य ग्रहण किया होगा। यह प्रमाणित किया जा चुका है कि भामह का प्रभाव भट्टि पर पड़ा है। इसलिये भामह को भट्टि से पूर्ववर्ती होना चाहिये।

यह भी पहले सिद्ध किया जा चुका है कि 'भट्टिकाव्य' के २२.३५ श्लोक के अनुसार भट्टि की स्थिति राजा श्रीधरसेन के समय में थी तथा उनका समय ६००-६४० ई० के लगभग रहा था। अतः भामह को इस समय से पहले होना चाहिये।

(v) भामह और दण्डी -

भामह और दण्डी के पूर्वापर सम्बन्ध पर समालोचकों ने बहुत विचार किया है तथा विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। कुछ समालोचकों ने भामह को दण्डी से पूर्ववर्ती तथा दूसरे सामालोचकों ने दण्डी को भामह से पूर्ववर्ती सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अधिकांश समालोचक - डा० त्रिवेदी, याकोबी, रंगाचार्य, गणपति शास्त्री, बलदेव उपाध्याय आदि भामह को दण्डी से पूर्ववर्ती मानने के पक्ष में है। परन्तु नरसिंह आयंगार महोदय के मत को मान कर काणे महोदय ने प्रबल शब्दों में दण्डी को पूर्ववर्ती मानने का आग्रह किया है।

भामह और दण्डी के अलङ्कार ग्रन्थों में बहुत कुछ साम्य है। यह समानता तीन प्रकार से प्रदर्शित की जा सकती है -

(क) दोनों ग्रन्थों में कुछ वाक्य इस प्रकार के हैं, जो केवल अर्थ में ही नहीं, अपितु शब्दों में भी समान हैं।

(ख) कुछ वाक्य ऐसे हैं, जिनमें एक ने दूसरे की आलोचना की है।

(ग) कुछ वाक्य ऐसे हैं, जिनमें समानता या भिन्नता होने पर भी एक का दूसरे पर प्रभाव अवश्य पड़ा है।

'काव्यालङ्कार' और 'काव्यादर्श' में जिन वाक्यों में समानता है, उनमें कुछ निम्न हैं -

(क) सर्गबन्धो महाकाव्यम्।। भामह १.९, दण्डी १.४।।

(ख) मन्त्रिदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।। भामह १.२०, दण्डी १.१७ ।।

(ग) कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विताः।। भामह १.२७ ।।
" " दयादयः।। दण्डी १.२९ ।।

(घ) अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः।।
भामह ३.५, दण्डी २.२७६।।

(दोनों ने इसको प्रेयस् अलङ्कार के उदाहरण के रूप में दिया है)

(ङ) भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।। भामह ३.५३ ।।
तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।। दण्डी १.२६४।।

(च) अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ....विरोधि च।।
भामह ४.१-२ दण्डी ३.१२५-१२६।।

(छ) समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थकमिष्यते ।। भामह ४.८ ।।
समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थकमितीष्यते।। दण्डी ३.१२८ ।।

(ज) गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।।
भामह २.८७, दण्डी ३.१४४।।

(झ) आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।।
भामह २.६६,दण्डी २.४।।

(ञ) प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।। भामह ३.१, दण्डी २.५।।

इन दस वाक्यों में शब्द और अर्थ एक ही हैं, यद्यपि कहीं-कहीं नाममात्र का भेद है। जैसे कि (ग) वाक्य में भामह के "उदयान्विताः" शब्द के स्थान पर दण्डी ने "उदयादयः" शब्द का प्रयोग किया है।

भामह या दण्डी ने कुछ स्थलों पर एक दूसरे की आलोचना भी की है। जैसे कि भामह ने काव्य के पांच मुख्य भेद किये हैं - सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (नाटक), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध (मुक्तक)[२१]। इनमें भामह ने आख्यायिका और कथा को गद्यकाव्य के दो स्वतन्त्र भेद माना है, परन्तु दण्डी का कहना है कि ये दोनों भेद वस्तुतः एक ही हैं, केवल नाम का ही भेद है[२२]। भामह ने मेधाविन् का अनुसरण करके उपमा के सात दोष कहे थे,[२३] परन्तु दण्डी ने भामह के इस कथन की तीव्र आलोचना की[२४]।

भामह और दण्डी की इन समानताओं तथा आलोचनाओं को देख कर आधुनिक समालोचकों ने इनके पूर्वापर सम्बन्ध पर विशद विचार किया है। सबसे पहले नरसिंह आयंगार ने दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती प्रतिपादित किया था। परन्तु डा० त्रिवेदी ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की भूमिका में, रंगाचार्य ने 'काव्यादर्श' की भूमिका में और गणपति शास्त्री ने 'वासवदत्ता' की भूमिका में उनके मत का खण्डन किया था। पी० वी० काणे ने उन सबकी युक्तियों की विशद विवेचना की है, जो भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिये प्रतिपादित की जाती हैं[२५]। काणे महोदय का कथन् है -

"भामह को दण्डी से पहले का सिद्ध करने के लिये जो युक्तियां दी जाती हैं, वे अत्यन्त निर्बल हैं। भामह को दण्डी से पहले का माने विना भी उन सब युक्तियों का समाधान हो जाता है। इसी प्रकार दण्डी को भामह से पहले का मानने के लिये भी जो युक्तियां प्रस्तुत की गई हैं, वे सबल होती हुई भी ऐसी नहीं हैं, जिनसे किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सके। दण्डी और भामह दोनों ही एक दूसरे से स्वतन्त्र परम्परा का पालन करते हैं। पूर्ववर्ती कोई भी क्यों न हो, दोनों का समय एक दूसरे के अत्यधिक निकट है। दोनों ही ६५०-७५० ई० के मध्यवर्ती हैं। परन्तु यह सब कह कर भी काणे ने दण्डी को भामह से पहले का मानने में अपना आग्रह दिखाया है[२६]।"

भामह एवं दण्डी के पूर्वापर सम्बन्ध के इस विवाद में अधिकांश समालोचकों का मत भामह को पूर्ववर्ती मानने के पक्ष में है। वे इस सम्बन्ध में यह प्रबल युक्ति प्रस्तुत करते हैं -

"दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नाम की जो पुस्तक प्राप्त हुई है, उसमें दण्डी ने बाण और मयूर कवि की भी वन्दना की है -

भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः .... ॥

इससे यह निश्चित होता है कि दण्डी की स्थिति बाण के पश्चात् रही होगी।"

प्रायः सभी समालोचकों ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को दण्डी की रचना स्वीकार कर लिया है। 'ध्वन्यालोक' के आधार पर पहले यह सिद्ध किया जा चुका है कि भामह बाण के पूर्ववर्ती हैं। इस अवस्था में भामह को दण्डी से पहले का मानना ही अधिक युक्तिसंगत है।

(vi) भामह और दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति -

भामह के साथ दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सम्बन्ध की विवेचना की जा चुकी है। भामह दिङ्नाग से पहले और धर्मकीर्ति के पश्चात् हुये थे। दिङ्नाग का समय ४०० ई० के लगभग तथा धर्मकीर्ति का समय ६२० ई० के लगभग का रहा था। अतः भामह को पाञ्चवीं-छठी शताब्दी ई० के मध्य का मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

४. भामह की रचनायें

भामह का केवल एक ही ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ भी बहुत समय तक अनुपलब्ध रहा था। अन्य ग्रन्थों में 'काव्यालङ्कार' के उद्धरणों से ही इसके अस्तित्व का बोध होता था। सबसे पहले के० पी० त्रिवेदी ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के परिशिष्ट-८ में इस ग्रन्थ को सम्पादित करके दिया था, जो कि बोम्बे संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ। तदनन्तर १९२६ ई० में श्री वी०पी० नागनाथ शास्त्री, तन्जौर ने इसको प्रस्तावना, अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी के साथ मूल रूप में प्रकाशित किया। १९२८ ई० में यह ग्रन्थ श्री वटुकनाथ शर्मा और बलदेव उपाध्याय के सम्पादकत्व में विस्तृत भूमिका के साथ चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ। अब इसके कुछ अन्य संस्करण भी अनुवाद सहित प्रकाशित हुये हैं।

'काव्यालङ्कार' के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना भी भामह ने की थी, ऐसे संकेत अन्य ग्रन्थों से मिलते हैं। उदाहरण के लिये, राघवभट्ट ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की टीका में भामह के नाम से कुछ उद्धरण दिये हैं, जो कि 'काव्यालङ्कार' में नहीं हैं। इनमें से एक उद्धरण छन्द के सम्बन्ध में है[२७]। इससे प्रतीत होता है कि भामह ने छन्दःशास्त्र विषय पर कोई पुस्तक लिखी होगी। दूसरा उद्धरण पर्यायोक्त अलंकार के विषय में है[२८]। यह भी 'काव्यालङ्कार' में नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि भामह ने अलङ्कार विषय पर किसी अन्य ग्रन्थ का भी प्रणयन किया होगा। वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' पर प्राचीन काल में 'प्राकृतमनोरमा' नामक टीका लिखी गई थी, जिसको भामहकृत कहा जाता है। परन्तु 'काव्यालङ्कार' के रचयिता भामह ने ही इसकी रचना की थी, इसका कोई प्रमाण नहीं है।

भामह ने छन्दःशास्त्र विषय पर ग्रन्थ की रचना की थी, इसका प्रमाण अन्य ग्रन्थों से भी मिलता है। 'वृत्तरत्नाकर' की टीका में नारायणभट्ट ने भामह को इस प्रकार उद्धृत किया है -

तदुक्तं भामहेन -

> अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति मुदि वर्णाद्धनशता-
> न्युवर्णादख्यातिः सरभसमृवर्णाद् विरहितात्।
> तथा ह्येचः सौख्यं ङञणरहितादक्षरगणात्
> पदादौ विन्यासात् भरबहलहाहाविरहितात्।।

वृत्तरत्नाकर (बनारस संस्करण),पृ० ६।।

तदुक्तं भामहेन -

> देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः।
> ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा।।

क: खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति वियशो ङस्तथा च: सुखं छ: ।
प्रीतिं जो मित्रलाभं भयमरणकरौ झञौ टठौ खेददु:खे ।।
ड: शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्त: सुखं थश्च युद्धम् ।
दो ध: सौख्यं मुदं न: सुखभयमरणक्लेशदु:खं पवर्ग: ।।
यो लक्ष्मीं रश्च दाहं व्यसनमथ लवौ श: सुखं षश्च खेदं ।
स: सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च न: क्ष: समृद्धिं करोति ।।
संयुक्तं चेह न स्यात् सुखमरणपटुर्वर्णविन्यासयोग: ।
पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम् ।।

वृत्तरत्नाकर (बनारस संस्करण), पृ० ७।।

इन उद्धरणों से यह निश्चय किया जा सकता है कि भामह ने छन्द:शास्त्र पर निश्चय रूप से एक ग्रन्थ की रचना की होगी, परन्तु वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

५. काव्यालङ्कार का परिचय

'काव्यालङ्कार' में छ: परिच्छेद हैं, जिनमें मुख्य रूप से ५ विषयों का विवेचन किया गया है। भामह ने 'काव्यालङ्कार' के अन्त में लिखा है -

"उन्होंने ६० श्लोकों में काव्य के शरीर का, १६० श्लोकों में अलङ्कारों का, ५० श्लोकों में दोषों का, ७० श्लोकों में न्याय का और ६० श्लोकों में शब्दशुद्धि का निर्णय किया है[२९]।" 'काव्यालङ्कार' का विषय प्रतिपादन इस प्रकार है -

(i) काव्यशरीर -

काव्यशरीर का निर्णय ६० श्लोकों में है। इनमें काव्य के उद्देश्य, लक्षण आदि का विवेचन किया गया है।

(ii) अलङ्कार -

अलङ्कारों का प्रतिपादन १६० श्लोकों में है। इनमें अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकरण में कुछ ऐसे ग्रन्थकारों के नाम भी उद्धृत हैं, जिनके विषय में अभी तक कुछ भी जाना नहीं जा सका है। भामह ने दो शब्दालङ्कार और ३६ अर्थालङ्कार कहे हैं।

(iii) दोष -

भामह ने ५० श्लोकों में दोषों की विवेचना की है।

(iv) न्याय -

७० श्लोकों द्वारा न्याय से सम्बन्धित प्रमाण आदि के सम्बन्ध की विवेचना की गई है। यद्यपि इनका काव्य की रचना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, तथापि काव्य में दोषों के निवारण के लिये इस विषय का ज्ञान आवश्यक है।

(v) शब्दशुद्धि -

इस प्रसंग में भामह ने भाषा की व्याकरणगत शुद्धता पर बल दिया है। इसके लिये ६० श्लोक हैं।

'काव्यालङ्कार' के छः परिच्छेदों में लगभग ४०० श्लोक हैं। प्रथम परिच्छेद के ६० श्लोकों में काव्य के शरीर का वर्णन है। चौखम्बा संस्करण के अनुसार इस परिच्छेद में ५९ श्लोक हैं। दूसरे परिच्छेद में पहले गुणों का और उसके पश्चात् अलङ्कारों का वर्णन है, जो तीसरे परिच्छेद के अन्त तक चला गया है। गणना के अनुसार इन दो परिच्छेदों में १६० श्लोक होने चाहियें। परन्तु चौखम्बा संस्करण में ९६+५८ = १५४ श्लोक हैं।

चतुर्थ परिच्छेद में ११ प्रकार के दोषों को बताया गया है। इसमें ५० श्लोक हैं। पांचवें परिच्छेद में न्याय का निर्णय किया गया है। गणना के अनुसार इसमें ७० श्लोक होने चाहियें, परन्तु चौखम्बा संस्करण में ६९ श्लोक हैं। छठे परिच्छेद में शब्दशुद्धि का विवेचन है। गणना के अनसार इसमें ६० श्लोक होने चाहियें। परन्तु चौखम्बा संस्करण में ६६ श्लोकों में शब्दशुद्धि का वर्णन है। दो श्लोकों में पाणिनि की प्रशंसा है तथा एक श्लोक में रचयिता ने अपने नाम का उल्लेख किया है। ६४ श्लोकों के पश्चात् दो कारिकाओं में भामह ने विषयों का विभाजन दिखाया है। इस गणना से चौखम्बा संस्करण के अनुसार इस ग्रन्थ में ५९+९६+५८+५०+६९+६४+२ =३९८ श्लोक हैं।

६. भामह द्वारा उद्धृत प्राचीन आचार्य

भामह ने 'काव्यालङ्कार' में काव्यशास्त्र के अनेक प्राचीन आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों को उद्धृत किया है। ये आचार्य तथा ग्रन्थ निम्न हैं -

(i) रामशर्मा का 'अच्युतोत्तर'। (२.१९,२.५८)।

(ii) अश्मक वंश । (१.३३)।

(iii) कणभक्ष। (५.१७)।

(iv) राजमित्र। (२.४५ तथा ३.१०)।

(v) शाखवर्धन। (२.४७)।

(vi) मेधाविन्। (२.३९-४० तथा २.८८)।

(vii) रत्नहरण। (३.८)।

(viii) न्यास। (६.३६)।

(x) सालातुरीय पाणिनि। (६.६२-६३)।

इनमें अच्युतोत्तर, अश्मक वंश, रत्नहरण, शाखवर्धन और राजमित्र का उल्लेख अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

७. काव्यालङ्कार की प्राचीन टीकायें

भामह के 'काव्यालङ्कार' की कोई भी प्राचीन टीका इस समय उपलब्ध नहीं है। इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि उद्भट ने 'काव्यालङ्कार' पर 'भामहविवरण' नाम से एक टीका लिखी थी। परन्तु आज तक भी यहं टीका उपलब्ध नहीं हो सकी है। इस टीका का उल्लेख प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट के एक अलङ्कार ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' की टीका में इस प्रकार किया है -

"विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यात, इत्येतदस्माभिर्निरूपित:।"

अभिनवगुप्त ने भी 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' टीका में 'भामहविवरण' का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है।

८. भामह को उद्धृत करने वाले प्राचीन ग्रन्थकार

भामह के ग्रन्थ की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित न हुआ हो, ऐसा नहीं है। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने तथा आचार्यों ने भामह को अनेकश: उद्धृत किया है। जिन ग्रन्थकारों ने भामह को उद्धृत किया है, उनमें निम्न प्रमुख हैं -

(१) आनन्दवर्धन (२) अभिनवगुप्त (३) केशवमिश्र (४) भट्टिकाव्य की जयमंगला टीका (५) भट्टिकाव्य की मल्लिनाथकृत टीका (६) दण्डी (७) रुद्रट के काव्यालङ्कार की नमिसाधुकृत टीका (८) उद्भट के काव्याङ्कारसारसंग्रह की प्रतिहारेन्दुराजकृत टीका (९) काव्यादर्श की प्रेमचन्द्र तर्कवागीश की टीका(१०) भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण (११) मम्मट का काव्यप्रकाश (१२) रुय्यक का अलङ्कारसर्वस्व (१३) बल्लभदेव की सुभाषितावली (१४) वामन की काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (१५) विश्वेश्वर पण्डित का अलङ्कारकौस्तुभ (१६) हेमचन्द्र का काव्यानुशासन और (१७) अप्पयदीक्षित।

सन्दर्भ -

१. 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्यालङ्कार - भामह १.१६।

२. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य: कोऽलङ्कारोऽनया विना।। काव्यालङ्कार २.८५।।

३. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नाऽलङ्कारतया मत:।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानत:।। काव्यालङ्कार २.८६।।

४. अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिनसूनुनेदम्।। काव्यालङ्कार ६.६४।।
५. प्रणम्य सार्वसर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः ।
काव्यालङ्कार इत्येषो यथाबुद्धि विधास्यते।। काव्यालङ्कार १.१।।
६. गोमिन् पूज्ये।। चान्द्र व्याकरण ४.११.१४४।।
७. सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः।। अमरकोश १.१.१३।।
८. कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः। अमरकोश १.१.३३।।
९. अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते।
अन्यापोहश्च नामान्यपदार्थापाकृतिः किल।।
यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः ।। काव्याङ्कार ६.१६-१७।।
१०. भूभृतां सोमपीतीनां न्याय्ये वर्त्मनि तिष्ठताम्।
अलङ्करिष्णुना वंशं गुरौ सति जिगीषुणा।। काव्यालङ्कार ४.४८।।
११. युगादौ भगवान् ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः।।
१२. स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम्।। काव्यालङ्कार २.२५।।
१३. उदात्तः शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधतः।
विहायोपनतं राज्यं यथावनमुपागमत्।। काव्यालङ्कार ६.११।।
१४. आहूतो न निवर्तेय द्यूतायेति युधिष्ठिरः।
कृत्वा सन्धां शकुनिना दिदेवेत्यर्थबाधिनी।। काव्यालङ्कार ५.४२।।
१५. भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः।
त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेव नरवाहनः।। काव्यालङ्कार ५.५९।।
१६. प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् -- दिङ्नाग।।
प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् -- काव्यालङ्कार ५.६।।
प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् - धर्मकीर्ति ।।
१७. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।। ध्वन्यालोक ४.४।।
१८. जे० आर० .ए० एस० बोम्बे वो० xxlii ; इन्ड० एन्ट० वो० xli , १९१२।।
१९. डा० त्रिवेदीकृत प्रतापरुद्रयशोभूषण की प्रस्तावना पृ० xxxv.
२०. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः।। काव्यालङ्कार २.२०।।
व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया।। भट्टिकाव्य २२.३४।।
२१. सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ।। काव्यालङ्कार १.१८।।
२२. तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयान्विता।। काव्यादर्श १.२८।।
२३. हीनताऽसम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च।। काव्यालङ्कार २.३९।।

२४. न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्।। काव्यादर्श २.५१।।

२५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे, पृ० १२८-१४३।।

२६. वही, पृ० १५५।

२७. क्षेमं सर्वगुरुर्दत्ते भगणो भूमिदैवत:। इति भामहोक्ते:।
'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' राधवभट्ट टीका- निर्णयसागर संस्करण, पृ० ४।।

२८. तल्लक्षणमुक्तं भामहेन -
पर्यायोक्तं प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते।
वाच्यवाचकशक्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। इति।।
उदाहृतं च हयग्रीववधस्थं पद्यम् --
यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरे:।।
'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' राधवभट्ट टीका - निर्णयसागर संस्करण, पृ० १०।।

२९. षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलङ्कृति:।
पञ्चशता दोषदृष्टि: सप्तत्या न्यायनिर्णय:।।
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धि: स्यादित्येव वस्तुपञ्चकम्।
उक्तं षड्भि: परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण व:।।

आठवां अध्याय

दण्डी

१. दण्डी का महत्त्व

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में दण्डी का विशेष महत्त्व है। इनका अलङ्कार ग्रन्थ 'काव्यादर्श' शताब्दियों से अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों के लिये आदर का पात्र बना हुआ है। दण्डी ने न केवल अलङ्कारशास्त्र के आचार्य के रूप में ही प्रतिष्ठा पाई थी, अपितु कवि के रूप में भी महान् यश उपार्जित किया था। विद्वान् समालोचकों ने दण्डी के लिये कहा था -

"पहले तो केवल एक ही कवि वाल्मीकि थे, व्यास के होने पर दो कवि हो गये तथा दण्डी के होने पर इनकी संख्या तीन हो गई[१]।"

संस्कृत साहित्य में यदि कालिदास अपनी उपमा के लिये प्रसिद्ध हैं और भारवि अर्थ के गौरव के लिये प्रसिद्ध हैं, तो दण्डी अपने पदलालित्य के लिये प्रसिद्ध हैं[२]।

२. दण्डी का समय

भारत के प्राचीन कवियों और लेखकों ने अपने जीवन वृत्तान्त एवं समय के विषय में प्रायः बहुत कम लिखा है। यही समस्या दण्डी के साथ भी है। इस कारण दण्डी के समय को निर्धारित करने के लिये बाह्य प्रमाणों का ही आश्रय लेना पड़ता है। दण्डी का समय पूर्व-अपर प्रमाणों के द्वारा निम्न प्रकार से निश्चित किया जा सकता है -

दण्डी को उनके उत्तरवर्ती लेखकों ने बहुत अधिक उद्धृत किया था। अतः यह निश्‍चित है कि वे उन लेखकों से पहले ही हुये थे। पूर्व-अपर प्रमाणों के आधार पर इनकी यह सीमा इस प्रकार है -

(i) रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' की टीका में नमिसाधु ने दण्डी को उद्धृत किया था। नमिसाधु ने यह टीका १०७५ ई० में लिखी थी। अतः दण्डी को इनसे पहले होना चाहिये।

(ii) राजशेखर ने दण्डी को दो बार उद्धृत किया है। एक बार तो उन्होंने अनेक कवियों के साथ दण्डी का भी नाम लिया[३] और दूसरी बार उन्होंने दण्डी की तीन रचनाओं का उल्लेख किया[४]।

राजशेखर कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के गुरु थे, जो कि प्रतिहारवंशीय राजा थे। इनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध रहा था। अत: राजशेखर का भी यही समय होगा। दण्डी इनसे पहले ही हुये। राजशेखर ने जिन कवियों का उल्लेख किया है, वे प्राय: सब सातवीं शताब्दी ई० या उससे पहले के हैं। अत: दण्डी को भी राजशेखर से दो-तीन शताब्दी पहले का माना जा सकता है।

(iii) 'शाङ्र्गधरपद्धति' में एक श्लोक कवयित्री बिज्जका के नाम से उद्धृत है। इस श्लोक में विज्जका कहती है कि नीले कमल की पंखुडियों के समान श्यामल वर्ण की भी मुझ बिज्जका को न जानते हुये दण्डी ने यह व्यर्थ ही कहा कि सरस्वती शुक्ल वर्ण की है[५]। इससे प्रतीत होता है कि दण्डी या तो बिज्जका से पहले हुये थे या उसके समकालीन थे।

बिज्जका के श्लोकों को मम्मट और मुकुल भट्ट ने उद्धृत किया है, अत: वे इन समालोचकों से पहले ही हुई होंगी। 'शाङ्र्गधरपद्धति' के अनुसार राजशेखर ने कर्नाटक देश की रहने वाली विजया को सरस्वती के समान कहा था[६]। हो सकता है कि यही विजया विज्जका हो। इसके अतिरिक्त चालुक्यवंशी राजा पुलकेशिन् द्वितीय की पुत्रवधू तथा चण्डादित्य की पत्नी का नाम विजयभट्टारिका था। यह समय ६६० ई० था। यदि इस विजयभट्टारिका को ही बिज्जका समझा जावे तो बिज्जका का समय सातवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध समझा जा सकता है। यह भी हो सकता है कि दण्डी ने अपनी रचना को इस समय प्रसिद्ध कवयित्री बिज्जका के अवलोकन के लिये भेजा हो तथा उसने दण्डी के 'काव्यादर्श' के प्रथम श्लोक पर, जिसमें सरस्वती को सर्वशुक्ला कहा गया है, इस प्रकार व्यङ्ग्य किया हो।

'अवन्तिसुन्दरीकथा' की भूमिका से विदित होता है कि दण्डी के प्रपितामह दामोदर, जो कि प्रसिद्ध कवि भारवि के मित्र थे, पुलकेशिन् के भाई काञ्चीनरेश विष्णुवर्धन की राजसभा में आये थे। यह बिज्जका या विजयभट्टारिका विष्णुवर्धन के भतीजे चन्द्रादित्य की पत्नी थी। इससे भी दण्डी का समय सातवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध तथा आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया जा सकता है।

(iv) सिंहली भाषा के एक अलङ्कार ग्रन्थ 'सिया-वस-लंकार' (स्वभाषालंकार) की रचना 'काव्यादर्श' के आधार पर हुई थी। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक के अनुसार इसकी रचना राजवंश में प्रसूत सिलमेघसेन ने की थी। ग्रन्थकर्त्ता ने दण्डी के 'काव्यादर्श' को अपने ग्रन्थ की रचना का आधार माना है। सिंहल की प्रसिद्धि के अनुसार यह रचना राजा सेन प्रथम की है, जिसका समय नवम शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध था। डा० एल० बर्नेट ने इस रचना पर सम्मति देते हुये सिनमेघसेन और राजा सेन प्रथम को एक ही बताया

है[७]। दण्डी को इनसे पूर्व का ही होना चाहिये।

(v) कन्नडी भाषा के एक अलंकार ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' को भी 'काव्यादर्श' के आधार पर लिखा गया था। इसकी अधिकांश सामग्री 'काव्यादर्श' से ही ली गई थी। ग्रन्थ की रचना राष्ट्रकूट वंश के राजा अमोघवंश नृपतुङ्ग ने की थी। इनका समय ८१५-८७७ ई० का था। अत: दण्डी को इनसे पहले होना चाहिये।

(vi) वामन के 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वामन दण्डी से अवश्य ही परिचित रहे होंगे। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में दो रीतियों (मार्गों) का ही उल्लेख किया है, जबकि वामन एक अन्य रीति पाञ्चाली का भी निर्देश करते हैं। इससे विदित होता है कि दण्डी वामन से पहले हुये थे। वामन का समय आठवीं शताब्दी ई० का है। इसलिये दण्डी आठवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में या उससे पहले हुये थे।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि दण्डी की उत्तरकालीन अवधि सातवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध या आठवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध रही। इनको इसके पश्चात् नहीं ले जाया जा सकता। दण्डी की पूर्वकालीन अवधि को भी निश्चित किया जा सकता है -

(i) दण्डी ने 'मृच्छकटिक' नाटक के एक श्लोक को[८] एक स्थान पर उत्प्रेक्षा अलङ्कार के उदाहरण के रूप में तथा दूसरे स्थान पर संसृष्टि अलङ्कार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। इससे सिद्ध है कि वे इस नाटककार के पश्चात् हुये। 'मृच्छकटिक' नाटक के रचयिता शूद्रक का समय ई० पूर्व दूसरी शताब्दी समझा जाता है।

(ii) दण्डी की रचना पर कालिदास का भी प्रभाव है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के प्रसिद्ध श्लोक के अंश **"मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति"** को दण्डी ने 'काव्यादर्श' में इस प्रकार लिखा है - **"लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वच:"** । इससे सिद्ध है कि दण्डी कालिदास के पश्चात् हुये।

(iii) दण्डी पर बाण का भी प्रभाव है।'कादम्बरी' के शुकनासोपदेश के एक अंश का भाव दण्डी की रचना में देखा जा सकता है[९]। अत: इस भावसाम्य के आधार पर दण्डी को बाण का उत्तरवर्ती कहा जा सकता है। बाण का समय सातवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध था।

(iv) दण्डी पर माघ के 'शिशुपालवध' का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। 'शिशुपालवध' के एक श्लोक का प्रभाव 'काव्यादर्श' के एक श्लोक पर है[१०]। माघ का समय सातवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध ही समझा गया है।

(v) दण्डी पर भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' का प्रभाव है। 'काव्यादर्श' के दूसरे परिच्छेद के १४० श्लोक में दण्डी ने कर्म के तीन भेद किये - निर्वर्त्य, विकार्य और

प्राप्य। डा० के० पी० पाठक के अनुसार दण्डी ने कर्म के इन भेदों की कल्पना भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' (३.४५) से ली थी। अतः 'वाक्यपदीय' के लेखक भर्तृहरि, दण्डी से पहले हुए थे, यह मानना चाहिये। भर्तृहरि का समय भी सातवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध माना गया है।

(vi) भामह के समय की विवेचना करते समय दण्डी और भामह के पूर्वापर सम्बन्ध का प्रश्न उपस्थित हुआ था। यद्यपि कुछ समालोचकों - नरसिंह आयंगार और पी० वी० काणे ने दण्डी को भामह से पहले मानने का आग्रह किया था, तथापि अधिकांश विद्वानों ने दण्डी को भामह से बाद का मान लिया है। इस प्रश्न पर पहले विचार किया जा चुका है। भामह का समय ५वीं-छठी शताब्दी ई० के मध्य का निश्चित किया गया था। अतः दण्डी का समय सातवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध का मानने में कोई बाधा नहीं है।

ऊपर की विवेचना में दण्डी के सम्बन्ध में पूर्व और अपर सम्बन्ध का विचार करते हुये उनका समय सातवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध तथा आठवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्ध निश्चित किया जा सकता है।

३. दण्डी का जीवनवृत्त

'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक गद्यकाव्य की प्राप्ति से पूर्व दण्डी के जीवन-वृत्तान्त के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं था। परन्तु इस गद्य काव्य को प्राप्त करने के बाद विद्वानों ने इनके जीवन वृत्तान्त के विषय में कुछ जाना। इस काव्य के प्रारम्भ में दण्डी ने अपने परिवार के तथा अपने जीवन के वृत्तान्त के सम्बन्ध में कुछ लिखा है। इसके अनुसार दण्डी के पूर्वज नारायणस्वामी के एक पुत्र दामोदर नाम के हुये। दामोदर की 'किरातार्जुनीयम्', महाकाव्य के लेखक भारवि से मित्रता थी। ये काञ्चीनरेश विष्णुवर्धन की राजसभा में आये थे।

दामोदर के तीन पुत्र हुए। इनमें मंझले पुत्र का नाम मनोरथ था। मनोरथ के चार पुत्र हुये, जिनमें सबसे छोटे पुत्र का नाम वीररथ था। वीररथ तथा उसकी पत्नी गौरी दण्डी के माता-पिता थे। ये दोनों ही दण्डी की बाल्यावस्था में स्वर्गवासी हो गये।

दामोदर के पूर्वज भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश के आनन्दपुर नामक स्थान पर रहते थे। वहां से ये नासिक के अचलपुर नामक स्थान पर आकर बस गये। दामोदर की मैत्री काञ्ची के राजा विष्णुवर्धन से हो गई। परन्तु विष्णुवर्धन के अनाचार से दुःखी होकर वे गंगवंशीय राजा दुर्विनीत के यहां रहने लगे। तदनन्तर वे काञ्ची से पल्लववंशी राजा सिंहविष्णु के आश्रय में रहे।

सिंहविष्णु के राज्यारोहण का समय ५७५ ई० निश्चित किया गया है। इसका पुत्र महेन्द्रवर्मा हुआ। महेन्द्रवर्मा का पुत्र नृसिंहवर्मा हुआ, जिसने पुलकेशिन् द्वितीय को

पराजित किया था। यह विष्णु, सिंहविष्णु, अथवा नृसिंहविष्णु नाम से भी प्रसिद्ध हुआ था। इसका राज्य ६२५-६४५ ई० तक रहा। विवरणों से प्रतीत होता है कि भारवि इस राजा की राजसभा में रहे थे। अतः भारवि का समय ६१०-६४५ ई० रहा होगा। दण्डी के प्रपितामह भारवि के मित्र थे, अतः दण्डी का जन्म ६५० ई० के लगभग हुआ होगा।

दण्डी की बाल्यावस्था में ही उनके माता-पिता की मृत्यु हो गई थी। इस समय काञ्ची में महान् विप्लव हुआ और इस नगरी का महान् विनाश हुआ। उस समय दण्डी इस नगरी को छोड़ कर चले गये। वे वर्षों तक अनेक स्थानों पर भ्रमण करके विद्याध्ययन करते रहे। अन्त में युवा होने पर वे काञ्ची में वापिस आये। यहां सरस्वती के आदेश से इन्होंने अपने मित्रों को विद्याधर-नरेश राजवाहन की कथा सुनाई, जो कि 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु यह कथा अपूर्ण ही उपलब्ध हुई है।

जैसा कि पहले कहा गया है कि दण्डी के प्रपितामह दामोदर की भारवि से मित्रता थी। भारवि का सर्वप्रथम उल्लेख चालुक्यवंशी राजा पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोल शिलालेख (६३४ ई०) में मिलता है[११]। विष्णुवर्धन ने, जो कि पुलकेशिन् द्वितीय का भाई या पुत्र कहा जाता है, आन्ध्र और कलिंग में चालुक्य वंश का राज्य स्थापित किया था। उसका शासन-काल ६१५-६३३ ई० तक रहा। इसकी राजसभा में दण्डी के प्रपितामह दामोदर आये थे। दण्डी को हम इनके ५० वर्ष वाद का रख सकते हैं। अतः दण्डी का समय सातवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध हो सकता है। भारवि या तो पुलकेशिन् के समकालीन रहे होंगे, या उससे कुछ पहले हुये होंगे। भारवि की कृति 'किरातार्जुनीयम्' पर राजा दुर्विनीत ने, जिनके आश्रय में कुछ समय तक दामोदर रहे थे, एक टीका लिखी थी[१२]।

दण्डी ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में भास, सुबन्धु, बाण, मयूर, आदि कवियों का उल्लेख किया है, अतः इनको इन सबका उत्तरवर्ती होना चाहिये। यद्यपि बाण और मयूर का समय बहुत बाद का न होकर निकटवर्ती ही होना चाहिये तथा इनकी ग्रन्थ-रचना का काल ६७५-७१० ई० का सरलता से माना जा सकता है।

दण्डी का नाम दण्डी क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में एक किम्वदन्ती प्रसिद्ध है। वह यह कि 'दशकुमारचरितम्' के **"ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः शतधृतिभवनाम्भोरुहो नालदण्डः"** में **"दण्ड"** शब्द के प्रयोग के कारण लोगों ने इनको दण्डी कहना प्रारम्भ कर दिया।

माधवाचार्यकृत 'शङ्करजय' नामक ग्रन्थ के अनुसार शंकराचार्य ने दण्डी आदि प्रमुख कवियों को पराजित किया था[१३]। अतः कुछ समालोचकों का यह अनुमान है कि दण्डी दर्शनशास्त्र के आचार्य भी थे। परन्तु इस सम्बन्ध में निश्चय से कुछ कहा नहीं जा सकता।

४. दण्डी की रचनायें

जैसे कि पहले कहा जा चुका है, राजशेखर ने दण्डी की तीन रचनाओं की चर्चा की थी। 'काव्यादर्श' के प्रणेता दण्डी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। 'दशकुमारचरित' को भी दण्डी की रचना निर्विवाद रूप से मान लिया गया है। परन्तु दण्डी की तीसरी रचना के विषय में बहुत कुछ मतभेद रहा है। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के प्रकाशन ने यद्यपि इस विवाद को बहुत कुछ समाप्त कर दिया था, तथापि कुछ समालोचक इसको दण्डी की तीसरी रचना मानने में आपत्ति करते हैं।

'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' के अतिरिक्त दण्डी की तीसरी रचना कौनसी है, इस प्रश्न के समाधान का पहला प्रयास पिशेल ने किया था। 'काव्यादर्श' में **"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि०"** श्लोक दो बार उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक बार तो उत्प्रेक्षा अलङ्कार के उदाहरण के रूप में और दूसरी बार संसृष्टि अलङ्कार के उदाहरण के रूप में। यह श्लोक 'मृच्छकटिक' में भी आता है । इस आधार पर पिशेल ने कहा कि दण्डी की तीसरी रचना 'मृच्छकटिक' है।

परन्तु पिशेल के इस मत का समर्थन अन्य किसी ने नहीं किया। यह श्लोक केवल 'मृच्छकटिक' में ही नहीं है, अपितु इससे पूर्व की भास की रचनाओं - 'चारुदत्त' और 'बालचरित' में भी है। अतः इस श्लोक के आधार पर 'मृच्छकटिक' को दण्डी की रचना नहीं माना जा सकता। दण्डी इस पद्य को 'मृच्छकटिक' से भी तथा उनसें पहले के भास के नाटकों से भी उदाहरण के रूप में ले सकते थे।

पिशेल के पश्चात् जैकोबी और पीटर्सन ने इस प्रश्न के समाधान का प्रयत्न किया। इनका कथन था कि दण्डी की तीसरी रचना 'छन्दोविचिति' है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' के प्रथम परिच्छेद में 'छन्दोविचिति'नामक रचना का उल्लेख किया है[१४]।

परन्तु यह धारणा भी भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः 'छन्दोविचिति' किसी ग्रन्थ का नाम नहीं है, अपितु शास्त्र या विद्या का नाम है। प्राचीन शास्त्रों में 'छन्दोविचिति' को एक विद्या कहा गया है, जैसा कि चाणक्य के 'अर्थशास्त्र'[१५] में और 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र'[१६] में लिखा है। दण्डी ने स्वयं ही **"सा विद्या नौर्विविक्षूणाम्"** लिख कर इस तथ्य की पुष्टि की है।

कुछ समालोचकों के अनुसार दण्डी की तीसरी रचना 'कलापरिच्छेद' है। परन्तु अधिकांश समालोचक इस बात को स्वीकार नहीं करते कि यह ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से लिखा गया था। पी० वी० काणे की मान्यता है कि 'कलापरिच्छेद' स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर 'काव्यादर्श' का ही भाग था[१७]। यह भी हो सकता है कि दण्डी ने 'कलापरिच्छेद' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की योजना बनाई हो, जैसा कि उन्होंने स्वयं ही लिखा है[१८]।

दक्षिणी भारत से भोजराज का 'शृङ्गारप्रकाश' नामक एक अलङ्कार विषयक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ में दण्डी के 'द्विसन्धान' नामक काव्य का एक श्लोक उद्धृत है[११]। परन्तु दण्डी का यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, यद्यपि धनञ्जय कवि की एक रचना 'द्विसन्धान' काव्य प्रकाशित हो चुका है।

दक्षिणी भारत से दो ग्रन्थों की उपलब्धि ने दण्डी की रचनाओं के सम्बन्ध की चर्चा को बहुत बदल दिया है। इसमें एक ग्रन्थ तो गद्य में और दूसरा ग्रन्थ पद्य में है। परन्तु किसी भी ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता का नाम नहीं है। गद्य ग्रन्थ का नाम 'अवन्तिसुन्दरीकथा' है, जो कि एक गद्यकाव्य है। पद्य ग्रन्थ इसी कथा का पद्यों में निबद्ध सार है तथा इसका नाम 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' है।

'अवन्तिसुन्दरीकथा' का आरम्भ कुछ श्लोकों से हुआ है। इसमें पहले हिरण्यगर्भ, ईशान और हरि के रूप में प्रभु को नमस्कार किया गया है। तदनन्तर प्राचीन लेखकों एवं रचनाओं की प्रशंसा की गई है। इनमें 'रामायण', 'महाभारत', सुबन्धु, 'बृहत्कथा', मूलदेव, शूद्रक, भास तथा उसके नाटक, सर्वसेन तथा उनका 'हरिविजय', सेतु, वैदर्भी-रीति-निपुण कालिदास, काव्यकार नारायण, एक अन्धा कवि, बाण, मयूर आदि कवि और बिज्जका आदि कुछ कवयित्रियां उल्लिखित हैं। अन्तिम श्लोक में सरस्वती तथा कवि समाज की स्तुति की गई है। इसके पश्चात् गद्य भाग प्रारम्भ होता है।

इस काव्य में कथानक को प्रारम्भ करते हुये दण्डी ने पंहले अपना इतिवृत्त दिया है। इसके अनुसार -

दण्डी के पूर्वज दामोदर ने अपने मित्र भारवि के परामर्श से और प्रेरणा से राजा सिंहविष्णु से मित्रता की । दण्डी के बाल्यकाल में काञ्ची में महान् उपद्रव हुआ और दण्डी काञ्ची छोड़ कर चले गये।

कुछ वर्ष पश्चात् वे पुन: काञ्ची में पल्लव नरेश की राजसभा में आये। देवी सरस्वती ने स्वप्न में उनको आदेश दिया कि वे विद्याधर नरेश राजवाहन की कथा प्रसारित करें। अगले दिन यह कथा उन्होंने अपने मित्रों को सुनाई। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' का उपलब्ध भाग 'दशकुमारचरित' के पहले आधे भाग की कथा के समान ही है।

'अवन्तिसुन्दरीकथासार' पद्यबद्ध है तथा इसमें गद्यकाव्य की कथा का सार दिया गया है। इसमें सात परिच्छेद हैं तथा सातवां परिच्छेद खण्डित रूप में मिला है।

'अवन्तिसुन्दरीकथा' और 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' जिस समय प्रकाशित हुये उसी समय से इनको दण्डीकृत मानने या न मानने का विवाद प्रारम्भ हो गया। कुछ समालोचकों ने तो दोनों रचनाओं को दण्डीकृत माना, कुछ ने एक को और कुछ ने एक को भी दण्डीकृत नहीं माना। म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को

दण्डीकृत मानने में सन्देह प्रकट किया। परन्तु इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग से यह दण्डी द्वारा लिखित ही प्रतीत होता है। अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि इस गद्यकाव्य की रचना दण्डी ने की थी।

'जर्नल आफ ओरिएण्टल रिसर्च', मद्रास के भाग ५, खण्ड २, पृष्ठ ४ पर डा० राघवन् ने अप्पय दीक्षित के इस वाक्य को उद्धृत किया है -

"निरस्ता पल्लवेषु काञ्ची नाम नगरीत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डिप्रयोगात्"।

इस वाक्य से 'अवन्तिसुन्दरीकथा' का दण्डीकृत होना सिद्ध होता है। अनेक अन्य उद्धरणों से भी इस गद्यकाव्य के दण्डीरचित होने के प्रमाण मिले हैं।

पी०वी०काणे का मत है कि 'अवन्तिसुन्दरी' कथा दण्डी की ही कृति है और यह 'दशकुमारचरित' की पूर्वपीठिका है। परन्तु वे 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' को दण्डी की रचना नहीं मानते। काणे महोदय ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को दण्डीकृत मानने में कुछ संकोच अवश्य किया था और इस संकोच के उन्होंने निम्न कारण कहे थे -

(i) इस रचना में भारवि की कृति 'किरातार्जुनीयम्' का या अन्य किसी कृति का संकेत नहीं है।

(ii) 'दशकुमारचरित' की तुलना में 'अवन्तिसुन्दरीकथा' का कथानक संक्षिप्त है।

(iii) 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में दैवी तत्त्वों का प्रवेश बहुत अधिक है।

(iv) 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की शैली और भाषा में भिन्नता है।

परन्तु इस संकोच को व्यक्त करके भी काणे ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को दण्डी द्वारा रचित स्वीकार किया और उसमें वर्णित घटनाओं के आधार पर दण्डी का समय ६६०-६८० ई० निर्धारित किया। वर्तमान समय में प्रायः सभी समालोचकों ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को दण्डी की रचना स्वीकार कर लिया है।

कुछ समालोचकों ने यह भी प्रश्न उठाया है कि 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' ये दोनों रचनायें एक ही व्यक्ति ही नहीं है। इनमें श्री त्रिवेदी और अगाशे प्रधान हैं। इनकी मुख्य दो युक्तियां हैं -

(i) 'काव्यादर्श' के प्रणेता का मत है कि काव्य में सूक्ष्म सा दोष होने पर भी वह दोष काव्य के सौन्दर्य को कम कर देता है, इसलिये काव्य में स्वल्प से दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये[२०]। इस सम्बन्ध में 'काव्यादर्श' के लेखक ने निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है -

कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते।। काव्यादर्श १६.३।।
इस उदाहरण में ग्राम्यत्व दोष बताया है।

दण्डी के अनुसार यदि इस श्लोक में ग्राम्यत्व दोष हो सकता है, तो यह दोष 'दशकुमारचरित' में अनेक स्थानों पर है। उसमें तो इससे भी अधिक ग्राम्यत्व तथा अश्लीलता के उदाहरण हैं। अत: दण्डी जैसे प्रखर आलोचक द्वारा इस प्रकार की दोषपूर्ण कृति की रचना करना सम्भव नहीं है।

(ii) दूसरी बात यह है कि 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' इन दोनों की भाषा और शैली में बहुत अन्तर है। पहली कृति की शैली निर्दोष, सरल, कोमल तथा अर्थगाम्भीर्य से युक्त है, जबकि 'दशकुमारचरित' की शैली अनेक स्थानों पर क्लिष्ट एवं लम्बे समासों से भरी है।

किन्तु 'काव्यादर्श' तथा 'दशकुमारचरित' के लेखकों में भिन्नता स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता। दोनों की अभिन्नता को निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया जा सकता है -

(i) समालोचना तथा कवित्व के व्यवहार में सदा अन्तर होता है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। समालोचक अन्य कृतियों में दोषों की खोज कर लेता है, परन्तु अपनी ही कृति को सर्वथा दोषों से मुक्त कर सके, ऐसा सम्भव नहीं है। इस तथ्य को व्यक्तिविवेककार ने अपने ग्रन्थ में व्यक्त किया है[२१]। 'औचित्यविचारचर्चा' में क्षेमेन्द्र ने स्वयं अपनी कृतियों में दोष बताये हैं[२२]। अत: आलोचक दण्डी के स्वरचित काव्यों में दोषों की उपस्थिति की सम्भावना हो सकती है।

(ii) यह हो सकता है कि 'दशकुमारचरित' की रचना दण्डी ने उस समय की हो, जबकि वे अधिक युवा रहे हों एवं 'काव्यादर्श' की रचना उन्होंने अधिक प्रौढ आयु में की हो। प्रौढ आयु में बुद्धि के परिपक्व हो जाने से दोषों की सम्भावना कम हो जाती है तथा स्वल्प से भी दोष खटकने लगते हैं।

(iii) 'काव्यादर्श' के श्लोकबद्ध होने के कारण उसमें अधिक लम्बे समासों के लिये अवकाश नहीं था। तो भी इसमें श्लोकार्ध तक के समास फिर भी मिल जाते हैं[२३]। 'दशकुमारचरित' गद्यबद्ध होने से उसमें लम्बे समासों का होना सम्भव भी था और वाञ्छित भी। दण्डी ने स्वयं समास की अधिकता को ओजोगुण बताया तथा उसको गद्य का प्राण कहा [२४]। अत:'दशकुमारचरित' के अधिक क्लिष्ट एवं समासबहुल होने के आधार पर इसको दण्डी की रचना न मानना युक्तिसंगत नहीं है।

ऊपर के विवेचन के आधार पर यह बात निस्संकोच रूप से कही जा सकती

है कि दण्डी की निश्चय रूप से ये तीन रचनायें हैं - 'काव्यादर्श', 'दशकुमारचरित' तथा 'अवन्तिसुन्दरीकथा'। यह भी हो सकता है कि दण्डी की कुछ अन्य रचनायें भी रही हों, परन्तु ये अधिक प्रसिद्ध न हों। उनकी ये तीन ही रचनायें प्रसिद्ध रही हों। इसीलिये राजशेखर ने लिखा था कि दण्डी के तीन प्रबन्ध तीनों लोकों में प्रसिद्ध हैं -

"त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः"।

यदि कभी दण्डी के 'कलापरिच्छेद', 'द्विसन्धान' आदि ग्रन्थ प्राप्त हो सकें, तभी इस सम्बन्ध में और कुछ कहा जा सकता है।

५. काव्यादर्श का परिचय

अलङ्कार ग्रन्थ के रूप में 'काव्यादर्श' ने बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। वर्तमान समय में भी इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इसका पहला संस्करण कलकत्ते से प्रेमचन्द तर्कवागीश की टीका के साथ प्रकाशित हुआ था। पुनः बाथलिंक ने इसका जर्मन भाषा में अनुवाद किया, जो १८९० ई० में प्रकाशित हुआ। प्रो० रंगाचार्य ने इस ग्रन्थ को दो प्राचीन टीकाओं के साथ १९१० ई० में मद्रास में प्रकाशित कराया था। तदनन्तर बेलवेलकर ने और शास्त्री रंगाचार्य रेड्डी ने इसको अपनी टीका के साथ १९१७ ई० में पूना से प्रकाशित कराया।

जीवानन्द विद्यासागर तथा अन्य अनेक विद्वानों ने भी इस ग्रन्थ पर टीकायें लिखीं, जो कि विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हुईं।

प्रायः सभी संस्करणों में इसके तीन परिच्छेद दिये गये हैं, परन्तु रंगाचार्य वाले संस्करण में चार परिच्छेद हैं। अन्य संस्करणों के तृतीय परिच्छेद को इन्होंने दो भागों मे विभाजित कर दिया है। इन्होंने तृतीय परिच्छेद के दोष प्रकरण को पृथक् करके चतुर्थ परिच्छेद बनाया। इस ग्रन्थ के कलकत्ता तथा पूना के संस्करण में ६६० श्लोक और मद्रास के संस्करण में ६६३ श्लोक हैं। परिच्छेद के क्रम से इसकी विषय वस्तु निम्न प्रकार से है -

(i) प्रथम परिच्छेद -

'काव्यादर्श' के पहले परिच्छेद में मंगलाचरण के अनन्तर काव्य की परिभाषा करके उसके तीन भेद - गद्य, पद्य तथा मिश्र दिये गये हैं। इसके पश्चात् सर्गबन्ध काव्य का स्वरूप बताया गया है। कथा और आख्यायिका के भेद का निरूपण करते हुये दण्डी ने कहा कि वस्तुतः इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। साहित्य के भाषागत भेद - संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र बताये गये हैं। वैदर्भ एवं गौड मार्गों का वर्णन करके दस गुणों का वर्णन है। अनुप्रास के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। अन्त में कवित्व के तीन साधनों - प्रतिभा, पठन और अभ्यास की चर्चा है।

(ii) द्वितीय परिच्छेद -

दूसरे परिच्छेद में अलङ्कार शब्द की परिभाषा करके ३५ अलङ्कारों की गणना भी की गई है। इसके पश्चात् इन अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। ३५ अलङ्कार निम्न हैं -

स्वाभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश (लव), यथासंख्य (क्रम), प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, ब्याजोक्ति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संकीर्ण और भाविक।

(iii) तृतीय परिच्छेद -

तीसरे परिच्छेद के पहले ७७ श्लोकों में यमक अलङ्कार का विस्तृत वर्णन है। इसके पश्चात् १८ श्लोकों में गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वस्थानवर्णनियम आदि चित्रबन्ध अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण हैं। तदनन्तर २९ श्लोकों में प्रहेलिकाओं की विवेचना है। अन्त में ६३ श्लोकों में दस प्रकार के दोषों का वर्णन है।

दण्डी ने 'काव्यादर्श' में गुणों और अलङ्कारों का विशद विवेचन किया है। अतः इनको अलङ्कारवादी आचार्य कहा जाता है। दण्डी ने रीतियों की भी विवेचना की है, परन्तु उसके लिये वे रीति शब्द का नहीं, अपितु वर्त्म या मार्ग शब्द का प्रयोग करते हैं। उन्होंने काव्य की रचना करने के लिये दो प्रकार के मार्गों का निर्देश किया है - वैदर्भ और गौड। दण्डी का कथन है कि सूक्ष्म भेद वाली वाणी की शैलियों के अनेक भेद होते हैं। इनमें उन्होंने वैदर्भ और गौड मार्गों का वर्णन किया है, क्योंकि इनमें अधिक भेद दृष्टिगोचर होता है[२५]।

इस आधार पर पी० वी० काणे ने दण्डी को अंशतः अलङ्कार सम्प्रदाय का समर्थक और अंशतः रीति सम्प्रदाय का समर्थक कहा है[२६]। परन्तु 'काव्यादर्श' में दण्डी ने न तो रीति पद का प्रयोग ही किया और नाहीं वामन आदि के समान रीतियों की विवेचना की। अतः इनको अंशतः अलङ्कारवादी और अंशतः रीतिवादी कहने का कोई औचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता। दण्डी को अलङ्कारवादी आचार्य कहना ही अधिक उपयुक्त है।

अलङ्कारवादी होते हुये भी दण्डी रस के माधुर्य से परिचित थे और काव्य में रस की स्थिति को अनिवार्य मानते थे[२७]। परन्तु रस का संचार करने के लिये वे अलंकार को साधन के रूप में आवश्यक मानते थे[२८]। रस को उन्होंने काव्य में प्रधान नहीं माना तथा उसको रसवद् आदि अलङ्कारों में परिगणित किया। रस से उपपन्न आनन्दप्रद

कथन को उन्होंने रसवद् अलङ्कार कहा[२९]। उन्होंने गुणों को भी अलङ्कार रूप माना था। इस प्रकार रस, रीति आदि की विशेषता को स्वीकार करते हुए भी दण्डी ने अलङ्कारों को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया था। अत: दण्डी को अलङ्कारवादी आचार्य कहना अधिक उपयुक्त है।

'काव्यादर्श' की शैली अधिक सरल तथा सारगर्भित है। कवित्व की दृष्टि से भी दण्डी का स्थान बहुत ऊंचा है। उन्होंने 'काव्यादर्श' में जो उदाहरण दिये हैं, उनमें अधिकांश स्वरचित हैं। कुछ ही उदाहरण अन्य काव्यों से उद्धृत किये गये हैं। दण्डी का पदलालित्य प्रसिद्ध है (दण्डिन: पदलालित्यम्) । 'काव्यादर्श' के पदों में लालित्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। दण्डी ने जिन प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, कान्ति आदि गुणों की विवेचना की है, वे सब उनकी इस रचना में उपस्थित हैं।

६. काव्यादर्श में उल्लिखित अन्य तत्त्व

'काव्यादर्श' के उदाहरणों में कुछ तथ्य ऐसे आ गये हैं , जो ऐतिहासिक एवं भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ ऐतिहासिक एवं भौगोलिक नाम इस प्रकार आये हैं -

(i) मलय -

मलय पर्वत की वायु दक्षिण देश से आती है। यह अनुकूल होती हुई जन-जन को सुख देती है(२.१७४)। यह वायु कपूर के वृक्षों के स्पर्श से सुगन्धित है (३.१६५)।

(ii) कावेरी तथा चोल देश -

चोल देश की भूमियां काले अगुरु से सुगन्धित हैं और कावेरी नदी के तट पर अवस्थित हैं (३.१६६)।

(iii) काञ्ची -

एक ऐसी नगरी, जिसके मध्य में अनुनासिक वर्ण है तथा जो दोनों ओर चार वर्णों से सुशोभित है (३.११४)। इस पहेली का उत्तर काञ्ची है - क् + आ + ञ् + च् + ई = काञ्ची। इसमें आठ वर्ण वाले राजा रहते हैं। कुछ टीकाकारों का कहना है कि यह पद पल्लव वंश का संकेत करता है। परन्तु पल्लव पद में सात ही वर्ण हैं। अत: कुछ समालोचक इससे पुण्ड्रक वंश को ग्रहण करते हैं। परन्तु दण्डी के समय में इस वंश की प्रतिष्ठा के प्रमाण नहीं मिलते।

(iv) कलिङ्ग -

कलिङ्ग देश में उत्पन्न हाथी मृगसदृश होते हैं (३.१६५)।

(v) अवन्ती -

यह अवन्ती (अवन्ती देश की राजकुमारी) मुझको इस जन्म में ही कैसे मिल

गई (२.२८०)। इस प्रसंग में कुछ समालोचकों ने अवन्ती पद से अवन्ती देश की राजकुमारी वासवदत्ता के प्रति संकेत माना है और इसका सम्बन्ध वत्सराज उदयन के साथ जोड़ा है। कुछ विद्वानों के अनुसार यहां अवन्ती पद राजवाहन की प्रेमिका अवन्तिसुन्दरी की ओर संकेत करता है।

(vi) राजवर्मन् (रातवर्मन्) -

साक्षात् देवता के रूप राजा राजवर्मा को देखने पर जो प्रसन्नता प्राप्त हुई है, उसको प्रेय समझना चाहिये (२.२७९)। रातवर्मा (राजवर्मा) पल्लवनरेश नृसिंहवर्मा द्वितीय का विरुद था। दण्डी ने यह संकेत उसकी ओर ही किया होगा, क्योंकि उन्होंने प्रायः काञ्ची की राजसभा को ही अलंकृत किया था।

(vii) वराह -

राजसमूह से उद्धार की गई यह पृथिवी आज आपकी भुजा द्वारा धारण की जा रही है। यह पहले वराह द्वारा उद्धार की गई थी और शेषनाग पर स्थित थी(३.२५)। यहां वराह पद चालुक्य वंश के राजचिह्न की ओर संकेत करता है।

(viii) कालकाल -

श्लोक ३.५० में कालकाल पद का यमक के रूप में अनेक बार प्रयोग हुआ है। यह शब्द काञ्चीनरेश नृसिंहवर्मा द्वितीय का विरुद था।

(ix) पल्लव -

श्लोक ३.११२ में पल्लव पद से पल्लव वंश की ओर संकेत प्रतीत होता है। दण्डी के प्रपितामह दामोदर पल्लववंशी राजा दुर्विनीत के भी आश्रय में रहे थे।

(x) भाषायें -

श्लोक १.३२ के अनुसार साहित्य की चार भाषायें है - संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, और मिश्र। संस्कृत दैवी भाषा है, जिसको महर्षियों ने कहा था। प्राकृत भाषायें तीन प्रकार की होती हैं - तद्भव, तत्सम और देशी। महाराष्ट्र, शौरसेनी, गौडी, लाटी आदि अनेक प्राकृत भाषायें हैं। आभीर आदि अपभ्रंश भाषायें है।

(xi) बृहत्कथा -

'बृहत्कथा' की रचना भूतभाषा (पैशाची प्राकृत) में हुई थी (१.३८)।

(xii) सेतुबन्ध -

'सेतुबन्ध' आदि काव्य महाराष्ट्र में बोली जाने वाली उत्कृष्ट प्राकृत भाषा के हैं (१.३४)।

(xiii) छन्दोविचिति -

श्लोक १.१२ में उल्लिखित 'छन्दोविचिति' को कुछ समालोचक दण्डी की एक

रचना मानते हैं। परन्तु अधिकांश समालोचकों के विचारों के अनुसार यह केवल छन्दःशास्त्र का नाम है। 'छन्दोविचिति' नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख वामन ने किया है। हो सकता है कि दण्डी की भी कोई रचना 'छन्दोविचिति' नाम की रही हो, परन्तु वह अब प्राप्य नहीं हैं।

(xiv) कलापरिच्छेद -

श्लोक ३.१७१ में 'कलापरिच्छेद' नाम का उल्लेख है। कुछ समालोचकों का विचार है कि दण्डी ने इसको 'काव्यादर्श' के एक परिच्छेद के रूप में लिखने का विचार किया था। कुछ का विचार है कि यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा होगा। हो सकता है कि दण्डी ने इसको 'काव्यादर्श' के एक परिच्छेद के रूप में या स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में लिखा हो। परन्तु वर्तमान समय में यह उपलब्ध नहीं है। इसलिये इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता।

(xv) महाभाष्य -

श्लोक २.२२७ में आप्तभाषित पद का प्रयोग है। विद्वानों की धारणा है कि इस पद का प्रयोग 'महाभाष्य' के लिये हुआ है।

(xvi) भरत नाट्यशास्त्र -

श्लोक २.३६७ में दण्डी ने कहा है कि आगमान्तर (दूसरे शास्त्र) में जो सन्धि तथा उसके अंग, वृत्ति और उसके अंग, लक्षण आदि कहे गये हैं, उन सबका अन्तर्भाव अलङ्कारों में ही हो जाता है। समालोचकों का विचार है कि दण्डी ने यहां आगमान्तर पद द्वारा भरत के 'नाट्यशास्त्र' की ओर संकेत किया है।

(xvii) न्याय -

श्लोक ३.१७३ में दण्डी ने "हेतुविद्या" को न्याय नाम दिया है।

(xviii) सुगत -

श्लोक ३.१४७ में सुगत के नाम से बौद्ध दर्शन का उल्लेख है कि संस्कार नश्वर नहीं होते ।

(xix) सांख्य -

श्लोक ३.१३५ में कपिल नाम से कपिलप्रोक्त सांख्य दर्शन की ओर संकेत है।

७. काव्यादर्श की टीकायें

प्राचीन समय में दण्डी का 'काव्यादर्श' बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ था। इस पर प्राचीन काल में अनेक टीकायें लिखी गई थीं। निम्न टीकाओं का परिचय मिलता है -

(i) तरुण वाचस्पति की टीका -

'काव्यादर्श' की सबसे प्राचीन टीका तरुण वाचस्पतिकृत है। इसको रंगाचार्य ने

सम्पादित करके मद्रास से प्रकाशित किया है। इस टीका में तरुण वाचस्पति ने 'दशरूपक' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' को उद्धृत किया है। तरुण वाचस्पति के पुत्र केशव भट्टारक की 'तात्पर्यनिर्णय' नाम की एक टीका भी 'काव्यादर्श' पर मिली है। केशव भट्टारक महाराजधिराज रामनाथ के गुरु थे। रामनाथ होयसलवंशी राजा थे और १२५५ ई० में सिंहासन पर बैठे थे। अत: तरुण वाचस्पति का समय १३वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध समझा जा सकता है।

(ii) हृदयङ्गमा टीका -

'काव्यादर्श' की 'हृदयङ्गमा' टीका के लेखक का नाम विदित नहीं है। यह टीका 'काव्यादर्श' के केवल दो परिच्छेदों पर ही प्राप्त हुई है। इसको भी प्रो० रंगाचार्य ने मद्रास से प्रकाशित कराया था।

(iii) मार्जन टीका -

इस टीका की रचना महामहोपाध्याय हरिनाथ ने की थी। हरिनाथ के पिता का नाम विश्वधर तथा बड़े भाई का नाम केशव था। हरिनाथ का कथन है कि उन्होंने 'काव्यादर्श' की 'मार्जन' टीका के साथ ही 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर भी टीका लिखी थी। परन्तु यह टीका इस समय प्राप्त नहीं है। 'मार्जन' टीका का समय १३ वीं शताब्दी ई० का समझा जा सकता है।

(iv) काव्यतत्त्वविवेचककौमुदी -

इस टीका की रचना गोपालपुर (बंगाल) के निवासी कृष्णकिङ्कर तर्कवागीश ने की थी।

(v) श्रुतानुपालिनी टीका -

इस टीका की रचना वादिजंघाल ने की थी।

(vi) वैमल्यविधायिनी टीका -

इस टीका की रचना जगन्नाथ के पुत्र मल्लिनाथ ने की थी।

(vii) विजयानन्दकृत व्याख्या -

यह व्याख्या विजयानन्द ने की थी।

(viii) यामुनकृत व्याख्या -

इस व्याख्या में 'काव्यादर्श' को चार परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। अन्तिम परिच्छेद दोषों का है।

(ix) रत्नश्री टीका -

इस टीका को लंकानिवासी रत्नश्रीज्ञान ने लिखा था। इसका प्रकाशन श्री अनन्तलाल ठाकुर के सम्पादकत्व में मिथिला इन्स्टीट्यूट दरभंगा से हुआ है।

'काव्यादर्श' की इन प्राचीन टीकाओं में तरुण वाचस्पति की टीका, हृदयङ्गमा टीका और रत्नश्री टीका प्रकाशित हुई हैं।

सन्दर्भ-

१ जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि।। सुभाषितरत्नभाण्डागार।

२. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

३ भासो रामिलसोमिलौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्को कवि-
र्मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धुश्च यः।
दण्डी बाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते ।। सुभाषितहारावली ।।

४ त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।। सुभाषितहारावली।।

५. नीलोत्पलदलश्यामां बिज्जकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती।।. शाङ्गर्धरपद्धति।।

६. सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्दरम् ।। शार्ङ्गधरपद्धति।।

७. जनरल आफ रायल ओरिएण्टल सोसाइटी (१९०५), पृ० ४१।।

८. लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।। मृच्छकटिक १.१३४।।

९ अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः।। काव्यादर्श २.१९७।।
केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।। कादम्बरी शुकनासोपदेश।।

१०. रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः।
ज्ञातो लङ्केश्वरः कृच्छ्राद्आञ्जनेयेन तत्त्वतः।। काव्यादर्श २.३०२।।
रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषयेवृता इव ।। शिशुपालवध २.४।।

११. येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।। ऐहोल का शिलालेख।।

१२. किरातार्जुनीये पञ्चदशसर्गे टीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।।
गंगवंशीय राजा दुर्विनीत का एक शिलालेख।।

१३. स कथाभिरवन्तिषु प्रसिद्धान् विबुधान् बाणदण्डिमयूरप्रमुखान्।
शिथिलीकृतदुर्मताभिमानान् निजभाष्यश्रवणोत्सुकांश्चकार ।। शंकरजय।।
१४. छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रबन्धो निदर्शितः।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्।। काव्यादर्श १.१२।।
१५. अर्थशास्त्र - चाणक्य।। १.३.१।।
१६. षडङ्गो वेदः। छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शिक्षा छन्दोविचितिरिति।।
आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.४.८ ११।।
१७. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास ।। पी० वी० काणे, पृ० ११६।।
१८. इत्थं कलाचतुःषष्टिविरोधः साधु नीयताम्।
तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति।। काव्यादर्श ३.१७१।
१९. उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्धनः।
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः।। शृङ्गारप्रकाश।।
२०. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।। काव्यादर्श १.७।।
२१. स्वकृतिष्वनियन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्।
वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्।। व्यक्तिविवेक।।
२२. औचित्यविचारचर्चा-कारिका २०-२१।।
२३. पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसन्ध्यातपांशुका।। काव्यादर्श १.८४।।
समानशब्दोपन्यस्तशब्दपर्यायसाधिता।। काव्यादर्श ३.१०३।।
२४. ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।। काव्यादर्श १.८०।।
२५. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।। काव्यादर्श १.४०।।
२६. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पी० वी० काणे, पृ० १११।।
२७. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः।। काव्यादर्श १.५१।।
२८. कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति।। काव्यादर्श १.६२।।
२९. रसवद् रसपेशलम् ।। काव्यादर्श २.२७५।।

नवां अध्याय

उद्भट

१.उद्भट का महत्त्व

काव्यशास्त्र के आचार्यों में उद्भट को बहुत महत्त्वपूर्ण तथा आदरणीय स्थान प्राप्त हुआ था। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उद्भट का और उनके अलङ्कारसम्बन्धी मत का बहुत अधिक आदर के साथ उल्लेख किया था। उसके विरोधी आचार्यों, आनन्दवर्धन आदि ने भी उद्भट को आदर के साथ उद्धृत किया था[१]। अभिनवगुप्त, हेमचन्द, राजशेखर, मम्मट, अप्पय दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ आदि लब्धप्रतिष्ठ आचार्यों ने उद्भट के साथ विरोध रखते हुये भी उसको आदर प्रदान किया। उद्भट के अलङ्कार ग्रन्थ 'अलङ्कारसारसंग्रह' और 'भामहविवरण' की इतनी अधिक प्रसिद्धि हुई थी कि भामह का मूल ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' बहुत समय तक छिपा रहा। यह ग्रन्थ कुछ ही समय पहले प्राप्त हुआ है।

२.उद्भट का स्थान और समय -

जैसा कि उद्भट के नाम से ही स्पष्ट है, वे काश्मीर प्रदेश में हुये होंगे। 'राजतरङ्गिणी' में कह्लण ने किन्हीं एक भट्ट-उद्भट का उल्लेख किया है, जो राजा जयापीड की राजसभा के सभापति थे। इनको प्रतिदिन एक लाख दीनार का वेतन मिलता था[२]। जयापीड का शासनकाल ७७९-८१३ ई० रहा। यदि इन्ही भट्ट-उद्भट को 'अलङ्कारसारसंग्रह' का रचयिता उद्भट समझा जाये, तो इनका समय ८०० ई० के लगभग का निर्धारित किया जा सकता है। डा० व्हूलर ने अपनी काश्मीर रिपोर्ट में इन दोनों के व्यक्तित्व को अभिन्न सिद्ध किया है[३]।

अन्य प्रमाणों से भी उद्भट का यही समय सिद्ध होता है। उद्भट ने भामह के 'काव्यालङ्कार' पर 'भामहविवरण' नाम की टीका लिखी थी, अतः उनको भामह के पश्चात् होना चाहिए। इस आधार पर इनका समय सातवीं शताब्दी ई० के पश्चात् का होता है। उद्भट का उल्लेख आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में किया है। कह्लण के अनुसार आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में हुये थे[४]। अवन्तिवर्मा का राज्यकाल ८५५-८८८ ई० तक रहा। अतः उद्भट का समय सरलता से ८०० ई० के लगभग का निर्धारित किया जा सकता है। उद्भट ने ध्वनि के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा था। इससे भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे आनन्दवर्धन से पहले हुये होंगे।

उद्भट ने ध्वनि का विवेचन क्यों नही किया इसका उत्तर प्रतिहारेन्दुराज ने 'अलङ्कारसारसंग्रह' की टीका में इस प्रकार दिया है -

"कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहित: । स कस्मादिह नोपदिष्ट: । उच्यते - एष्वलङ्कारेष्वन्तर्भावात् ।"

इससे विदित होता है कि उद्भट के समय तक ध्वनि की स्थापना नहीं हुई थी। विन्टरनिट्ज, एस० के० डे०, पी० वी० काणे आदि सभी समालोचकों ने उद्भट के समय को नवम शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध का स्वीकार किया है।

३. उद्भट की कृतियां

उद्भट की तीन कृतियों का अभी तक पता लग सका है - 'अलङ्कारसारसंग्रह', 'भामहविवरण' और 'कुमारसम्भव'। इनमें उद्भट का प्रथम ग्रन्थ काव्यशास्त्र पर लिखा गया स्वतन्त्र ग्रन्थ है। दूसरा ग्रन्थ भामह के 'काव्यालङ्कार' की टीका है और तीसरा ग्रन्थ एक महाकाव्य है। इन तीनों ग्रन्थों में से केवल 'अलङ्कारसारसंग्रह' ही प्राप्य है। उद्भट ने 'नाट्यशास्त्र' पर टीका लिखी थी, ऐसा प्राचीन ग्रन्थों से संकेत मिलता है। यहां इन ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है -

(१) अलंकारसारसंग्रह -

इस ग्रन्थ की खोज सबसे पहले व्हूलर ने काश्मीर में की थी और अपनी रिपोर्ट में इसका विवरण दिया था। इसको कर्नल जेकब ने नागरी लिपि में सम्पादित कर अपने अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया था, जो १८९७ ई० रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में पृ० ८२९-८४७ तक में प्रकाशित हुआ था।

परन्तु अभी तक भी यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं था। इसके पश्चात् पण्डित मङ्गेश रामकृष्ण तैलंग ने इस ग्रन्थ का प्रतिहारेन्दुराजकृत 'लघुवृत्ति' नामक टीका के साथ सम्पादन किया और यह ग्रन्थ १९१५ ई० में निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ।

'अलङ्कारसारसंग्रह' का सम्पादन श्री ए० डी० वनहट्टि ने भी किया था, जो प्रतिहारेन्दुराजकृत टीका के साथ १९२५ ई० में बम्बई संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ। वनहट्टि ने इसमें प्रस्तावना भी लिखी और टिप्पणियां भी दीं।

'अलङ्कारसारसंग्रह' ग्रन्थ छ: वर्गो में विभक्त है और इसमें ७९ कारिकायें हैं। इनमें ४१ अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। इन अलङ्कारों के ९० उदाहरण दिये गये है। उदाहरणों के ये श्लोक प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उनकी अपनी ही कृति 'कुमारसम्भव' से लिये गये थे[५]। उद्भट ने जिन अलङ्कारों का विवेचन इस ग्रन्थ में किया है, वर्गक्रम के अनुसार वे इस प्रकार हैं -

(i) प्रथम वर्ग -

(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास, (३) तीन प्रकार के अन्य अनुप्रास

(परुषा, उपनागरिका और कोमला अथवा ग्राम्या), (४) लाटानुप्रास, (५) चार प्रकार के रूपक, (६) उपमा, (७) दीपक (आदि,मध्य और अन्त), (८)प्रतिवस्तूपमा।

(ii) द्वितीय वर्ग -

(९) आक्षेप, (१०) अर्थान्तरन्यास, (११)व्यतिरेक, (१२) विभावना, (१३)समासोक्ति, (१४)अतिशयोक्ति।

(iii) तृतीय वर्ग -

(१५) यथासंख्य, (१६) उत्प्रेक्षा, (१७)समासोक्ति।

(iv) चतुर्थ वर्ग -

(१८) प्रेयस्, (१९)रसवत्, (२०) ऊर्जस्वि, (२१)पर्यायोक्त, (२२)समाहित, (२३)दो प्रकार का उदात्त, (२४) दो प्रकार का श्लिष्ट।

(v) पञ्चम वर्ग -

(२५) अपह्नुति, (२६) विशेषोक्ति, (२७) विरोध, (२८) तुल्ययोगिता, (२९) अप्रस्तुतप्रशंसा, (३०)व्याजस्तुति, (३१) निदर्शना, (३२)उपमेयोपमा, (३३)सहोक्ति, (३४) संकर के चार प्रकार, (३५) परिवृत्ति।

(vi) षष्ठ वर्ग-

(३६) अनन्वय, (३७)ससन्देह, (३८) संसृष्टि, (३९) भाविक, (४०) काव्यलिंग और (४१) दृष्टान्त।

यह तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उद्भट द्वारा अलङ्कारों के विवेचन पर और क्रम पर भामह का बहुत अधिक प्रभाव है। यह प्रभाव स्वाभाविक भी है, क्योंकि उद्भट ने भामह के ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' पर 'भामहविवरण' नाम से टीका लिखी थी। परन्तु उद्भट ने भामह का सर्वथा अनुकरण किया हो, ऐसा नहीं है । यह तथ्य इसी बात से स्पष्ट है कि उन्होंने भामह के कहे हुये कुछ अलङ्कार - यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव आदि को छोड़ दिया है और भामह द्वारा न कहे गये अनेक अलङ्कारों -- पुररुक्तवदाभास, संकर, काव्यलिङ्ग तथा दृष्टान्त अलङ्कार का प्रतिपादन किया है। भामह के निदर्शना अलङ्कार का नाम उद्भट ने निदर्शन दिया है।

उद्भट पर भामह का प्रभाव इस बात से भी प्रतिपादित होता है कि उद्भट ने अलङ्कारों का क्रम भामह के अनुसार दिया है। इन्होंने अनेक अलङ्कारों के लक्षण सर्वथा भामह के समान ही दिये है। आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह, और अनन्वय अलङ्कारों के लक्षण उद्भट ने शब्दशः भामह के समान किये हैं। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत्, भाविक आदि अलङ्कारों के लक्षण शब्दशः समान तो नहीं है, परन्तु एक से ही हैं। कुछ समालोचकों का यह मत है कि यह समानता इस कारण है कि उद्भट ने पहले ' भामहविवरण' नामक विस्तृत ग्रन्थ लिखा था और उसी का संक्षिप्त रूप 'अलङ्कारसारसंग्रह' है[६]।

यह कहा जा चुका है कि उद्भट पर यद्यपि भामह का बहुत प्रभाव है, तथापि

उसने भामह का सर्वथा अनुकरण नहीं किया। उद्भट ने अपनी स्वतन्त्र विशेषताओं का प्रदर्शन अनेक स्थानों पर किया है। उन्होंने भामह द्वारा कथित कुछ अलङ्कारों को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया, जबकि अनेक अलङ्कार इस प्रकार के निर्दिष्ट किये हैं, जिनका वर्णन भामह ने नहीं किया था। प्रतिहारेन्दुराज का कथन है -

"भामह ने ग्राम्या एवं उपनागरिका नामक दो प्रकार के अनुप्रास कहे थे, परन्तु उद्भट ने उनमें परुषा को और जोड़ कर तीन प्रकार के अनुप्रास बताये। भामह ने रूपक के दो ही भेद कहे थे, परन्तु उद्भट ने उसके चार भेद कहे[७]।"

श्लिष्ट अलंकार के सम्बन्ध में भी उद्भट का भामह से मतभेद रहा। भामह ने श्लिष्ट अलंकार को तीन प्रकार का कहा था,[८] जबकि उद्भट ने श्लेष के केवल दो भेद माने। प्रेय अलङ्कार के सम्बन्ध में उद्भट के भामह से मतभेद को अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया है कि भामह गुरु-नृपति-पुत्र विषयक प्रीति को प्रेय अलङ्कार मानते थे, परन्तु उद्भट ने भाव अलङ्कार को ही प्रेय अलङ्कार माना है[९]।

(२) भामहविवरण

'भामहविवरण' नामक ग्रन्थ इस समय प्राप्य नहीं है, इसका केवल नाम मात्र ही उपलब्ध होता है। प्राचीन ग्रन्थों में उद्भट द्वारा भामह के 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ पर टीका लिखने का प्रमाण अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है। प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार भट्टोद्भट ने ' भामहविवरण' लिखा था[१०]। अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टोद्भट ने भामह की व्याख्या की थी[११]। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में स्वयं की अपनी टीका में उद्भटकृत 'भामहविवरण' का उल्लेख अनेक बार किया है[१२]। रुय्यक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' में उद्भट की इस कृति को 'भामहीय-उद्भट-लक्षण' कहा है[१३]।

इस विवरण से स्पष्ट है कि उद्भट ने भामह के 'काव्यालङ्कार' पर 'भामहविवरण' नामक टीका की रचना की थी। परन्तु यह टीका इस समय उपलब्ध नहीं है।

(३) कुमारसंम्भव -

प्राचीन विवरणों से यह प्रतीत होता है कि उद्भट ने 'कुमारसम्भव' नाम का एक काव्य भी लिखा था। परन्तु यह काव्य भी इस समय उपलब्ध नहीं है। उद्भट ने 'अलङ्कारसारसंग्रह' में जो उदाहरण दिये हैं, प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उन्होंने ये उदाहरण अपनी ही रचना 'कुमारसम्भव' से लिये थे। इन उदाहरणों को देखने से प्रतीत होता है कि उद्भट ने अपना 'कुमारसम्भव' काव्य कालिदास के 'कुमारसम्भव' काव्य के अनुकरण के रूप में ही लिखा होगा, जैसा कि पी० वी० काणे का कथन है कि दोनों रचनाओं में बहुत अधिक समानता है। यह समानता केवल शब्दों और भावों में ही नहीं है, अपितु घटनाओं में भी है[१४]। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं -

(क) प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य वाटवीम्।।

अलङ्कारसारसंग्रह २.१०।।

विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा। कुमारसम्भव ५.३३।।

(ख) अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम्।
असम्भाव्यपतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः।।अल० संग्रह २.१२।।

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमीदृशं द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।। कुमारसम्भव ५.२।।

(ग) शीर्णवाताम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम्।।

अलङ्कारसारसंग्रह २.१७।।

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।। कुमारसम्भव २.२८।।

(४) नाट्यशास्त्र की टीका -

उद्भट ने भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर भी एक टीका लिखी थी, परन्तु वह वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। इसका संकेत 'नाट्यशास्त्र' की टीकाओं के प्रसंग में किया जा चुका है।

४. अलङ्कारसारसंग्रह की प्राचीन टीकायें

उद्भट के 'अलङ्कारसारसंग्रह' पर दो प्राचीन टीकायें उपलब्ध होती हैं। इनमें एक तो प्रतिहारेन्दुराजकृत 'लघुविवृति' टीका है तथा दूसरी राजानक तिलक द्वारा रचित 'उद्भटविवेक' है।

(i) अलङ्कारसारलघुविवृति -

'अलङ्कारसारसंग्रह' की प्राचीनतम टीका प्रतिहारेन्दुराज ने की थी और इसका नाम 'लघुविवृति' रखा था। इस टीका की प्रस्तावना में टीकाकार ने तीसरा श्लोक इस प्रकार लिखा है -

विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतिहारेन्दुराजेन काव्यालङ्कारसारसंग्रहः।।

इससे विदित होता है कि प्रतिहारेन्दुराज मुकुलभट्ट के शिष्य थे। मुकुलभट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ की रचना की थी और ये कल्लट भट्ट के पुत्र थे। इनका समय नवम शताब्दी ई० का उत्तरार्ध माना गया है। इसलिये प्रतिहारेन्दुराज को दशम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध का समझा जाना चाहिये।

प्रतिहारेन्दुराज की टीका संक्षिप्त, पाण्डित्यपूर्ण और सुस्पष्ट है। इसमें उन्होंने अनेक ग्रन्थों के उल्लेख किये हैं तथा उद्धरण दिये हैं। भामह, दण्डी, वामन, ध्वन्यालोक, नाट्यशास्त्र, पतञ्जलि, कात्यायन और अमरुक के ग्रन्थों का इसमें उल्लेख है तथा उनसे उदाहरण भी उद्धृत हैं। इन्होंने उद्भट के उदाहरणों के पाठभेदों की भी चर्चा की है।

अभिनवगुप्त के गुरु का नाम इन्दुराज था, परन्तु वे प्रतिहारेन्दुराज से भिन्न थे। प्रतिहारेन्दुराज ने काव्य में ध्वनि को प्रधानता नहीं दी, अतः इनको अभिनवगुप्त का गुरु मानना उचित नहीं है।

(ii) उद्भटविवेक

'अलङ्कारसारसंग्रह' पर दूसरी प्राचीन टीका राजानक तिलक ने लिखी थी। इनकी टीका को 'उद्भटविवेक' या 'उद्भटविचार' नाम दिया गया था। इसका प्रकाशन १९३१ ई० में गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज न० ५५ से हुआ था।

प्राचीन काल में 'उद्भटविवेक' टीका का प्रचुर सम्मान हुआ था। जयरथ ने 'अलङ्कारसर्वस्व' पर लिखी अपनी 'विमर्शिनी' नामक टीका में राजानक तिलक को उद्भट के टीकाकार के रूप में उद्धृत किया था और यह भी कहा था कि उन्होंने अपनी टीका में तिलक के ही मत का अनुसरण किया है[१५]।

'काव्यप्रकाश' की संकेत टीका के लेखक रुचक ने तिलक से काव्यशास्त्र का अध्ययन किया था। पी० वी० काणे के अनुसार 'सहृदयलीला' की पुष्पिका में रुचक को रुय्यक भी कहा गया है और इनको राजानक तिलक का पुत्र भी कहा गया है। सम्भवतः ये रुय्यक ही 'अलङ्कारसर्वस्व'के रचयिता थे। 'अलङ्कारसर्वस्व' की रचना ११३५-११५५ ई० में हुई थी। इसलिये तिलक का समय ११००-११२५ ई० (बारहवीं शताब्दी ई०) का पूर्वार्द्ध होना चाहिये।

राजानक तिलक की टीका संक्षिप्त, विषय के अनुकूल और सुस्पष्ट है। इन्होंने अनेक स्थानों पर प्रतिहारेन्दुराज के मत का खण्डन किया है।

५. उद्भट की विशेषतायें

उद्भट ने एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की थी , जो आकार में बहुत छोटा था और इसमें केवल ७९ कारिकाओं में ४१ अलंकारों के लक्षण दिये गये थे, तथापि काव्य की समालोचना के क्षेत्र में इस ग्रन्थ को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ था। इसके विशेष सिद्धान्तों का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है। संक्षेप से वे सिद्धान्त इस प्रकार है -

(i) अर्थ के भेद से शब्दों का भेद होता है[१६]।

(ii) उद्भट ने श्लेष अलङ्कार के दो भेद - शब्दश्लेष और अर्थश्लेष माने हैं तथा दोनों को अर्थालङ्कार कहा है। मम्मट ने उद्भट के इस मत का खण्डन किया था[१७]।

(iii) उद्भट के अनुसार श्लेष अलंकार सबसे प्रधान है। अन्य अलंकारों की उपस्थिति में श्लेष अलंकार को प्रधान तथा अन्य अलंकारों को अप्रधान मानना चाहिये[१८]।

(iv) राजशेखर के अनुसार उद्भट ने अभिधा व्यापार को तीन प्रकार का माना था[१९]।

(v) उपमा अलंकार के भेदों का व्याकरण के आधार पर विस्तृत निरूपण सबसे पहले उद्भट ने ही किया था। उत्तरवर्ती काल में मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इन भेदों का और भी विस्तार से विवेचन किया।

(vi) उद्भट के अनुसार रस की अभिव्यक्ति रसवद् अलंकार है। यह अभिव्यक्ति पांच प्रकार से हो सकती है[२०] -

(क) स्वशब्द द्वारा,
(ख) स्थायी भाव द्वारा,
(ग) सञ्चारी भाव द्वारा,
(घ) विभाव द्वारा, और
(ङ) अभिनय द्वारा

परन्तु उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को अभिव्यङ्ग्य माना और रस की स्वशब्दवाच्यता को दोष प्रतिपादित किया[२१]।

(vii) लोचनकार के अनुसार उद्भट गुणों को संघटना का धर्म मानते थे[२२]। बाद में ध्वनिवादी आचार्यों ने इनको रस का धर्म प्रतिपादित किया[२३]।

(viii) राजशेखर आदि आचार्यों का विचार था कि उद्भट अर्थ को दो प्रकार का मानते हैं - विचारितसुस्थ और अविचारितरमणीय। प्रथम अर्थ शास्त्रों में एवं द्वितीय अर्थ काव्यों में रहता है[२४]।

सन्दर्भ-

१. अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। ध्वन्यालोक - निर्णयसागर प्रेस, पृ० १०८।।

२. विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः।। राजतरङ्गिणी ४.४९५।।

३. काश्मीर में संस्कृत पाण्डुलिपियों की खोज में की गई डा० व्हूलर की विस्तृत रिपोर्ट - जे०बी०आर० ए० एस० १८७७ का अतिरिक्त अंक।।

४. मुक्ताकण: शिवस्वामी कविरानन्वर्धन ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मण: ।। राजतरङ्गिणी ५.३४ ।।

५. अनेकग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसम्भवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेनोपन्यस्त: ।।
अलङ्कारसारसंग्रह-लघुविवृतिटीका-निर्णयसागर प्रेस,पृ० १५ ।।

६. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे, पृष्ठ १९६ ।

७. भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान् । तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितयं प्रादर्शयत् ।।
अलङ्कारसारसंग्रह-लघुवृत्ति टीका, पृ० १ ।।

८. भामहो हि तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशास्त्रिविधं यथा । इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह ।
अलङ्कारसारसंग्रह-लघुवृत्ति टीका पृ० ४७ ।।

९. भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषकप्रीतिवर्णनं प्रेयोऽलङ्कार इत्युक्तम्.....उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्त: ।। अलङ्कारसारसंग्रह-लघुवृत्ति टीका, पृ० ८७ ।।

१०. विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एव व्याख्यातो यथैवास्माभिर्निरूपित: ।।
अलङ्कारसारसंग्रह-लघुवृत्ति टीका, पृ० १३ ।।

११. "भामहोक्तं शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थ" इत्यभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे ।।
ध्वन्यालोकलोचन - टीका निर्णय-सागर प्रेस, पृ० ४० ।।

१२. काव्यानुशासन - टीका - निर्णयसागर प्रेस, पृ० १७,११० ।।

१३. अलङ्कारसर्वस्व - निर्णयसागर प्रेस, पृ० १८३ ।।

१४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे, पृ० १३७ ।।

१५. एतच्चोद्भटविवेके राजानकतिलकेन सप्रपञ्चमुक्तमिति......चिरन्तनेति । अनेनास्माभि: सर्वत्रैव तन्मतानुसृतिरेव कृतेत्यात्मविषयमनौद्धत्यमपि ग्रन्थकृता प्रकाशितमिति ।।
अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृ० २२७ ।।

१६. अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्त इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्त: ।
अलङ्कारसार-संग्रह-लघुवृत्ति टीका - पृ० ५५ ।।

१७. शब्दश्लेष इति चाच्यते अर्थालङ्कारमध्ये च लक्ष्यत इति कोऽयं नय: ।।
काव्यप्रकाश-नवम उल्लास ।।

१८. अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदै: ।। काव्यालङ्कारसारसंग्रह ४ ।।

१९. तस्य (वाक्यस्य) च त्रिधाभिधाव्यापार इति औद्भटा: ।। काव्यमीमांसा पृ० २२ ।।

२०. रसवत्.......स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम् ।।
काव्यालङ्कारसारसंग्रह - चतुर्थ वर्ग ।।

२१. व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।। काव्यप्रकाश ७.६० ।।

२२. संघटनाया: धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादय: ।। ध्वन्यालोक लोचन टीका पृ० १३४ ।।

२३. ये रसस्याङ्गिनो धर्मा: शौर्यादय इवात्मन: ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा: ।। काव्यप्रकाश ८.६६ ।

२४. किन्तु द्विरूप एवाऽसौ विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीय: ।
तयो: पूर्वामाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानीत्यौद्भटा: ।। काव्यमीमांसा पृ०४४ ।।

दसवां अध्याय

वामन

१. वामन का महत्त्व

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में वामन का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इन्होंने काव्य की समालोचना के लिये एक मौलिक सिद्धान्त की स्थापना करके एक नवीन मार्ग का प्रतिपादन किया था। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया और रीति सम्प्रदाय को जन्म दिया। समालोचना के इतिहास में रीति सम्प्रदाय की स्थापना के अतिरिक्त वामन का एक और महत्त्व है। इन्होंने काव्य के किन्हीं विशेष एक या अधिक अंगों के विचार पर सीमित न रह कर सभी अंगों का विशद विवेचन किया था।

२. वामन का स्थान और समय

संस्कृत के अन्य लेखकों के समान वामन ने भी अपने जीवनवृत्त, वंश, समय आदि के विषय में कुछ नहीं लिखा। केवल बाह्य प्रमाणों के आधार पर ही इस सम्बन्ध में कुछ जाना जा सकता है। इनके द्वारा भी वामन के केवल स्थान और समय के विषय में अनुमान लगाये जा सके हैं, उनके जीवनवृत्त, वंश आदि के सम्बन्ध में कुछ भी जाना नही जा सका है।

वामन काश्मीरी थे, यह निश्चय है । प्राचीन विवरणों से यह विदित होता है कि वामन और उद्भट दोनों काश्मीरी थे। ये राजा जयापीड की राज्यसभा के सदस्य थे। परन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि दोनों ने ही एक-दूसरे के विषय में कुछ नही लिखा। न तो वामन ने अपने ग्रन्थ में उद्भट के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है और नाहीं उद्भट ने वामन के मन्तव्यों को उद्धृत किया है।

कह्लण की 'राजरङ्ङ्गिणी' में वर्णन है कि वामन काश्मीर के राजा जयापीड की राज्यसभा में मन्त्री थे । इनके साथ मनोरथ, शंखदत्त, चटक और सन्धिमान् भी मन्त्री थे[1]।

काश्मीर के पण्डितों में भी यह प्रसिद्धि है कि जिन वामन ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' ग्रन्थ की रचना की थी, वे राजा जयापीड के मन्त्री थे। इस प्रसिद्धि का किसी ने खण्डन नहीं किया है। डा० ब्लूलर ने भी इस प्रसिद्धि को मान्यता दी है। वामन ने अपनी कृति

मे दण्डनीति की शिक्षा आदि जिन विषयों पर बल दिया है, उससे भी यही प्रमाणित होता है कि उन्होंने मन्त्री के पद पर कार्य किया होगा। वामन के ग्रन्थ से भी विदित होता है कि वे दण्डनीति, व्याकरण, काव्य, काव्यशास्त्र आदि अनेक विषयों के पण्डित थे।

राजा जयापीड का शासन काल ७७९-८१३ ई० रहा था। अतः वामन को आठवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का समझा जाना चाहिये।

अन्य बाह्य प्रमाणों से भी वामन का यही समय सिद्ध होता है। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में वामन का और उनके रीति सम्प्रदाय का उल्लेख किया है[२]। राजशेखर का समय ९०० ई० के लगभग का है। वामन को इनसे पहले का होना चाहिये। प्रतिहारेन्दुराज और अभिनवगुप्त ने भी वामन को उद्धृत किया था। 'ध्वन्यालोक' में एक श्लोक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हुआ है [३]। इस पर टीका करते हुये अभिनवगुप्त लिखते है -

"इस श्लोक में वामन आक्षेप अलंकार मानते है, परन्तु भामह ने समासोक्ति अलंकार माना है। इस आशय को मन में रख कर ग्रन्थकार ने समासोक्ति और आक्षेप दोनों का एक ही उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है[४]।

इससे स्पष्ट है कि वामन की स्थिति आनन्दवर्धन से पूर्व होनी चाहिये। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में वामन का तो नाम से उल्लेख नहीं किया, परन्तु उनकी रीतियों का अवश्य उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि काव्य के तत्त्व की व्याख्या करने में असमर्थ होकर पहले के आचार्यों ने रीतियों को प्रवर्तित किया था[५]। यहां ध्वन्यालोककार का अभिप्राय वामन से ही है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि वामन ध्वन्यालोककार से पहले हुये थे। अभिनवगुप्त का भी यही अभिमत है। आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० का है, अतः वामन को ८०० ई० के समीप का मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

वामन ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में अपने से पहले के अनेक कवियों के श्लोकों को उदाहरण के रूप में दिया है। इनमें कालिदास, बाण, माघ, भवभूति आदि मुख्य हैं। इनमें सबसे अर्वाचीन भवभूति हैं। भवभूति के 'उत्तररामचरित' का एक श्लोक उदाहरण के रूप में 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में है[६]। भवभूति का समय ७००-७५० ई० का निर्धारित किया गया है। वामन को इनके पश्चात् का होना चाहिये।

इस प्रकार ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि वामन ८०० ई० से पहले और ७५० ई० के पश्चात् हुये थे। इनका समय ८०० ई० के लगभग का सरलता से निर्धारित किया जा सकता है।

३. वामन की रचनायें

वामन का एक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है - 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति'। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं- सूत्र, वृत्ति और उदाहरण।

वामन पहले आचार्य हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को सूत्रों के रूप में निबद्ध किया था। सूत्रों की व्याख्या करने के लिये उन्होंने वृत्ति की रचना भी स्वयं की थी तथा इस वृत्ति को इन्होंने 'कविप्रिया' नाम दिया था। इसी वृत्ति में उन्होंने उदाहरणों को भी निवेशित किया। वामन ने स्वयं लिखा है कि सूत्रों की व्याख्या करने के लिये वे वृत्ति की रचना कर रहे हैं, जिसका नाम 'कविप्रिया' है[7]।

वृत्ति में संकलित उदाहरणों में कुछ उदाहरण तो वामन की स्वयं की रचनायें हैं, परन्तु अधिकांश रूप में उन्होंने उदाहरणों को दूसरे कवियों की रचनाओं से संगृहीत किया है। इस तथ्य को वामन ने स्वयं उपमा अलंकार का विवेचन करते हुये स्वीकार किया है[8]।

वामन का 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' ग्रन्थ बहुत विस्तृत और व्यापक है। यह ग्रन्थ पांच अधिकरणों में विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण का विभाजन अध्यायों में किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में १२ अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में ३१९ सूत्र हैं और उदाहरण के रूप में २५० श्लोक या श्लोकार्ध दिये गये हैं। ग्रन्थ में अधिकरण के क्रम से विषय का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है -

(i) प्रथम अधिकरण -

पहले अधिकरण का नाम शरीर अधिकरण है। इसमें तीन अध्याय हैं। इनमें काव्य की परिभाषा, काव्य के अंग, प्रयोजन, काव्यशिक्षा के अधिकारी, काव्य की आत्मा रीति, तीन रीतियां, काव्य के हेतु तथा काव्य के प्रकार, इन विषयों का विवेचन किया गया है।

(ii) द्वितीय अधिकरण -

दूसरे अधिकरण का नाम दोषदर्शन है। इसमें दो अध्याय हैं। इसमें काव्यगत पद, वाक्य और वाक्यार्थ के दोषों का निरूपण किया गया है।

(iii) तृतीय अधिकरण -

इस अधिकरण का नाम गुण-विवेचन है। इसमें भी दो अध्याय हैं। इस अधिकरण में पहले गुण और अलंकार के भेद का स्पष्टीकरण किया गया है। तदनन्तर गुणों के भेद बताकर दस शब्दगुणों एवं दस अर्थगुणों के स्वरूप का विवेचन हुआ है।

(iv) चतुर्थ अधिकरण

चतुर्थ अधिकरण को आलङ्कारिक नाम दिया गया है। इस अधिकरण में तीन

अध्याय हैं। इसमें अलङ्कारों का विस्तार के साथ विवेचन है।

(v) पञ्चम अधिकरण -

यह अधिकरण प्रायोगिक कहलाता है। इसमें दो अध्याय हैं। इस अधिकरण में कवि-परम्पराओं की विवेचना की गई है। जैसे शब्दों का दो बार प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस प्रसंग में वामन ने शब्दों की शुद्धि पर विशेष विचार किया है। अनेक प्राचीन अशुद्ध शब्दों का संग्रह करके उनको व्याकरण के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। उदाहरण के लिये **"बिम्बाधर"** पद को लें। पाणिनि के **"उपमितं व्याघ्रादिभि: सामान्याप्रयोगे"** (२.१.५६) सूत्र के अनुसार यह पद **"अधरबिम्ब"** होना चाहिये। परन्तु वामन का कहना है कि इस पद का विग्रह **"बिम्बाकारोऽधर:"** करने पर यह शुद्ध होता है।

काव्यशास्त्र के प्रतिपादन के अतिरिक्त वामन का ग्रन्थ अन्य अनेक दृष्टियों से भी महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में निम्न ग्रन्थों या ग्रन्थकारों का उल्लेख है -

अभिधानकोष, नाममालाप्रतीक (१.३.५), छन्दोविचिति (१.३.६), विशाखिलकाव्यशास्त्रप्रणेता (१.३.७), सुबन्धु या वसुबन्धु (३.२.२), शूद्रक (३.२.४), हरिप्रबोध (४.१.२), कामन्दकीनीति (४.१.२), कविराज (३.२.४) आदि।

सूत्र में सुबन्धु का उल्लेख निम्न प्रकार से है -

सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रय: कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रम:।।

आश्रय: कृतधियामित्यस्य च सुबन्धुसाचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्।

यहां चन्द्रगुप्त के पुत्र चन्द्रप्रकाश नाम के राजा के आश्रय में रहने वाले सुबन्धु का उल्लेख है। इस स्थल पर वामन द्वारा किस ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत किया गया है, यह विवादास्पद है। कुछ विद्वानों के अनुसार वामन ने यहां गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त के पुत्र समुद्रगुप्त की ओर संकेत किया है। दूसरे विद्वानों के अनुसार यह राजा चन्द्रप्रकाश कोई और ही थे, जिनका सचिव सुबन्धु था। अन्य विद्वान् यह कहते हैं कि यहां **"च"** के स्थान पर **"व"** होकर वसुबन्धु होना चाहिये, सुबन्धु नहीं।

४. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति की टीकायें

वामन के 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' ग्रन्थ का महत्त्व असन्दिग्ध है। यद्यपि परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने वामन की और उनके रीति-सिद्धान्त की कठोर आलोचना की थी, तथापि इससे उनका महत्त्व कम नहीं हुआ। इस ग्रन्थ पर प्राचीन काल में कुछ टीकायें लिखी गई थीं। इनमें सबसे प्रसिद्ध टीका सहदेव की है। सहदेव का यह कथन था -

वामन का 'काव्यालंकारसूत्र' ग्रन्थ दुर्भाग्यवश विलुप्त हो गया था। परन्तु मुकुल भट्ट नामक काश्मीरी कवि ने कहीं से इसकी एक प्रति प्राप्त की और इसकी परम्परा की रक्षा की थी[९]। सहदेव के अतिरिक्त गोपेन्द्र तिप्पभूपाल ने इसकी 'कामधेनु' नामक टीका १५वीं शताब्दी ई० में लिखी थी। भट्टगोपाल, महेश्वर आदि ने भी इस पर टीकायें लिखी थीं, ऐसा प्रसिद्ध है।

५. वामन की विशेषतायें

वामन ने सामान्य रूप से काव्य के सभी अंगों और तत्त्वों पर विचार किया था। उसने काव्य का स्वरूप, प्रयोजन, हेतु, अधिकारी, काव्य की आत्मा, रीति, गुण दोष, अलङ्कार, शब्दप्रयोग आदि सभी विषयों का समालोचन किया था। परन्तु वामन की विशेषता इस कारण नहीं है। उन्होंने कुछ विशेष सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके पूर्व प्रचलित धारणाओं को नवीन रूप प्रदान किया था । वामन की विशेषताओं को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है -

(i) वामन पहले आचार्य थे, जिन्होंने रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करके रीति-सम्प्रदाय को प्रवर्तित किया था। यद्यपि वामन से पहले भी काव्य में रीति नामक तत्त्व की विवेचना आचार्यों द्वारा की जा चुकी थी, तथापि - "रीति ही काव्य की **आत्मा है, विशेष प्रकार की पद-रचना रीति है और पद-रचना की विशिष्टता गुणों में निहित है"**,[१०] इस तत्त्व का प्रतिपादन सबसे पहले वामन ने ही किया था।

(ii) वामन से पूर्व दण्डी ने काव्य के दो मार्ग - वैदर्भ और गौड बताये थे। परन्तु वामन ने तीन रीतियों का प्रतिपादन किया। वामन के अनुसार वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली ये तीन रीतियां हैं।

(iii) वामन ने गुणों का विशेष विवेचन किया और उनका अलङ्कारों से भेद बताया। वामन के अनुसार काव्य में शोभा के आधायक धर्म गुण हैं तथा उस शोभा के अतिशय को करने वाले अलङ्कार हैं[११]। वामन ने सबसे पहले गुणों के दो भेद शब्दगत और अर्थगत किये एवं गुणों की संख्या २० निर्धारित की। उन्होंने कहा कि १० शब्दगत गुण हैं और १० अर्थगत गुण।

(iv) अलंकारों का लक्षण करने में भी वामन ने अपनी स्वतन्त्र विशिष्टता का प्रतिपादन किया था। वक्रोक्ति को उन्होंने अर्थालङ्कार माना तथा इसका लक्षण किया -

"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः"[१२] ।

अर्थात् सादृश्य से उत्पन्न लक्षणा वक्रोक्ति है। इनका विशेषोक्ति का लक्षण भी विचित्र है -

"एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः"[१३] ।

अर्थात् एक गुण की न्यूनता की कल्पना करके शेष गुणों से समानता प्रदर्शित करना विशेषोक्ति है।

(v) अलङ्कारों के सम्बन्ध में वामन ने अपना यह स्वतन्त्र मत प्रस्तुत किया था और सर्वप्रथम कहा था कि मुख्य अलङ्कार उपमा है तथा अन्य सब अलङ्कार उपमा के प्रपञ्च है[१८]।

(vi) आक्षेप के वामन ने दो भेद माने हैं -

(क) उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेधः, तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थ्यविवक्षायामाक्षेपः।

(ख) उपमानस्याक्षेपः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः।

मम्मट आदि उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों के अनुसार यहां पहले में प्रतीप अलङ्कार तथा दूसरे में समासोक्ति अलङ्कार है।

(vii) वामन ने काव्य में रस नामक तत्त्व का प्रतिपादन करके भी उसको अधिक महत्त्व नहीं दिया। वामन से पहले के आचार्यों ने रस आदि का ग्रहण रसवद् आदि अलङ्कारों में कर लिया था, परन्तु वामन ने रस की समन्विति कान्ति नामक अर्थगुण में की[१५]।

सन्दर्भ-

१. मनोरथ: शंखदत्तश्चटक: सन्धिमांस्तथा।
बभूवु: कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिण:।। राजतरङ्गिणी ४.४९७।।

२. ते च द्विधाऽरोचकिन: सतृणाभ्यवहारिणश्च। कवयोऽपि भवन्ति वामनीया:।।
काव्यमीमांसा पृ० १४।।

३. अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सर:।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागम:।।
ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत में कारिका - १३ में उदाहरण।।

४. वामनाभिप्रायेणायमाक्षेप:, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्।।
ध्वन्यालोक-लोचन-टीका पृ० ३७।।

५. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतय: सम्प्रवर्तिता:।। ध्वन्यालोक ३.४७।।

६. इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्या: स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरस:।
अयं बाहु: कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसर:
किमस्या: न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह:।। उत्तररामचरित १.३८।।

७. प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषा वृत्तिर्विधीयते।। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति - मंगलश्लोक।।

८. एभिर्निदर्शनै: स्वीयै: परकीयैश्च पुष्कलै:।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता।। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४.३.३३ में।।

९. वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोऽभून्मुकुलाभिध:।
लब्ध्वा कुतश्चिादादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्।।
काव्यालङ्कारशास्त्रं यत्तेनैतद् वामनोदितम्।
असूया तन्न कर्तव्या विशेषालोकिभि: क्वचित्।।

१०. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीति:। विशेषो गुणात्मा।।
काव्यालङ्कारसूत्र १.२.६.-८।।

११. काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा:। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा:।।
काव्यालङ्कारसूत्र ३.२.१-२।।

१२. काव्यालङ्कारसूत्र ४.३.८।।

१३. काव्यालङ्कारसूत्र ४.३.२३।।

१४. प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्च:।। काव्यालङ्कारसूत्र ४.३.१।।

१५. दीप्तरसत्वं कान्ति:। दीप्ता रसा शृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरस:। तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्ति:।। काव्यालङ्कारसूत्र ३.२.१५।।

ग्यारहवां अध्याय

रुद्रट

१. रुद्रट का महत्त्व

संस्कृत के काव्यशास्त्र के इतिहास में रुद्रट का नाम बहुत प्रसिद्ध है। रुद्रट पहले आचार्य थे, जिन्होंने अलङ्कारों का वैज्ञानिक दृष्टि से वर्गीकरण किया और इनको कुछ निश्चित श्रेणियों में विभाजित किया। इन्होंने अनेक नवीन अलङ्कारों की उद्भावना भी की थी। काव्यशास्त्र के इतिहास में रुद्रट को यद्यपि भरत, भामह, दण्डी और वामन के समान समादर नही मिला था, तथापि वे अलङ्कारवादी आचार्यों और ध्वनिवादी आचार्यों के मध्य एक कड़ी का कार्य करते रहे। रुद्रट मुख्य रूप से अलङ्कारवादी आचार्य थे। यद्यपि वे रस सिद्धान्त से परिचित थे और काव्य में रस की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते थे,[१] तथापि काव्य के सौन्दर्य के लिए वे अलङ्कारों को अधिक महत्त्व देते रहे।

२. रुद्रट का स्थान और समय –

संस्कृत के अन्य प्राचीन लेखकों के समान रुद्रट ने भी अपने जीवनवृत्तान्त और समय के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। रुद्रट, इस नाम के आधार पर समालोचक यह अनुमान करते हैं कि वे काश्मीर के निवासी रहे होंगे। परन्तु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' के टीकाकार नमिसाधु ने भी रुद्रट के जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं लिखा है। तथापि 'काव्यालङ्कार' के पांचवें अध्याय की १४-१५ कारिकाओं की टीका में उन्होंने एक श्लोक दिया है,[२] जिससे पता लगता है कि रुद्रट के पिता का नाम भट्ट वामुक था। ये सामवेदी ब्राह्मण थे और इनका दूसरा नाम शतानन्द था।

रुद्रट ने ग्रन्थ के आरम्भ में गणेश और गौरी की तथा अन्त में भवानी, मुरारि और गजानन की वन्दना की है[३]। इससे समालोचकों का अनुमान है कि वे शैव मतावलम्बी थे। परन्तु इन स्तुतिपरक पद्यों के आधार पर इस विषय में निश्चित रूप से निश्चय करना सम्भव नहीं है। मुरारि की वन्दना करने से उनकी विष्णु के प्रति भक्ति सिद्ध है।

बाह्य प्रमाणों के आधार पर रुद्रट के समय का अधिक निश्चितता के साथ निर्णय किया जा सकता है। रुद्रट ने अलङ्कारों का जिस प्रकार वैज्ञानिक रूप से साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है, इससे प्रतीत होता है कि वे भामह, दण्डी, वामन और उद्भट के पश्चात् हुये होंगे।

रुद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में ५ शब्दालङ्कारों और ५७ अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। इनमें से केवल २६ अर्थालङ्कार ऐसे हैं, जिनको पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रस्तुत किया था। अर्थात् ५७–२६=३१ अर्थालङ्कार ऐसे हैं, जिनका प्रथम विवेचन रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' में ही मिलता है। इन अलङ्कारों की उद्भावना का श्रेय चाहे रुद्रट को दिया जावे, चाहे अन्य किसी अज्ञात आचार्य को, तथापि इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि रुद्रट का समय भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के बाद का है। रुद्रट के समय की सीमा इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है –

(i) 'शिशुपालवध' के टीकाकार बल्लभदेव ने अपनी टीका में यह संकेत दिया है कि उन्होंने रुद्रट प्रणीत एक अलङ्कार ग्रन्थ की टीका लिखी थी। उद्भट प्रणीत 'अलङ्कारसारसंग्रह' के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने अपनी टीका में रुद्रट की कुछ कारिकाओं को उद्धृत किया है। इन दोनों का समय दसवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध है। अतः रुद्रट को इनसे पूर्ववर्ती होना चाहिये।

(ii) राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में वक्रोक्ति के सम्बन्ध में रुद्रट के मत को उद्धृत किया है[४]। राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध (९२० ई० के लगभग) का है। रुद्रट को इनसे पूर्व का होना चाहिये।

(iii) 'दशरूपक' की धनिक टीका में ४.२५ की व्याख्या में रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' के १२.४ का उद्धरण है। लोचनकार अभिनवगुप्त ने रुद्रट के भाव के लक्षण को (काव्यालङ्कार ७.३८) उदाहरण सहित उद्धृत किया है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में रुद्रट के हेतु, व्यतिरेक और समुच्चय अलङ्कार विषयक मत की आलोचना की है। इससे स्पष्ट है कि रुद्रट को ९०० ई० के पश्चात् का माना जा सकता है।

(iv) आनन्दवर्धन जैसे प्रसिद्ध आलोचक ने रुद्रट के किसी सिद्धान्त का न तो उल्लेख किया है और नाहीं आलोचना ही की है। रुद्रट ने भी आनन्दवर्धन के किसी सिद्धान्त का संकेत नही दिया। यदि आनन्दवर्धन रुद्रट के पूर्ववर्ती होते तो रुद्रट निश्चय रूप से उनके सिद्धान्तों से प्रभावित होते। इसी प्रकार रुद्रट यदि आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती होते तो आनन्दवर्धन निश्चय ही उनको उद्धृत करते। इससे प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन और रुद्रट दोनों समकालीन रहे होंगे। आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० के लगभग है, अतः रुद्रट का भी यही समय निर्धारित किया जा सकता है।

३. रुद्रट की रचनायें

रुद्रट की केवल एक ही रचना 'काव्यालङ्कार' उपलब्ध होती है। काव्य की आलोचना की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सर्वाङ्गपूर्ण है, यद्यपि इसमें शब्दशक्तियों और गुणों का विवेचन नहीं है। रुद्रट के समय में ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना न होने के कारण उसमें ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि का विवेचन भी नहीं है।

रुद्रट का 'काव्यालङ्कार' १६ अध्यायों में विभक्त है और इसमें कुल ७३४ पद्य हैं, जो आर्या छन्द में लिखे गये हैं। इन अध्यायों में विषय का प्रतिपादन निम्न क्रम से किया गया है -

(i) पहला अध्याय -

इस अध्याय में २२ पद्य है। मंगलाचरण के अनन्तर काव्य के प्रयोजन और हेतु का निरूपण किया गया है। काव्य की रचना के तीन अनिवार्य हेतुओं - शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास की इसमें विवेचना है। तदनन्तर कवि-महिमा की चर्चा है।

(ii) दूसरा अध्याय -

इसमें ३२ पद्य हैं। इस अध्याय में सबसे प्रथम काव्य का लक्षण देकर शब्द के पांच भेदों का निर्देश है। तदनन्तर वृत्ति के आधार पर पाञ्चाली, लाटी और गौडी तीन ससमासा रीतियों का तथा एक असमासा वैदर्भी रीति का वर्णन है। इसके पश्चात् वाक्य तथा उसके भेदों का निरूपण करके वक्रोक्ति और अनुप्रास अलङ्कारों की विस्तृत विवेचना है।

(iii) तीसरा अध्याय-

तीसरे अध्याय में ५९ पद्य हैं। इन पद्यों में यमक अलङ्कार की विशद विवेचना हैं।

(iv) चौथा अध्याय -

चौथे अध्याय में ३५ पद्य हैं। इनमें श्लेष अलङ्कार की विशद विवेचना है।

(v) पांचवां अध्याय -

पांचवें अध्याय में ३३ पद्य हैं। इसमें विभिन्न चित्रालङ्कारों - चक्रबन्ध, खड्गबन्ध, सर्वतोभद्र, पद्यबन्ध, मात्राच्युतक, बिन्दुच्युतक, प्रहेलिका आदि का निरूपण किया गया है।

(vi) छठा अध्याय -

छठे अध्याय में दोषों का निरूपण है। इसमें ४७ पद्य हैं, जिनमें पदगत और वाक्यगत दोष कहे गये है।

(vii) सातवां अध्याय -

इस अध्याय में १११ पद्य हैं। यहां पहले अर्थ का लक्षण और वाचक शब्द के भेदों को स्पष्ट किया गया है। इसके पश्चात् अर्थालङ्कारों का वर्गीकरण है। इन अलङ्कारों के चार वर्गों - वास्तवं, औपम्य, अतिशय और श्लेष की विवेचना करने के पश्चात् वास्तव वर्ग के २३ अलङ्कारों के स्वरूप की यहां विवेचना की गई है।

(viii) आठवां अध्याय -

इस अध्याय में ११० पद्य हैं। इसमें औपम्य वर्ग के २१ अलङ्कारों का वर्णन है।

(ix) नवां अध्याय -

इस अध्याय में ५५ पद्य हैं। इनमें अतिशय वर्ग के १२ अलङ्कारों की विवेचना है।

(x) दसवां अध्याय -

इस अध्याय में २९ पद्य है। इनमें अर्थश्लेष के १० भेदों को बताने के पश्चात् दो प्रकार के संकर अलङ्कारों का विवेचन है।

(xi) ग्यारहवां अध्याय -

इस अध्याय में ३६ पद्य हैं। इसमें ९ प्रकार के अर्थदोषों और चार उपमादोषों का निरूपण है।

(xii) बारहवां अध्याय -

इस अध्याय में ४७ पद्य हैं। इनमें पहले काव्य का प्रयोजन बताकर पुनः उसमें रस की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है। इसके पश्चात् १० रसों के नाम गिना कर शृङ्गार रस की और नायक-नायिका भेद की चर्चा की गई है।

(xiii) तेरहवां अध्याय -

इस अध्याय में १७ पद्य हैं। इनमें पहले सम्भोग शृङ्गार का रूप बताया गया है और इसके बाद स्त्रियों की विविध दशाओं और चेष्टाओं का वर्णन है। तदनन्तर नायक को को शिक्षा दी गई है।

(xiv) चौदहवां अध्याय -

इस अध्याय में ३२ पद्य हैं। इसमें विप्रलम्भ शृङ्गार की विवेचना करके उसके दो भेदों - अनुराग और मान का वर्णन है। तदनन्तर विप्रलम्भ की दस दशाओं को कह कर खण्डिता नायिका को प्रसन्न करने के ६ उपाय बताये गये हैं।

(xv) पन्द्रहवां अध्याय -

२१ पद्यों के इस अध्याय में शृङ्गार के अतिरिक्त शेष रसों का विवेचन है।

(xvi) सोलहवां अध्याय-

इस अध्याय में ४२ पद्य है। इसमें प्रबन्ध काव्य के मुख्य भेदों - महाकाव्य, महाकथा, आख्यायिका, लघुकाव्य और अन्य भेदों की सामान्य चर्चा है। अन्त में काव्य में वर्णन के लिये निषिद्ध तत्त्वों की चर्चा करके देवता की वन्दना के साथ ग्रन्थ को समाप्त किया गया है।

इस प्रकार रुद्रट के इस ग्रन्थ में काव्य के प्रायः सभी अंगों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। इस ग्रन्थ में गुणों की विवेचना का न होना आश्चर्य का विषय है।

४. काव्यालङ्कार की प्राचीन टीकायें

रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' पर प्राचीन काल से ही अनेक टीकायें लिखी जाती रहीं। इनमें से तीन टीकाओं का अभी तक ज्ञान हो सका है, परन्तु वे सभी उपलब्ध हों चुकी हों, ऐसा नहीं है। ये टीकायें निम्न हैं -

(i) नमिसाधु -

'काव्यालङ्कार' की यह टीका सबसे प्रसिद्ध है और वर्तमान समय में उपलब्ध है। नमिसाधु श्वेताम्बर जैन थे और शालिभद्र के शिष्य थे। इन्होंने अपनी टीका का समय ११२५ विक्रमी संवत् (१०६८ -६९ ई०) दिया है[५]।

नमिसाधु की यह टीका संक्षिप्त, सरल और विषय के अनुकूल है। उन्होंने अपने आपको किसी विशेष सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं किया और सभी स्थानों पर आचार्य रुद्रट का समर्थन किया। वे वस्तुतः एक आदर्श टीकाकार हैं।

नमिसाधु की इस टीका से ग्रन्थ के आशय को समझने में बहुत सहायता मिलती है। उन्होंने वर्ण्य विषय को और अधिक विशदता तथा स्पष्टता प्रदान की है। नमिसाधु ने अपनी इस टीका में अनेक प्राचीन आचार्यों और रचनाओं का उल्लेख किया है। इसमें भरत, मेधाविरुद्र, दण्डी, वामन, उद्भट, आदि समादृत आलङ्कारिकों का और 'कादम्बरी', 'किरातार्जुनीय', 'तिलकमञ्जरी', 'पातालविजय' महाकाव्य, 'मालतीमाधव', 'मृच्छकटिक', 'मेघदूत', 'रत्नावली', 'वेणीसंहार', 'शिशुपालवध', 'हर्षचरित' आदि काव्यों का उल्लेख है।

(ii) बल्लभदेव की टीका -

'शिशुपालवध' के टीकाकार बल्लभदेव ने इस काव्य के ४.११ श्लोक की टीका में यह संकेत दिया है कि उन्होंने रुद्रट के ग्रन्थ पर भी टीका लिखी थी। इस टीका का

नाम सम्भवतः 'रुद्रटालङ्कार' रहा होगा। रुद्रट की सबसे प्राचीन टीका यही रही होगी। परन्तु वर्तमान समय में यह उपलब्ध नहीं है। बल्लभदेव के पौत्र कैय्यट ने आनन्दवर्धन के देवीशतक' पर टीका लिखी थी तथा उस समय काश्मीर में राजा भीमदेव (९७७ ई०) का शासन था। अतः बल्लभदेवं का समय इससे ५० वर्ष पूर्व का, ९२७ ई० का समझा जा सकता है। बल्लभदेव के अनुसार उसका उपनाम परमार्थचिह्न था और उनके पिता का नाम राजानक आनन्ददेव था। उन्होंने कालिदास, माघ, मयूर, और रत्नाकर के ग्रन्थों की भी टीकायें लिखी थीं।

(iii) आशाधर की टीका -

रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' पर आशाधर ने भी एक टीका लिखी थी। आशाधर एक जैन आचार्य थे और तेरहवीं शताब्दी ई० के मध्य भाग तक जीवित रहे थे।

५. रुद्रट के काव्यालङ्कार की विशेषतायें

रुद्रट यद्यपि अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्य हैं और इन्होंने काव्य के सभी अंगों पर विचार किया है, तथापि वे रस सिद्धान्त से पूरी तरह परिचित हैं। उन्होंने रसों का सम्यक् रूप ने विवेचन किया और काव्य में रसनिष्ठता को आवश्यक माना[१]। अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों की तुलना में उन्होंने अलङ्कारशास्त्र को अधिक विकसित किया। रुद्रट की कुछ विशेषताओं की गणना इस प्रकार की जा सकती है -

(i) रुद्रट पहले आचार्य हैं, जिन्होंने अर्थालङ्कारों के वर्गीकरण के लिये आधार प्रस्तुत किया था। उन्होंने इन अलङ्कारों को चार वर्गों - वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष वर्गों में रखा था। इनमें से वास्तव वर्ग में २३, औपम्य वर्ग में २१, अतिशय वर्ग में १२ और श्लेष वर्ग में एक अलङ्कार है। इस प्रकार उन्होंने ५७ अर्थालङ्कार गिनाये थे। इनमें से कुछ अलङ्कार एक से अधिक वर्ग में आ गये हैं। जैसे कि उत्तर और समुच्चय अलङ्कार वास्तव वर्ग और औपम्य वर्ग दोनों में है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार, औपम्य और अतिशय दोनों वर्गों में है। विषम अलङ्कार वास्तव वर्ग में भी है तथा अतिशय वर्ग में भी है। इस प्रकार ४ अलङ्कारों के दो-दो वर्गों में आ जाने के कारण अलङ्कारों की संख्या ५३ रह जाती है। परन्तु इन चारों अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दोनों वर्गों में भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। अतः इनको पृथक्-पृथक् अलङ्कार समझना चाहिये तथा अलङ्कारों की कुल संख्या ५७ ही होती है।

(ii) रुद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में ३१ अलङ्कार ऐसे गिनाये हैं, जिनका विवेचन उनसे प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। इन अलङ्कारों की उद्भावना अकेले रुद्रट ने की थी, इस बात को आधुनिक समालोचक मानने को तैयार नहीं है। तथापि यह तो कहा ही जा सकता है कि रुद्रट किसी ऐसे आचार्य की परम्परा से सम्बन्धित थे, जिसका

अलङ्कारों के विकास में बहुत अधिक गौरवपूर्ण स्थान था।

(iii) रुद्रट ने कुछ प्राचीन अलङ्कारों को नये रूप में प्रस्तुत किया था। भामह ने जिस अलङ्कार को व्याजस्तुति कहा, रुद्रट ने उसको ब्याजश्लेष नाम दिया। इनके अवसर अलङ्कार को उद्भट और मम्मट ने उदात्त कहा, जाति अलङ्कार को दण्डी और मम्मट ने स्वभावोक्ति कहा एवं पूर्व अलङ्कार को अतिशयोक्ति का चौथा भेद बताया ।

(iv) रुद्रट ने श्लेष अलङ्कार का एक पृथक् वर्ग प्रतिपादित किया था, जिसमें केवल एक श्लेष अलङ्कार ही है। परन्तु उन्होंने श्लेष के १० भेद प्रतिपादित किये थे। इनमें से कुछ भेद उत्तरवर्ती काल में स्वतन्त्र अलङ्कार कहलाये।

(v) रस का निरूपण करने में रुद्रट ने प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्यों का अनुकरण नहीं किया तथा रस को रसवद् अलङ्कार में समाविष्ट नहीं किया। रस का इन्होंने स्वतन्त्र रूप में विवेचन किया। रुद्रट के अनुसार रस काव्य का अनिवार्य तत्त्व है और कवि को रस के लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। रुद्रट ने प्राचीन काल से प्रसिद्ध नौ रसों - शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा शान्त का विवेचन करने के साथ ही एक दसवें रस प्रेयान् का भी स्वरूप बताया।

(vi) रुद्रट ने गुणों की विवेचना नहीं की।

(vii) रुद्रट ने दोषों की विशद विवेचना की है। दोषों की विवेचना 'काव्यालङ्कार' में एक ही स्थान पर नहीं है, अपितु छठे और ग्यारहवें इन दो अध्यायों में अर्थगत और उपमागत दोष दिये गये हैं। रुद्रट ने कुछ उन दोषों की भी गणना की है, जिनका विवेचन प्राचीन आचार्यों ने नही किया था। ये दोष निम्न हैं -

"असमर्थ, देश्य, संकीर्ण, गर्भित, गतार्थ, निरागम, बाधपन्, असम्बद्ध, विरस, तद्वान्, अतिमात्र, न्यून, अधिकपदता, अपुष्टार्थता और अचारुपदता।"

(viii) रुद्रट ने रीतियों को विशेष महत्त्व न देकर भी उनका वर्णन किया है। काव्य में उनको समास के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। उनके अनुसार तीन प्रकार की रीतियां - गौडी, लाटी, और पाञ्चाली ससमासा हैं तथा एक प्रकार की रीति - वैदर्भी असमासा है। वामन ने तीन प्रकार की ही रीतियां बताई थीं। रुद्रट ने इनमें लाटी को और जोड़ कर संख्या चार कर दी। इस प्रकार इनके मत में चार रीतियां हैं।

(ix) भाव अलङ्कार के प्रतिपादन में रुद्रट व्यङ्ग्य अर्थ के बहुत समीप पहुंच गये थे। भाव अलङ्कार के उन्होंने दो भेद बता कर दो उदाहरण दिये । इनमें से एक उदाहरण को उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण बताया

है तथा दूसरे को ध्वनिकाव्य कहा। रुद्रट के भाव अलङ्कार का निम्न उदाहरण ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के उदाहरण के रूप में दिया गया है -

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्यां भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।।

काव्यालङ्कार ७..३८।।

भाव अलङ्कार का निम्न उदाहरण ध्वनिकाव्य के उदाहरण के रूप में ध्वनिवादियों ने दिया है -

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह-
मस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं बराकी
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ।। काव्यालङ्कार ७.४० ।।

(x) रुद्रट ने नायिका भेद का विस्तृत एवं विशद विवेचन किया था। इस वर्णन का उत्तरवर्ती साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव है। 'दशरूपक', 'साहित्यदर्पण' आदि ग्रन्थों में वर्णित नायिका-भेद पर रुद्रट का बहुत अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ-

१. तस्मात्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।। काव्यालङ्कार १२.२।।
२. अत्र च न चक्रे स्वनामाङ्कभूतोऽयं श्लोकः कविनाऽन्तर्भावितो यथा -
शतानन्दपराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम्।।
रुद्रट - काव्यालङ्कार ५.१४-१५ पर नमिसाधु की टीका।।
३. रुद्रट - काव्यालङ्कार १.१ तथा १६.४२।।
४. काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयम् इति रुद्रटः।। काव्यमीमांसा-अध्याय-७, पृ० ३१।।
५. पञ्चविंशतिसंयुक्तैरैकादशसमाशतैः।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम्।।
रुद्रट-काव्यालङ्कार की नमिसाधुकृत टीका का अन्तिम श्लोक ।।
६. तस्मात्तत् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवाऽन्यथा हि स्यात् ।। काव्यालङ्कार १२ २।।

बारहवां अध्याय

१. रुद्रभट्ट और रुद्रट

'शृङ्गारतिलक' के रचयिता रुद्रभट्ट और 'काव्यालङ्कार' के रचयिता रुद्रट एक ही व्यक्ति हैं, या दो भिन्न व्यक्ति हैं, इस विषय पर आधुनिक विद्वानों में बहुत समय तक मतभेद तथा विवाद रहा था। परन्तु अब अधिकांश समालोचकों ने इन दोनों के पृथक् व्यक्तित्व को स्वीकार कर लिया है। रुद्रभट्ट के व्यक्तित्व की एकता या भिन्नता को लेकर प्राचीन काल में ही मतिभ्रम उपन्न हो गया था।

जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' में, जिसका संकलन १२८५ ई० में हुआ था, 'काव्यालङ्कार' और 'शृङ्गारतिलक' इन दोनों ही ग्रन्थों से सुभाषितों का संग्रह किया गया था और दोनों के रचयिता का नाम रुद्र बताया गया था। इसके विपरीत 'सदुक्तिकर्णामृत' में श्रीधरदास (१२०५ ई०) ने 'शृङ्गारतिलक' से उद्धृत सूक्तियों को रुद्रट की रचना बताया था। 'भावप्रकाशन' में भी 'शृङ्गारतिलक' से कुछ श्लोक उद्धृत हैं, जिनको रुद्रटकृत बताया गया है[१]। परन्तु वर्तमान समय में समालोचकों ने तर्क की कसौटी पर कस कर अलङ्कारशास्त्र के इन दोनों आचार्यों के व्यक्तित्व की भिन्नता को प्रतिपादित किया है। रुद्रभट्ट और रुद्रट की भिन्नता को निम्न युक्तियों द्वारा प्रतिपादित किया जाता है -

(i) आलोचना के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में इन दोनों आचार्यों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है। रुद्रट मुख्य रूप से अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्य हैं। 'काव्यालङ्कार' में रसों का निरूपण करके भी रुद्रट ने काव्य में अलङ्कारों को प्रधानता दी है और अलङ्कारों की विस्तृत विवेचना की है। इसके विपरीत रुद्रभट्ट की आलोचना का मुख्य विषय रस है और वह भी शृङ्गार रस।

(ii) रुद्रभट्ट के ' शृङ्गारतिलक' की विषयवस्तु 'काव्यालङ्कार' के १२-१४ अध्यायों से साम्य रखती है। दोनों में केवल विषय का ही साम्य नहीं है, शब्दों का भी बहुत अधिक साम्य है। एक ही आचार्य द्वारा इस प्रकार मिलते-जुलते दो ग्रन्थों की रचना करने का अधिक औचित्य प्रतीत नहीं होता।

(iii) रुद्रभट्ट और रुद्रट के विषय के प्रतिपादन करने में भी मतभेद है। रुद्रभट्ट ने रसों की संख्या १० प्रतिपादित की है, जबकि रुद्रट ने ९ रसों का विवेचन किया है।

(iv) रुद्रभट्ट ने रसों की अभिव्यक्ति के लिये उपयोगी कैशिकी आदि चार वृत्तियों का विवेचन 'शृङ्गारतिलक' में किया है। ये वृत्तियां नाट्य के क्षेत्र से काव्य जगत् से आई हैं। रुद्रट ने रसोपयोगी कैशिकी आदि वृत्तियों का उल्लेख न करके मधुरा आदि ५ वृत्तियों की विवेचना की है। ये वृत्तियां अनुप्रास अलङ्कार की ही विभिन्न रूप हैं और अर्थोपयोगी हैं। रुद्रट ने शृङ्गार के लिये पहले कैशिकी आदि का वर्णन करके तदनन्तर मधुरा, ललिता, वैदर्भी और पाञ्चाली को प्रस्तुत किया था।

(v) रुद्रट और रुद्रभट्ट के नायिका-भेद में भी कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता है। रुद्रट ने पहले तो नायिका के तीन भेद - स्वीया, परकीया, और वेश्या किये हैं, तदनन्तर उनके दो भेद - स्वाधीनपतिका तथा प्रोषितभर्तृका किये हैं। उन्होंने वेश्या का वर्णन दो श्लोकों में करके उसका तिरस्कार किया है। इसके विपरीत रुद्रभट्ट ने नायिका के ८ भेद बताये। उन्होंने वेश्याओं के दोषों को स्वीकार करके भी उनको समर्थन दिया और उनका विस्तार से वर्णन किया[२]।

प्रतीत होता है कि नाम के साम्य और प्रतिपाद्य वस्तु के साम्य के कारण ही इन दोनों आचार्यों के व्यक्तित्व की भिन्नता एवं अभिन्नता के सम्बन्ध में मतिभ्रम उत्पन्न हुआ था। यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि नवम शताब्दी ई० के पश्चात् सभी आचार्यों - राजशेखर, प्रतिहारेन्दुराज, बल्लभदेव, धनिक, अभिनवगुप्त, नमिसाधु, मम्मट आदि ने 'काव्यालङ्कार' का रचयिता रुद्रट को बताया, रुद्रभट्ट को नहीं। अतः रुद्रट और रुद्रभट्ट को एक ही व्यक्ति न मान कर भिन्न-भिन्न आचार्यों के रूप में मानना ही अधिक युक्तिसंगत है।

२. रुद्रभट्ट का समय

रुद्रभट्ट के समय के सम्बन्ध में अधिक विवेचना की आवश्यकता नहीं है। यह निश्चित है कि रुद्रभट्ट की स्थिति रुद्रट के पश्चात् ही होगी, क्योंकि 'शृङ्गारतिलक' पर रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' के १२-१४ अध्यायों का स्पष्ट प्रभाव है। रुद्रभट्ट के 'शृङ्गारतिलक' का सर्वप्रथम उल्लेख हेमचन्द्र ने किया था, यद्यपि उन्होंने इस रचना के लेखक का नाम उद्धृत नहीं किया। उन्होंने 'शृङ्गारतिलक' के १.४ और १.६८ पद्यों को उदाहरण के रूप में दिया है तथा मगंलाचरण श्लोक को उद्धृत करके उसमें दोष प्रदर्शित किये हैं। इसलिये रुद्रभट्ट का समय हेमचन्द्र से पूर्व होना चाहिये । हेमचन्द्र का समय १०८८-११७२ ई० का है। इस आधार पर रुद्रभट्ट का समय ९५०-११०० ई० के मध्य का समझा जा सकता है।

रुद्रभट्ट को विश्वनाथ ने भी उद्धृत किया था। धनिक ने 'दशरूपक' की टीका में रुद्र के नाम से एक श्लोक को उद्धृत किया है[३]। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में रुद्रभट्ट के नाम से दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं, परन्तु ये उद्धरण 'शृङ्गारतिलक' में नहीं हैं।

३. रुद्रभट्ट की रचनायें

रुद्रभट्ट की एक ही रचना 'शृङ्गारतिलक' मिलती है। धनपाल की 'तिलकमञ्जरी' के अनुसार रुद्रभट्ट ने 'त्रैलोक्यसुन्दरी' नामक कथा की भी रचना की थी[४]। परन्तु यह रचना इस समय उपलब्ध नहीं है। यह भी सन्देह का विषय है कि 'त्रैलोक्यसुन्दरी' नामक कथा के रचयिता वे ही रुद्रभट्ट थे, जिन्होंने 'शृङ्गारतिलक' की रचना की थी।

४. शृङ्गारतिलक

'शृङ्गारतिलक' में रसों का और मुख्य रूप से शृङ्गार रस का विशद विवेचन है। इस ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं। उनकी विषयवस्तु निम्न प्रकार से है -

(i) प्रथम परिच्छेद -

पहले परिच्छेद में ९ रसों, भावों, आदि का और नायक-नायिका के विविध प्रकारों का वर्णन है।

(ii) द्वितीय परिच्छेद -

दूसरे परिच्छेद में विप्रलम्भ शृङ्गार रस की विशद विवेचना है।

(iii) तृतीय परिच्छेद -

तीसरे परिच्छेद में अन्य रसों की तथा कैशिकी आदि रसोपयोगी वृत्तियों की विवेचना है।

'शृङ्गारतिलक' ग्रन्थ को देखने से विदित होता है कि इस पर रुद्रभट्ट के 'काव्यालङ्कार' के १२-१४ अध्यायों का बहुत अधिक प्रभाव है। यद्यपि अनेक स्थानों पर रुद्रभट्ट ने स्वतन्त्र रूप में चिन्तन किया है और रुद्रभट्ट से मतभेद भी प्रदर्शित किया है, तथापि कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे 'काव्यालङ्कार' को सम्मुख रख कर ही उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की हो। 'काव्यालङ्कार' तथा 'शृङ्गारतिलक' के निम्न शलोकों में गहरी समानता है -

साक्षाच्चित्रे स्वप्ने स्याद् दर्शनमेवमिन्द्रजाले वा।
देशे काले भंग्या साधु तदाकर्णनं च स्यात् ।। काव्यालङ्कार १२.१।।
साक्षाच्चित्रे तथा स्वप्ने तस्य स्याद् दर्शनं त्रिधा।
देशे काले च भंग्या च श्रवणं चास्य तद् यथा।। शृङ्गारतिलक १.५१।।

'शृङ्गारतिलक' पर हरिवंशभट्ट के पुत्र गोपालभट्ट ने 'रसतरङ्गिणी' नाम से टीका लिखी थी।

सन्दर्भ-

१. साधारणस्त्री गणिका सा वित्तं गुणिन्यपि।
शृङ्गाराभास एव स्यान्न शृङ्गारः कदाचन।।
इति द्विषन्तमुद्दिश्य प्राह श्रीरुद्रटः कविः।। भावप्रकाशन, पृ० ९५।।

२. सर्वाङ्गना तु वेश्या सम्यगसौ लिप्सते धनं कामात्।
निर्गुणगुणिनोस्तस्या न द्वेष्यो न प्रियः कश्चित्।। काव्यालङ्कार १२.३९।
सामान्यवनिता वेश्या सा वित्तं परममिच्छति।
निर्गुणेऽपि न विद्वेषो न रागोऽस्याः गुणिन्यपि।।
तत्स्वरूपमिदं प्रोक्तं कैश्चिद् ब्रूमो वयं पुनः।। शृङ्गारतिलक १.६२-६३।।

३. उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य -
निर्मग्नेन मयाम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता
केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि।
इत्युत्स्वप्नरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः
सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः।।
दशरूपक ४.६० की धनिककृत व्याख्या से।।

४. स मदान्धकविध्वंसी रुद्रः कैर्नाभिनन्द्यते।
सुश्लिष्टललिता यस्य कथा त्रैलोक्यसुन्दरी।। तिलकमञ्जरी, प्रस्तावना - ३५ श्लोक।।

तेरहवां अध्याय

आनन्दवर्धन

१. आनन्दवर्धन का महत्त्व

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना और प्रतिष्ठा करके आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में महनीयतम, अजर और अमर स्थान प्राप्त किया था। आनन्दवर्धन के उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों - अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने आनन्दवर्धन की साहित्यिक मान्यताओं को स्वीकार करके अधिकांश रूप में उनके मत का पोषण किया था। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आनन्दवर्धन को वही स्थान प्राप्त है, जो व्याकरण के क्षेत्र में आचार्य पाणिनि को तथा वेदान्त के क्षेत्र में आचार्य शंकर को मिला है।

आनन्दवर्धन ने साहित्य में अपने से प्राचीन रस विषयक मान्यताओं और आलोचना के सिद्धान्त को मोड़ देकर एंक नया मार्ग प्रशस्त किया था। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन ठीक ही है कि ध्वनिकार ने आलंकारिकों का मार्ग व्यवस्थित और प्रतिष्ठित कर दिया था[१]।

भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में रस के स्वरूप की सम्यक् तथा विशद विवेचना की थी। परन्तु भरत के पश्चात् एवं आनन्दवर्धन से पूर्व जितने भी काव्यशास्त्र के आचार्य हुये, उन्होंने काव्य के स्थूल शरीर वाचक शब्द और वाच्य अर्थ को सजाने संवारने में ही काव्यत्व की प्रतिष्ठा समझी। भामह आदि आचार्यों ने शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, गुण, वृत्ति, रीति आदि तत्त्वों की विवेचना में ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को व्यय कर दिया था।

परन्तु आनन्दवर्धन ने बताया -

काव्य में सहृदय-श्लाघ्य दो अर्थ होते हैं - वाच्य और प्रतीयमान[२]। इनमें प्रतीयमान अर्थ काव्य में विलक्षण सौन्दर्य का आधान करता है[३]। जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य मुख्य रूप से होता है, वह काव्य उत्तम होता है। उस काव्य को ध्वनिकाव्य कहते है[४] और यह ध्वनि की काव्य की आत्मा है।[५]

आनन्दवर्धन द्वारा काव्यशास्त्र के क्षेत्र में ध्वनि शब्द का प्रयोग और ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना एक नवीन अद्वितीय महत्त्वशाली कार्य था। ध्वनि की स्थापना का

आधार व्यञ्जना वृत्ति द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति है। प्रतीयमान अर्थ को आनन्दवर्धन से प्राचीन आचार्य जानते नहीं थे, ऐसी बात नहीं थी। उन्होंने वाच्य अर्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार करके ध्वनि के मार्ग का स्पर्श तो कर लिया था, परन्तु उसकी व्याख्या नहीं की थी। यह कार्य आनन्दवर्धन ने किया।

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के अध्ययन से विदित होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी ध्वनि शब्द का उल्लेख काव्यशास्त्र के आचार्य करते रहे थे और उसको काव्य की आत्मा मानने लगे थे। परन्तु 'ध्वन्यालोक' से पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का प्रतिपादन उपलब्ध नहीं होता। 'ध्वन्यालोक' से पहले का कोई ऐसा ग्रन्थ न तो उपलब्ध है और नाहीं किसी प्राचीन आचार्य ने उसका उल्लेख किया है, जिसमें ध्वनि-सिद्धान्त की चर्चा मौलिक रूप से समालोचना जगत् में प्रचलित रही हो तथा आनन्दवर्धन ने इस सिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप में ग्रन्थ में प्रतिष्ठित कर दिया हो। अभिनवगुप्त का कथन है -

"ध्वनि का सिद्धान्त अविच्छिन्न रूप से विद्वानों द्वारा प्रतिपादित किया जाता रहा था, परन्तु विशिष्ट पुस्तकों में इसका वर्णन नहीं किया गया था[६]।"

काव्यशास्त्र की परम्परा में आनन्दवर्धन तथा उनके 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ का महत्त्व बहुत स्पष्ट है। ध्वनि की स्थापना करके उन्होंने समालोचना के एक नये मार्ग का उन्मीलन किया था। काव्यशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन को एक मध्यवर्ती बिन्दु कहा जा सकता है। उनसे पूर्ववर्ती भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि आचार्यों ने समालोचना के मार्ग की रचना प्रारम्भ की थी और आनन्दवर्धन ने उस मार्ग को एक नई दिशा प्रदान की थी। आनन्दवर्धन के उत्तरवर्ती आचार्यो - अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने आनन्दवर्धन के मार्ग का समर्थन करके ध्वनि के सिद्धान्त को अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित कर दिया था।

काव्य में ध्वनि को आत्मा के रूप में प्रतिपादित करके भी आनन्दवर्धन ने काव्य के अन्य तत्त्वों - अलङ्कार, गुण, रीति, वृत्ति, आदि की उपेक्षा नहीं की। इन्होंने इन तत्त्वों को भी समालोचना की पद्धति में समुचित स्थान दिया। इसके परिणामस्वरूप आनन्दवर्धन पहले समालोचक थे, जिनका 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ काव्य की समालोचना के सभी अंगों को यथोचित रूप एवं अनुपात में प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ ने इनको काव्यशास्त्र की परम्परा में महनीयतम स्थान दिलाया है।

२. आनन्दवर्धन का जीवनवृत्त और समय

'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्धन काश्मीर के निवासी थे। ये कवि, समालोचक और दार्शनिक थे। अपनी विद्वत्ता के कारण इन्होंने राजानक उपाधि प्राप्त की थी।

आनन्दवर्धन के जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में कोई सामग्री प्राप्त नहीं है।

उनके सम्बन्ध में केवल यही जाना जाता है कि वे नोण या नोणोपाध्याय के पुत्र थे। 'ध्वन्यालोक' की एक पाण्डुलिपि के तीसरे उद्योत के अन्त में इन्होंने अपने को नोणसुत कहा है। देवीशतक' के १०१ वें श्लोक में भी आनन्दवर्धन अपने को नोणसुत कहते हैं[७]। 'काव्यानुशासन' की टीका में हेमचन्द्र ने आनन्दवर्धन के 'देवीशतक' का उल्लेख करके इनको नोणसुत लिखा है।

आनन्दवर्धन का समय बहुत कुछ सुनिश्चित है। कह्लण ने 'राजतरङ्गिणी' में लिखा है -

"अवन्तिवर्मा के साम्राज्य में मुक्ताकण, शिवस्वामी, रत्नाकर और आनन्दवर्धन नाम के कवियों ने प्रसिद्धि को प्राप्त किया था[८]।"

इसका अभिप्राय यह है कि आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में हुये थे और इन्होंने उस समय प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। यद्यपि आनन्दवर्धन के समय का सुनिश्चित निर्धारण अन्य प्रमाणों से करना कठिन है, तथापि कह्लण के इस श्लोक से आनन्दवर्धन के समय का अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। व्हूलर और जैकोबी ने अवन्तिवर्मा के शासन का समय ८५५-८८३ ई० निर्धारित किया है। इसलिये आनन्दवर्धन इस समय में अवश्य रहे होंगे[९]।

कुछ विद्वानों का कथन है -

"आनन्दवर्धन की स्थिति अवन्तिवर्मा के पुत्र शंकरवर्मा के शासन काल में, जिसका समय ८८३ से ९०२ ई० रहा, अवश्य ही थी। आनन्दवर्धन ने यशोवर्मा के 'रामाभ्युदय' नाटक के एक श्लोक को आंशिक रूप से उद्धृत किया है[९]। इन विद्वानों की मान्यता है कि शंकरवर्मा का ही दूसरा नाम यशोवर्मा था।"

'न्यायमञ्जरी' का लेखक जयन्त भट्ट शकंरवर्मा का समकालीन था। उसने ध्वनि-सिद्धान्त की जिस प्रकार आलोचना की है, उससे यह आनन्दवर्धन का समकालीन प्रतीत होता है[१०]। अतः यह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन इन दोनों ही राजाओं - अवन्तिवर्मा और शंकरवर्मा के समकालीन रहे होंगे। उन्होंने अवन्तिवर्मा के समय में कवि के रूप में प्रसिद्धि पाई होगी और जीवन के उत्तर काल में वे समालोचक के रूप में प्रसिद्ध हुये होंगे।

आनन्दवर्धन के समय के सम्बन्ध में जैकोबी महोदय ने एक और सम्भावना प्रकट की है। कह्लण ने 'राजतरङ्गिणी' में ललितापीड के समकालीन मनोरथ नाम के कवि का उल्लेख किया है, जो इस राजा का मन्त्री था[११]। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन टीका' में वृत्ति भाग के **"अन्येन कृत एवाऽत्र श्लोकः"** में **"अन्येन"** पद की व्याख्या इस प्रकार की है -

"तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना" ।।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार आनन्दवर्धन और मनोरथ समकालीन थे। इतिहासज्ञों ने जयापीड के उत्तराधिकारी ललितापीड का राज्यकाल ७८०-८२३ ई० निर्धारित किया है। अतः आनन्दवर्धन का यही समय मानना चाहिये।

परन्तु जैकोबी का यह तर्क असंगत है। कह्लण के ही अनुसार आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। उनको ललितापीड के समय तक पहुंचाना युक्तिसंगत नहीं है और परम्पराओं के विरुद्ध है। इसी श्लोक में वामन का भी उल्लेख है, जो कि निश्चित रूप से आनन्दवर्धन से प्राचीन है। 'राजतरङ्गिणी' के इस श्लोक में मनोरथ के उल्लेख का स्पष्टीकरण अनेक प्रकार से हो सकता है –

(i) कह्लण ने जयापीड और ललितापीड के राज्यकाल में मनोरथ का निर्देश करने में भूल की थी।

(ii) अभिनवगुप्त ने मनोरथ को आनन्दवर्धन का समकालीन कहने में भूल की थी।

(iii) 'राजतरङ्गिणी' में निर्दिष्ट मनोरथ तथा अभिनवगुप्त द्वारा उल्लिखित मनोरथ भिन्न-भिन्न व्यक्ति रहे होंगे।

बाह्य प्रमाणों से भी आनन्दवर्धन का समय नवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध निश्चित होता है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में उद्भट का उल्लेख किया है। उद्भट का समय ८०० ई० के लगभग का है, अतः आनन्दवर्धन इनके पश्चात् नवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हो सकते हैं। राजशेखर ने आनन्दवर्धन की प्रशंसा की है[१२]। राजशेखर का समय ८८०-९२० ई० का है। आनन्दवर्धन इनसे पहले हुये होंगे। इस आधार पर भी आनन्दवर्धन का समय नवम शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध के पश्चात् कहा जा सकता है[१३]।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के समय को सरलता से नवम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध का निर्धारित किया जा सकता है। विष्णुपद भट्टाचार्य का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन का अन्तिम समय ९०२ ई० समझा जा सकता है[१३]।

३. आनन्दवर्धन की रचनायें

आनन्दवर्धन की सबसे प्रसिद्ध रचना 'ध्वन्यालोक' है, जो कि काव्यशास्त्र का सर्वमान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने कुछ काव्य तथा दर्शन-ग्रन्थ भी लिखे थे। 'देवीशतक', 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' इनके तीन काव्य थे।

इनके द्वारा लिखित दो दर्शन-ग्रन्थों की रचना का भी संकेत मिलता है (१) 'तत्त्वालोक' और (२) प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति की कृति 'प्रमाणविनिश्चय' पर आचार्य धर्मोत्तर की 'प्रमाणविनिश्चय टीका' पर टीका।

इन रचनाओं के अतिरिक्त सुभाषितावलियों में आनन्दवर्धन के नाम से कुछ पद्य उद्धृत मिलते हैं। आनन्दवर्धन की रचनाओं का परिचय निम्न प्रकार से है –

(i) देवीशतक -

आनन्दवर्धन ने इस काव्य की रचना भगवती दुर्गा की आराधना करने के निमित्त से की थी। इस काव्य में उन्होंने अपनी चित्रकाव्य रचना की चातुरी को प्रदर्शित किया है। इसमें यमक, मुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, सर्वतोभद्र, प्रहेलिका, चतुरर्थ, श्लेष आदि अलंकारों का नियोजन किया गया है।

इस काव्य के कारण आनन्दवर्धन की बहुत अधिक कठोर आलोचना हुई थी। एक ओर तो आनन्दवर्धन ने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में यमक आदि अलंकारों का निबन्धन रस में विघ्न उत्पन्न करने वाला होता है, दूसरी ओर 'देवीशतक' में उन्होंने स्वयं इन अलंकारों का आयोजन किया है। इसी कारण 'व्यक्तिविवेक' में ध्वनिकार की आलोचना करते हुये महिमभट्ट ने लिखा -

"जो अपनी ही कृतियों में संयम नही रख सका, वह दूसरों को उपदेश कैसे दे सकता है"[१४] ।

(ii) विषमबाणलीला -

आनन्दवर्धन का यह काव्य उपलब्ध नहीं है। इस काव्य के कुछ श्लोकों को आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत किया है।

(iii) अर्जुनचरित -

आनन्दवर्धन का यह काव्य भी उपलब्ध नहीं है। इस काव्य की रचना के संकेत भी 'ध्वन्यालोक' में हैं[१६]।

(iv) तत्त्वालोक -

आनन्दवर्धन का यह ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं होता। इसका उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन टीका में किया है[१७]। सम्भवतः यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त पर लिखा गया होगा।

(v) प्रमाणविनिश्चय टीका की टीका -

इस कृति का संकेत 'ध्वन्यालोक' के तीसरे उद्योत की ४७वीं कारिका की वृत्ति में मिलता है। यह संकेत लक्षण के अनिर्देश्यत्व के प्रसंग में है। बौद्ध सब पदार्थों को क्षणभंगुर मानते हैं। इसलिये उनके अनुसार किसी भी वस्तु का लक्षण नहीं हो सकता। वह अनाख्येय और अनिर्देश्य होता है। इसका उत्तर ध्वनिकार ने दिया -

"बौद्धों के मत में जो सभी पदार्थों के लक्षण को अनिर्देश्य कहा गया है, इनके मत की परीक्षा दूसरे ग्रन्थ में करेंगे[१८]।"

अभिनवगुप्त के अनुसार यह दूसरा ग्रन्थ धर्मोत्तर की विनिश्चय टीका है[१९]।

प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने बौद्ध दर्शन पर 'प्रमाणविनिश्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इन आचार्य धर्मोत्तर ने 'प्रमाणविनिश्चय टीका' लिखी थी।

आनन्दवर्धन ने इस टीका पर टीका लिखी थी। वे धर्मकीर्ति से भी परीचित रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने धर्मकीर्ति के एक श्लोक को 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत किया है।

(vi) ध्वन्यालोक -

आनन्दवर्धन का सबसे प्रसिद्ध विद्वत्तापूर्ण और प्रौढ ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। इस ग्रन्थ ने ही इनको ध्वनिकार का सम्मानित पद प्रदान किया।

आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' चार उद्योतों में विभक्त है। ग्रन्थ के स्पष्ट रूप से तीन भाग हैं - कारिकायें, वृत्ति और उदाहरण। 'ध्वन्यालोक' में कारिकाओं की संख्या विवादास्पद है। काव्यमाला के प्रथम संस्करण के अनुसार इसमें १२६ कारिकायें हैं, परन्तु चौखम्बा संस्कृत सीरीज के संस्करण में ११६ कारिकायें हैं। इस संस्करण को ही अधिक शुद्ध और प्रामाणिक समझा जाता है। इस ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है -

(i) प्रथम उद्योत -

'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में ध्वनिकार ने ध्वनि की स्थापना की है। इसमें ध्वनिकार नें ध्वनि को काव्य की आत्मा बताकर ध्वनिविरोधियों के तीन मत - अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी कहे। पुनः अभाववादियों के ३ पक्ष प्रस्तुत हुये हैं। ध्वनिकार ने इन सब मतों का खण्डन करके कहा है -

"ध्वनि को अभिधा में, अलङ्कारों में या लक्षणा में अन्तर्भावित नहीं किया जा सकता। इसको अलक्षणीय भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसका लक्षण किया गया है।

काव्य में वाच्य और प्रतीयमान दो प्रकार के अर्थ होते हैं। प्रतीयमान अर्थ सहृदयसंवेद्य एवं चारुत्व का हेतु है। जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता होती है, वह ध्वनिकाव्य होता है। प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है - वस्तु अलङ्कार और रस। कुछ अलङ्कारों में यद्यपि प्रतीयमान अर्थ होता है, परन्तु ध्वनि का उनमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

ध्वनिकाव्य के दो मुख्य भेद होते हैं - अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणामूल है और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अभिधामूल।"

(ii) द्वितीय उद्योत -

द्वितीय उद्योत में ध्वनि के दो भेद तथा उनके स्वरूप की व्याख्या की गई है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं - अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो मुख्य भेद हैं - असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता भेद से अनेक प्रकार की है। इनमें भी रसों और भावों के

अनेक भेदों के होने से यह और भी अनेक प्रकार की हो जाती है। इसको रसध्वनि कहा गया है।

रसध्वनि के प्रकरण में ही ध्वनिकार ने प्राचीन मतों का खण्डन करके गुणों की संख्या तीन निर्धारित की है - माधुर्य, ओज और प्रसाद। उन्होंने गुण और अलङ्कार का भेद भी बताया है। इस प्रकरण में उन तथ्यों का कथन भी किया गया है कि किन परिस्थितियों में रसध्वनि माननी चाहिये और किन परिस्थितियों में रसवद् आदि अलङ्कार समझने चाहियें।

संलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम ध्वनि के मुख्य भेद तीन हैं - शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और उभयशक्त्युद्भव। इन तीनों के भी वस्तुरूप और अलङ्काररूप अर्थ की अभिव्यक्ति के भेद से दो दो मुख्य भेद हैं। इनकी ध्वनिकार ने उदाहरणसहित व्याख्या की है। उन्होंने शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि तथा श्लेष अलङ्कार का भेद भी बताया है।

(iii) तृतीय उद्योत -

दूसरे उद्योत में ध्वनिकार ने व्यङ्ग्य के भेद से ध्वनि के भेद प्रदर्शित किये थे। तीसरे उद्योत में व्यञ्जक के भेद से ध्वनि के भेदों का वर्णन किया गया है। वर्ण, पद, वाच्य, संघटना और प्रबन्ध व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जक हो सकते हैं। इनसे वस्तुरूप अर्थ या रसरूप अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। ध्वनिकार ने संघटना की व्यञ्जकता का विस्तार से वर्णन किया है। यह तीन प्रकार की होती है - असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। यह संघटना गुणों का आश्रय लेकर रसादि की अभिव्यञ्जना करती है। ध्वनिकार के अनुसार रसबन्ध का औचित्य सर्वत्र आवश्यक है।

संघटनाव्यञ्जकता के अनन्तर प्रबन्धप्रकाश्यता का विस्तृत विवेचन है। इस प्रकरण में रसों की अभिव्यक्ति और चर्वणा, विभिन्न रसों के सहायक अलङ्कार, कथावस्तु और उसका रस के साथ सम्बन्ध, विभक्ति, क्रिया, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत्, तद्धित और समास की अलक्ष्यक्रमद्योत्यता, रसाभिव्यक्ति के विरोध का परिहार, काव्य में एक प्रधान रस का होना और अन्य रसों का अंगरूप से रहना, रस के अनुगुण शब्दार्थयोजना करना, इन विषयों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।

ध्वनिकार ने रस के अनुगुण वृत्तियों का विवेचन किया है। ये दो प्रकार की होती हैं -

(१) वाच्य के आश्रय से कैशिकी आदि वृत्तियां और

(२) वाचक के आश्रय से उपनागरिका आदि वृत्तियां।

इनका नियोजन कवि को उचित रूप से करना चाहिये।

ध्वनिकाव्य का विस्तृत विवेचन करने के अनन्तर तीसरे उद्योत में ही

ध्वनिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की व्याख्या की है। प्रतीयमान अर्थ के वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान न होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। ध्वनिकार का इस सम्बन्ध में यह भी कहना है कि काव्य की योजना रस आदि के तात्पर्य से की जावे, तो यह भी ध्वनि रूप ही होता है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का विवेचन करने के अनन्तर चित्रकाव्य का स्वरूप समझाया गया है। यह दो प्रकार का होता है - शब्दचित्र और अर्थचित्र। चित्रकाव्य वह होता है, जिसमें रस आदि की अपेक्षा न करके केवल शब्दालङ्कारों या अर्थालङ्कारों का वैचित्र्य प्रदर्शित किया गया हो। ध्वनिकार के अनुसार चित्रकाव्य को वस्तुतः काव्य नहीं समझना चाहिये, वह तो काव्य की केवल अनुकृतिमात्र है।

तीन प्रकार के काव्यों - ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र के स्वरूप का निरूपण करके आचार्य का कहना है कि काव्यों के परस्पर मिश्रण से ध्वनि के असंख्य भेद और प्रभेद हो जाते हैं। तदनन्तर ध्वनिकार ने रीतियों और वृत्तियों के सम्बन्ध में संक्षेप से अपने मत को कहा है।

(iv) चतुर्थ उद्योत -

चौथे उद्योत में ध्वनिकार ने प्रतिभा के आनन्त्य का विस्तार से वर्णन किया है। साधारण वस्तुयें भी कवि की प्रतिभा से अपूर्व नवीन रूप धारण कर लेती हैं। व्यङ्ग्य-व्जञ्जक भाव अनेक प्रकार का होने पर भी कवि को रसादिमय काव्य की रचना के प्रति सावधान रहना चाहिये। 'रामायण' करुण रस प्रधान काव्य है और 'महाभारत' का प्रधान रस शान्त है। परम्परा से असंख्य काव्यों की रचना हो जाने पर भी कविता का क्षेत्र अनन्त है।

ध्वनिकार का कथन है -

"कवियों के काव्यों में साम्य हो सकता है। परन्तु इसमें कुछ साम्य ग्राह्य हैं तथा कुछ त्याज्य हैं। अक्षर वे ही हैं तथा नवीन अक्षरों की रचना वाचस्पति भी नहीं कर सकते। वे ही अक्षर नवीन कविता में नवीनता का आधान करते हैं।"

'ध्वन्यालोक' की रचना को समाप्त करते हुये ध्वनिकार ने कहा - सरस्वती ही कवि की सहायक होती है। ग्रन्थकार ने सहृदयों की उन्नति के लिये, ध्वनि-काव्य की रचना के लिये ध्वनि के मार्ग का उन्मीलन कर दिया है।

५. कारिकाकार और वृत्तिकार

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के तीन भाग हैं - कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इनकी रचना करने वाले के सम्बन्ध में आधुनिक समालोचकों ने विवाद प्रस्तुत कर दिया है। वृत्ति की रचना और उदाहरणों का संग्रह तो निर्विवाद रूप से आनन्दवर्धन की कृति समझे जाते हैं, परन्तु कारिकाओं के रचयिता के सम्बन्ध में समालोचको के विचारों में

मतभेद हैं। इस सम्बन्ध में अनेक समालोचकों ने बहुत कुछ लिखा है। इस सबको विस्तृत रूप में प्रस्तुत करना तो यहां सम्भव नहीं होगा, तथापि संक्षेप से यहां विचार किया जा रहा है।[२०]

संस्कृत की प्राचीन परम्पराओं और काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों के अनुसार कारिकाओं तथा वृत्ति के रचयिता आनन्दवर्धन ही हैं। परन्तु अभिनवगुप्त की 'लोचन टीका' के कुछ अंशों ने यह सन्देह उत्पन्न किया है कि कारिकाओं के रचयिता वृत्तिकार से भिन्न व्यक्ति हैं।

'लोचनटीका' में कारिकाओं के रचयिता के लिये **"मूलग्रन्थकृत्"** और वृत्तिकार के लिये **"ग्रन्थकृत्"** पदों का प्रयोग हुआ है। इस प्रश्न को सबसे पहले डा० व्हूलर ने उठाया था और बाद में प्रो० सोवानी, पी० वी० काणे, एस० के० डे, शिवप्रसाद भट्टाचार्य आदि समालोचकों ने उनका समर्थन किया।

डा० पी० वी० काणे ने 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' पुस्तक में अभिनवगुप्त की 'लोचन टीका' के उन महत्त्वपूर्ण स्थलों को संगृहीत किया है, जिनसे कारिकाकार और वृत्तिकार का भेद स्पष्ट होता हैं।[२१] इन उद्धरणों को तथा 'लोचन टीका' के कुछ वाक्यों को भी उद्धृत करके पी० वी० काणे ने प्रतिपादित किया -

"लोचनकार की दृष्टि में वृत्ति के रचयिता आनन्दवर्धन हैं तथा वे मूल कारिकाओं के रचयिता से भिन्न विद्वान् प्रतीत होते हैं"।

डा० एस०के० डे ने भी कारिकाकार तथा वृत्तिकार की भिन्नता को प्रतिपादित किया है। प्राचीन लेखकों और परम्पराओं की उन्होंने आलोचना की है और कहा है कि कारिकाकार एवं वृत्तिकार को भिन्न भिन्न व्यक्ति मानना चाहिये।[२२]

कारिकाकार एवं वृत्तिकार के व्यक्तित्व के भेद को प्रतिपादित करने वाले समालोचकों की युक्तियां इस प्रकार हैं -

(१) प्राचीन लेखकों ने जब कारिका और वृत्ति दोनों को स्वयं लिखा तो इसका निर्देश कर दिया। परन्तु आनन्दवर्धन ने ऐसा नहीं किया।

(२) 'ध्वन्यालोक' में कुछ ऐसे परिकर श्लोक हैं, जिनका महत्त्व कारिकाओं से भी अधिक है।[२३] अत: कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न व्यक्ति मानना चाहिये।

(३) 'ध्वन्यालोक' की कारिका संख्या २.२३ से पहले आये **"तथा च"** पद की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने कहा है कि कारिकाकार ने शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल दो ही प्रकार की ध्वनि का निर्देश किया था, परन्तु वृत्तिकार तीसरे प्रकार की ध्वनि उभयशक्तिमूल की सूचना देने के लिये साधारण अवतरण पद को दे रहे है[२४]।

(४) यद्यपि मंगलाचरण वृत्ति से पूर्व नहीं है, कारिकाओं से पहले ही है, तथापि इससे कारिकाकार और वृत्तिकार का एकत्व सिद्ध नहीं होता। अनेक ग्रन्थकारों ने अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में मंगलाचरण नहीं किया है।

(५) **"स्वेच्छकोसरिण:०"** मंगलश्लोक को लोचनकार ने वृत्तिकार की रचना बताया है[२५], जबकि **"काव्यास्यात्मा०"** इस पहली कारिका को आदि वाक्य कहा है[२६]।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है -

यदि कारिकाओं की रचना आनन्दवर्धन ने नहीं की थी तो इनका रचयिता कौन था ? अनेक प्राचीन विवरणों में 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ का नाम 'सहृदयालोक' मिलता है। इस आधार पर इन समालोचकों का विचार है कि मूल कारिकाओं के रचयिता का नाम सहृदय था तथा आनन्दवर्धन ने इस पर आलोक नामक वृत्ति की रचना की थी। कारिकाकार का नाम सहृदय था, इस तथ्य को प्रतिपादित करने के लिये पी० वी० काणे ने मुख्य रूप से तीन युक्तियां दी हैं -

(१) मुकुल भट्ट ने, जो अभिनवगुप्त से लगभग १०० वर्ष पहले हुये थे, "अभिधा-वृत्तिमातृका' की रचना की थी। इनके अनुसार सहृदय ने ध्वनि के नये सिद्धान्त को प्रवर्तित किया था।

(२) 'प्रतिहारेन्दुराज' के अनुसार ध्वनि के सिद्धान्त का मूल रूप में प्रतिपादन सहृदय ने किया था।

(३) 'ध्वन्यालोक' में सहृदय का नाम स्थान-स्थान पर आदर से लिया गया है। आनन्दवर्धन द्वारा सहृदय के प्रति इस प्रकार सम्मान प्रकट करने से यह अनुमान किया जा सकता है कि वे या तो आनन्दवर्धन के गुरु रहे होंगे या उन्होंने कारिकाओं की रचना की होगी।

डा० संकरन्, सतकारी मुकर्जी, कृष्णमूर्ति आदि समालोचकों ने कारिकाओं के रचयिता तथा वृत्ति के रचयिता के व्यक्तित्व में भेद के प्रतिपादन का प्रबल विरोध किया था। अभेद का प्रतिपादन करने वाले विद्वानों की युक्तियों का सारांश निम्न है -

(१) संस्कृत साहित्य की परम्परा कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति मानती है। कारिकाओं की पहले रचना करके तदनन्तर वृत्ति और उदाहरणों द्वारा उनकी व्याख्या करना भारतवर्ष में प्राचीन काल से प्रचलित रहा था।

(२) 'ध्वन्यालोक' की 'लोचनटीका' और 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारतीटीका' में अभिनवगुप्त ने अनेक स्थानों पर कारिकाकार और वृत्तिकार के एकत्व को प्रतिपादित किया है। अभिनवगुप्त ने कहीं भी कारिकाकार के

नाम को अलग से उद्धृत नहीं किया है। यदि यह मान भी लिया जावे कि अभिनवगुप्त ने कारिकाकार को वृत्तिकार से भिन्न समझा, तो भी उनके इस कथन को निर्भ्रान्त नहीं समझा जा सकता। वे आनन्दवर्धन से लगभग १५० वर्ष पश्चात् हुये थे। इनसे पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति आनन्दवर्धन को माना था।

(३) अभिनवगुप्त ने अपने गुरु उत्पलदेव की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' पुस्तक पर टीका लिखी थी। यह पुस्तक कारिका तथा वृत्ति दोनों में लिखी गई थी। इस टीका में अभिनवगुप्त ने यह संकेत कहीं नहीं दिया कि कारिका तथा वृत्ति के रचयिता एक ही हैं। 'लोचन टीका' में भी उन्होंने इसी परम्परा को रखा है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं तथा वृत्ति दोनों ही पर टीका लिखी थी, क्यांकि वे दोनों को एक की रचना मानते थे। यदि वे दोनों का लेखक भिन्न-भिन्न व्यक्ति को मानते तो केवल वृत्ति की ही टीका लिखते, क्योंकि कारिकाओं पर टीका वृत्ति के रूप में आनन्दवर्धन ने लिख ही दी थी।

(४) आनन्दवर्धन ने कहीं भी अपने को कारिकाकार से भिन्न नहीं माना। वे स्वयं को ही ध्वनि का प्रतिष्ठाता मानते थे[२७]।

(५) यदि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते तो प्राचीन परम्पराओं के अनुसार दोनों भागों के लिये अलग-अलग मंगलाचरण होता। एक ही मंगलाचरण यह सूचित करता है कि दोनों भागों का लेखक एक ही है।

(६) यदि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, तो कारिकाकार का नाम जानना भी आवश्यक है। भिन्नतावादियों के अनुसार कारिकाकार का नाम सहृदय था। परन्तु साहित्यशास्त्र में सहृदय पद का प्रयोग व्यक्तिवाचक के रूप में नहीं, अपितु विशेषण के रूप में हुआ है। आनन्दवर्धन[२८] और अभिनवगुप्त[२९] दोनों ने ही सहृदय पद को विशेषण के रूप में लेकर उसकी व्याख्या की है।

(७) राजशेखर, मुकुलभट्ट, प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, जयन्त भट्ट, क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र, उदयोत्तुंग, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि सभी आचार्यों ने कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति मान कर आनन्दवर्धन को ही ध्वनि का प्रतिष्ठाता और ध्वनिकार माना है।

कारिकाकार और वृत्तिकार की एकता के प्रतिपादन की प्रबल युक्तियों के होते हुये भी भिन्नतावादियों की युक्तियों को सर्वथा निस्सार नहीं कहा जा सकता। 'ध्वन्यालोक'

की प्राचीन 'चन्द्रिका टीका' तथा भट्टनायक के ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' में ध्वनि के सम्बन्ध में एवं ध्वनिकार के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया होगा। वे ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। यदि वे उपलब्ध हो सकते तो इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़ सकता था। परन्तु कारिकाकार और वृत्तिकार के सम्बन्ध में इस समय जो प्रमाण मिलते हैं, उनके अनुसार कारिकाओं और वृत्ति दोनों का रचयिता एक ही व्यक्ति है। आनन्दवर्धन को ही दोनों भागों का रचयिता समझना चाहिये।

यह भी ध्यान देने योग्य है -

यदि कारिकाओं और वृत्ति का रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को मान भी लिया जावे और यह समझा जावे कि आनन्दवर्धन से पूर्व किसी अज्ञात मनीषी ने कारिकाओं की रचना की थी, तथापि ध्वनिकार का आदरणीय पद आनन्दवर्धन को ही दिया गया था। ध्वनि के सिद्धान्त की निस्सन्दिग्ध और व्यवस्थित स्थापना आनन्दवर्धन ने ही की थी। उत्तरवर्ती आचार्यों ने ध्वनिकार एवं ध्वन्याचार्य की आदरणीय उपाधि से आनन्दवर्धन को ही समादृत किया था।

६. परिकर-संग्रह-संक्षेप श्लोक

'ध्वन्यालोक' में कारिकाओं के अतिरिक्त कुछ व्याख्यानात्मक पद्य हैं, जोकि ग्रन्थ के वृत्ति भाग में दिये गये हैं। ये पद्य तीन प्रकार के हैं - परिकर, संग्रह और संक्षेप।

परिकर श्लोकों का प्रयोग आनन्दवर्धन ने कारिकाओं के विषय की अधिक व्याख्या के लिये और उनसे अधिक अर्थ का बोध कराने के लिये किया है। अभिनवगुप्त ने 'परिकर श्लोक' की व्याख्या इस प्रकार की है -

"परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः।"

यह श्लोक वृत्ति के अन्तर्गत रह कर मूल की व्याख्या करता है। जैसे कि तृतीय उद्योत में निम्न परिकर श्लोक है -

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्येवावभासते[३०]**।।**

इसका यह अभिप्राय है -

कवि की अव्युत्पत्ति के कारण उत्पन्न दोष उसकी शक्ति (प्रतिभा) से ढक जाता है। परन्तु अशक्ति के कारण जो दोष है, वह तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है। इस प्रकरण में ध्वनिकार ने संघटना में उत्पन्न दोष दो प्रकार के बताये हैं - अव्युत्पत्तिकृत् और व्युत्पत्तिकृत्। काव्य की रचना में कवि की शक्ति (प्रतिभा) मुख्य है। कारिका में इस बात को नहीं कहा गया, अतः कारिका से अधिक अर्थ को प्रकट करने वाला यह श्लोक परिकर श्लोक है।

परिकर श्लोकों के अतिरिक्त संग्रह एवं संक्षेप श्लोक हैं। कारिकाओं में तथा वृत्ति में ध्वनिकार जिन तथ्यों को और युक्तियों को विस्तार से कहते हैं, उनको एक साथ

संक्षेप से संगृहीत करके इन श्लोकों की रचना की गई है। जैसे कि प्रथम उद्योत में, अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, इसकी विवेचना वृत्ति में विस्तार से करके ध्वनिकार ने निम्न संक्षेप श्लोकों में उस विवेचना का सार दे दिया है -

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्याादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः।।
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते।।
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः।।

परिकर, संग्रह, एवं संक्षेप श्लोकों के कृतित्व के सम्बन्ध में भी सन्देह प्रकट किया गया है। इन सन्देह करने वालों मे विष्णुपद भट्टाचार्य प्रमुख हैं। वे कहते हैं -

"वृत्ति में आये संक्षेप श्लोक वृत्तिकार की रचना हैं। संग्रह श्लोकों में से कुछ से पहले वृत्तिकार ने **"मया उक्तम्"** कहा है तथा कुछ से पहले नहीं कहा। जिन श्लोकों से पहले **"मया उक्तम्"** पद है, उनके विषय में अभिनवगुप्त का कथन है कि वे वृत्तिकार की रचना हैं। परन्तु दूसरे श्लोकों के सम्बन्ध में वे मौन रहते हैं। परिकर श्लोकों के सम्बन्ध में लोचनकार कुछ टिप्पणी नहीं करते। इससे प्रतीत होता है कि संग्रह श्लोकों में से कुछ की रचना वृत्तिकार ने की थी तथा कुछ की नहीं की। इसी प्रकार परिकर श्लोक भी वृत्तिकार की रचना नहीं हैं, यह मानना चाहिये[३१]।

७. ध्वन्यालोक की प्राचीन टीकायें

'ध्वन्यालोक' के विषय के गाम्भीर्य तथा महत्त्व ने विद्वानों को इसकी टीकायें लिखने के लिये आकृष्ट किया था। इस ग्रन्थ की निम्न प्राचीन टीकाओं के लिखे जाने के प्रमाण मिलते हैं -

(i) लोचन टीका -

ध्वन्यालोक' की प्राचीन टीकाओं में सबसे प्रसिद्ध अभिनवगुप्त की लोचन टीका है। इस टीका की हस्तलिखित प्रतियों में इसके अनेक नाम मिलते हैं - सहृदयालोचन, ध्वन्यालोचन अथवा काव्यालोकलोचन। परवर्ती आचार्यों ने अभिनवगुप्त को लोचनकार के नाम से स्मरण किया था। काव्यशास्त्र के इतिहास में 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन टीका' का वही महत्त्व है, जो 'पाणिनीय अष्टाध्यायी' पर 'महाभाष्य' का तथा 'ब्रह्मसूत्र' पर 'शांकरभाष्य' का महत्त्व है। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वयं इस टीका को लोचन का नाम दिया था और इसको 'ध्वन्यालोक' के रहस्य को उन्मीलित करने वाला बताया था।

अभिनवगुप्त के जीवन एवं कृतित्व पर विपुल सामग्री उपलब्ध है। इस विषय पर आगे अभिनवगुप्त के अध्याय में विचार किया जावेगा। इनकी 'लोचन टीका' के

सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इसमें 'ध्वन्यालोक' के मन्तव्यों और रहस्यों की समुचित व्याख्या की गई है। इसमें अभिनवगुप्त ने अपने से पूर्ववर्ती अनेक विद्वानों तथा कवियों का उल्लेख किया है। टीका के अन्त में उन्होंने यह ठीक ही लिखा है -

"आनन्दवर्धन के विवेक में विकसित काव्यालोक के अर्थों के तत्त्वों की घटना करने से जिसके सार का अनुमान किया जा सकता है, जो प्रकाशमान सम्पूर्ण विषयों को प्रकाशित करने वाला है, अभिनवगुप्त का वह विशिष्ट लोचन व्यापारित हुआ है[३२]।"

(ii) चन्द्रिका टीका -

अभिनवगुप्त से पूर्व भी 'ध्वन्यालोक' पर एक टीका लिखी गई थी। इस टीका का नाम 'चन्द्रिका' या 'चण्डिका' टीका था। अभिनवगुप्त ने 'लोचन टीका' में इस टीका का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। इन उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि यह टीका अभिनवगुप्त के ही किसी पूर्वज ने लिखी थी।

'ध्वन्यालोक' के प्रथम तथा द्वितीय उद्योतों की टीका के अन्त में अभिनवगुप्त ने जो श्लोक लिखा है, उससे प्रतीत होता है कि उन्होंने 'लोचन टीका' को लिखने में 'चन्द्रिका टीका' की सहायता ली थी[३३]।

लोचनकार ने अपनी टीका में अनेक स्थानों पर 'चन्द्रिका टीका' के मन्तव्यों से असहमति प्रकट की है तथा उसका खण्डन किया है।

'व्यक्तिविवेक' के रचयिता महिम भट्ट भी, जो कि अभिनवगुप्त से पहले हुये थे, 'ध्वन्यालोक' की 'चन्द्रिका टीका' से परिचित रहे होंगे। अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना के पांचवें श्लोक में उन्होंने इस टीका का उल्लेख किया है। इसलिये 'चन्द्रिका टीका' की रचना का समय ९००-९५० ई० के मध्य का हो सकता है।

(iii) कौमुदी टीका -

'ध्वन्यालोक' की प्राचीन टीकाओं में कौमुदी टीका भी प्रसिद्ध है। परन्तु यह टीका मूल रूप से 'ध्वन्यालोक' पर न होकर उसकी 'लोचन टीका' पर लिखी गई थी। इस टीका को केरल के विद्वान् उदयोत्तुंग ने लिखा था। यह टीका केवल पहले उद्योत पर ही प्राप्त होती है। इसको सबसे पहले महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी तथा उनके दो सहयोगियों ने मिलकर १९४४ ई० में प्रकाशित कराया था। कौमुदीकार ने 'मयूर सन्देश' नामक काव्य की रचना भी की थी। इस आधार पर इसका समय १४८० ई० निर्धारित किया गया है।

(iv) ध्वनि-गाथा-पञ्चिका -

रत्नाकर ने 'ध्वनिगाथापञ्चिका' में 'ध्वन्यालोक' की प्राकृत गाथाओं की व्याख्या की है। लेखक ने इस व्याख्या में अभिनवगुप्त का अनुकरण किया था, इसलिये इनका समय अभिनवगुप्त के बाद का रहा होगा। 'ध्वन्यालोक' में ४६ प्राकृत गाथायें हैं।

वर्तमान समय में भी 'ध्वन्यालोक' पर कई अच्छी टीकाये डा० कृष्णकुमार, आचार्य विश्वेश्वर आदि द्वारा लिखी गई हैं। डा० कृष्णकुमारकृत की व्याख्या विषय का स्पष्टीकरण करने में सर्वथा समर्थ है।

सन्दर्भ -

१. ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्।। रसगङ्गाधर।।

२. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। ध्वन्यालोक १.२।।

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्वन्यालोक १.४।।

४. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।ध्वन्यालोक १.१३।।

५. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।। ध्वन्यालोक १.१।।

६. अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः।।
ध्वन्यालोक १.१ की लोचन टीका से ।।

७. देव्या स्वप्नोद्गमादिष्टदेवीशतकसंज्ञया।
देशितानुपमामाधादतो नोणसुतो नुतिम्।। देवीशतक १०१।।

८. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।। राजतरङ्गिणी ५.३४।।

९. तत्र शुद्धस्योदाहरणं यथा रामाभ्युदये - "कृतककुपितैः" इत्यादि श्लोकः।
ध्वन्यालोक ३.३-४ की वृत्ति से ।।

१०. न्यायमञ्जरी की आलोचना इस प्रकार है --
एतेन शब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम्।।
यथा - भम धम्मिअ वीसत्थो मास्म पान्थ गृहं विश।
मानानन्तर-परिच्छेद्य-वस्तुरूपोपदेशिनाम्।।
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा।
अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते।।
विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि।
न्यायमञ्जरी (काशी संस्कृत मीरीज), पृ० ४५।।

११. मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः।। राजतरङ्गिणी ४.४९७।।

१२. ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः।।
जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर के नाम से उद्धृत।।

१३. विष्णुपद भट्टाचार्यकृत ध्वन्यालोक टीका की प्रस्तावना, पृ० ९ ।

१४. स्वकृतिष्वनियन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्।
वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्।। व्यक्तिविवेक।।

१५. यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम् -
ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिएहिं छेप्पन्ति।
रइकिरणानुग्गहिआईं होन्ति कमलाईं कमलाईं।। ध्वन्यालोक २.१ की वृत्ति से ।।

१६. एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसंगे वैशद्येन प्रदर्शितम्।
ध्वन्यालोक ३.२५ की वृत्ति से।।

१७. येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाच्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न विदितं तत्त्वालोकग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम् ।।
ध्वन्यालोक १.३ की वृत्ति पर लोचनटीका से ।।

१८. यस्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः।।
ध्वन्यालोक ३.४७ की वृत्ति से ।।

१९. ग्रन्थान्तर इति। विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तर्यां या विवृतिरमुना ग्रन्थकृता कृता तत्रैव तद् व्याख्यातम्।।
ऊपर की वृत्ति पर लोचन टीका।।

२०. इस विषय को विस्तार से देखने के लिये लेखक की 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ की व्याख्या को देखना चाहिये। इसका प्रकाशन साहित्य भण्डार, मेरठ से हुआ है।

२१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास -- पी० वी० काणे - पृ० २०९-१०।।

२२. Indeed, it seems that Anandavardhan in his classical vritti attempted to build up a more or less complete system of poetics upon the loosely joined ideas and materials supplied by the brief karikas and his success was probably so marvellous that in course of time, the karikas receded to the background completely overshadowed by the more important figure of his formidable expounder, and people considered as the dhwanikar not the author of the few memorial verses, but the commentator Anandavardhan himself, who for the first fixed the theory in its present form. The term 'Dhwanikar' itself came gradually to be used in generic sense of the creator of the dhwani school and therefore indiscriminately applied by the late writer to Anandavardhan, who though not himself the founder of the system, came to receive that credit for having first victoriously introduced it in the struggle of the school. विष्णुपद भट्टाचार्य कृत ध्वन्यालोक की अंग्रेजी व्याख्या की प्रस्तावना पृष्ठ XXXII से उद्धृत।।

२३. एक श्लोक इस प्रकार है -

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।। ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति से।

२४. प्रक्रान्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेन यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत् तथा चेति। ध्वन्यालोक-लोचनटीका ।।

२५. स्वयमव्युच्छिन्न.......परमेश्वरसामुख्यं करोति वृत्तिकारः।। ध्वन्यालोक-लोचनटीका।।

२६. अथ प्राधान्येन..........प्रयोजनं च सामर्थ्यात् प्रकटयन्नादिवाक्यमाह - काव्यस्यात्मेति।
ध्वन्यालोक-लोचनटीका।।

२७. इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः।। ध्वन्यालोक चतुर्थ उद्योत अन्तिम भाग में।।

२८. "वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः" सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः।
ध्वन्यालोक ३.४८ की वृत्ति से।।

२९. सहृदयानामिति। येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। ध्वन्यालोक ३.४८ की वृत्ति की लोचन टीका से।।

३०. ध्वन्यालोक ३.६ की वृत्ति में।

३१. विष्णुपद भट्टाचार्यकृत 'ध्वन्यालोक' की अंग्रेजी व्याख्या (xxxv-xxxvi) की प्रस्तावना।।

३२. आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्या-
लोकार्थतत्त्वघटनादनुमेयसारम्।
यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशि
व्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत्।।

३३. किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयाऽपि हि।।

चौदहवां अध्याय

मुकुलभट्ट

काव्यशास्त्र के इतिहास में मुकुलभट्ट की गणना समालोचकों ने की है। उसकी एक ही रचना 'अभिधावृत्तिमातृका' उपलब्ध होती है, जो कि १५ कारिकाकाओं की एक छोटी कृति है। इसमें मुकुलभट्ट ने अभिधा और लक्षणा का विवेचन किया है।

१. मुकुलभट्ट का परिचय

मुकुलभट्ट के जीवन वृत्तान्त तथा समय के सम्बन्ध में कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। 'अभिधावृत्तिमातृका' के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि उनके पिता का नाम भट्ट कल्लट था। कह्लण ने लिखा है -

"भट्ट कल्लट काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के शासन काल में हुए थे[१]।"

इस प्रकार वे आनन्दवर्धन और रत्नाकर के समकालीन थे। कह्लण के इस कथन के अनुसार मुकुलभट्ट को ९वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध एवं दसवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में होना चाहिये। 'काव्यप्रकाश' की संकेत टीका के लेखक माणिक्यचन्द्र ने मुकुलभट्ट को अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है।

ऊपर के विवरण से तथा नाम से यह स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट काश्मीर के निवासी थे। उद्भट के 'अलङ्कारसारसंग्रह' ग्रन्थ के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने मुकुल भट्ट को अपना गुरु बताया है तथा कहा है कि उन्होंने अलङ्कारशास्त्र का अध्ययन मुकुल भट्ट से किया था[२]। उनके अनुसार मुकुलभट्ट मीमांसा, व्याकरण, तर्क तथा साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे। इससे मुकुलभट्ट और प्रतिहारेन्दुराज का समय दशम शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध निर्धारित होता है।

२. मुकुलभट्ट की कृतियां

मुकुलभट्ट की कृति 'अभिधावृत्तिमातृका' एक छोटी सी १५ कारिकाओं की पुस्तिका है। इन कारिकाओं की वृत्ति भी मुकुलभट्ट ने लिखी थी। इसमें अभिधा तथा लक्षणा इन दो शब्दशक्तियों का और मुख्य तथा लाक्षणिक दो प्रकार के अर्थों का विवेचन किया गया है। लक्षणा की इसमें विस्तृत विवेचना है। सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के दूसरे उल्लास में लक्षणा की विवेचना मुकुलभट्ट के ही आधार पर की

है। डा० बलदेव उपाध्याय का कथन है -

"मम्मट की **"लक्षणा तेन षड्विधा"** उक्ति को 'अभिधावृत्तिमातृका' के विना समझना कठिन है।"

मुकुलभट्ट ने अपनी वृत्ति में उद्भट, कुमारिल भट्ट, 'ध्वन्यालोक', भर्तृमित्र, 'महाभाष्य', बिज्जका, 'वाक्यपदीय' और शबरस्वामी का उल्लेख किया है।

सन्दर्भ-

१ अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्।। राजरङ्गिणी ५.६६।।

२. विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतिहारेन्दुराजेन काव्यालङ्कारसंग्रहः।।

अलङ्कारसारसंग्रह की प्रतिहारेन्दुराजकृत टीका का अन्तिम पद्य ।।

पन्द्रहवां अध्याय

भट्टतौत

अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत काव्यशास्त्रीय जगत् में बहुत प्रसिद्ध और सम्मानित हैं।

१. भट्टतौत का परिचय

भट्टतौत अभिनवगुप्त के गुरु थे तथा उन्होंने इनको नाट्यवेद की शिक्षा दी थी[1]। 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन टीका' में और 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती' टीका में अनेक स्थानों पर अभिनवगुप्त ने भट्टतौत का उल्लेख अपने उपाध्याय के रूप में किया है। अभिनवगुप्त का कथन है -

"भट्टतौत ने 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी और अभिनवगुप्त ने उस पर 'विवरण' नामक टीका लिखी थी[2]।" परन्तु भट्टतौत का यह ग्रन्थ और अभिनवगुप्त की टीका दोनों ही उपलब्ध नहीं हैं।

भट्टतौत के समय के सम्बन्ध में अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है। भट्टतौत अभिनवगुप्त के गुरु थे, अतः वे उनसे कुछ ही समय पहले हुये थे। अभिनवगुप्त का समय बहुत कुछ निश्चित है। उनका साहित्य रचना-काल ९००-१००० ई० समझा जाता है, अतः भट्टतौत की ग्रन्थ रचना का समय भी ९५०-९८० के मध्य हो सकता है।

२. भट्टतौत की कृतियां और मान्यतायें

भट्टतौत की एक रचना का नाम 'काव्यकौतुक' था और अभिनवगुप्त ने इस पर 'विवरण' नाम की टीका लिखी थी, यह ऊपर कहा जा चुका है। परन्तु यह ग्रन्थ तथा टीका दोनों ही उपलब्ध नहीं हैं। इसलिये भट्टतौत के काव्यशास्त्रीय नियमों का पूरी तरह से ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' टीका और 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती' टीका में भट्टतौत के सिद्धान्तों और अभिमतों को अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने भी भट्टतौत को कुछ स्थानों पर उद्धृत किया है। इससे भट्टतौत के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कुछ अनुमान किया जा सकता है। इनमें में कुछ का निर्देश नीचे किया जाता है -

(क) मोक्षप्रद होने के कारण शान्त रस सबसे श्रेष्ठ है[३]।

(ख) रस प्रीतिरूप होता है। वह ही नाट्य है या नाट्य में जाना जाता है[४]।

(ग) रस का समुदाय ही नाट्य है। रस केवल नाट्य में ही नहीं होता, काव्य में भी होता है। यह काव्य में भी नाट्य के समान ही आनन्ददायक होता है। काव्यों में प्रत्यक्ष-कल्प-संवेदन के उदय होने पर रस का उदय होता है[५]।

(घ) काव्य में कवि, नायक और श्रोता को समान रूप में रस का अनुभव होता है[६]।

भट्टतौत द्वारा लिखित 'काव्यकौतुक' के अनेक वाक्य उत्तरवर्ती ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं। उनमें से कुछ वाक्य इस प्रकार है -

१. प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।
वर्णनोत्कलिकाभोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिता।।
उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावा प्रत्यक्षवत्स्फुटाः।।
नाट्यशास्त्र - अभिनभारती टीका - भाग १, पृ० २२९-९२।।

२. स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु सर्वप्राणिषु सम्भवः।।
नाट्यशास्त्र ४.५१ पर अभिनवभारती टीका।।

३. यदत्रास्ति न तत्रास्य कवेर्वर्णनमर्हति ।
यत्रासम्भवि तत्र स्यात् सम्भव्यत्र तु धर्मतः।।
नाट्यशास्त्र - अभिनवभारती टीका - भाग २, पृष्ठ २१६।।

४. महाकवीनां पदवीमुपात्तामारुरुक्षताम्।
नासंस्मृत्य पदस्पर्शसम्पत्सोपानपद्धतिः।।
नाट्यशास्त्र - अभिनवभारती टीका-भाग ३, पृष्ठ २९२।।

५. न भाषानियमः पात्रे काव्ये स्यात् सैन्धवीमिति।

६. कामावस्था न शृङ्गारः क्वचिदासां तदङ्गता।।

७. नागर्षिकविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः ।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढालोके कविश्रुतिः।।
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनिः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना।।
काव्यानुशासन, पृष्ठ ५१६ में उद्धृत।।

८ प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता: ।।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुण: कवि: ।।
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम् ।।

सोमेश्वरकृत 'काव्यप्रकाश' टीका में उद्धृत ।।

इन प्राचीन उद्धरणों से विदित होता है कि भट्टतौत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो और मान्यताओं का उत्तरवर्ती आचार्यों ने बहुत सम्मान किया था। उनके शिष्य अभिनवगुप्त अपने गुरु से बहुत प्रभावित थे। अभिनवगुप्त ने अपने गुरु के अभिमतों को अनेक स्थानों पर बहुत आदर के साथ उद्धृत किया है। उत्तरवर्ती ग्रन्थों में उद्धृत भट्टतौत के उद्धरणों को देख कर यह अनुमान किया जा सकता है कि 'काव्यकौतुक' का अधिकांश भाग पद्य में रहा होगा।

सन्दर्भ-

१. सद्वृत्ततौतवदनोदितनाट्यवेदतत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतो: ।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठ: संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति ।।
भरत नाट्यशास्त्र - अभिनवभारती टीका - प्रस्तावना, श्लोक ४ ।।

२. ध्वन्यालोकलोचन -- पृ० २२१।

३. मोक्षफलत्वेन चायं शान्तो रस: परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात् सर्वरसेभ्य: प्रधानतम: । स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णय: पूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना ।। ध्वन्यालोक ३.२६ की लोचन टीका से ।।

४. प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्य एव च वेद इत्यस्मदुपाध्याया: ।
ध्वन्यालोक लोचन -- पृ० १८४ ।।

५. रससमुदायो हि नाट्यम् । न नाट्य एव च रस:, काव्येऽपि नाट्यायमान एव रस: । काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्याया: ।
नाट्यशास्त्र ६:३६ पर अभिनवभारती टीका ।।

६. नायकस्य कवे: श्रोतु: समानोऽनुभवस्तत: ।। ध्वन्यालोक लोचन टीका, पृष्ठ ३४ ।।

सोलहवां अध्याय

भट्टनायक

१. भट्टनायक का परिचय

काश्मीर जनपद के निवासी भट्टनायक, काव्यशास्त्र के आचार्यों में बहुत प्रसिद्ध हैं। भरत के रससूत्र[1] के चार व्याख्याताओं - भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त में भट्टनायक को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मम्मट आदि लब्धप्रतिष्ठ समालोचकों ने रस के स्वरूप की व्याख्या करते हुये भट्टनायक को भी उद्धृत किया था। भट्टनायक ने ध्वन्यालोककार के ध्वनि विषयक मत का खण्डन किया था। उन्होंने कहा कि काव्य की आत्मा ध्वनि नहीं है। इसलिये इनको आनन्दवर्धन के बाद का होना चाहिये। इस आधार पर भट्टनायक को ८५० ई० और ९८० ई० के मध्यवर्ती काल का रखा जा सकता है।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की जिस प्रकार व्यक्तिगत रूप से आलोचना की है, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वे उनके काल के अधिक समीप रहे होंगे। अतः भट्टनायक को दशम शताब्दी ई० के मध्य का माना जा सकता है।

'राजतरङ्गिणी' में किन्हीं भट्टनायक का उल्लेख है[2], जो शंकरवर्मन् (८८३-९०२) के समय में हुये थे। परन्तु आधुनिक समालोचक इस भट्टनायक तथा काव्यशास्त्री भट्टनायक को एक नहीं मानते। डा० पी० वी० काणे का विचार है कि ये दोनों भट्टनायक एक नहीं है तथा काव्यशास्त्री भट्टनायक का समय ९३५-८५५ ई० रहा होगा[3]।"

२. भट्टनायक की रचना

भट्टनायक की कोई रचना उपलब्ध न होने पर भी अभिनवगुप्त आदि की कृतियों के उद्धरणों से विदित होता है कि इन्होंने 'हृदयदर्पण' या 'सहृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ में भट्टनायक ने आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त का प्रबल प्रमाणों द्वारा खण्डन किया था। महिमभट्ट का कथन है कि उन्होंने दर्पण को देखे विना ही ध्वनि के खण्डन का यश प्राप्त करने के लिये अपने ग्रन्थ की रचना की है -

सहसा यशोऽभिसर्त्तुं समुद्यताऽदृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवाद्यम्।।

दर्पण को विना देखे ही ध्वनि के खण्डन का यश प्राप्त करने के लिये मैंने

अपने ग्रन्थ की रचना की है। इस पद्य में श्लेष के द्वारा दर्पण शब्द से भट्टनायक के 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ का बोध होता है। यहां दर्पण पद की व्याख्या इस प्रकार की गई है -

"दर्पण: हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि"।

'अलङ्कारसर्वस्व' के टीकाकार जयरथ ने रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में भट्टनायक के मत को इस प्रकार उद्धृत किया है -

"भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तत्राप्यभिधाभावकत्व-लक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापार: प्राधान्येन विश्रान्ति-स्थानतयाऽङ्गीकृत:।"

भट्टनायक के इस मत की समीक्षा करते हुये जयरथ ने पुन: कहा कि वह विवेचना उनके 'हृदयदर्पण' में की गई है

३. हृदयदर्पण के उद्धरण

भट्टनायक का हृदयदर्पण ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। परन्तु अनेक लेखकों ने 'हृदयदर्पण' के अंशों को उद्धृत किया है। इनमें कुछ इस प्रकार हैं -

(१) अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती तत:॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मत:।
तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नर:॥

अभिनवभारती, काव्यानुशासन तथा जयरथ की अलङ्कारसर्वस्व की टीका में।

(२) शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदु:।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयो:॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥

ध्वन्यालोक - लोचन टीका॥

(३) ध्वनिर्नामाऽपरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मक:।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात् काव्यङ्गत्वं न रूपिता॥

ध्वन्यालोक-लोचन टीका और जयरथ की अलंकारसर्वस्व की टीका।

(४) वाग्धेनुर्दुग्ध एकं हि रसं यल्लाभतृष्णया।
तेन नाऽस्य सम: स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि य:॥

ध्वन्यालोक - लोचन टीका॥

(५) नमस्यैलोकनिर्माणकवये शंभवे यत:।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जन:॥

नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती टीका॥

(६) प्रधाने सिद्धिभागेऽस्य प्रयोगाङ्गत्वमागताः।
गेयादयस्तथैवैते त्रैधेनं यद्युपयोगिनः।।
सोपानपदपंक्त्या च सा च मोक्षस्पृगात्मना।।

नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती टीका ।।

४. भट्टनायक का काव्यशास्त्र पर प्रभाव

भट्टनायक ने जिन काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, उनका पूरी तौर पर ज्ञान, इनका 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ प्राप्त होने पर ही हो सकता है। यह ग्रन्थ १६वीं शताब्दी ई० में 'रसप्रदीप' के लेखक प्रभाकर को प्राप्त था। परन्तु इसके पश्चात् इसकी प्राप्ति के प्रमाण नहीं मिलते। प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध उद्धरणों से भट्टनायक की मान्यताओं को कुछ जान कर ही यह विदित हो सकता है कि उन्होंने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर किस सीमा तक प्रभाव डाला था। इस बात को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है -

(१) भट्टनायक ने शास्त्र, काव्य और आख्यान का भेद बताया था। शास्त्र शब्दप्रधान होते हैं, जो कि उपदेश देने वाले हैं। आख्यान (इतिहास-पुराण) अर्थप्रधान होते हैं। इनसे सूचनायें प्राप्त होती हैं। काव्य का आश्रय कवि-व्यापार है। इसमें शब्द और अर्थ दोनों प्रधान हैं।

(२) भट्टनायक ने काव्य की समीक्षा में ध्वनि के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया। वे रसवादी आचार्य हैं तथा काव्य की आत्मा रस को मानते हैं। उनके अनुसार रसचर्बणा अथवा रस का भोग ही काव्य की आत्मा है। ध्वनि के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिये ही उन्होंने 'हृदयदर्पण' की रचना की थी। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन भेद - वस्तु-ध्वनि, अलङ्कार-ध्वनि और रस-ध्वनि प्रतिपादित किये थे और इनको प्रतीयमान अर्थ माना था। भट्टनायक के अनुसार काव्य में वस्तु और अलङ्कार का महत्त्व न होकर रस का ही महत्त्व होता है। रस भी प्रतीयमान न होकर स्वसंवेद्य ही है।

भट्टनायक के ध्वनि सम्बन्धी मन्तव्य के सम्बन्ध में पी० वी० काणे का कथन है कि भट्टनायक उन आलङ्कारिकों में हैं जो कि ध्वनि के तत्त्व को वाणी के लिये अगोचर मानते हैं। इनके लिये ध्वनिकार ने कहा है -

"केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्। केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यावन्तः।"

परन्तु वस्तु-ध्वनि का खण्डन करने वाले और रस को ही एकमात्र काव्य का सार मानने वाले भट्टनायक की अभिनवगुप्त ने तीव्र आलोचना की है। वे लिखते हैं -

"वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्। ध्वन्यालोक-लोचनटीका।।

(३) भरत के रससूत्र की व्याख्या करने वाले आचार्यों में भट्टनायक का विशेष स्थान है। इनके रसनिष्पत्ति-विषयक मत को मम्मट ने इस प्रकार लिखा है --

"न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते, अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिः सतत्त्वेन भोगेन भुज्यत इति भट्टनायकः।" मम्मटकृत काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास रसनिष्पत्ति की व्याख्या।।

भाव यह है कि भट्टनायक के अनुसार काव्य में तीन व्यापार होते हैं - अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा व्यापार द्वारा काव्य में वाच्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है। भावकत्व व्यापार द्वारा काव्य के पात्रों का साधारणीकरण होता है। अर्थात् काव्य के राम-सीता आदि पात्रों के विशेषांश का परित्याग होकर वे सामान्य युवक-युवती मात्र रह जाते हैं। तदनन्तर भोजकत्व व्यापार के द्वारा सहृदय के रजोगुण तथा तमोगुण का अभिभव होकर और सत्त्व गुण का उद्रेक होकर वह उन पात्रों से तादात्म्य का अनुभव करके आनन्दरूप रस का उपभोग करता है। भट्टनायक के इन तीन व्यापारों का वर्णन अभिनवगुप्त ने इस प्रकार किया है -

"प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्ये न रसः। किन्त्वन्यवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयं भावकत्वं रसादिविषयं भोक्तृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूतव्यापाराः।" ध्वन्यालोक लोचनटीका।।

अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने भट्टनायक के साधारणीकरण व्यापार को स्वीकार करके भी इनकी भावकत्व तथा भोजकत्व प्रक्रियाओं को स्वीकार नहीं किया और रस को काव्य में प्रतीयमान मानने पर बल दिया।

भट्टनायक की काव्यशास्त्र सम्बन्धी मान्यताओं का संकेत मात्र ही यहां मिल सका है। इनका पूरा परिचय तो 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ के प्राप्त होने पर ही मिल सकेगा।

सन्दर्भ-

१. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।।
२. द्विजस्तनयो नायकाख्यो गौरीशसुरसद्मनोः।
चातुर्विधकृतस्तेन वाग्देवीकुलमन्दिरम्।। राजतरङ्गिणी ५ ५९।।
३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे, पृ०२८१।।

सतरहवां अध्याय

राजशेखर

१. राजशेखर का महत्त्व

राजशेखर की प्रसिद्धि पहले एक नाटककार के रूप में ही थी। परन्तु जब से उनके काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' का अन्वेषण हुआ है, उनकी गणना काव्यशास्त्र के आचार्यों में की जाने लगी है। 'काव्यमीमांसा' में यद्यपि काव्य के सभी अंगों की विवेचना नहीं है, तथापि जो सामग्री है, उसके महत्त्व के कारण उनको काव्य शास्त्रकार माना जा सकता है। अत: राजशेखर को विद्वान् महनीय काव्यशास्त्रियों के मध्य आदर प्राप्त हुआ।

२. राजशेखर का जीवनवृत्त और समय

जिस प्रकार भामह आदि प्राचीन आचार्यों के जीवन के सम्बन्ध में हमें कुछ विदित नहीं है, उसी प्रकार राजशेखर के जीवन के विषय में भी हम कुछ न जानते हों, ऐसा नहीं है। राजशेखर की अपनी रचनाओं से तथा अन्य विवरणों से उनके जीवन-वृत्तान्त और समय का बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है।

राजशेखर का समय ८८०-९२० ई० के मध्य का समझा जाता है। राजशेखर के ग्रन्थों से यह विदित होता है कि वे कन्नौज के प्रतिहारवंशी नरेश महेन्द्रपाल और उसके पुत्र महीपाल के गुरु थे। इन राजाओं की राजसभाओं में उनको सम्मान प्राप्त था। 'कर्पूरमञ्जरी', 'बिद्धसालभञ्जिका', 'बालरामायण'[१] और 'बालभारत' नामक रूपकों के वाक्यों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। इन नाटकों का अभिनय राजा महेन्द्रपाल की राजसभा के समक्ष हुआ था। सियोदोनी शिलालेख से विदित होता है कि महेन्द्रपाल का राज्यकाल ९०३ ई० तक तथा महीपाल का राज्यकाल ९१७ ई० तक रहा था। यही समय राजशेखर का मानना चाहिये। अन्य प्रमाणों से भी उनका यही समय प्रमाणित होता है।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में वाक्पतिराज, उद्भट, आनन्दवर्धन आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख किया था। वाक्पतिराज और उद्भट काश्मीर के नरेश जयापीड के समकालीन थे। जयापीड का समय ७७९-८१३ ई० रहा था। आनन्दवर्धन काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। इस राजा का समय ८५७-८८४ ई० रहा था। अत: आनन्दवर्धन इस समय में हुये तथा राजशेखर इनके पश्चात् हुये। इस आधार

पर भी राजशेखर को ८८० ई० के पश्चात् का होना चाहिये।

राजशेखर का सबसे पहला उल्लेख सोमदेव ने 'यशस्तिलकचम्पू' में किया था, जिसकी रचना ९६० ई० में हुई थी। तदनन्तर धनपाल (१००० ई०) ने 'तिलकमञ्जरी' में यायावर (राजशेखर) के पदों की प्रशंसा की।[२] इस आधार पर राजशेखर को उससे पहले का, दसवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध का माना जा सकता है।

पूर्व और पर का यह समय निर्धारित करने पर राजशेखर का समय नवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध और दसवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्ध अर्थात् ८८०-९२० ई० का निर्धारित किया जा सकता है।

राजशेखर के जीवन का वृत्तान्त भी बहुत कुछ उपलब्ध है। राजशेखर मूल रूप से महाराष्ट्र के निवासी थे। ये विदर्भ के रहने वाले थे। परन्तु इन्होंने साहित्यिक प्रतिष्ठा कन्नौज में पाई थी। राजशेखर के परिवार ने तो महाराष्ट्र को पहले ही छोड़ दिया था, और वे स्वयं कान्यकुब्ज (कन्नौज) में आकर रहने लगे थे। यहां इनको राजा निर्भय (महेन्द्रपाल) के गुरु का पद प्राप्त हुआ।

राजशेखर ने अपनी कृतियों में अपने पूर्वजों का उल्लेख किया है। इनमें अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। राजशेखर के पिता का नाम दर्दुरक तथा माता का नाम शीलवती था। अकालजलद इनके प्रपितामह थे। राजशेखर ने अपने को यायावरीय बताया है और कहा है कि उन्होंने मुनियों के मतों का विस्तार से संग्रह करके कवियों के हित के लिये 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ की रचना की है।[३]

राजशेखर ने चहुआण (चौहान) वंश की एक विदुषी कन्या से विवाह किया था, जिसका नाम अवन्तिसुन्दरी था। अवन्तिसुन्दरी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषायें जानती थी और उसने काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में भी कुछ मत स्थिर किये थे। इनका उल्लेख राजशेखर ने स्थान-स्थान पर 'काव्यमीमांसा' में किया है। यह कवयित्री भी थी। यद्यपि अवन्तिसुन्दरी का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, तथापि उसके बनाये कुछ श्लोक मिलते हैं। हेमचन्द्र ने अपनी रचना 'देशीनाममाला' में अवन्तिसुन्दरी के तीन पद्यों को उद्धृत किया है। 'काव्यमीमांसा' में उसका एक संस्कृत पद्य उद्धृत है। अवन्तिसुन्दरी की ही प्रेरणा से राजशेखर ने प्राकृत भाषा में 'कर्पूरमञ्जरी' नाटक (सट्टक) की रचना की थी और उसका अभिनय कराया था।[४]

राजशेखर स्वभाव से बहुत स्वाभिमानी थे और उन्होंने अपने आपको वाल्मीकि, मेण्ठ एवं भर्तृहरि का अवतार बताया था। 'बालरामायण' तथा 'बालभारत' नाटकों में एक ही जैसा एक पद्य है, जिससे उनके इस मन्तव्य का बोध होता है।[५]

राजशेखर का वर्ण भी विवादास्पद है। प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि

राजशेखर किस वर्ण के थे। वे ब्राह्मण थे या क्षत्रिय। इस प्रश्न के उठने का मुख्य कारण यह है कि राजशेखर की पत्नी क्षत्रिय परिवार की थी। परन्तु पत्नी का क्षत्रिय होना ही सिद्ध नहीं कर देता कि राजशेखर भी क्षत्रिय थे। प्राचीन भारत की धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओं के अनुसार इस देश में अनुलोम विवाह मान्य थे। मेधातिथि ने, जो कि राजशेखर का ही समकालीन था, ब्राह्मण को अनुलोम विवाह करने का अधिकार दिया था। उसने ब्राह्मण को यह भी अधिकार दिया था कि वह क्षत्रिय बालक को गोद ले सकता है। अतः राजशेखर ने ब्राह्मण होते हुये भी यदि क्षत्रिय कन्या से विवाह किया था, तो यह आश्चर्य का विषय नहीं है। राजशेखर के ब्राह्मण होने के लिये निम्न और युक्तियां दी जा सकती है -

(i) राजशेखर राजा महेन्द्रपाल के गुरु थे। ९वीं-१०वीं शताब्दी ई० के सामाजिक वातावरण में यह बात असम्भव सी प्रतीत होती है कि एक क्षत्रिय राजा किसी क्षत्रिय विद्वान् को अपना गुरु स्वीकार कर ले। इस युग में ब्राह्मण के कर्तव्य समझे जाते थे - यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह, अध्ययन और अध्यापन। अन्य वर्णों के तीन ही कर्तव्य थे - यजन, दान और अध्ययन। अतः राजशेखर ब्राह्मण ही रहे होंगे।

(ii) राजशेखर ने अपने आपको यायावरीय कहा है। स्मृतियों के अनुसार ब्राह्मण दो प्रकार के हैं - शालीन और यायावर। यायावर वे ब्राह्मण हैं, जो नियत रूप से एक स्थान पर नहीं रहते । वे साधारण जीवन व्यतीत करते हैं, किसी से उपहार नहीं लेते और धन का सञ्चय नहीं करते।[६] राजशेखर के यायावरवंशी होने से उनको ब्राह्मण ही समझना चाहिये।

३. राजशेखर की रचनायें

राजशेखर ने अनेक काव्यों तथा अन्य ग्रन्थों की रचना की थी। काव्यशास्त्रकार होते हुये भी इन्होंने अनेक नाटकों की रचना की।

राजशेखर का काव्यशास्त्र विषय पर ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' है। इसके अतिरिक्त इनके चार रूपक 'बिद्धसालभञ्जिका', 'कर्पूरमञ्जरी,' 'बालरामायण' और 'बालभारत' हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इन्होंने 'हरविलास' नामक महाकाव्य की रचना भी की थी। इस रचना का संकेत हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में दिया है। परन्तु यह महाकाव्य वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है।

४. काव्यमीमांसा

'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ की पाण्डुलिपि अब से ५० वर्ष पहले समीक्षकों को प्राप्त हुई थी। इसका पहला प्रकाशन गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज, बड़ौदा से हुआ। इसके अनन्तर अन्य प्रकाशन संस्थाओं ने भी इसको प्रकाशित किया।

राजशेखर के ही अनुसार 'काव्यमीमांसा' में मूल रूप से १८ अधिकरण थे, परन्तु वर्तमान समय में केवल एक ही अधिकरण प्राप्त होता है। इस अधिकरण को लेखक ने 'कविरहस्य' नाम दिया है।[८] इस अधिकरण का 'कविरहस्य' नाम यथार्थ ही है, क्योंकि इसमें कवियों के लिये उपयोगी समस्त सिद्धान्तों का एक स्थान पर निरूपण किया गया है। इस अधिकरण में १८ अध्याय है। अध्याय क्रम के अनुसार इसकी विषय-वस्तु निम्न प्रकार से है

(i) प्रथम अध्याय -

पहले अध्याय का नाम 'शास्त्रसंग्रह' है। इसके अनुसार शिव ने ब्रह्मा को काव्य का उपदेश दिया था। ब्रह्मा ने यह उपदेश अपने शिष्यों को दिया। ब्रह्मा का एक शिष्य काव्यपुरुष था। उसने १८ शिष्यों को १८ विषय पढाये। प्रत्येक ने अपने-अपने विषय का ग्रन्थ लिखा। उनका संग्रह संक्षेप से राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के १८ अधिकरणों में किया।

(ii) द्वितीय अध्याय -

इस अध्याय का नाम 'शास्त्रनिर्देश' है। इसके अनुसार वाङ्मय दो प्रकार का होता है - काव्य और शास्त्र। शास्त्र दो प्रकार के होते हैं - अपौरुषेय और पौरुषेय। चार वेद, चार उपवेद, और छः वेदांग अपौरुषेय हैं। अलङ्कार सातवां अंग है। तदनन्तर इसमें शास्त्रों की संख्या, लक्षण तथा विद्याओं की संख्या दी गई है। विद्याओं की संख्या १४ या १८ है। साहित्य पांचवीं विद्या और काव्य १५वीं विद्या है। इस अध्याय में सूत्र, भाष्य, पद्धति, टीका, समीक्षा, पञ्चिका, कारिका और शब्दों के लक्षण दिये गये हैं।

(iii) तृतीय अध्याय -

इस अध्याय में सरस्वती से काव्य पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन है। इस अध्याय का नाम 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' है। ब्रह्मा के वर से सरस्वती ने पुत्र को उत्पन्न किया। इसका नाम काव्यपुरुष था। काव्य के अंग ही उसके अङ्ग थे।[९] तदनन्तर विदर्भ देश के वत्सगुल्म नगर में उस पुरुष का साहित्यविद्यावधू से विवाह हुआ ।

इसके बाद इस अध्याय में काव्यपुरुष के विभिन्न देशों में भ्रमण करने और उससे विभिन्न प्रवृत्तियों, वृत्तियों तथा रीतियों की उत्त्पत्ति का वर्णन है। यथा दक्षिण में जाने पर दाक्षिणात्या प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति ने जन्म लिया।

(iv) चतुर्थ अध्याय -

इस अध्याय का नाम 'शिष्यप्रतिभ' है। इसमें शिष्यों के भेद तथा गुण बताये गये हैं। काव्य की रचना शक्ति से होती है। इसी से प्रतिभा और व्युत्पत्ति का उद्भव होता है। सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक ये तीन प्रकार के कवि होते हैं। भावकत्व और

कवित्व पृथक् होते हैं। तदनन्तर भावकत्व के भेद और लक्षण कहे गये हैं।

(v) पञ्चम अध्याय –

इस अध्याय का नाम 'व्युत्पत्तिपरिपाक' है। इसमें सबसे पहले व्युत्पत्ति और प्रतिभा की व्याख्या है। कवि तीन प्रकार के होते हैं – शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभय कवि। इन कवियों के भेद और लक्षण कहे गये हैं। कवि की १० अवस्थायें होती हैं। तदनन्तर पाक शब्द की व्याख्या करके नौ प्रकार के काव्यों को बताया गया है।

(vi) षष्ठ अध्याय –

इस अध्याय का नाम 'पदवाक्यविवेक' है। इसमें पद और उसकी पांच वृत्तियों (सुप्, समास, तद्धित, कृत् तथा तिङ्) का निर्देश है। वाक्य और उसकी तीन प्रकार की अभिधा की व्याख्या है। दस प्रकार के वाक्य बताये गये हैं। काव्य का लक्षण किया गया है –

"गुणवदलङ्कृतं च वाक्यमेव काव्यम्"।

(vii) सप्तम अध्याय –

इस अध्याय का नाम "वाक्यविधेयः, काकुप्रकाराः, पादप्रतिष्ठा" है। इसमें ब्राह्म, शैव और वैष्णव ये तीन भेद वाक्य के कहे गये हैं तथा पांच प्रकार के वचनों की व्याख्या है। विभिन्न योनियों की वाक्यसरणी बताई गई है। वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडी रीतियों का वर्णन है। दो प्रकार के काकु तथा उन के उपभेदों की व्याख्या है। भारत के विभिन्न प्रान्तों के कवियों की विविध उच्चारण विधियों और भाषा आदि की चर्चा है।[१]

(viii) अष्टम अध्याय –

आठवें अध्याय का नाम "काव्यार्थयोनयः" है। इसमें बताया है कि काव्य के विषय कहां से लिये जावें। इनके १२ आधार पहले प्रसिद्ध थे – श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या, समयविद्या, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, लोक, विचार और प्रकीर्णक। इन १२ आधारों के अतिरिक्त राजशेखर ने चार आधार और सम्मिलित किये थे – उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग, और संयोगविकार। राजशेखर ने इनकी व्याख्या करके उदाहरण दिये हैं।

(ix) नवम अध्याय –

इस अध्याय का नाम 'अर्थानुशासन(अर्थव्याप्ति)' है। वर्ण्य विषय (अर्थ) सात प्रकार के होते हैं – दिव्य, दिव्यमानुष, मानुष, पातालीय, मर्त्यपातालीय, दिव्यपातालीय और दिव्यमर्त्यपातालीय। इनकी व्याख्या तथा उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। वर्ण्य विषय रस से युक्त होना चाहिये। यह दो विधाओं में होता है – प्रबन्ध और मुक्तक। इनमें प्रत्येक के पांच भेद होते हैं – शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, संविधानकभूः और आख्यानवान्।

काव्यों में संस्कृत के समान ही अन्य भाषाओं में भी अवधान की आवश्यकता है।

(x) दशम अध्याय -

दशम अध्याय का नाम 'कविचर्या राजचर्या च' है। इसमें कवि द्वारा काव्य की रचना का उपदेश है। नामधातुपारायण, अभिधानकोश, छन्दोविचिति और अलङ्कारतन्त्र विद्यायें हैं तथा ६४ कलायें उपविद्यायें है। इस अध्याय में काव्य के निर्माण के कारणों का, शुद्धियों का, लेखनसामग्री आदि का वर्णन है। कवि की दिनचर्या दी गई है। स्त्रियां भी काव्य की रचना कर सकती हैं। राजाओं द्वारा सभागृह का निर्माण करने तथा कवियों की परीक्षा करने का उदाहरण सहित वर्णन है।

(xi) एकादश अध्याय -

इस अध्याय का नाम 'शब्दहरणोपाया:' है। इसमें बताया गया है कि कवि अपने से पूर्ववर्ती कवियों के शब्दों को किस सीमा तक ग्रहण कर सकता है। इसके अनुसार कवि चार प्रकार के होते हैं - उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक और संवर्गक। प्राचीन कवियों की शब्दार्थोक्तियों में जो कुछ अनिर्वचनीयता और नूतनता है, उसको देखने और उल्लेख करने वाला महाकवि होता है।

(xii) द्वादश अध्याय -

इस अध्याय का नाम 'अर्थहरणोपाया:' है। इसमें बताया गया है कि कवि अपने से पूर्ववर्ती कवियों के अर्थों और विचारों को किस प्रकार ग्रहण कर सकता है। इसके तीन प्रकार है - अन्ययोनि, निह्नुतयोनि और अयोनि। इनके भेदों की सोदाहरण व्याख्या है।

(xiii) त्रयोदश अध्याय -

इस अध्याय का नाम 'अर्थग्रहणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदा:' है। इसमें शब्दार्थहरण के तीन उपायों - आलेख्यप्रख्य, तुल्यदेहितुल्य और परपुरप्रवेशसदृश का तथा इनके ८-८ उपभेदों का उदाहरण सहित वर्णन किया गया है।

(xiv) चतुर्दश अध्याय -

इस अध्याय का नाम 'कविसमय' है। इसमें वर्णनीय विषयों में कविप्रसिद्धियों के वर्णन के नियम बताये गये है। कविसमय तीन प्रकार के होते हैं - स्वर्ग्य, भौम और पातालीय । इनमें भौम प्रधान हैं। ये चार प्रकार के हैं - जाति, द्रव्य, गुण, और क्रिया। ये भी तीन प्रकार के हैं - असतोनिबन्ध:, सतोऽप्यनिबन्ध: और नियमत:। इनकी सोदाहरण व्याख्या की गई है।

(xv) पञ्चदश अध्याय -

इस अध्याय का नाम 'गुणसमयस्थापना' है। गुण-समय के भी तीन भेद हैं - असतो गुणस्य निबन्धनम्, सतोऽप्यनिबन्धनम् और नियमत:।

(xvi) षोडश अध्याय -

इस अध्याय का नाम 'स्वर्ग्यपातालीय कविसमयस्थापना' है। इसमें बताया गया है कि भौम समय के समान स्वर्ग्य और पातालीय समयों का पालन भी कवि को करना चाहिये।

(xvii)सप्तदश अध्याय -

इस अध्याय का नाम देशविभाग' है। इसमें पहले जगत् के विभागों का वर्णन् है। भूलोक के दो भाग हैं - समुद्र और द्वीप। द्वीपों में जम्बुद्वीप है। इसमें भारतवर्ष के नौ विभाग हैं - इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण और कुमारीद्वीप। दो समुद्रों तथा विन्ध्य और हिमालय पर्वतों के मध्य आर्यावर्त है।

आर्यावर्त के पांच विभाग हैं - पूर्वदिश, दक्षिणापथ, पश्चाद्देश, उत्तरापथ और मध्यदेश। इन विभागों के अनेक देशों, पर्वतों, नदियों, आदि का निर्देश किया गया है। तदनन्तर दिशाओं पर विचार किया गया है। अन्त में विभिन्न देशों के निवासियों के शरीर के वर्ण का उल्लेख है।

(xviii) अष्टादश अध्याय -

इस अध्याय का नाम 'कालविभाग' है। इस अध्याय में कला, मुहूर्त, रात्रि, दिन, मास, ऋतु, पक्ष, संवत्सर आदि समय के विभाजन को बताया गया है। छ: ऋतुओं का और उनकी सन्धि, शैशव, प्रौढि, अनुवृत्ति आदि अवस्थांओं का उदाहरण सहित वर्णन है। विभिन्न ऋतुओं, पवनों, पुष्पों, फूलों, पक्षियों आदि के अनुसार काव्य-व्यापार का निरूपण है।

५. राजशेखर की विशेषतायें

'काव्यमीमांसा' के इन विषयों को देखने से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ बहुविध जानकारी देने वाला एक कोष है। राजशेखर के ही कथन से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ बहुत विशाल होगा। यह मूल रूप में १८ अधिकरणों में लिखा गया था। परन्तु सम्प्रति इसका एक ही अधिकरण प्राप्त हुआ है। केशवमिश्र (१६ वीं शताब्दी ई०) के 'अलङ्कारशेखर' ग्रन्थ की ११ वीं मरीचि में राजशेखर के दो पद्य उद्धृत हैं। इनमें उपमा को अलङ्कारों का सर्वस्व माना गया है। ये पद्य वर्तमान समय में उपलब्ध 'काव्यमीमांसा' में नहीं हैं। इससे विदित होता है कि 'काव्यमीमांसा' के किसी अन्य अधिकरण से, जिसमें अर्थालंकारों का वर्णन होगा, ये श्लोक उद्धृत किये गये होंगे।

'काव्यमीमांसा' में यद्यपि काव्य के आवश्यक अंगों - अलङ्कार, गुण, दोष रस आदि का विवेचन नहीं मिलता, तथापि कवि के लिये आवश्यक गुणों और सिद्धान्तों का विशद विवेचन किया गया है।

'काव्यमीमांसा' का मुख्य सिद्धान्त-भाग गद्य में लिखा गया है। इसकी भाषा सशक्त है, यद्यपि कहीं-कहीं बोझिल अवश्य हो गई है। उदाहरणों को, संग्रहों को और अन्तिम परिणाम को श्लोकों में निबद्ध किया गया है।

'काव्यमीमांसा' हमको प्राचीन काल के अनेक कवियों तथा रचनाओं का परिचय देती है, जिनका कि संकेत अन्यत्र नहीं मिलता। इसमें अवन्तिसुन्दरी, आनन्द, अपराजित, उक्तिगर्भ, उद्भट, कालिदास, द्रौहिणी, पाल्यकीर्ति, भरत, मंगल, रुद्रट, वाक्पतिराज, वामन, श्यामदेव, और सुरानन्द नामक लेखकों के उल्लेख मिलते हैं। अनेक प्राचीन काव्यों को भी उद्धृत किया गया है। सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुये राजशेखर ने प्राचीन आचार्यों के पक्षों को प्रस्तुत करके उन पर अपने मत को व्यक्त किया है। परन्तु उसने आचार्यों के नाम नहीं दिये।

राजशेखर को भूगोल का विस्तृत ज्ञान था। उन्होंने पृथिवी के विभाजन और भारतवर्ष के भूगोल का अच्छा परिचय दिया है। वे भारत के विभिन्न प्रदेशों की भाषा, उच्चारणशैली, वेष-भूषा, वर्ण, सामाजिक परम्पराओं आदि से भी भली-भांति परिचित थे।

'काव्यमीमांसा' से अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का भी बोध होता है। मेधाविरुद्र और कुमारदास जन्मान्ध कवि थे। मगध देश के शिशुनाग, कुविन्द देश के शूरसेन, कुन्तल देश के सातवाहन और उज्जयिनी के साहसाङ्क ने राजाओं के लिये वर्ण तथा भाषा सम्बन्धी नियम बनाये थे। वासुदेव, साहसाङ्क, सातवाहन और शूद्रक के संरक्षण में विद्या की उन्नति हुई थी। उज्जयिनी में कालिदास, मेण्ठ, अमरसिंह, रूपसूर, भारवि, हरिश्चन्द्र, और चन्द्रगुप्त कवियों की परीक्षा हुई थी। पाटलिपुत्र में उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि, पतञ्जलि, इन शास्त्रकारों की परीक्षा हुई थी।[१०]

सन्दर्भ-

१. आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारांनिधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत् कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः।। बालरामयण १.१८।।

२ समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तय :।। तिलकमञ्जरी प्रस्तावना, श्लोक ३३।।

३. यायावरीयः संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्।
व्याकरोत् काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः।। कर्पूरमञ्जरी १.११ (संस्कृत रूपान्तर)।।

४. चाहुमानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवमिच्छति।। कर्पूरमञ्जरी १.११ (संस्कृत रूपान्तर)।।

५. बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।।

बालरामायण १.१३, बालभारत १.१२।।

६. याज्ञवल्क्य स्मृति - मिताक्षरा टीका १.१२८ ।।

७. समाप्तमिदं प्रथमाधिकरणं कविरहस्यं नाम काव्यमीमांसायाम्। ग्रन्थ के अन्त में उल्लेख।

८. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः। अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति।

९. नातिस्पष्टो न चाश्लिष्टो न रक्षो नातिकोमलः।
न मन्द्रो नातितारश्च पाठो गौडेषु वाडवः।।
रसः कोऽप्यस्तु काप्यस्तु रीतिः कोऽप्यस्तु वा गुणः।
सगर्वं सर्वकर्णाटाष्टङ्कारोत्तरपाठिनः ।।
गद्ये पद्येऽथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि।
गेयगर्भे स्थितः पाठे सर्वोऽपि द्रविडः कविः ।।
पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ।।
सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रंशवदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि ।।
शारदायाः प्रसादेन काश्मीरः सुकविर्जनः।
कर्णे गुडूचीगण्डूषस्तेषां पाठक्रमः विभुः।।
ततः पुरस्तात्कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे ।
ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिकपाठिनः ।। काव्यमीमांसा अध्याय - ७।।

१०. श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा -
इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्।।
श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा -
अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।।

काव्यमीमांसा अध्याय - १०।।

अठारहवां अध्याय

अभिनवगुप्त

१.अभिनवगुप्त का महत्त्व

काव्यशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त की प्रसिद्धि भरत के 'नाट्यशास्त्र' और आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' के टीकाकारों के रूप में है। इनकी टीकायें इतनी विद्वत्तापूर्ण और प्रौढ हैं कि इनको अनेक मौलिक ग्रन्थों से भी अधिक आदर प्राप्त हुआ है। अभिनवगुप्त का दर्शन के क्षेत्र में भी प्रवेश था और मुख्य रूप से वे दार्शनिक ही थे। इस कारण इनकी काव्यशास्त्र विषयक रचनाओं में भी दर्शन के सिद्धान्तों का काफी मात्रा में समन्वय हुआ है। अभिनवगुप्त ने दर्शन के विषय पर अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। ये शैव थे तथा इन्होंने शिवाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया था। तन्त्रविद्या के ये बहुत बडे पण्डित थे।

अभिनवगुप्त का विश्वास था - तन्त्र और योग के अभ्यास से इन्होंने परमशिव तत्त्व को प्राप्त कर लिया था और शिव की प्रेरणा से आध्यात्मिक ज्ञान की खोज करने वालों को तथा मुमुक्षुओं को मुक्ति का मार्ग दिखा सकते थे। इनके अनुसार उच्च आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त करने वाले व्यक्ति में पांच गुण आ जाते हैं - सुनिश्चितता, रुद्रभक्ति, मन्त्रसिद्धि, सर्वतत्त्ववित् और कृत्यसम्पत्।

२. अभिनवगुप्त का जीवनवृत्त और समय

अभिनवगुप्त के जीवन के वृत्तान्त के सम्बन्ध में बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' और 'परात्रिंशिकाविवरण' आदि ग्रन्थों में इन्होंने अपने पूर्वजों का कुछ परिचय दिया है। अभिनवगुप्त यद्यपि काश्मीर के निवासी थे, तथापि इनके पूर्वजों का मूल स्थान काश्मीर नहीं था। वे अन्तर्वेदी (गंगा और यमुना का मध्यवर्ती प्रदेश) के रहने वाले थे। अभिनवगुप्त के समय से लगभग २०० वर्ष पूर्व आठवीं शताब्दी ई० में वे काश्मीर गये थे। 'राजतरङ्गिणी' में कह्लण लिखते हैं - ८वीं शताब्दी ई० में कन्नौज का राजा यशोवर्मा (७३० -७४० ई०) था। इस समय काश्मीर का राजा मुक्तापीड या ललितापीड (७२५ -७६१ ई०) था। इन दोनों राजाओं के मध्य युद्ध हुआ था। इसमें कन्नौज का राजा पराजित हुआ। उस समय अन्तर्वेदी में अत्रिगुप्त नाम के

विद्वान् रहते थे। इनकी विद्वत्ता से ललितापीड बहुत प्रभावित हुआ तथा उनको वह काश्मीर ले गया। इसी वंश में अभिनवगुप्त हुये थे।

अभिनवगुप्त के अन्य पूर्वजों का उल्लेख तो नहीं मिलता, परन्तु पितामह का नाम मिलता है। अभिनवगुप्त के पितामह वराहगुप्त थे। वराहगुप्त के पुत्र नृसिंहगुप्त हुये। नृसिंहगुप्त के पुत्र अभिनवगुप्त हुये। नृसिंहगुप्त शिव के परम भक्त थे और इनका नाम चुरवल भी प्रसिद्ध था। 'तन्त्रालोक' के टीकाकार जयरथ ने लिखा है -

"अभिनवगुप्त के पिता का नाम नृसिंहगुप्त और माता का नाम विमला या विमलकला था। अभिनवगुप्त के एक छोटे भाई मनोरथगुप्त थे, जिनके लिये उन्होंने 'परात्रिंशिका' पर भाष्य लिखा था। इनके चचेरे भाई - क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, अभिनवगुप्त, चक्रकगुप्त और पद्मगुप्त थे।"

अभिनवगुप्त ने अपने पिता के नाना यशोराग का भी उल्लेख किया है, जो अपने समय के प्रसिद्ध यशस्वी विद्वान् पण्डित थे।

अभिनवगुप्त ने अपने परिवार का उल्लेख नहीं किया। इससे विदित होता है कि वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे । वे परम शैव थे और उन्होंने उत्पलगुप्त द्वारा प्रतिपादित प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विकास किया था। काशी की एक परम्परा के अनुसार अभिनवगुप्त अपने १२०० शिष्यों के साथ भैरवी स्तोत्र का पाठ करते हुये एक गुफा में प्रविष्ट हो गये थे तथा वे वहीं अन्तर्धान हो गये। डा० ग्रियर्सन के अनुसार यह गुफा श्रीनगर से १३ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर है और बीरू नामक स्थान में (प्राचीन नाम बहुरूप) स्थित है।

अभिनवगुप्त के समय को जानने के सम्बन्ध में अधिक कठिनाई नहीं है। उन्होंने अपनी कुछ रचनाओं में उनके लेखन का समय दिया है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिणी' में उसकी रचना का समय ४११५ कलिवर्ष तथा ८० लौकिक वर्ष (१००४ ई०) दिया गया है। यह रचना मार्गशीर्ष के अन्त में पूरी हुई थी।[१] 'भैरवस्तव' में इन्होंने उसकी रचना का समय ६८ लौकिक वर्ष (९९२-९९३ ई०) लिखा है।[२]

अभिनवगुप्त ने राजा यशस्कर के मन्त्री के पुत्र कर्ण के लिये 'मालिनीविजय-वार्त्तिक' ग्रन्थ की रचना की थी। यशस्कर की मृत्यु ९४८ ई० में हुई थी। तन्त्र सिद्धान्तों को समझने के लिये कर्ण को युवा होना चाहिये। यदि कर्ण का जन्म ९५० ई० में हुआ हो तो 'परात्रिंशिकाविवरण' की रचना ९८० ई० के लगभग हुई होगी। क्षेमेन्द्र ने 'बृहत्कथामञ्जरी' और 'भारतमञ्जरी' में लिखा है -

"साहित्य का अध्ययन उन्होंने अभिनवगुप्त से किया था।" क्षेमेन्द्र ने 'समयमातृका' की रचना १०५० ई० में तथा 'दशावतारचरित' की रचना १०६६ ई० में की थी। अत:

इनकी साहित्य रचना का समय १०३० से १०७० ई० समझा जा सकता है। अभिनवगुप्त इनसे निकट पूर्व में हुये थे। अत: इनकी साहित्य-रचना का समय ९८० से १०१० ई० तक मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

३. अभिनवगुप्त के गुरु

अभिनवगुप्त अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे। अलङ्कार, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, शैव, तन्त्र, बौद्ध, वैष्णव आदि शास्त्रों के सिद्धान्तों का अध्ययन उन्होंने अनेक गुरुओं से किया था। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' में उन्होंने लिखा है कि अनेक श्रेष्ठ गुरुओं से उन्होंने विद्या प्राप्त की थी।[३] इनके सभी गुरुओं के नाम तो विदित नहीं है और नाहीं उनका ज्ञान प्राप्त हो सका है, तथापि उनमें कुछ विद्वान् प्रसिद्ध हैं।

अभिनवगुप्त के साहित्यशास्त्र के गुरु भट्टेन्दुराज थे, जिनको इन्दुराज भी कहा गया है। 'ध्वन्यालोक' की 'लोचनटीका' में उन्होंने भट्टेन्दुराज का गुरु के रूप में स्मरण किया है। साहित्यशास्त्र के इनके गुरु सिद्धिचेल भी रहे होंगे। 'ध्वन्यालोक' की 'लोचनटीका' के चौथे उद्योत में अभिनवगुप्त ने इन दोनों गुरुओं का उल्लेख किया है।[४] अभिनवगुप्त की 'भगवद्गीता' की टीका से विदित होता है -

"भट्टेन्दुराज का गोत्र कात्यायन था, पितामह का नाम सौचुक था और इनके पिता का नाम भूतिराज था।"

अभिनवगुप्त को नाट्यशास्त्र की शिक्षा भट्टतौत ने दी थी। 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती' टीका में इन्होंने अपने गुरु को स्मरण किया है।[५] भट्टतौत ने 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस पर अभिनवगुप्त ने 'काव्यकौतुकविवरण' नामक टीका लिखी थी। परन्तु इस समय न तो यह ग्रन्थ उपलब्ध है और नाहीं यह टीका मिली है। 'ध्वन्यालोक' की 'लोचनटीका' में भी अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ का और इसकी टीका का उल्लेख किया है।[६]

तन्त्रशास्त्र तथा शिवाद्वैत दर्शन के क्षेत्र में भी अभिनवगुप्त के योग्य गुरु थे। तन्त्रों के अध्ययन में इनके गुरुओं की परम्परा इस प्रकार थी - सुमतिनाथ, सोमदेव, शम्भूनाथ और अभिनवगुप्त।

प्रत्यभिज्ञादर्शन (शिवाद्वैत दर्शन) के क्षेत्र में अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख अभिनवगुप्त ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' पुस्तक में किया है। इसका संस्थापक त्र्यम्बक था। उसके परिवार में सोमानन्द का जन्म हुआ था। सोमानन्द का शिष्य उत्पलगुप्त हुआ था। यह उदयाकर का पुत्र था। मूल रूप में प्रत्यभिज्ञा दर्शन की रचना उत्पलगुप्त ने की थी। उत्पलगुप्त के शिष्य लक्ष्मणगुप्त हुये और लक्ष्मणगुप्त के शिष्य अभिनवगुप्त थे। 'मालिनीविजयवार्तिक' में अभिनवगुप्त ने अपने गुरु लक्ष्मणगुप्त की प्रशंसा की है।[७]

४. अभिनवगुप्त की रचनायें

अभिनवगुप्त ने विविध विधाओं में साहित्य की रचना की थी। वर्णन की सरलता के लिये इनको चार भागों में बांटा जा सकता है -

(१) काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ -

काव्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त ने स्वतन्त्र रूप से किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की, अपितु काव्यशास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की टीकायें लिखी थीं। इस सम्बन्ध में इनकी निम्न रचनायें है -

(क) ध्वन्यालोकलोचन -

आनन्दवर्धन द्वारा लिखित 'ध्वन्यालोक' पर अभिनवगुप्त ने 'लोचनटीका' लिखी थी। इसको 'सहृदयालोकलोचन', 'काव्यालोकलोचन' और 'ध्वन्यालोकलोचन' नाम भी दिये गये हैं। इस टीका को लिखने के कारण अभिनवगुप्त को साहित्यकारों के मध्य में लोचनकार कहा गया है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इस टीका का नाम बहुत प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्त ने इस टीका में जिन सिद्धान्तों का समर्थन किया था, उनका अनुमोदन उत्तरवर्ती प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने किया। इस टीका में ध्वनि और रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है और ध्वनिविरोधियों के मतों का दृढता से खण्डन किया गया है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर अपने से पहले रचित 'चन्द्रिका टीका' के मतों को भी उद्धृत किया है।[८] अनेक स्थानों पर इन्होंने इनका खण्डन भी किया है। अभिनवगुप्त की 'ध्वन्यालोकलोचन' टीका यद्यपि 'ध्वन्यालोक' के गूढ अभिप्राय को समझाने में समर्थ है, तथापि कहीं-कहीं बहुत दुरूह तथा गूढ हो गई है। 'ध्वन्यालोकलोचन' पर भी एक टीका केरल के एक विद्वान् उदयोत्तुंग ने लिखी थी, जो 'कौमुदीटीका' के नाम से प्रसिद्ध है। इस समय यह टीका केवल पहले उद्योत पर ही उपलब्ध है।

(ख) अभिनवभारती -

यह टीका भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर लिखी गई थी। इस टीका को 'नाट्यवेदविवृति' नाम भी दिया गया था। 'नाट्यशास्त्र' पर यद्यपि प्राचीन काल में अनेक विद्वानों द्वारा अनेक टीकायें लिखी गई थीं, परन्तु उनमें से वर्तमान समय में केवल एक यही टीका 'अभिनवभारती' उपलब्ध है। 'नाट्यशास्त्र' के विषयों का यह सम्यक् प्रकार से उन्मीलन करती है तथा उसको समझने के लिये बहुत उपयोगी है। इस टीका में अभिनवगुप्त ने प्राचीन टीकाकारों और नाट्याचार्यों के अभिमतों की भी परीक्षा की है। प्राचीन भारत की नाट्यकला, संगीत, अभिनय, छन्द, अङ्गहार आदि विषयों की इसमें सूक्ष्मता से व्याख्या की गई है। 'अभिनवभारती' टीका वस्तुतः एक टीका ही नहीं है, अपितु 'नाट्यशास्त्र' पर लिखा गया एक स्वतन्त्र और मौलिक ग्रन्थ भी है। उपलब्ध न

होने के कारण बहुत समय तक इसका प्रकाशन नहीं हो सका था। परन्तु प्रसन्नता का विषय है कि विद्वज्जनों के महान् परिश्रम और लगन के कारण इसको प्राप्त किया जा सका है और यह प्रकाशित हो सकी है।

(ग) काव्यकौतुकविवरण -

'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ की रचना अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने की थी। अभिनवगुप्त ने इस पर विवरण नाम की टीका लिखी थी। दुःख का विषय है कि न तो यह ग्रन्थ उपलब्ध है और नाहीं इसकी विवरण टीका। यदि यह ग्रन्थ प्राप्त हो सकता तो उस युग के काव्यशास्त्र-विषयक सिद्धान्तों का बहुत कुछ बोध हो सकता था। इस ग्रन्थ की सत्ता के प्रमाण कहीं-कहीं 'ध्वन्यालोकलोचन' एवं 'अभिनवभारती' में उपलब्ध' हो जाते है।

(२) स्तोत्र -

अभिनवगुप्त ने अनेक स्तोत्रों की रचना भी की थी। इनमें से कुछ स्तोत्र बड़े आकार के तथा कुछ स्तोत्र छोटे आकार के हैं। 'भैरवस्तव' आदि बडे आकार के हैं और 'बोधपञ्चाशिका' आदि छोटे आकार के हैं।

(३) तन्त्र -

अभिनवगुप्त की रचनाओं का एक वर्ग तन्त्रों से सम्बन्धित है। इस विषय पर इनका 'तन्त्रालोक' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ बहुत विशाल आकार का है तथा इसमें ३७ आह्निक हैं। इसमें आगम तन्त्रों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना अभिनवगुप्त ने अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में की होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। जयरथ ने 'तन्त्रालोक' पर टीका भी लिखी थी।

अभिनवगुप्त द्वारा लिखित 'मालिनीविजयवार्तिक', 'परात्रिंशिकाविवरण' और 'तन्त्रालोकसार' भी इसी परम्परा में आते हैं। अभिनवगुप्त ने अपने शिष्य कर्ण तथा मन्द्र के आग्रह पर 'मलिनीविजयवार्तिक' की रचना की थी। उन्होंने अपने भाई मनोरथगुप्त, शिष्य कर्ण और रामदेव के लिये 'परात्रिंशिका' पर भाष्य भी लिखा था।

(४) प्रत्यभिज्ञादर्शन -

अभिनवगुप्त की रचनाओं का चौथा वर्ग प्रत्यभिज्ञादर्शन (शिवाद्वैतदर्शन) से सम्बन्धित है। इस दर्शन पर मूल कारिकाओं और वृत्ति की रचना उत्पलगुप्त ने की थी, जो कि अभिनवगुप्त कि गुरु लक्ष्मणगुप्त के गुरु थे [१]। कारिकाग्रन्थ का नाम 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' और वृत्ति का नाम 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति' रहा होगा। इस पर अभिनवगुप्त ने विस्तृत टीका लिखी, जो कि 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

लक्ष्मणगुप्त के नाम से किसी ग्रन्थ या व्याख्या की रचना करने का संकेत नहीं

मिलता। परन्तु 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' के अन्त में तथा 'मलिनीविजयवार्तिक' के श्लोक ८ में अभिनवगुप्त ने अपने गुरु का स्मरण किया है, जिन्होंने उनको प्रत्यभिज्ञा दर्शन का उपदेश दिया था[१०]।

इससे यह अभिप्राय व्यक्त हो संकता है कि उत्पलगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन को व्यवस्थित किया था तथा लक्ष्मणगुप्त ने इसकी व्याख्या की थी। अभिनवगुप्त ने इस दर्शन को और भी अधिक व्यापक रूप दिया।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर अभिनवगुप्त ने दो विमर्शिणी लिखी थीं। इनमें से एक तो प्रत्यभिज्ञा सूत्रों पर 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' लिखी, जिसको 'लघुवृत्ति' कहा जाता है। दूसरी 'प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति' पर विमर्शिणी लिखी, जो कि 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' है तथा यह 'बृहतीवृत्ति' है। इस ग्रन्थ के अन्त में अभिनवगुप्त ने लिखा है -

"उन्होंने भगवान् शिव के उस मार्ग को सरल तथा सर्वजनसुलभ बनाया है, जिसको उनके गुरुओं ने निरूपित किया था। जो व्यक्ति इस मार्ग का अनुसरण करता है, वह पूर्ण होकर शिवरूप ही हो जाता है।"

सन्दर्भ -

१. इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्ते युगांशे, तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां व्यवृणुत परिपूर्णा प्रेरितः शम्भुपादैः।।

२. वसुरसपौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिमकरोत्।
येन विभुर्मम मरुसन्तापं शमयति झटिति जनस्य दयालुः।।

३. नानागुरुप्रवरपादनिपातजातसंवित्सरोरुहविकासनिवेशितश्रीः।

४. सिद्धिचेलचरणाब्जपरागपूते भट्टेन्दुराजमतिसंस्कृतबुद्धिलेशः।।

५. द्विजवरतौतनिरूपितसंध्यध्ययनार्थतत्त्वघटनेयम्।
अभिनवगुप्तेन कृता शिवचरणाम्भोजमधुपेन।।

६. मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात् सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयपूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना।
ध्वन्यालोक ३.२६ कारिका की वृत्ति की लोचनटीका।।

७. तद्दृष्टिसंसृतिच्छेदि प्रत्यभिज्ञोपदेशिनः।
श्रीलक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजयते वचः।। मालिनीविजयवार्तिक - श्लोक - ८।।

८. किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽयं लोचनोन्मीलनं व्यधात्।।

९. श्रीशास्त्रकृद्घटितलक्ष्मणगुप्तपादसत्योपदर्शितशिवाद्वयवाददृप्तः।।

१०. मालिनीविजयवार्तिक श्लोक - ८।।

उन्नीसवां अध्याय

कुन्तक

१. कुन्तक का महत्त्व

वक्रोक्ति नामक अपूर्व सिद्धान्त का प्रणयन करने के कारण आचार्य कुन्तक का नाम काव्यशास्त्र के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ की रचना करके इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया था। यद्यपि कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को अधिक समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, तथापि इनकी अभूतपूर्व मौलिक विवेचना ने इनको साहित्य जगत् में बहुत अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की थी।

२. कुन्तक का समय

कुन्तक के समय को निर्धारित करना कठिन नहीं है। यद्यपि कुन्तक ने अपने जीवन के वृत्तान्त, समय आदि के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है, तथापि 'वक्रोक्तिजीवित' में उल्लिखित लेखकों और 'वक्रोक्तिजीवित' को उद्धृत करने वाले लेखकों की रचनाओं के आधार पर इनके समय को बहुत कुछ निश्चित किया जा सकता है।

कुन्तक आनन्दवर्धन (८५० ई०) से और उनके ध्वनि-सिद्धान्त से अच्छी प्रकार परिचित थे। उन्होंने आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त की परीक्षा भी की थी। इन्होंने आनन्दवर्धन के मंगलाचरण श्लोक – **"स्वेच्छाकेसरिणः०"** को उद्धृत किया। कुन्तक ने रुद्रट (८५० ई०) और राजशेखर (८००-९२० ई०) को उद्धृत किया है, अतः इनका समय दसवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध हो सकता है। जयरथ ने 'अलंकारसर्वस्व' की टीका में लिखा है –

"वक्रोक्तिजीवितकार तथा हृदयदर्पणकार दोनों ही ध्वनिकार के पश्चात् हुये थे[१]।"

'व्यक्तिविवेक' के रचयिता महिमभट्ट ने कुन्तक के सिद्धान्तों का उल्लेख करके उनका खण्डन किया है[२]। इससे सिद्ध है कि कुन्तक महिमभट्ट से कुछ ही पूर्व हुये होंगे। महिमभट्ट का समय ११ वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध है। अतः कुन्तक को ११ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध और १२ वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध के मध्य का समझा जा सकता है।

अभिनवगुप्त और कुन्तक के पूर्वापर सम्बन्ध पर डा० काणे ने विचार किया है। उनका विचार है –

"लोचनकार ने 'वक्रोक्तिजीवित' का बिल्कुल उल्लेख नहीं किया और न ही कुन्तक

ने अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है। अत: दोनों को समकालीन होना चाहिये।"

इसके विपरीत डा० पी० सी० लाहिरी ने अपने ग्रन्थ 'इण्डियन कल्चर' भाग ३ पृ० ५३०-५३४ में, डा० मुकर्जी ने 'बी० ई० सी०' भाग १ पृ० १८३ में तथा डा० संकरन् ने अपने लेख "दी थ्योरी आफ रस एण्ड ध्वनि" पृ० ११९-१२० में यह स्वीकार किया है कि अभिनवगुप्त वक्रोक्ति के सिद्धान्त से परिचित थे। परन्तु इन सबके लेखों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुन्तक और अभिनवगुप्त समकालीन रहे होंगे[३]।

३. कुन्तक की रचनाये

कुन्तक की एक ही रचना 'वक्रोक्तिजीवित' उपलब्ध होती है। यह ग्रन्थ भी बहुत समय तक अनुपलब्ध रहा था। सबसे पहले डा० सुशीलकुमार डे ने १९२३ ई० में इस ग्रन्थ को प्रकाशित कराया था। उस समय केवल दो उन्मेष प्रकाशित हुये थे। बाद में इसका दूसरा संस्करण १९२८ ई० में कलकत्ता ओरिएण्टल सीरीज से प्रकाशित हुआ।

४ वक्रोक्तिजीवित

'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है। इसके दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से उपलब्ध हो चुके हैं, परन्तु अन्तिम दो उन्मेष पूरे उपलब्ध नहीं हुये हैं। इनकी कारिकाओं तथा वृत्ति के भाग अनेक स्थानों पर मिले से हैं तथा इनका स्वतन्त्र निर्धारण कठिन है।

'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ के तीन भाग हैं - कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इनमें कारिकाओं और वृत्ति की रचना तो स्वयं कुन्तक की है, परन्तु उदाहरणों का उन्होंने संग्रह किया है। ये उदाहरण संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थों से लिये गये हैं। कुछ उदाहरणों की रचना स्वयं कुन्तक ने उन्मेषों के क्रम की है।

इस सम्बन्ध में डा० काणे महोदय का कथन है कि 'वक्रोक्तिजीवित' के उदाहरणों की रचना स्वयं कुन्तक ने की थी, यह यथार्थ रूप में सत्य नहीं है। ग्रन्थ के उदाहरणों की अधिक संख्या निश्चित रूप से प्राचीन ग्रन्थों से कुन्तक ने संकलित की थी, परन्तु कुछ उदाहरण स्वयं कुन्तक द्वारा रचित हैं, यह माना जा सकता है।

कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ काव्य के प्राय: सभी अंगों की समुचित विवेचना करता है। यह चार उन्मेषों में विभक्त है। उन्मेषों के क्रम से इसकी विषय-वस्तु की विवेचना को इस प्रकार दिखाया जा सकता है -

(i) प्रथम उन्मेष -

पहले उन्मेष में मंगलाचरण के पश्चात् काव्य का प्रयोजन, अलङ्कार-अलङ्कार्य, काव्य और साहित्य और काव्य का लक्षण, वक्रोक्ति का स्वरूप और उसके भेद, वैचित्र्य के मार्ग, औचित्य, सौभाग्य इन विषयों का विवेचन है।

(ii) द्वितीय उन्मेष -

दूसरे उन्मेष में वक्रोक्ति के पहले तीन भेदों - वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता

और प्रत्ययवक्रता का वर्णन किया गया है।

(iii) तृतीय उन्मेष –

तीसरे उन्मेष में वाक्यवक्रता की विवेचना है। इसके अन्तर्गत ही वस्तुवक्रता तथा अलङ्कारों का विवेचन हुआ है। कुन्तक ने अर्थालङ्कारों का अन्तर्भाव वाक्यवक्रता में किया है।

(iv) चतुर्थ उन्मेष –

इस उन्मेष में प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता की विवेचना की गई है।

५. वक्रोक्ति की कल्पना

कुन्तक की वक्रोक्ति की कल्पना महनीय और अद्‌भुत है। उसने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा निर्धारित किया है। वक्रोक्ति की मूल कल्पना वस्तुतः भामह ने की थी और उसको अलङ्कारों का सर्वस्व तथा जीवन बताया था। इसके विना कोई अलङ्कार नहीं हो सकता[४]। कुन्तक ने भामह की इस उक्ति से प्रेरणा लेकर वक्रोक्ति को काव्य के प्राण के रूप में प्रतिष्ठित किया। कुन्तक ने वक्रोक्ति का लक्षण किया है –

"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।"

इस कारिका की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं –

"वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः? वैदग्ध्यं विदग्धमावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।"

कुन्तक ने वक्रोक्ति के ६ भेद किये हैं – वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता, प्रत्ययवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धक्रता। इन भेदों के भी उसने अनेक भेद किये। कुन्तक के अनुसार सब अलङ्कारों का अन्तर्भाव वाक्यवक्रता के अन्तर्गत हो जाता है[५]।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था। यह वक्रोक्ति ही है, जो काव्य में प्राणों का संचार करती है और उसको काव्य बनाती है। वक्रोक्ति के विना काव्य में प्राणों का संचार नहीं हो सकता। परन्तु वक्रोक्ति की रचना भी काव्य में तभी हो सकती है, जबकि कवि में आवश्यक कल्पना-शक्ति हो। इसलिये काव्य में कवि व्यापार की प्रधानता होती है। कवि का यह व्यापार वैचित्र्य से युक्त होता है। यह वैचित्र्य ही वक्रोक्ति है तथा काव्य का प्राण है[६]।

वक्रोक्ति रूप वैचित्र्य के कुन्तक ने चार गुण बताये हैं - माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। कुन्तक ने इन गुणों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

कुन्तक के अनुसार काव्य के तीन मार्ग हैं- वैचित्र्य मार्ग, सुकुमार मार्ग और सौकुमार्य-वैचित्र्य-संवलित मार्ग। इनमें अन्तिम को मध्यम भी कहा गया है और यह सबसे

उत्तम है।

वर्णविन्यासवक्रता की विवेचना करते हुये कुन्तक ने कहा -

"अनुप्रास और यमक अलग अलङ्कार नहीं है। उनका अन्तर्भाव इसी वक्रता के अन्तर्गत हो जाता है।"[७]

पदपूर्वार्द्धवक्रता के ९ भेद कुन्तक ने किये हैं। इसका एक महत्त्वपूर्ण भेद उपचारवक्रता है, जिसके अन्तर्गत कुन्तक ने 'ध्वन्यालोक' के अर्थान्तरसक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत ध्वनियों का समावेश कर लिया है।

वाक्यवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने सचेतन-अचेतन वस्तुओं के वर्णन करने के नियमों को बताया है। उसने बताया है कि रस, भाव, आदि के परिपोष में काव्य को किस प्रकार रमणीय बनाया जा सकता है। उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों द्वारा निरूपित रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, उदात्त, दीपक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलङ्कारों के लक्षण देकर तथा पुनः उनका खण्डन करके इनका समावेश वाक्यवक्रता में ही कर लिया है। इस प्रकार उन्होंने वक्रोक्ति सिद्धान्त के साथ अलङ्कारों की संगति बिठाने का प्रयत्न किया है।

कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलङ्कार नहीं माना। उसने उनका खण्डन किया है, जो कि इसको अलङ्कार मानते हैं। उनका कहना है -

"स्वभावोक्ति अलङ्कार नहीं है, अपितु अलङ्कार्य है[८]। स्वभाव का वर्णन होने पर स्वभावोक्ति कही जा सकती है। यदि इसको ही अलङ्कार मान लिया जावेगा तो उस स्वभाव वर्णन से अतिरिक्त काव्य की शरीर स्थानीय वस्तु कौनसी होगी, जिसको कि अलङ्कार्यतया विभूषित किया जा सकेगा। अतः स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना असंगत है। यह अलङ्कार्य ही है, अर्थात् यही काव्य का शरीर है।"

कुन्तक अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का अनुकरण न करके यद्यपि उनकी आलोचना ही अधिक करते रहे, तथापि उन्होंने भामह, दण्डी और आनन्दवर्धन की प्रशंसा ही की। अपने से पूर्व के मार्गों - रस, अलङ्कार और ध्वनि का उन्होंने समावेश वक्रोक्ति के अन्तर्गत कर लिया। कुछ प्राचीन आलोचकों ने उनको भक्तिवादी कहा है। अलङ्कारसर्वस्वकार का कहना है कि वक्रोक्तिजीवितकार ने उपचारवक्रता आदि द्वारा समस्त ध्वनि के विस्तार को स्वीकार कर लिया।[९]

इस पर जयरथ ने इस प्रकार टीका की -

"इदानीं यदप्यन्यैरस्य भक्त्यन्तर्भूतत्वमुक्तं तदपि दर्शयितुमाह वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव....."।

विद्याधर ने भी 'एकावली' में 'वकोक्तिजीवित' का अन्तर्भाव भक्तिवादी सम्प्रदाय में किया है।

६. कुन्तक या कुन्तलक

कुन्तक के नाम में कुछ सन्देह है। 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ के प्रथम एवं द्वितीय उन्मेष के अन्त में लिखा है -

"इति राजानक कुन्तल (क) विरचिते वक्रोक्तिजीविते काव्यालङ्कारे प्रथमोन्मेषः"। इति श्री कुन्तल (क) विरचिते वक्रोक्तिजीविते द्वितीय उन्मेषः।"

इससे कुछ समालोचकों का यह विचार बना है कि इनका नाम कुन्तलक या कुन्तल होना चाहिये। परन्तु सभी प्राचीन आचार्यों ने इनको कुन्तक नाम से ही स्मरण किया है। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार गोपाल अपनी टीका की भूमिका में इनको कुन्तक ही लिखते हैं[१०]। अतः वक्रोक्तिजीवितकार के कुन्तक नाम के सम्बन्ध में अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं है।

....

सन्दर्भ -

१. यद्यपि वक्रोक्तिजीवितहृदयदर्पणकारावपि ध्वनिकाररानन्तरभाविनावेव तथापि तौ चिरन्तमतानुयायिनावेवेति तन्मतम्।। अलंकारसर्वस्वटीका पृ० १५।।

२. काव्यकाञ्चनकशाश्वमानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष निदर्शितो मया।।
व्यक्तिविवेक पृ० ५८ ।।

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० २९४-९५ ।।

४. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।।
भामह - काव्यालंकार २.८५।।

५. कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशालिनः।।
वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्द्धवक्रता ।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ।।
वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो विद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।।
वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धेऽप्यस्ति यादृशः।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः।। वक्रोक्तिलीवित १.१८ -२१ ।।

६. विचित्रो यत्र वक्रोक्तिः वैचित्र्यं जीवितायते ।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काऽप्यतिशयाभिधा।। वक्रोक्तिजीवित १.२७ ।।

७. वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी ।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः ।।
यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते ।
स तु शोभान्तराभावादिह नातिप्रतन्यते ।। वक्रोक्तिजीवित २.६६-६७ ।।

८. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ।। वक्रोक्तिजीवित १.११ ।।

९. उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः ।। अलङ्कारसर्वस्व पृ० ९ ।।

१०. वक्रानुरञ्जनीमुक्तिं चञ्चूमिव मुखे वहन् ।
कुन्तकः क्रीडति सुखं कीर्तिस्फटिकपञ्जरे ।।

....

बीसवां अध्याय

महिमभट्ट

१. महिमभट्ट

'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के रचयिता के रूप में महिमभट्ट का नाम काव्यशास्त्र के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की रचना लेखक ने 'ध्वन्यालोक' में प्रतिपादित ध्वनि का खण्डन करने के लिये की थी। महिमभट्ट के अनुसार ध्वनि को व्यङ्ग्य अर्थ के रूप में काव्य की आत्मा नहीं माना जा सकता । ध्वनि का अन्तर्भाव वे अनुमान में करते हैं। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये ही उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ की रचना की थी[१]।

२. महिमभट्ट का परिचय और समय

महिमभट्ट राजानक उपाधि से विभूषित हुये थे, अत: उनका काश्मीर का निवासी होना प्रतिपादित होता है। इनके पिता का नाम श्रीधैर्य और गुरु का नाम श्यामल था। क्षेमेन्द्र ने अपनी रचनाओं - 'सुवृत्ततिलक' और 'औचित्यविचारचर्चा' में श्यामल के पद्यों को उद्धृत किया है। 'सुभाषितावलि' में भी इनके पद्य संगृहीत हैं। क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ के एक श्लोक का अभिप्राय है -

'व्यक्तिविवेक' की रचना भीम के पुत्रों तथा अपने नातियों के कल्याण के लिये हुई थी। सम्भवत: भीम इनके दामाद थे। इनके नातियों के नाम क्षेम, योग और भाज थे[२]।

महिमभट्ट ने 'ध्वन्यालोक' और 'वक्रोक्तिजीवित' का खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'बालरामायण' और 'बिद्धसालभञ्जिका' से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अत: उनका समय आनन्दवर्धन, राजशेखर और कुन्तक के बाद का होना चाहिये। अत: ये १००० ई० के पश्चात् होने चाहियें।

'अलङ्कारसर्वस्व' में रुय्यक ने 'व्यक्तिविवेक' का सार दिया है और उनकी आलोचना की है। अत: इनका समय रुय्यक से पहले का होना चाहिये। रुय्यक का समय ११०० ई० के बाद का है। इसलिये महिमभट्ट को ११०० ई० से पहले का होना चाहिये।

समालोचकों की यह मान्यता है कि 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने दोषों की विवेचना में महिमभट्ट का अनुसरण किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने पांचवें उल्लास में **"ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते"** में महिमभट्ट के इस मत का खण्डन किया है कि

ध्वनिवादियों के व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा ही हो जाती है। यद्यपि कुछ समालोचक इस बात को स्वीकार नहीं करते कि 'काव्यप्रकाश' के इन प्रसंगों में महिमभट्ट का संकेत है। तथापि अधिकांश टीकाकारों ने यहां महिमभट्ट के प्रति संकेत को स्वीकार कर लिया है। इसलिये महिमभट्ट को मम्मट से पहले का होना चाहिये। मम्मट का समय ११ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध का निर्धारित किया गया है। इस प्रकार रुय्यक एवं मम्मट के समय से महिमभट्ट पहले के हैं और वे कुन्तक के पश्चात् हुये हैं। अतः उनका समय १०२०-१०५० ई० के मध्य का रखा जा सकता है।

३. महिमभट्ट की रचनायें

महिमभट्ट की प्रसिद्धि व्यक्तिविवेकार के रूप में है। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने ध्वनि का खण्डन करने तथा उसका अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिये की थी। 'व्यक्तिविवेक' के एक वाक्य से यह प्रतीत होता है कि महिमभट्ट ने एक अन्य रचना 'तत्त्वोक्तिकोष' भी लिखी होगी[३]। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

४. व्यक्तिविवेक

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि 'व्यक्तिविवेक' की रचना महिमभट्ट ने ध्वनि का खण्डन करने और उसका अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिये की थी। इस ग्रन्थ का नाम भी इसी प्रकार से 'व्यक्तिविवेक' रखा गया है, जिसका अर्थ है - **व्यक्ति = व्यञ्जना** तथा उसका **विवेक = समीक्षण**। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं, जिनको विमर्श नाम दिया गया है। इसमें विषय का विवेचन इस प्रकार है -

(i) प्रथम विमर्श -

पहले विमर्श में लेखक ने ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में करने की प्रतिज्ञा करके ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के लक्षण में दस दोष दिखाये हैं। तदनन्तर उन्होंने शब्दशक्ति, अर्थ आदि पर विचार किया है और काव्य में एक अभिधा शक्ति का प्रतिपादन किया है। ध्वनिवादियों के व्यङ्ग्य अर्थ को उन्होंने अनुमेय प्रतिपादित करके ध्वनि के विभिन्न भेद-प्रभेदों को करने का उपहास किया है।

(ii) द्वितीय विमर्श -

द्वितीय विमर्श में महिमभट्ट ने अनौचित्य को काव्य में सबसे बडा दोष बताकर उसके अनेक भेदों की गणना की है।

(iii) तृतीय विमर्श -

तीसरे विमर्श में 'ध्वन्यालोक' में प्रतिपादित ध्वनि की स्थापना का प्रबल खण्डन है। कुन्तक ने 'ध्वन्यालोक' से ध्वनि के ४० उदाहरण लेकर इन उदाहरणों में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति को अनुमान के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है।

५. व्यक्तिविवेक की विशेषतायें

'व्यक्तिविवेक' का काव्यशास्त्र में महत्त्व इसलिये है कि उसके लेखक ने प्राचीन परम्पराओं से हट कर नवीन विचारों के प्रतिपादन का प्रयत्न किया था। यद्यपि उत्तरवर्ती आचार्यों ने महिमभट्ट के विचारों का समर्थन नहीं किया तथा उनका प्रबल शब्दों में खण्डन किया, जिससे कि उनके सिद्धान्तों का प्रचलन काव्यशास्त्र की परम्परा में नहीं हो पाया, तथापि उनकी विद्वत्ता और प्रतिभा से इन्कार नहीं किया जा सकता। महिमभट्ट की यह रचना बुद्धिमत्तापूर्ण और तर्कसंगत है तथा यह उनकी विद्वत्ता, गहन विचार शक्ति और आलोचना शक्ति का परिचय देती है।

महिमभट्ट ने तीन शब्द-शक्तियों - अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना में से व्यञ्जना शक्ति को मानने से इन्कार कर दिया था। महिमभट्ट ने लिखा -

"काव्य में केवल एक ही शक्ति रहती है, और वह अभिधा है। इस अभिधा द्वारा ही सब अर्थों की प्रतीति हो जाती है[४]। ध्वनिवादी जिस अर्थ को प्रतीयमान कहते हैं, वह अनुमेय है। अभिधा द्वारा वाच्य अर्थ की प्रतीति होकर प्रतीयमान अर्थ का उससे अनुमान किया जाता है। इसकी प्रतीति तीन लिङ्गों (हेतुओं) से होती है तथा लिङ्गप्रतीति ही व्यङ्ग्य-प्रतीति है।"

महिमभट्ट के अनुसार अर्थ दो प्रकार के होते हैं - वाच्य और अनुमेय। वाच्य अर्थ शब्द के व्यापार का विषय है और वह ही मुख्य अर्थ है। वह अर्थ ही लिङ्गभूत होकर दूसरे अनुमेय अर्थ की प्रतीति कराता है। अनुमेय अर्थ तीन प्रकार का होता है - वस्तु, अलङ्कार और रसादि। इनमें वस्तुरूप और अलङ्काररूप अर्थ वाच्य ही होते हैं, परन्तु रसादि रूप अर्थ अनुमेय होता है[५]।

महिमभट्ट ने ध्वन्यालोककार का यह कह कर उपहास किया है कि उसने काव्य का लक्षण तो किया ही नहीं, काव्य के प्रभेदों के लक्षण कहने प्रारम्भ कर दिये। काव्य के लक्षण को कहे विना उसके भेदों में मुख्य-गौण की कल्पना प्रयोजन रहित ही होगी[६]।

तीसरे विमर्श में महिमभट्ट ने 'ध्वन्यालोक' पर विशेष आक्षेप किये हैं। उसने 'ध्वन्यालोक' से ४० उदाहरणों को लेकर उनकी विवेचना करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इनमें ध्वनिवादियों के व्यङ्ग्य अर्थ की सिद्धि अनुमान द्वारा ही हो जाती है। इस सम्बन्ध में ध्वनिकार के **"भम धम्मिअ०"** इस वस्तु-ध्वनि के उदाहरण को लेकर महिमभट्ट ने सिद्ध किया कि इसमें धार्मिक के अभ्रमण रूप अर्थ की प्रतीति अनुमेय ही है[७]। परन्तु उत्तरवर्ती मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने महिमभट्ट की इस विवेचना की तीव्र आलोचना करके यह प्रतिपादित किया कि यहां धार्मिक का अभ्रमण रूप अर्थ अनुमेय नहीं हो सकता। यह अर्थ व्यङ्ग्य ही है, जो कि व्यञ्जना वृत्ति द्वारा प्रतिपादित होता है।

महिमभट्ट के अनुसार रस की प्रतीति भी अनुमान के अन्तर्गत आ जाती है। वे कहते हैं -

"यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः **सानुमान एवान्तर्भावमर्हति** विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते"।

इस प्रकार महिमभट्ट ने क्योंकि रस की प्रतीति को अनुमेय माना है, अतः कुछ समालोचकों का यह अनुमान है कि इन पर शङ्कुक के अनुमितिवाद का प्रभाव पड़ा था। भरत के रससूत्र की व्याख्या करते हुये शङ्कुक ने रस की निष्पत्ति को अनुमिति प्रतिपादित किया था।

महिमभट्ट का दोष प्रकरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। दोषों की विवेचना 'व्यक्तिविवेक' के दूसरे विमर्श में की गई है। महिमभट्ट के अनुसार काव्य में अनौचित्य का होना ही दोष है। उन्होंने लिखा है -

"यह अनौचित्य दो प्रकार का हो सकता है - (१) अर्थविषयक और (२) शब्दविषयक। उन्हीं को अन्तरंग और बहिरंग अनौचित्य भी कहा जाता है। अन्तरंग अनौचित्य ही रस दोष है, जो कि रस की निष्पत्ति में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के अनुचित नियोजन से होता है। बहिरंग अनौचित्य के ५ भेद हैं - विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन।"

इसी दोष विवेचन के आधार पर महिमभट्ट ने ध्वनि की परिभाषा में १० दोष दिखाये हैं[८]।

समालोचकों का यह विचार है कि महिमभट्ट ने जिस प्रकार दोषों की विवेचना की है, उसका मम्मट पर प्रभाव है। मम्मट ने दोषों का निरूपण करने में महिमभट्ट का अनुसरण किया है। आलोचकों में जो यह प्रसिद्ध है कि दोषों का सर्वप्रथम विशद वैज्ञानिक विवेचन मम्मट ने किया था, उसके विषय में डा० बलदेव उपाध्याय का कथन है कि उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' के दोषों के प्रकरण को नहीं पढा था[९]।

महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' में न केवल ध्वनिकार के ही मत का खण्डन किया था, अपितु ध्वनिविरोधी आचार्य कुन्तक का भी खण्डन किया था। कुन्तक द्वारा कहे गये काव्य के लक्षण[१०] का खण्डन करते हुये उन्होंने वक्रोक्ति का अन्तर्भाव भी अनुमान में कर लिया था। इस प्रकार उन्होंने अभिधा को ही एकमात्र शब्द की अर्थद्योतक शक्ति प्रतिपादित किया था।

महिमभट्ट के ध्वनिविरोध का उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रबल विरोध किया। विद्याधर ने 'एकावली' में कहा है -

"यत् पुनरनुमानतो नातिरिच्यते ध्वनिरित्याचष्ट महिमभट्टस्तदपि पललायमानम्।"

अर्थात्, महिमभट्ट जो यह कहते हैं कि ध्वनि अनुमान से भिन्न नहीं है, वह निस्सार ही है।

'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में महिमभट्ट की इस मान्यता की तीव्र आलोचना है। स्वयं 'व्यक्तिविवेक' के टीकाकार ने महिम भट्ट से असहमतिक प्रकट करके अपना मतभेद प्रदर्शित किया है। इसको संक्षेप से आगे कहेंगे।

६. व्यक्तिविवेक की प्राचीन टीका

'व्यक्तिविवेक' की एक ही प्राचीन टीका उपलब्ध होती है और वह भी अपूर्ण है। इस उपलब्ध टीका में भी टीकाकार का नाम नहीं है। इस सम्बन्ध में डा० बलदेव उपाध्याय का यह कथन विचारणीय है -

'अलङ्कारसर्वस्व' के रचयिता रुय्यक ने ही टीका लिखी थी, ऐसा अन्तरंग प्रमाणों से सिद्ध होता है। टीकाकार का यह कहना है कि उसने 'साहित्यमीमांसा' और 'नाटकमीमांसा' नामक रचनायें लिखी थीं तथा 'अलङ्कारसर्वस्व' के अनुसार ये रचनायें रुय्यक की ही हैं। इसलिये 'व्यक्तिविवेक' की इस टीका की रचना भी रुय्यक ने की होगी।

इसके अतिरिक्त जयरथ के मत में भी अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'व्यक्तिविवेक' पर स्वयं भी टीका लिखी थी[११]।

परन्तु डा० काणे के अनुसार यह टीका अलङ्कारसर्वस्वकार ने नहीं; अपितु 'अलङ्कारसर्वस्व' के वृत्तिकार ने लिखी थी। टीकाकार ने एक स्थान पर अपने को 'हर्षवार्तिक' का रचयिता और दूसरे स्थान पर 'साहित्यमीमांसा' एवं 'नाट्यमीमांसा' का रचयिता कहा है। 'अलङ्कारसर्वस्व' के वृत्तिकार ने इनको अपनी रचना बताया है। अतः 'व्यक्तिविवेक' की टीका करने वाले और 'अलङ्कारसर्वस्व' की वृत्ति को लिखने वाले ये दोनों विद्वान् एक ही हैं [१२]। डा० काणे के अनुसार इसका समय ११३५-११४५ ई० के मध्य रहा होगा।

'व्यक्तिविवेक की यह टीका अपूर्ण है तथा केवल दो विमर्शों तक मिलती है। टीकाकार यद्यपि बहुत विद्वान् है, परन्तु वह स्वयं में ध्वनिवादी है। उसने अनेक स्थानों पर 'व्यक्तिविवेक' के मन्तव्यों का उपहास किया है। जब व्यक्तिविवेककार प्रस्तावना के तीसरे श्लोक में ध्वनिकार के वचन का खण्डन करते हैं, तो टीकाकार ने उनका इस प्रकार उपहास किया है -

"यथास्थितपाठे तु ध्वनिकारस्येति वचः शब्दान्वितमिष्यमाणं प्राधान्याद् विवेचनशब्दान्वितं प्रतीयते। एतच्चास्य सहित्यविचारदुर्निरूपकस्य प्रमुख एव स्खलितमिति महान् प्रमादः।"

टीकाकार ने ध्वनिकार के मत का समर्थन किया है तथा महिमभट्ट की गर्वपूर्ण उक्तियों की कठोर आलोचना की है -

"तदेतस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति।"

इतना होने पर भी टीकाकार ने इस टीका में सामान्यतः महिमभट्ट को उचित

आदर प्रदान किया है और इसमें स्वरचित अनेक श्लोक भी दिये हैं।

डा० काणे ने 'व्यक्तिविवेक' की एक अन्य टीका 'तिलकरत्ना' का भी संकेत दिया है। यह टीका सरयू नदी के तट पर राजा चामुण्डराय द्वारा लिखाई गई थी[१३]।

....

सन्दर्भ -

१. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य परां वाचम्।। व्यक्तिविवेक १.१।।

२. आधातुं व्युत्पत्तिं नप्तॄणां क्षेमयोगभाजाम्।
सत्सु प्रथितनयानां भीमस्यायितगुणस्य तनयानाम्।।

३. इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्। शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोषाख्ये इति नेह प्रपञ्चितम्।
व्यक्तिविवेक पृ० ११८।।

४. नापि शब्दस्याभिधाव्यतिरेकेण व्यापारान्तरमुत्पद्यते येनार्थान्तरं प्रत्यायेत्, व्यक्तेः अनुत्पत्तेः सम्बन्धान्तरस्य चासिद्धेः।। व्यक्तिविवेक पृ० २९ ।।

५. अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च । तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः स एव मुख्य उच्यते।.....तत एव तदनुमिताद्वा लिङ्गभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। स च त्रिविधः - वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति वक्ष्यते।
व्यक्तिविवेक पृ० ११८ ।।

६. किं च काव्यस्वरूपमुत्पादयितुकामेन मतिमता तल्लक्षणमेव सामान्येनाख्यातव्यम्। यत्तु तदनाख्यायैव तयोः प्रधानेतरभावकल्पनेन प्रकारद्वययुक्तं तदप्रयोजकमेव।। व्यक्तिविवेक पृ० ३२।।

७. केवलं योऽसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेन दृप्तपञ्चाननव्यापारस्तत्रोपात्तः स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्बाध्यबाधकभावेनावस्थानात्।। व्यक्तिविवेक पृ० ११३।।

८. अर्थस्य विशिष्टत्वं शब्दः सविशेषणस्तदः पुंस्त्वम्।
द्विवचने वा शब्दौ च व्यक्तिर्ध्वनिर्नाम काव्यवैशिष्ट्यम्।।
वचनं च कविकर्तुः कथिता ध्वनिलक्ष्मणि दश दोषाः।।

९. भारतीय साहित्यशास्त्र - प्रथम खण्ड - बलदेव उपाध्याय - पृ० ८८।।

१०. वक्रोक्तिजीवित १.७-८।।

११. भारतीय साहित्यशास्त्र - प्रथम खण्ड - बलदेव उपाध्याय- पृ० ९०।।

१२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - डा० पी० वी० काणे, पृ० ३१९।।

१३. वही पृ० ३२०।।

....

इक्कीसवां अध्याय

भोजराज

१. भोज का महत्त्व

संस्कृत साहित्य जगत् में महाराज भोज का नाम अति उज्ज्वल नक्षत्र के सदृश प्रकाशमान है। वे न केवल कवियों और विद्वानों के आश्रयदाता थे, अपितु स्वयं महान् कवि, प्रगाढ पण्डित, प्रखर समालोचक तथा विविध विज्ञानों के ज्ञाता थे। साहित्यिक तथा वैज्ञानिक विषयों पर जितना विविध साहित्य महाराज भोज ने लिखा था उतना सम्भवत: भारत में ही नहीं, अपितु विश्व में किसी ने नहीं लिखा था। प्रसिद्ध है कि भोज ने मध्यकालीन भारत में विकसित सभी वैज्ञानिक विषयों पर लिखा था और उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों की संख्या ८४ थी। इन ग्रन्थों का उल्लेख डा० राघवन ने अपने 'शृङ्गारप्रकाश' के अध्ययन में किया है[1]। परन्तु डा० कीथ इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते।

भोज एक प्रतापी राजा थे। इनका अपने पडोसी राजाओं - कर्णाट, चेदि, तुरुष्क और गुजरात के राजाओं से प्राय: निरन्तर युद्ध होता रहा था। इन विपरीत परिस्थितियों में भी वे साहित्य की साधना और ग्रन्थों की रचना करते रहे, यह अति विस्मयोत्पादक है।

२.भोज का जीवनवृत्त और समय

महाराज भोज के जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में बहुत कुछ विदित है। ये परमारवंशी क्षत्रिय राजा थे। इनका राज्य मालवा में विस्तीर्ण था तथा इनकी राजधानी धारा नगरी थी। भोज के पिता का नाम सिन्धुल था। सिन्धुल के बडे भाई मुञ्ज थे। मुञ्ज को वाक्पतिराज भी कहा जाता था। मुञ्ज के अनन्तर सिन्धुल राजा हुये तथा सिन्धुल के पश्चात् भोज राजगद्दी पर आरूढ हुये। भोज का राज्यकाल बहुत लम्बा रहा और इन्होंने लगभग ५५ वर्ष तक राज्य किया था।

परिमल कवि कृत 'नवसाहसाङ्कचरित' काव्य से विदित होता है कि परमारवंशीय राजाओं के मूल पुरुष की उत्पत्ति वासिष्ठ अग्निकुण्ड से हुई थी तथा ये अग्निवंशीय क्षत्रिय राजा थे। शिलालेखों से परमारवंशीय राजाओं की वंशावली का बहुत कुछ पता लगता है। इनके अनुसार इस वंश के कुछ राजा इस प्रकार हुये -

(१.) उपेन्द्र (कृष्णराज) ८००-८२५ ई०

(२)	वैरिसिंह प्रथम	८२५-८५० ई०
(३)	सीयक प्रथम	८५०-८७५ ई०
(४)	वाक्पति प्रथम	८७५-९१४ ई०
(५)	वैरिसिंह द्वितीय(वज्रट)	९१४-९४१ ई०
(६)	सीयक द्वितीय(हर्षदेव)	९४१-९७७ ई०
(७)	वाक्पतिराज (मुञ्ज)	९७७-९९७ ई०
(८)	सिन्धुल (सिन्धुराज)	९९७-१०१० ई०
(९)	भोज	१०१०-१०५५ ई०

इतिहास में यह प्रसिद्ध है कि गुजरात का राजा तैलप मुञ्ज का समकालीन था और दोनों में गहरी प्रतिद्वन्द्विता थी। मुञ्ज ने तैलप को युद्ध में ६ बार जीता। उसने सातवीं बार पुन: गोदावरी पार करके तैलप पर आक्रमण किया। परन्तु इस बार वह पराजित हुआ और कैद कर लिया गया।

मेरुतुङ्गाचार्य ने 'प्रबन्धचिन्तामणि' में लिखा है -

मुञ्ज के कारागार में रहते हुये उसकी परिचर्या का कार्य तैलप की विधवा बहन मृणालवती कर रही थी। दोनों में प्रणय सम्बन्ध हो गया। मुञ्ज के मन्त्रियों ने एक गुप्त सुरंग का निर्माण मुञ्ज के कारागार तक किया। इसमें से मुञ्ज को मृणालवती को साथ लेकर निकल जाना था। परन्तु मृणालवती को यह शंका हुई कि यहां से निकल कर मुञ्ज कहीं धोखा न दे और मेरा परित्याग न कर दे। आभूषणों को लाने के बहाने से वह तैलप के पास चली गई और उसने सारा भेद खोल दिया। तैलप अत्यधिक क्रोधित हुआ। उसने मुञ्ज को रस्सियों से बंधवा कर,अपमानित करके सारे नगर में घुमाया और हाथी से कुचलवा दिया।

इस कथा की सत्यता का निर्णय करना तो कठिन है, परन्तु यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि मुञ्ज का तैलप के साथ ९९४-९९७ ई० के मध्य युद्ध हुआ था तथा इस युद्ध में मुञ्ज की पराजय होकर मृत्यु हुई थी।

मुञ्ज के पश्चात् उसका छोटा भाई सिन्धुल राजा हुआ। सिन्धुल के चरित का विस्तृत वर्णन परिमल ने 'नवसाहसाङ्कचरित' में किया है। यदि मुञ्ज की मृत्यु ९९७ ई० में हुई होगी तो सिन्धुल इस वर्ष राजगद्दी पर बैठा होगा। इसने भी कुछ वर्षों तक राज्य किया होगा। 'नवसाहसाङ्कचरित' में सिन्धुराज के पराक्रमों तथा विजयों का वर्णन किया गया है।

सिन्धुल के पश्चात् भोज राज्य-सिंहासन के अधिकारी हुये। बल्लाल ने 'भोजप्रबन्ध' में भोज के सम्बन्ध में एक अन्य कथा का वर्णन किया है। इसके अनुसार मुञ्ज सिन्धुल का छोटा भाई था। जब सिन्धुल की मृत्यु होने लगी तो भोज छोटा बालक था। उसने

भोज को मुञ्ज की गोद में सौंप कर उसको अपना उत्तराधिकारी बनाया। राज्य के लोभ में मुञ्ज ने भोज की हत्या करवानी चाही। परन्तु भाग्य भोज के अनुकूल था और भोज के प्राणों की रक्षा हुई।

मुञ्ज को वैराग्य हो गया और उसने राज्य का अधिकारी भोज को बना कर स्वयं संन्यास ले लिया। मेरुतुङ्गाचार्य ने भी 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में मुञ्ज द्वारा भोज पर किये गये अत्याचार की कहानी लिखी है। परन्तु ये सब कथायें कल्पना ही प्रतीत होती हैं।

प्राचीन ग्रन्थों के विवरणों तथा शिलालेखों के अनुसार मुञ्ज के उत्तराधिकारी सिन्धुल और सिन्धुल के उत्तराधिकारी भोज हुये थे। 'नवसाहसाङ्कचरित' के ११ वें सर्ग में वाक्पतिराज मुञ्ज को सिन्धुल का बडा भाई कहा गया है तथा वे मुञ्ज के बाद सिंहासन पर आरूढ हुये थे। १०७६ संवत् के बांसबाड़ा के शिलालेख और १०७८ संवत् के उज्जयिनी के शिलालेख और १११२ संवत् के धारा के जयसिंह के मान्धाता वाले शिलालेख इस तथ्य को सिद्ध करते हैं। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भोज ने मुञ्ज की स्तुति की है।[२] इससे प्रतीत होता है कि भोज का मुञ्ज के प्रति किसी प्रकार का असद्भाव नहीं था। वे उनके प्रति बहुत अधिक श्रद्धा रखते थे। ११६१ विक्रमी संवत् के एक शिलालेख में इस प्रकार लिखा है -

वंशेऽस्मिन् वैरिसिंहः क्षितिपतिरभवद् भूरिभूरिप्रभाव।

....

तस्माद्वै ....श्रीसीयकोऽभून्नृपः।

तस्माद्वैरिविरूथिनीबहुविधप्रारब्धयुद्धाध्वर-

प्रध्वंसैकपिनाकपाणिरजनि श्रीमुञ्जराजो नृपः।।

....

तस्यासीदथ पार्थिवः पृथुयशाः श्रीसिन्धुराजो नृपः।

....

तत्सुनूर्भूवनैकभूषणमभूद् भूपालचूडामणि-

श्छायाडम्बरचुम्बितांघ्रिकमलः श्रीभोजदेवो नृपः।।[३]

इस शिलालेख से यह सिद्ध है कि मुञ्ज के उत्तराधिकारी सिन्धुराज तथा सिन्धुराज के उत्तराधिकारी भोज हुये थे।

भोज का राज्यकाल कब से कब तक रहा, यह भी विचारणीय है। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं -

(१) भोज का राज्यकाल काफी लम्बा रहा। बल्लाल के अनुसार इसके राज्यकाल की अवधि ५५ वर्ष ७ महीने और तीन दिन रही।[४]

(२) भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का एक ताम्रपत्र संवत् १११२ (१०५५-५६ ई०) का उपलब्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय धारा नगरी के राजसिंहासन

पर जयसिंह आरूढ हो चुके थे। अत: भोज के राज्यकाल की अन्तिम अवधि १०५५ ई० मानी जा सकती है। यदि भोज का राज्यकाल ५० वर्ष का भी मान लिया जावे तो वे १००५ ई० में राजसिंहासन पर आरूढ हुये होंगे।

(३) भोज के एक ज्योतिषविषयक ग्रन्थ 'राजमृगाङ्क' की रचना उनके ही अनुसार ९६४ शक संवत् (१०२४-१०४३ ई०) में हुई थी।

(४) उदयपुर प्रशस्ति में तुर्कों के साथ भोज के युद्ध का उल्लेख आता है। महमूद गजनवी नामक तुर्क का आक्रमण इस क्षेत्र में ४१३ हिजरी (१०२१ ई०) में हुआ था।

(५) 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार काश्मीर के राजा कलश और भोज समकालीन थे[५]। कलश का समय १०५० ई० के लगभग समझा जाता है। परन्तु डा० व्हूलर का कथन है कि १०६२ ई० में काश्मीर में कलश राजा बने थे। लेकिन अन्य प्रमाण कलश को इससे पहले का सिद्ध करते हैं।

(६) 'धाराप्रशस्ति' में जिसकी तिथियां १२११, १२१३ और १२१५ ईस्वी की हैं, राजा अर्जुनवर्म ने अपने को भोज का उत्तराधिकारी तथा अवतार कहा है। परन्तु केवल इसी आधार पर भोज को अर्जुनवर्म से ठीक पहले का समझना उचित नहीं है। भोज का समय अर्जुनवर्म से लगभग २०० वर्ष पहले का था। सम्भव है कि अर्जुनवर्म ने अपने महत्त्व को प्रतिष्ठित करने के लिये इस प्रकार के वाक्य उत्कीर्ण कराये हों।

(७) गुर्जर देश के राजाओं का धारा नगरी के राजाओं के साथ सदा संघर्ष चलता रहा। भोज भी इससे वञ्चित नहीं थे। भोज के अन्तिम समय में गुजरात के राजा भीम हुये थे। इन्होंने धारा नगरी पर आक्रमण करके इसको ध्वस्त कर दिया था। 'सुकृतसंकीर्तन' पुस्तक में भीम द्वारा भोज की पराजय का वर्णन है। भीम का राज्य १०६२ ई० तक रहा था। उसने धारा नगरी पर आक्रमण १०५४-५९ ई० में किया होगा।

(८) मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में भोज के दान की अतिशय स्तुति की है[६]। प्रसिद्ध भाष्यकार उव्वट भोज का समकालीन था, यह उसकी 'वाजसनेयी संहिता' की टीका से विदित होता है। 'तिलकमञ्जरी' के लेखक धनपाल मुञ्ज, सिन्धुल और भोज इन तीनों के समयों में रहे थे। यह तथ्य इन्होंने 'तिलकमञ्जरी' में उद्धृत किया है। इससे भी भोज का राज्यकाल ११ वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध का होना निश्चित होता है।

(९) भोज के समय के तीन ताम्रपात्र उनके हस्ताक्षरों से युक्त प्राप्त होते हैं। इनमें एक का समय सम्वत् १०७६ माघ सुदी ५ (१०१९ ई०) का है।

(१०) इन सब विवरणों से यही प्रतीत होता है कि भोज का राज्यकाल ११ वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में रहा होगा। इनके राज्यकाल की अवधि भी लगभग ५० वर्ष रही होगी। यदि इनका अन्तिम समय १०५५ ई० था तो उनका राज्यकाल कम से कम १००५-१०५५ ई० का माना जा सकता है।

प्राचीन विवरणों से यह प्रतीत होता है कि भोज का अन्तिम समय सुखमय नहीं रहा था। वे अन्तिम समय में ज्वर से ग्रस्त हो गये थे। इसी समय उनके राज्य पर चेदि देश के राजा कर्ण तथा गुर्जर देश के राजा भीम ने मिलकर आक्रमण किया और धारा नगरी को ध्वस्त कर दिया। कुमारपाल की बड़नगर की प्रशस्ति (११६५ ई०) के अनुसार भीम के घुड़सवारों ने धारा नगरी को ध्वस्त कर दिया था[७]। नागपुर प्रशस्ति में भी भोज की इस दयनीय दशा का वर्णन किया गया है[८]। बिह्लण ने भी 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में कर्णाटक के राजाओं और भोज के पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख किया है।

३. भोज की रचनायें

'अलङ्कारशास्त्र' के क्षेत्र में भोज की दो रचनायें उपलब्ध होती हैं - 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृङ्गारप्रकाश'। इनके अतिरिक्त भोज ने अन्य भी बहुत सी पुस्तकों की रचना की थी। आजाद के अनुसार भोज ने मध्ययुगीन वैज्ञानिक विषयों पर ८४ पुस्तकों की रचना की थी। डा० राघवन् ने 'शृङ्गारप्रकाश' के अध्ययन में भोज की ८४ पुस्तकों का उल्लेख किया है। डा० टी० आफ्रेक्ट महोदय ने 'कैटेलागस कैटेगोरम' में भोज की निम्न रचनाओं का उल्लेख किया है -

(१) आदित्यप्रतापसिद्धान्त (ज्योतिषविषयक)
(२) आयुर्वेदसर्वस्व (आयुर्वेदविषयक)
(३) चम्पूरामायण (चम्पूकाव्य)
(४) चाणक्यनीति (राजनीतिविषयक)
(५) चारुचर्या (धर्मशास्त्रविषयक)
(६) तत्त्वप्रकाश (शैवमतविषयक)
(७) नाममालिका (कोष)
(८) युक्तिकल्पतरु (वास्तुविद्याविषयक)
(९) राजमार्तण्ड (पातञ्जल योग सूत्रों की टीका)
(१०) राजमार्तण्ड (विदान्त दर्शनविषयक)
(११) राजमार्तण्ड (ज्योतिषविषयक)
(१२) राजमृगाङ्क (ज्योतिषविषयक)
(१३) विद्याविनोद (काव्य)
(१४) विद्वज्जनबल्लभ (ज्योतिषविषयक प्रश्नग्रन्थ)
(१५) विश्रान्तविद्याविनोद (आयुर्वेदविषयक)
(१६) व्यवहारसमुच्चय (धर्मशास्त्रविषयक)
(१७) शब्दानुशासन (व्याकरणविषयक)
(१८) शालिहोत्र (अश्वचिकित्साविषयक)

(१९) शिवतत्त्वरत्नकलिका (शैवदर्शनविषयक)

(२०) समराङ्गणसूत्रधार (शिल्पशास्त्रविषयक)

(२१) सरस्वतीकण्ठाभरण (अलङ्कारशास्त्रविषयक)

(२२) सिद्धान्तसंग्रह (शैवसिद्धान्तविषयक)

(२३) सुभाषितप्रबन्ध (सुभाषितों का संग्रह)

पी० वी० काणे ने भोज के निम्न ग्रन्थों का उल्लेख 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में और किया है -

(१) सरस्वतीकण्ठाभरण

(२) शृङ्गारमञ्जरी

(३) भुजबलभीम

संस्कृत कवियों में यह भी प्रसिद्ध है कि 'हनूमन्नाटक', जो कि शिलाओं पर उत्कीर्ण था और समुद्र में फेंक दिया गया था, उसका उद्धार भोज ने किया था।

भोज ने धारा नगरी में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नाम से एक पाठशाला की स्थापना की थी। वहां पाषाण शिलाओं पर भोज के समय में अनेक ग्रन्थ उत्कीर्ण किये गये थे। बाद में तुर्कों ने इस पाठशाला को मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया और इन शिलाओं को उल्टा करके उनकी सीढियां बनवा दीं। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उन शिलाओं से 'कूर्मशतक' (प्राकृत ग्रन्थ), 'अवनिशतक' (प्राकृत ग्रन्थ), 'पारिजातमञ्जरी (नाटिका), 'भर्तहरिकारिका' आदि ग्रन्थों की खोज की है[१]।

४. सरस्वतीकण्ठाभरण

यह ग्रन्थ बहुत विस्तृत है तथा इसमें काव्यशास्त्र के अनेक तत्त्वों का विवेचन है। भोज का यह ग्रन्थ समन्वयात्मक अधिक है। उन्होंने इसमें प्राचीन आचार्यों के मतों को एकत्रित करके उनका समन्वय करने के प्रयत्न किये हैं। इस ग्रन्थ की रचना में भोज ने दण्डी को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। दण्डी के २०० श्लोक इसमें उद्धृत किये गये हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि भोज ने काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों की नकल की है। उसने अनेक नवीनताओं का आधान किया है। उदाहरण के लिये भोज ने २४ शब्दगुण और २४ अर्थगुण, इस प्रकार ४८ गुण बताये हैं। उसने ६ प्रकार की रीतियां - वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटीया और मागधी प्रतिपादित कीं और इनको शब्दालङ्कार ही माना। भोज ने अलङ्कारों के तीन वर्ग किये थे - शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' का विभाजन ५ परिच्छेदों में है। परिच्छेदों के क्रम से इनकी विषयवस्तु इस प्रकार है -

(i) प्रथम परिच्छेद -

पहले परिच्छेद में १६० कारिकायें और १०४ उदाहरण हैं। इसमें सबसे पहले सरस्वती देवी की वन्दना करके काव्य का लक्षण और प्रयोजन दिये गये हैं। इसके अनन्तर १६ पद-दोष, १६ वाक्य-दोष और १६ वाक्यार्थ-दोष कहे गये हैं। तदन्तर २४ शब्दगुणों और २४ अर्थगुणों का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् काव्य में अलङ्कारों का महत्त्व बताया गया है।

(ii) द्वितीय परिच्छेद -

इस परिच्छेद में १५८ कारिकायें और ४०१ उदाहरण हैं। इसमें शब्दालङ्कारों की विवेचना है। सबसे पहले अलङ्कारों के ३ भेद - शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार कहे गये हैं। इनको क्रमशः बाह्य, आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर भी कहा गया है। शब्दालङ्कार २४ हैं, यथा - जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, प्रहेलिका आदि। इस परिच्छेद में भोज ने रीतियों का विवेचन करके उनको शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत माना है। इसके पश्चात् इसी परिच्छेद में साहित्य के ६ भेद किये गये हैं - काव्य, शास्त्र, इतिहास, काव्यशास्त्र, काव्येतिहास और शास्त्रेतिहास। इसके पश्चात् अन्त में श्रव्य काव्य दृश्य काव्य और चित्राभिनय के भेद और लक्षण हैं।

(iii) तृतीय परिच्छेद -

तीसरे परिच्छेद में २४ अर्थालङ्कारों की विवेचना है। ये अर्थालङ्कार इस प्रकार हैं - जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव। इस परिच्छेद में ५५ कारिकायें और १६८ उदाहरण हैं।

(iv) चतुर्थ परिच्छेद -

इस परिच्छेद में ९१ कारिकायें और २४३ उदाहरण हैं। इसमें २४ उभयालङ्कारों का विवेचन है। ये अलङ्कार इस प्रकार हैं - उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, समासोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक और संसृष्टि।

(v) पञ्चम परिच्छेद -

इस परिच्छेद में १७९ कारिकायें और ५१५ उदाहरण हैं। इसमें रस का विवेचन किया गया है। इसके साथ ही इसमें भाव आदि का, नायक-नायिका के भेद-उपभेदों का और उनकी विशेषताओं का, सन्धियों का, भारती आदि वृत्तियों का तथा इसी से सम्बन्धित अन्य विषयों का वर्णन है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में ६४३ कारिकायें और १५६१ उदाहरण दिये गये हैं। उदाहरण प्राय: पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से उद्धृत हैं, इसलिये उनकी कालानुक्रमणिका की दृष्टि से ये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ग्रन्थ में निम्न कवि और उनके ग्रन्थ उद्धृत हैं -

अद्भुतपुण्य, अभिनन्द, अमरु, आनन्दवर्धन, उदात्तराघव का रचयिता, कालिदास, कुमारदास, चण्डक, चाणक्य, चिन्नम, जैमिनिसूत्रवृत्ति, दण्डी, दीपक, द्रोणपर्व, धनिक, धाराकदम्ब, नमिसाधु, नारायण, निद्रादरिद्र, निशानारायण, पञ्चस्तवी, प्रभाकर, प्रवरसेन, बाण, बृहदारण्यकोपनिषद्, ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, भट्टकपर्दी, भट्टि, भरत, भर्तृहरि, भल्लट, भामह, भारवि, भास, भोजराज, मञ्जीर, महानाटककर्ता, माघ, मालवरुद्र, मुञ्ज, मेण्ठ, यशोवर्मा, राजशेखर, रुद्रट, लक्ष्मीधर, वामन, वाक्पति, विकटनितम्बा, विजयपाल, बिज्जिका, विद्यापति, विशाखदत्त, विष्णुशर्मा, बिह्लण, शूद्रक, श्रीहर्ष और सातवाहन।

५.सरस्वतीकण्ठाभरण की प्राचीन टीका

'सरस्वतीकण्ठाभरण' की एक ही टीका उपलब्ध होती है और वह है - महामहोपाध्याय रत्नेश्वर की 'रत्नदर्पण' टीका। भरहुत के राजा रामसिंह के आदेश से इस रचना की टीका हुई थी [१०]। यह टीका विद्वत्तापूर्ण है और इसमें अनेक प्राचीन आचार्यों - आनन्दवर्धन आदि के मतों को उद्धृत किया गया है। परन्तु यह टीका केवल तीसरे परिच्छेद तक ही प्राप्त हो सकी है। इसका प्रकाशन काव्यमाला सीरीज न० ९४ में हुआ है।

६. शृङ्गारप्रकाश

भोज का 'शृङ्गारप्रकाश' बहुत विस्तृत ग्रन्थ है। हस्तलिखित रूप में तो यह सम्पूर्ण प्राप्त हो चुका है, परन्तु प्रकाशित इसके केवल तीन प्रकाश - २२, २३ और २४ ही हुये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ ३६ प्रकाशों (अध्यायों) में विभक्त है। डा० राघवन् ने अपनी थीसिस में सम्पूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन किया है तथा इसकी विषयवस्तु पर प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों के विषयों का विस्तृत विवेचन हुआ है। डा० पी० वी० काणे ने प्रकाशों के क्रम से इस ग्रन्थ का विषय-प्रतिपादन इस प्रकार सूचित किया है -

(१) काव्य, शब्द और अर्थ की परिभाषायें, प्रत्येक के १२ कार्य।
(२) प्रातिपदिक, इसके भेद और उपभेद।
(३) पद और वाक्य का अर्थ और उसके प्रकार।
(४) अर्थ के क्रिया, काल, कारण आदि १२ प्रकार।
(५) उपाधि का अर्थ।
(६) विभक्ति का अर्थ।
(७) शब्द की विभिन्न शक्तियां - अभिधा, विवक्षा, तात्पर्या आदि।

(८) दूसरे शब्दों के सम्बन्ध से शब्द-शक्तियों का विकास, जैसे - व्यपेक्षा, सामर्थ्य इत्यादि।

(९) काव्य के दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण।

(१०) शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार।

(११) रस।

(१२) नाटक और उसकी ६८ विशेषतायें।

(१३) रति, धर्मशृङ्गार, मोक्षशृङ्गार, वृत्तियां और रीतियां।

(१४) हर्ष और ४८ भाव।

(१५) रति के आलम्बन विभाव।

(१६) रति के उद्दीपन विभाव।

(१७) अनुभाव।

(१८) धर्मशृङ्गार।

(१९) अर्थशृङ्गार।

(२०) कामशृङ्गार।

(२१) मोक्षशृङ्गार, नायक-नायिका विभाग और नायक-नायिका गुण।

(२२) अनुराग।

(२३) विप्रलम्भ और संयोग शृङ्गार।

(२४) विप्रलम्भ।

(२५) पूर्वानुराग विप्रलम्भ।

(२६) यह अध्याय अनुपलब्ध है।

(२७) अभियोगविधि।

(२८) दूती-विशेष-दूत-कर्मोपवर्णन।

(२९) दूत-सम्प्रेषण, सन्देश-दान आदि।

(३०) भाव-स्वरूप।

(३१) प्रवासोपवर्णन।

(३२) करुण-रस-विनिर्णय।

(३३) संभोग-स्वरूप।

(३४) प्रथमानुरागानन्तर संभोग।

(३५) मानप्रवासकरुणानन्तर संभोग।

(३६) चार प्रकार की संभोग अवस्थाओं का वर्णन।

भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' की यद्यपि प्राचीन टीका उपलब्ध नहीं है, तथापि प्राचीन समय में यह ग्रन्थ लोकप्रिय था। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका अध्ययन बहुत प्रचलित था।

यह ग्रन्थ क्योंकि काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के बहुविध विषयों का निरूपण करता है, इस कारण अनेक ग्रन्थकारों ने इसको अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। एकावली[११], रत्नार्पण[१२], भावप्रकाशन, मन्दारमन्दचम्पू[१३], माणिक्यचन्द्र की 'काव्यप्रकाश-संकेत टीका, हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' आदि ग्रन्थों में इसको उद्धृत किया गया है।

७. भोज की विशेषतायें

काव्यशास्त्र के प्रायः सभी विषयों की विवेचना भोज ने की है। इन्होंने प्राचीन आचार्यों के मतों का समन्वय अपने ग्रन्थों में किया है। इसके साथ ही इन्होंने नवीन तथा मौलिक चिन्तन भी किया है। भोज द्वारा किये गये विषय-विवेचन में एक विशेष अनुपात दृष्टिगोचर होता है। दोषों का विभाजन यदि उन्होंने तीन वर्गों - पद, वाक्य और वाक्यार्थ में किया तो तीनों के १६-१६ उपभेद भी किये। गुणों को दो वर्गों में बांट कर प्रत्येक के २४-२४ भेद करके इनकी संख्या ४८ निश्चित की। अलङ्कारों का विभाजन तीन वर्गों में करके प्रत्येक के २४-२४ भेद प्रदर्शित किये। जाति, गति, रीति, वृत्ति, आदि के भी ६-६ भेद किये।

भोज का सबसे अधिक महत्त्व रस के विवेचन में है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृङ्गारप्रकाश' दोनों में इसकी विस्तृत विवेचना है। इस विवेचना की विशेषता यह है कि प्राचीन आचार्यों का अनुकरण करके इन्होंने १० रस तो गिनाये हैं, किन्तु सबका मूल एक शृङ्गार रस को ही माना है[१४]। भोज ने इसको अभिमान एवं अहङ्कार रूप मान कर शृङ्गारमात्र कहा है। इसी से काव्य में कमनीयता आती है[१५]। यदि कवि शृङ्गारी है तो काव्य में जगत् रसमय होता है, परन्तु शृङ्गारी नहीं है, तो सब कुछ नीरस हो जाता है[१६]।

रस को इतना महत्त्व देने वाले भोज की इस विवेचना में यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि रस का इतना विस्तृत विवेचन करके और उसके महत्त्व को प्रतिपादित करके भी भोज ने गुण के साथ-साथ रस को भी अलङ्कार मान लिया। दण्डी के "**काव्यशोभाकरान्०**" शब्दों को उद्धृत करके उन्होंने लिखा -

"गुण, रस, तदाभास आदि भी श्लेष, उपमा, आदि अलङ्कारों के समान काव्य को अलङ्कृत करते हैं"। इस सम्बन्ध में भोज का पूरा विवरण इस प्रकार है -

"इत्युक्तं तत्र 'अलङ्कारसृष्टेः' इतीयत्येव वक्तव्ये नानालङ्कारग्रहणं गुणरसानामुपसंग्रहार्थम्। तेषामपि काव्यशोभाकरत्वेनालङ्कारत्वात्। यदाह -

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्येन वक्ष्यति।।
काश्चिन् मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रियाः।
साधारणमलङ्कारजातमन्यत् प्रदर्श्यते।।

तत्र 'काव्यशोभाकरान्' इत्यनेन श्लेषोपमादिवद् गुणरसतदाभास-प्रशमादीनप्युपगृह्णाति[१७]।"

भोज मध्यकालीन भारत के सुप्रसिद्ध राजाओं में से थे, जिन्होंने अपने शौर्य के अतिरिक्त विद्या प्रेम के लिए भी अविनश्वर कीर्ति को प्राप्त किया था। इन्होंने न केवल विद्वानों और कवियों को आश्रय ही दिया था, अपितु स्वयं भी अनेकों रचनाओं की सृष्टि की थी। इस प्रकार वे सरस्वती देवी के सच्चे आराधक थे। उन्होंने जो सफलतायें प्राप्त की थीं, इससे उनका नाम श्रद्धा से लेने योग्य है। प्राचीन लेखकों ने भोज को कवि-बान्धव कहा है। उदयपुरप्रशस्ति में भोज के लिए ठीक ही लिखा गया है -

साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद्यत्र केनचित्।
किमन्यत् कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते।।[१८]

....

सन्दर्भ -

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास -- पी० वी० काणे पृ० ३२७।।

२. सौजन्याम्बुनिधे बुधप्रिय गुणप्राकारधर्मद्रुम-
प्रारोह प्रतिपन्नवत्सल महात्यागिन् विवेकाश्रय।
लक्ष्म्यावास मनस्विनीमनसिजव्यापारदीक्षागुरो
श्रीमन्मुञ्ज किमित्यमुं जनमुपस्प्रष्टुं दृशा नार्हसि।। सरस्वतीकण्ठाभरण १.८।।

३. एपिग्राफिका इण्डिका भाग २ पृ० १८३-१८५।।

४. पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि सप्तमासं दिनत्रयम्।
भोजराजेन भोक्तव्यः सगौडो दक्षिणापथः।। भोजप्रबन्ध।।

५. स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ।
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबान्धवौ।। राजतरङ्गिणी ७.२५९।।

६. मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलीयितम्।।
काव्यप्रकाश दशम उल्लास उदाहरण संख्या ५००।।

७. एपिग्राफिका इण्डिका भाग १ पृष्ठ २९३।।

८. एपिग्राफिका इण्डिका भाग २ पृष्ठ १८०-१८१।।

९. सरस्वतीकण्ठाभरण (काव्यमाला संस्करण १९३४ ई०) भूमिका - पृष्ठ १३।।

१०. श्रीरामसिंहदेवाज्ञामादाय रचितो मया।
दर्पणाख्यः सदा तेन तुष्यतां श्रीसरस्वती।।
रत्नेश्वरो नाम कवीश्वरोऽसौ विराजते काव्यसुधाभिषेकैः।
दुस्तर्कवक्राहतदुर्विदग्धां वसुन्धरां पल्लवयन्नजस्रम्।।
-सरस्वतीकण्ठाभरण की रत्नेश्वरकृत टीका के तीसरे परिच्छेद के अन्त में।।

११. राजा तु शृङ्गारमेकमेव शृङ्गारप्रकाशे रसमुररीचकार।। एकावली।।

१२. शृङ्गार एक एव रस इति शृङ्गारप्रकाशः।। रत्नापण।।

१३. अथ भोजनृपादीनां मतमत्र प्रकाश्यते -
रसो वै स इति श्रुत्वा रस एकः प्रकीर्तितः।
अतो रसः स्याच्छृङ्गार एक एवेतरे तु न।।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यभेदेन स चतुर्विधः।। मन्दारमन्दचम्पू।।

१४. शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।। शृङ्गारप्रकाश।।

१५. रसोऽभिमानोऽहङ्कारः शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।। सरस्वतीकण्ठाभरण ५.१।।

१६. शृङ्गारी चेत्कविः काव्यं जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृङ्गारी नीरसं सर्वमेव तत्।। सरस्वतीकण्ठाभरण ५.३।।

१७. सरस्वतीकण्ठाभरण - काव्यमाला सीरीज नं० १४ - पृ०७०३।।

१८. एपिग्राफिका इण्डिका - उदयपुर प्रशस्ति भाग १, पृ० १२२।।

....

बाईसवां अध्याय

क्षेमेन्द्र

१. क्षेमेन्द्र का महत्त्व

काव्यशास्त्र के इतिहास में क्षेमेन्द्र का नाम उसके ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' के कारण और उसके द्वारा औचित्य मार्ग की प्रतिष्ठा के कारण अधिक प्रसिद्ध है। क्षेमेन्द्र ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने सबसे अधिक विधाओं में साहित्य की रचना की थी। इनके अतिरिक्त ऐसा कोई कवि या आचार्य नहीं हुआ, जिसने इतनी अधिक विधाओं में और इतनी अधिक संख्या में ग्रन्थों की रचना की हो। ये विविध विषयों के आचार्य होने के साथ प्रतिभाशाली कवि भी थे और इन्होंने अनेक काव्यों का प्रणयन किया था। क्षेमेन्द्र ने ४० से भी अधिक ग्रन्थों की सृष्टि की थी। इनमें से अधिक संख्या में ग्रन्थ प्राप्य हैं, परन्तु कुछ ग्रन्थ प्राप्य नहीं भी हैं।

२. क्षेमेन्द्र का इतिवृत्त और समय

क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थों में अपना स्वल्प सा परिचय दिया है, जिसके आधार पर इनके विषय में थोड़ा बहुत जाना जा सकता है। क्षेमेन्द्र के पूर्वज काश्मीर के राजाओं के अमात्य के पद पर प्रतिष्ठित थे। इनके पिता का नाम प्रकाशेन्द्र और पितामह का नाम सिन्धु था। इनका परिवार अति सम्पन्न और उदार था[१]। 'बृहत्कथामञ्जरी' के अनुसार क्षेमेन्द्र ने अभिनवगुप्त से साहित्य का अध्ययन किया था[२]।

परम्पराओं से यह प्रसिद्ध है कि क्षेमेन्द्र मूलतः शैव थे, परन्तु इन्होंने सोमाचार्य के प्रभाव से वैष्णव मत को स्वीकार कर लिया था। सम्भवतः क्षेमेन्द्र ने काव्यों की रचना करने में महर्षि व्यास को अपना आदर्श बनाया था। अनेक ग्रन्थों में इन्होंने अपना उपनाम व्यासदास लिखा है[३]।

क्षेमेन्द्र के समय के विषय में अधिक विवाद नहीं है। उन्होंने स्वरचित ग्रन्थों में अपने समकालीन राजाओं का उल्लेख किया है। इसके अनुसार उनकी रचनायें काश्मीर के दो राजाओं -- अनन्त और कलश के समय लिखी गई थीं। यह वह समय था, जबकि काश्मीर में असन्तोष, षड्यन्त्र और रक्तपात का प्राचुर्य था। क्षेमेन्द्र ने अपनी रचनाओं द्वारा वातावरण को शुद्ध, पवित्र और स्वस्थ बनाने का प्रयास किया था।

अनन्त का राज्यकाल १०२८ ई० से १०६३ ई० तक रहा और कलश ने १०६३ ई० से १०८९ ई० तक राज्य किया। इन्हीं दो राजाओं के राज्यकाल में क्षेमेन्द्र ने अपनी रचनायें लिखी थीं। इनकी 'समयमातृका' पुस्तक की रचना का समय २५ वें लौकिक काल (१०५० ई०) का, अर्थात् अनन्त के समय का था। 'दशावतारचरित' पुस्तक की रचना का समय ४१ वें लौकिक काल (१०६६ ई०) का, अर्थात् कलश के राज्यकाल का था। इनके 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थ की रचना अनन्त के समय में हुई थी[४]। 'कविकण्ठाभरण' की रचना भी अनन्त के समय में हुई थी[५]। इससे यह सिद्ध होता है कि ये रचनायें १०६३ ई० से पहले लिखी गई होंगी। क्षेमेन्द्र के गुरु अभिनवगुप्त थे, जिनके साहित्य की रचना का काल ९८०-१०२० ई० के मध्य में रहा था। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि क्षेमेन्द्र ने १००० ई० के लगभग अभिनवगुप्त का शिष्यत्व ग्रहण किया होगा। इनके साहित्य की रचना का प्रारम्भ १०२० ई० माना जा सकता है और यह कल्पना की जा सकती है कि क्षेमेन्द्र ने अपनी रचनायें १०२०-१०६६ ई० के मध्य में लिखी होंगी।

३. क्षेमेन्द्र की रचनायें

काव्यशास्त्र पर क्षेमेन्द्र की तीन रचनायें प्रसिद्ध हैं - 'औचित्यविचारचर्चा', 'कविकण्ठाभरण' और 'सुवृत्ततिलक'। इन रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने विविध विधाओं में प्रभूत साहित्य की रचना की थी। पी० वी० काणे के अनुसार क्षेमेन्द्र ने ४० ग्रन्थों की रचना की थी[६]। परन्तु इनके सभी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। अनेक ग्रन्थों के प्राप्त हो जाने पर भी अभी तक कुछ ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सके हैं। क्षेमेन्द्र के उपलब्ध ग्रन्थों से उनकी निम्नलिखित कृतियों की सूचना मिलती है -

(१) अमृततरंगकाव्य, (२) अवसरसार, (३) औचित्यविचारचर्चा, (४) कनकजानकी, (५) कविकण्ठाभरण, (६) कविविलास, (७) कविकर्णिका, (८) चतुर्वर्गसंग्रह, (९) चारुचर्या, (१०) चित्रभारतनाटक, (११) दर्पदलन, (१२) दशावतारचरित, (१३) देशोपदेश, (१४) नीतिकल्पतरु, (१५) नीतिलता, (१६) पद्यकादम्बरी, (१७) पवनपञ्चाशिका, (१८) बृहत्कथामञ्जरी, (१९) बोधिसत्त्वावदानकलिका, (२०) भारतमञ्जरी, (२१) मुक्तावली, (२२) मुनिमतमीमांसा, (२३) रामायणमञ्जरी, (२४) ललितरत्नमाला, (२५) लावण्यवती, (२६) वात्सायनसूत्रसार, (२७) विनयवल्ली, (२८) व्यासाष्टक, (२९) शशिवंशमहाकाव्य, (३०) समयमातृका, (३१) सुवृत्ततिलक और (३२) सेव्यसेवकोपदेश।

कह्लण ने 'राजतरंगिणी' में क्षेमेन्द्र द्वारा रचित 'नृपावलि' का भी उल्लेख किया है। परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। काव्यशास्त्र विषय पर क्षेमेन्द्र के जो तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनका परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

४. औचित्यविचारचर्चा

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में क्षेमेन्द्र का यह 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में कुल १९ कारिकायें है। ग्रन्थ के अन्त में ५ श्लोकों में कवि ने अपने वंश का स्वल्प सा परिचय दिया है। इन कारिकाओं पर क्षेमेन्द्र ने स्वयं वृत्ति भी लिखी थी और उदाहरणों द्वारा उनकी व्याख्या की थी। इनमें कुछ उदाहरण तो क्षेमेन्द्र के स्वरचित हैं, परन्तु अधिकांश उदाहरण कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, बाण, व्यास, अमरुक, कुमारदास, मातृगुप्त आदि प्राचीन कवियों की रचनाओं से लिये गये हैं।

'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थ लिख कर क्षेमेन्द्र ने औचित्य सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था और औचित्य की व्याख्या की थी। क्षेमेन्द्र ने कहा -

"औचित्य ही रससिद्ध काव्य का प्राणभूत तत्त्व है[७]। प्रत्येक वस्तु अपने स्थान के औचित्य से ही शोभायमान होती है। इसलिये औचित्य के विना अलङ्कार और गुण भी शोभित नहीं होते[८]।"

क्षेमेन्द्र ने औचित्य की निम्न प्रकार से व्याख्या की है -

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

अर्थात्, जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसको हम उचित कहते हैं। उचित का भाव ही औचित्य है।

औचित्य की परिभाषा करके क्षेमेन्द्र ने औचित्य के क्षेत्र बताये हैं। यद्यपि उनकी गणना करना सम्भव नहीं है, तथापि काव्य में औचित्य के प्रधान रूप से २७ क्षेत्र हो सकते हैं। वे निम्न हैं -

(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रबन्ध, (४) गुण, (५) अलङ्कार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिंग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१९) सत्त्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सारसंग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम और (२७) आशीर्वाद[९]।

क्षेमेन्द्र का कथन है कि औचित्य के क्षेत्र अनन्त हैं। इनका इसी प्रकार से विचार कर लेना चाहिये। अनन्त होने से इन सबका निदर्शन कराना सम्भव नहीं है। विभिन्न शास्त्रों के साथ औचित्य के सम्बन्ध को भी जान लेना चाहिये -

(१) पद, वाक्य और प्रबन्ध इन तीन भेदों का सम्बन्ध मीमांसा दर्शन से है।
(२) गुण, अलङ्कार और रस का सम्बन्ध काव्यशास्त्र से है।
(३) क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात और काल का सम्बन्ध व्याकरण शास्त्र से है।

(४) देश, कुल और व्रत का सम्बन्ध लोक से है।

(५) तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद का सम्बन्ध स्वयं कवि से है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के इन सभी भेदों और प्रभेदों की व्याख्या उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण देकर की और औचित्य के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया।

५. कविकण्ठाभरण

क्षेमेन्द्र का यह ग्रन्थ कविशिक्षा पर लिखा गया था। पी०वी० काणे का यह अभिमत है कि क्षेमेन्द्र द्वारा उल्लिखित 'कविकर्णिका' ग्रन्थ और 'कविकण्ठाभरण' ग्रन्थ एक हो सकते हैं। 'कविकर्णिका' नाम से कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है।

'कविकण्ठाभरण' में ५५ कारिकायें हैं, जो ५ सन्धियों (अध्यायों) में संकलित हैं। कविता करने की ५ सन्धियां या सरणियां क्षेमेन्द्र ने निम्न प्रकार से प्रतिपादित की हैं -

तत्राकवेः कवित्वप्राप्तिः शिक्षाप्राप्तगिरः कवेः।
चमत्कृतिश्च शब्दाप्तौ गुणदोषोद्गतिस्ततः।।
पश्चात् परिचयप्राप्तिरित्येते पञ्च सन्धयः।।

इस ग्रन्थ में क्षेमेन्द्र ने शिष्यों के तीन वर्ग कहे हैं। कवियों को उन्होंने पांच वर्गों में विभक्त किया है - छायोपजीवी, पदकोपजीवी, पादोपजीवी, सकलोपजीवी और भुवनोपजीवी। इस ग्रन्थ में उन्होंने १० प्रकार के चमत्कारों का भी वर्णन किया है।

६. सुवृत्ततिलक

'सुवृत्ततिलक' ग्रन्थ में क्षेमेन्द्र ने छन्दों का विस्तार के साथ सुन्दर वर्णन किया है। इसमें वृत्त (छन्द) के औचित्य के सम्बन्ध में विचार है। जहां तक वृत्त के औचित्य का प्रश्न है, इस ग्रन्थ को 'औचित्यविचारचर्चा' का ही पूरक ग्रन्थ समझना चाहिये।

अभिनवगुप्त के एक शिष्य क्षेमसार थे। उन्होंने शैव दर्शन पर अनेक पुस्तकें लिखी थीं। इनमें अभिनवगुप्त के एक ग्रन्थ 'परमार्थसार' पर व्याख्या भी है। नाम की समता के कारण कुछ समीक्षकों ने क्षेमसार और क्षेमेन्द्र को एक ही मान लिया। परन्तु इस प्रकार की धारणा गलत है। इन दोनों का व्यक्तित्व भिन्न था।

७. औचित्य का महत्त्व

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का जीवित सिद्ध करके औचित्य सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी। परन्तु काव्य की समालोचना का क्षेत्र औचित्य से सर्वथा अपरिचित रहा हो, ऐसा नहीं है। भरत मुनि से लेकर क्षेमेन्द्र तक सभी आचार्यों ने काव्य में औचित्य के महत्त्व का प्रतिपादन किया था। आनन्दवर्धन ने काव्य में औचित्य तत्त्व को बहुत अधिक प्रतिष्ठा दी थी और अनौचित्य को रसभंग का सबसे बड़ा कारण माना था[१०]। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' में

अलङ्कारौचित्य, गुणौचित्य, संघटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य, रीत्यौचित्य और रसौचित्य पर विशद विचार किया था।

परन्तु औचित्य को इतना महत्त्व देकर भी आनन्दवर्धन ने इसको काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया। काव्य की आत्मा तो उन्होंने ध्वनि को ही प्रतिपादित किया। क्षेमेन्द्र ने वस्तुतः 'ध्वन्यालोक' के इस औचित्यविषयक सिद्धान्त का गहन अध्ययन कर औचित्य के क्षेत्र का विस्तार किया और इस औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया।

....

सन्दर्भ –

१. काश्मीरेषु बभूव सिन्धुरधिकः सिन्धोश्च निम्नाशयः
प्राप्तस्तस्य गुणप्रकर्षयशसः पुत्रः प्रकाशेन्द्रताम्।
विप्रेन्द्रप्रतिपादितान्नधनभूगोसंघकृष्णाजिनैः
प्रख्यातातिशयस्य तस्य तनयः क्षेमेन्द्रनामाभवत् ।। दशावतारचरित के अन्त में।।

२. श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेस्तस्माद् विद्याविवृतिकारिणः।। बृहत्कथामञ्जरी १९.३७।।

३. (अ) इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्रीव्यासदासान्यतमाभिधेन क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः।।

दशावतारचरितम् १०.४१।।

(ब) तस्यात्मजः सर्वमनीषिशिष्यः श्रीव्यासदासापरपुण्यनामा।
क्षेमेन्द्र इत्यक्षयकाव्यकीर्तिश्चक्रे नवौचित्यविचारचर्चाम्।।

औचित्यविचारचर्चा अन्तिम श्लोकों में।।

४. तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।। औचित्यविचारचर्चा अन्तिम श्लोक।।

५. राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं.......।। कविकण्ठाभरण अन्तिम श्लोक।।

६. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – पी०वी० काणे पृ० ३२९।।

७. अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

औचित्यविचारचर्चा कारिका – ५।।

८ कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणः।।

औचित्यविचारचर्चा कारिका ६।।

९. पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे।
क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।

औचित्यविचारचर्चा कारिका ८-१०।।

१०. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसास्योपनिषत्परा।।

ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति से।।

....

तेईसवां अध्याय

मम्मट

१. मम्मट का महत्त्व

काव्यशास्त्र के आचार्यों में मम्मट ने सबसे अधिक आदर एवं गौरव से पूर्ण पद को प्राप्त किया है। इस गौरव का कारण उनका काव्यशास्त्र विषय पर लिखा गया ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' है। इस ग्रन्थ में काव्य के सभी तत्त्वों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित विषयों को छोड़ कर काव्य के अन्य सभी तत्त्व इस ग्रन्थ में आ गये हैं।

भरत से लेकर अपने समय तक काव्यशास्त्र के क्षेत्र में जो भी सिद्धान्त स्थिर किये गये थे, उन सबका मम्मट ने गहन अध्ययन किया था। इस सारे साहित्य का मन्थन करके जो नवनीत संग्रह किया था, तथा उसका जो सारभूत पदार्थ था, वह 'काव्यप्रकाश' है। मम्मट ने इन सभी सिद्धान्तों का समन्वय करके काव्यशास्त्र को जो रूप दिया था, उसी का अनुकरण उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों ने किया।

मम्मट से पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों ने काव्य के प्राय: कुछ ही अंगों का स्पर्श किया था। भामह और दण्डी काव्य के लक्षण, प्रयोजन और अलङ्कारों तक ही सीमित रह गये थे। उन्होंने शब्दशक्तियों, रस और ध्वनि की विवेचना नहीं की। रीति को असाधारण महत्त्व प्रदान करके भी वे रस और ध्वनि को उचित महत्त्व प्रदान नहीं कर सके। उद्भट अलङ्कारों तक ही सीमित रहे और ४१ अलङ्कारों की व्याख्या करने में उनकी प्रतिभा समाप्त हो गई। रुद्रट कुछ आगे अवश्य बढ़े। उन्होंने काव्य के लक्षण का, अलङ्कारों का, रस का, नायक-नायिका भेद का विशद वर्णन किया। परन्तु काव्य के सबसे प्रमुख तत्त्व ध्वनि के विना उनका काव्य का विवेचन अधूरा ही रह जाता है।

रुद्रट के पश्चात् आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त आते हैं। आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि का ऐसा विशद तथा प्राञ्जल स्वरूप प्रस्तुत किया कि सहृदयों के हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गये। परन्तु काव्य में ध्वनि ही तो अकेला तत्त्व नहीं है। गुण, अलङ्कार आदि का विशद विवेचन न होने से उनका ग्रन्थ अधूरा ही है। 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोकलोचन' टीकायें लिख कर अभिनवगुप्त ने काव्यशास्त्र का बहुत उपकार

किया था। परन्तु शब्दशक्तियों, गुणों, दोषों तथा अलङ्कारों की विवेचना के अभाव में काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उनका कार्य भी अपूर्ण ही है।

आचार्य मम्मट ने प्राचीन आचार्यों की इस अपूर्णता को पूरा किया था। प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करके काव्यशास्त्र के आवश्यक सिद्धान्तों का समन्वय तो उन्होंने अपने ग्रन्थ में किया ही था, नवीन-सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया था। प्राचीन परम्परा से चले आ रहे काव्य के लक्षण, प्रयोजन, शब्दशक्ति, गुण, दोष, रस, अलङ्कार की विवेचना तो उन्होंने 'काव्प्रकाश' में की ही थी, आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्थापित एवं अभिनवगुप्त द्वारा पोषित ध्वनि के सिद्धान्त को भी उन्होंने पुनर्जीवित किया था। आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के अनन्तर ध्वनि सिद्धान्त पर प्रबल प्रहार हुये थे। भट्टनायक, महिमभट्ट, आदि आचार्यों ने ध्वनि का खण्डन करने के लिये ही अपने ग्रन्थों की रचना की थी।

परन्तु आचार्य मम्मट ने इन ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का दृढ़ता और प्रबलता से खण्डन करके इस सिद्धान्त की पुन: स्थापना की थी। इस कारण इनको 'ध्वनिप्रस्थापना-परमाचार्य' भी कहा जाता है।

ध्वनि के जिस रमणीय सिद्धान्त को मिटा डालने का संकल्प व्यक्तिविवेककार ने किया था, मम्मट ने उसकी युक्तियों का खण्डन इस प्रकार किया कि वह अपने आपमें अकेला पड़ गया और उसके सिद्धान्त का कोई समर्थक नहीं रह गया। ध्वनि का यह सिद्धान्त 'काव्यप्रकाश' में अब पहले की अपेक्षा और भी अधिक सुन्दर तथा व्यवस्थित रूप से स्थिर हुआ।

मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के तर्कसम्मत सिद्धान्तों के मधु का सञ्चय करके उसको 'काव्यप्रकाश' में संजो दिया है। पूर्ववर्ती आचार्यों की त्रुटियों और कमियों को दूर करके उन्होंने एक सर्वाङ्गपूर्ण, सारगर्भित तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की इस प्रकार रचना की कि अकेले इस ग्रन्थ के अध्ययन से सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का ज्ञान हो सकता है। इसलिये समालोचकों ने 'काव्यप्रकाश' को काव्यशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहा और आचार्य मम्मट को वाग्देवतावतार की उपाधि से विभूषित किया।

२. मम्मट का जीवनवृत्त

मम्मट ने अपने जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। तथापि नाम से ही इनका काश्मीर निवासी होना सिद्ध होता है। 'काव्यप्रकाश' की 'सुधासागर टीका' के रचयिता भीमसेन ने मम्मट के परिचय में कुछ श्लोक दिये हैं[1]। इनके अनुसार मम्मट ने काश्मीर में जन्म लिया था और वे सरस्वती देवी का अवतार समझे जाते थे। इनके पिता का नाम जैयट था। कैय्यट और उव्वट ये दो इनके छोटे भाई थे। कैयट ने महाभाष्य की और उव्वट ने वेदों की व्याख्यायें लिखी थीं। मम्मट ने काशी जाकर विद्या का अध्ययन किया था और 'काव्यप्रकाश' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी।

परन्तु भीमसेन के इस कथन को वर्तमान समालोचक पूर्णतः प्रमाणिक नहीं मानते। इसमें दो आपत्तियां उठाई जाती हैं।

पहली आपत्ति है -

मम्मट के काशी जाकर विद्या का अध्ययन करने के सम्बन्ध में। काव्यशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में काशी की अपेक्षा काश्मीर अधिक प्रसिद्ध था। अतः काव्यशास्त्र का अध्ययन करने के लिये काश्मीर को छोड़ कर मम्मट के काशी जाने की बात असंगत प्रतीत होती है।

दूसरी आपत्ति है -

भीमसेन ने उव्वट को मम्मट का छोटा भाई बताया है। 'वाजसनेयि संहिता' के भाष्य में उव्वट ने अपने को आनन्दपुर का निवासी और बज्रट का पुत्र बताया है और लिखा है कि संहिता का भाष्य उन्होंने भोज के राज्यकाल में किया था[२]। इसके विपरीत मम्मट के पिता का नाम जैयट था और वे भोज के पश्चात् हुये थे। कैय्यट ने अवश्य ही अपने को जैयट का पुत्र लिखा।

भीमसेन ने अपनी टीका १७२३ ई० में, मम्मट के लगभग ६०० वर्ष पश्चात् लिखी थी। अतः उसके लिखने में भ्रान्ति रह सकती है।

काश्मीरी पण्डितों की परम्परा के अनुसार मम्मट 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष के मामा थे। परन्तु यह प्रसिद्धि भी असंगत प्रतीत होती है। श्रीहर्ष यदि काश्मीरी थे तो उनको काश्मीर जाकर अपने ग्रन्थ को प्रमाणित कराने की क्या आवश्यकता थी ? पुनः उनका समय भी मम्मट के बाद का है।

३. मम्मट का समय

मम्मट के समय की समीक्षा अधिक विवादास्पद नहीं है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है; जो कि १०१५ ई० में जीवित थे। पद्मगुप्त के 'नवसाहसाङ्कचरित' (१००५ ई० के लगभग में लिखा गया) के उद्धरण 'काव्यप्रकाश' में हैं। भोज के दान की मम्मट ने प्रशंसा की है[३]। भोज का राज्यकाल १०५५ ई० तक रहा था। अतः मम्मट ११ वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध के पश्चात् हुये होंगे।

'काव्यप्रकाश' की सबसे पहली टीका माणिक्यचन्द्र की 'संकेतटीका' है। यह ११६० ई० में लिखी गई थी। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन'(११४३ ई०) में आचार्य मम्मट के मत का उल्लेख किया है और रुय्यक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' (११३५ ई०) में मम्मट के मत का खण्डन किया है। इसलिये मम्मट इनसे पहले हुये होंगे। इन आधारों पर मम्मट का समय १०५०-११०० ई० के मध्य का निश्चित किया जा सकता है।

४. मम्मट की रचनायें

मम्मट का 'काव्यप्रकाश' काव्यशास्त्र का सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रन्थ

है। काव्यशास्त्र के नियमों को समझने के लिये इस ग्रन्थ में कुल १४२ कारिकायें हैं, जो कि दस उल्लासों में विभक्त की गई हैं। कारिकाओं के साथ ही उनकी वृत्ति दी गई है। नियमों को समझने के लिये मम्मट ने ६०३ उदाहरण विभिन्न काव्यों से संग्रह करके दिये हैं।

मम्मट के नाम से एक अन्य ग्रन्थ 'शब्दव्यापारविचार' भी प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन निर्णय सागर प्रेस से हुआ था। इसमें अभिधा और लक्षण का विस्तार से विवेचन किया गया है।

५. काव्यप्रकाश

'काव्यप्रकाश' में काव्य के सभी अंगों का विवेचन हुआ है। नाट्य से सम्बन्धित विषयों को छोड़ कर काव्य के सभी विषय इस ग्रन्थ में आ गये हैं। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं - कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिकाओं में पहले मम्मट ने नियमों को प्रस्तुत किया। वृत्ति में इन कारिकाओं की व्याख्या है। इन नियमों को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण प्रस्तुत किये गये। ये उदाहरण प्राय: पूर्वरचित ग्रन्थों से लिये गये हैं। मम्मट की इन कारिकाओं को कहीं-कहीं सूत्र भी कहा गया है। 'काव्यप्रकाश' की विषय-वस्तु उल्लास के ~~क्रम से निम्न~~ प्रकार से है -

(i) प्रथम उल्लास -

पहले उल्लास में मम्मट ने भारती देवी की वन्दना करके काव्य के प्रयोजन, हेतु और लक्षण प्रतिपादित किये हैं। तदनन्तर काव्य के तीन भेदों -उत्तम (ध्वनिकाव्य), मध्यम (गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य) तथा अधम (चित्रकाव्य) की परिभाषायें दी गई हैं।

(ii) द्वितीय उल्लास -

दूसरे उल्लास में शब्दशक्तियों का विवेचन है। शब्द के वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक तीन भेद किये गये हैं। तीन प्रकार की शब्दशक्तियों - अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की व्याख्या की गई हैं। कुछ अन्य विद्वान् एक चौथी वृत्ति तात्पर्या भी मानते हैं। इन वृत्तियों से वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना वृत्ति द्वारा होती है। व्यञ्जना वृत्ति दो प्रकार की होती है - लक्षणामूल और अभिधामूल। अभिधामूल व्यञ्जना भी दो प्रकार की होती है -शाब्दी और आर्थी।

(iii) तृतीय उल्लास -

तृतीय उल्लास में आर्थी व्यञ्जना (अभिव्यञ्जकता) का विशद विवेचन है।

(iv) चतुर्थ उल्लास -

इस उल्लास में ध्वनिकाव्य के भेद बताये गये हैं। ध्वनि काव्य दो प्रकार का होता है - अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य के भी दो भेद हैं - अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत। विवक्षितान्यपरवाच्य के मुख्य तीन भेद हैं -

रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि। इस उल्लास में रस के स्वरूप, निष्पत्ति स्थायी भाव, विभाव, व्यभिचारी भाव आदि का विशद विवेचन किया गया है। रसों के भेदों का वर्णन है। मम्मट के अनुसार रसों की संख्या ९ है। इनमें से नाट्य में ८ ही रस होते हैं। रसध्वनि के ही अन्तर्गत भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, और भावशबलता की विवेचना है।

रसध्वनि का विवेचन करके वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि की विवेचना है। इसके लिये ध्वनि के अन्य तीन भेदों - शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव तथा उभयशक्त्युद्भव की कल्पना की गई है। इनके भी अन्य अवान्तर भेद हैं।

(v) पञ्चम उल्लास -

इस उल्लास में पहले गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के भेदों का विवेचन किया गया है। तदनन्तर मम्मट ने व्यञ्जना वृत्ति की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया है। इस प्रतिपादन द्वारा यह सिद्ध किया है कि काव्य के प्रत्येक भेद में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ही होती है। प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है - वस्तु, अलङ्कार और रस। वस्तु तथा अलङ्कार वाच्य भी हो सकते हैं, परन्तु रस रूप अर्थ सदा प्रतीयमान ही होता है। इस प्रकरण में मम्मट ने व्यञ्जना का विरोध करने वाले आचार्यों की युक्तियों की समीक्षा करके और उनका खण्डन करके ध्वनि की प्रतिष्ठा की है।

(vi) षष्ठ उल्लास -

छठा उल्लास बहुत स्वल्पकाय है। इसमें अधम काव्य (चित्रकाव्य) के दो भेदों - शब्दचित्र तथा अर्थचित्र का वर्णन है।

(vii) सप्तम उल्लास -

सप्तम उल्लास में दोषों का निरूपण है। सबसे पहले दोष का लक्षण है। मुख्य अर्थ का विघात करने वाला तत्त्व दोष है। रस ही मुख्य अर्थ है। रस के शब्द-अर्थ का आश्रय होने से दोष उनमें भी होता है। दोष दो प्रकार के होते हैं - नित्य और अनित्य।

दोषों के अनेक भेद बताये गये हैं। इनको पांच वर्गों में विभक्त किया गया है - पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस के दोष। दोषों का निरूपण करके यह भी बताया गया है कि कुछ दोष ऐसे हैं, जो कहीं तो दोष हैं, परन्तु अन्य स्थानों पर दोष नहीं रहते। ये अनित्य दोष कहलाते हैं। दोषों के निराकरण के उपाय भी बताये गये हैं। रस दोषों का मम्मट ने विस्तृत विवेचन करके इनके परिहार के उपाय भी बताये हैं। ध्वन्यालोककार के मन्तव्य का समर्थन करते हुये मम्मट ने अनौचित्य को रस का सबसे बड़ा दोष बताया है।

(viii) अष्टम उल्लास -

आठवें उल्लास में गुणों की विवेचना है। इसमें पहले गुण और अलङ्कार की परिभाषा देकर इनके अन्तर को स्पष्ट किया गया है।। मम्मट के अनुसार गुण केवल तीन

होते हैं - माधुर्य, ओज और प्रसाद। प्राचीन आचार्यों ने, विशेष रूप से वामन ने दस शब्दगुण तथा दस अर्थगुण कहे थे। मम्मट ने वामन के दस शब्दगुणों का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों में ही कर लिया तथा दस अर्थ गुणों के लिये कहा कि ये वस्तुतः गुण ही नहीं हैं।

तदनन्तर मम्मट ने गुणों को अभिव्यञ्जित करने वाले वर्ण, समास तथा रचना का वर्णन किया हैं।

(ix) नवम उल्लास -

नवम उल्लास में शब्दालङ्कारों का स्वरूप उदाहरण सहित बताया गया है। सबसे पहले वक्रोक्ति के दो भेद - श्लेष और काकु हैं। तदनन्तर अनुप्रास के अनेक भेद हैं। अनुप्रास के अन्तर्गत ही उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का एवं वैदर्भी आदि रीतियों का कथन कर दिया गया है। अनुप्रास के पश्चात् यमक, श्लेष और चित्र अलङ्कार हैं। चित्र अलङ्कार के अन्तर्गत खड्गबन्ध, मुरजबन्ध आदि आते हैं। अन्त में पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार का विवेचन है।

(x) दशम उल्लास -

इस उल्लास में अर्थालङ्कारों की विशद विवेचना उदाहरण सहित की गई है। मम्मट का यह अलङ्कार विवेचन प्रौढ़ और व्यवहारिक है। इस प्रकरण में मम्मट ने ६१ अलङ्कारों के स्वरूप की विवेचना की है। अलङ्कारों के अनेक भेदों की व्याख्या है। उपमा के भेद मुख्य रूप से व्याकरण के आधार पर किये गये हैं, जो २२ हैं। ६१ अलङ्कारों का विवेचन करके उनके संकर तथा संसृष्टि का भी वर्णन है। अन्त में मम्मट ने अलङ्कारों के दोषों को भी बताया है। अलङ्कारों के दोषों का निरूपण करने में मम्मट की असावधानता का निर्देश काणे महोदय ने किया है कि अलङ्कार दोषों का अन्तर्भाव सातवें उल्लास में किये गये दोषों के निरूपण में ही हो जाता है[४]।

'काव्यप्रकाश' के दस उल्लासों की विषयवस्तु की इस विवेचना से यह सिद्ध है कि इस ग्रन्थ में काव्य के सभी अंगों का विशद निरूपण है। केवल नाट्य से सम्बन्धित विषय ही इसमें नहीं हैं।

'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ के जो तीन भाग हैं, इनमें कारिका तथा वृत्ति लेखक की स्वयं की रचना हैं, तथा उदाहरणों का संग्रह विभिन्न काव्यों से किया गया है। काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों और उदाहरणों को लिखते समय मम्मट ने अनेक प्राचीन आचार्यों तथा कवियों के नामों को अथवा उनकी रचनाओं को उद्धृत किया है। इनमें से कुछ निम्न हैं -

भरत, महाभाष्यकार, रामायण, महाभारत, भामह, ध्वनिकार, भट्टनायक, लोल्लट, शंकुक, अभिनवगुप्त, रुद्रट, उद्भट, कामशास्त्र, कालिदास, बाण, मयूर, श्रीहर्ष, भवभूति, कुट्टनीमत, अमरुशतक, कर्पूरमञ्जरी, नागानन्द, रत्नावली, विद्धशालभञ्जिका, बालरामायण,

भास की रचनायें, वेणीसंहार, चण्डीशतक, नवसाहसाङ्कचरित, भट्टिकाव्य, भर्तृहरि के शतक, शिशुपालवध, बिज्जका के पद, हयग्रीववध, हरविजय, विष्णुपुराण आदि।

६. काव्यप्रकाश का कर्तृत्व

'काव्यप्रकाश' के कर्ता मम्मट ही प्रसिद्ध हैं। परन्तु प्राचीन विवरणों तथा माणिक्यचन्द्र की 'संकेत टीका' आदि से यह प्रकट होता है कि इस ग्रन्थ को लिखने में अल्लट सूरि नामक विद्वान् ने भी सहयोग दिया था। अल्लट भी काश्मीर का ही रहने वाला था। 'काव्यप्रकाश' की रचना में अल्लट के सहयोग को सभी विद्वान् समालोचक स्वीकार करते हैं। 'काव्यप्रकाश' के अन्त में निम्न श्लोक है -

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न यद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता संघटनैव हेतुः ।।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुये 'काव्यप्रकाश' के सबसे प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र का कथन है कि यह ग्रन्थ दो व्यक्तियों द्वारा लिखा गया था, परन्तु संघटना के कारण अखण्ड ही प्रतीत हो रहा है। वे लिखते हैं -

"अथ चायं ग्रन्थोऽन्येननारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशादखण्डायते।।"

इसी प्रकार से 'काव्यप्रकाश' के एक अन्य टीकाकार रुचक लिखते हैं -

"एतेन महामतीनां प्रसरणहेतुरेष ग्रन्थो ग्रन्थकृतानेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरितावशेषत्वाद् द्विखण्डोऽपि.........।"

सोमेश्वर नामक टीकाकार ने भी 'काव्यप्रकाश' के दो लेखकों के कर्तृत्व के विषय में लिखा है -

"अत्र च सुधियां विकासहेतुर्ग्रन्थोऽयं कथञ्चिदपूर्णत्वादन्येन पूरितशेष इति द्विखण्डोऽपि........।"

इन टीकाकारों ने यह तो लिखा था कि इस ग्रन्थ की रचना दो विद्वानों ने की थी, परन्तु इन्होंने यह नहीं लिखा कि किस विद्वान् ने कितने अंश में इस ग्रन्थ की रचना की। इस प्रश्न का उत्तर 'काव्यप्रकाश' की 'काव्यप्रकाशनिदर्शन' नाम की टीका के रचयिता राजानक आनन्द (१६८५ ई०) ने दिया था। उसने लिखा -

"मम्मट ने इस ग्रन्थ की रचना परिकर अलङ्कार (दशम उलास) तक की थी। शेष अंश को अलक सूरि ने पूरा किया था।" इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' की रचना दो लेखकों की है। उनका लेख इस प्रकार है -

"कृतः श्री मम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालकसूरिणा।।

अन्येनाप्युक्तं , काव्यप्रकाशदशकोऽपि निबन्धकृद्भ्यां द्वाभ्यां कृतोऽपि कृतिनां रसवत्त्वलाभः ।"

टीकाकार रुचक ने 'काव्यप्रकाश' के प्रथम उल्लास की टीका की समाप्ति पर लिखा है -

"इति श्रीराजानकामल्लमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाशसंकेते प्रथम उल्लासः ।"

'काव्यप्रकाश' के सम्बन्ध में अन्य लेखकों के लेखों से यह भी संकेत मिलता है कि अलक या अल्लट सूरि ने केवल दशम उल्लास में ही नहीं, अपितु अन्य उल्लासों के लिखने में भी मम्मट की सहायता की थी। 'अमरुकशतक' के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव (१२११-१२१६ ई०) ने "भवतु विदितम्०" श्लोक की टीका में लिखा है -

"यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां प्रसादे वर्तस्व............ ।"

इसी प्रकार "लीलातामरसाहतो०" की टीका में उन्होंने लिखा है -

"अत्र केचिद् वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति दोषमाचक्षते.......तदा वाग्देवतादेश इति व्यवसितव्य एवासौ। किन्तु ह्लादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी....... ।"

इससे प्रकट होता है कि अलक सूरि या अल्लट ने केवल दशम उल्लास की रचना में ही मम्मट की सहायता नहीं की थी, अनितु सातवें उल्लास में भी की थी।

इन उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि 'काव्यप्रकाश' केवल मम्मट की ही रचना नहीं है, अपितु अलक या अल्लट भी उसके सहायक हैं। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि इस दूसरे लेखक ने किस सीमा तक इस ग्रन्थ को लिखने में सहयोग दिया था।

निश्चित रूप से यह कहना भी कठिन है कि इस दूसरे लेखक का नाम अलक था या अल्लट। अलक और अल्लट दोनों ही नाम मिलते हैं। काश्मीर की परम्परा के अनुसार अल्लट नाम अधिक सही प्रतीत होता है। कर्नल जैकब ने भी अल्लट नाम को अधिक शुद्ध माना है। परन्तु प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में अलक नाम अधिक मिलता है। पी० वी० काणे महोदय ने भी इसी नाम को अधिक प्रामाणिक समझा है[५]।

७. कारिकाकार एवं वृत्तिकार

'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं और वृत्ति के कर्तृत्व के सम्बन्ध में भी विवाद उपस्थित हुआ था। यह तो सर्वमान्य है कि वृत्ति के रचयिता मम्मट ही थे, परन्तु कारिकाओं के कर्तृत्व के सम्बन्ध में विवाद है। कुछ समालोचकों का विश्वास है कि इस ग्रन्थ की कारिकायें भरत मुनि की रचनायें हैं। मम्मट ने इन पर केवल वृत्ति ही लिखी

थी। इस विवाद का उदय सबसे पहले बंगाल में हुआ और इस विषय पर निम्न युक्तियां दी जाती हैं -

(१) 'साहित्यकौमुदी' के रचयिता विद्याभूषण ने 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं को भरत मुनि की रचना माना है। इसका उल्लेख उसने अपने ग्रन्थ में दो बार किया है -

(अ) **मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्।**
वृत्तिं भरतसूत्राणां विद्याभूषणो व्यधात्।।

(ब) **"सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां कृतौ ममास्याम्।"**

(२) 'काव्यप्रकाश' की आदर्श टीका के रचयिता महेश्वर ने 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं को भरत मुनि द्वारा विरचित माना है।

(३) 'काव्यप्रकाश' की रचना को प्रारम्भ करते हुये ग्रन्थकार इस प्रकार लिखते हैं -

"ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति।"

इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार मम्मट जिस कारिका को आगे कहने जा रहे हैं, उनका रचयिता उनसे भिन्न है। इसी कारण **"परामृशति"** पद में प्रथम पुरुष का प्रयोग है। यदि कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति होते, तो यहां उत्तम पुरुष का प्रयोग होना चाहिये था। अत: कारिकाकार एवं वृत्तिकार भिन्न व्यक्ति ही हैं और कारिकाओं के कर्ता भरत हैं।

(४) दसवें उल्लास में रूपक अलङ्कार की विवेचना में कारिका में लिखा है -

"समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा।"

इसकी वृत्ति में वृत्तिकार ने लिखा है -

"बहुवचनमविवक्षितम्।"

यदि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही होते तो मम्मट को कारिका में बहुवचन का प्रयोग करने तथा वृत्ति में बहुवचन को अविवक्षित कहने की क्या आवश्यकता थी ? वे कारिका में ही अपने प्रयोजन के अनुसार वचन का प्रयोग कर सकते थे। अत: कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न व्यक्ति समझना चाहिये। कारिकाओं के रचयिता भरत मुनि हैं।

परन्तु काकिाकार तथा वृत्तिकार की भिन्नता को प्रतिपादित करने के लिये और भरत मुनि को कारिकाओं का रचयिता सिद्ध करने के लिये इन युक्तियों में विशेष बल नहीं है। 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं को सम्पूर्ण रूप से भरतकृत नहीं माना जा सकता। यह सत्य है कि रस के स्वरूप का विवेचन करते हुये 'काव्यप्रकाश' में भरत का अनुसरण किया गया है, और भरत के तीन सूत्र 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं में आ गये हैं, परन्तु इससे 'काव्यप्रकाश' की कारिकायें भरतकृत सिद्ध नहीं हो जातीं। रसविषयक तीन

कारिकाओं के अतिरिक्त 'काव्यप्रकाश' की कोई भी कारिका भरत के 'नाट्यशास्त्र' में नहीं है। 'नाट्यशास्त्र' के अतिरिक्त भरत की अन्य कोई भी रचना नहीं है। अतः 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं को भरतकृत नही माना जा सकता।

'काव्यप्रकाश' के चौथे उल्लास में मम्मट ने पहले **"कारणान्यथ कार्याणि०"** इन दो कारिकाओं को लिखा और तदनन्तर वृत्ति में लिखा –

"तदुक्तं भरतेन – विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"।

यदि 'काव्यप्रकाश' की कारिकायें भरतमुनि की रचना होतीं तो पहले कारिकाओं को लिख कर वृत्ति में **"तदुक्तं भरतेन"** लिखने की और उसके पश्चात् भरत के रससूत्र को उद्धृत करने की मम्मट को आवश्यकता नहीं थी। अतः कारिकाओं का रचयिता मम्मट को ही समझना चाहिये। उन्होंने पहले कारिकायें लिख कर तदनन्तर वृत्ति भी स्वयं लिखी।

"ग्रन्थकृत् परामृशति" में प्रथम पुरुष के प्रयोग के आधार पर कारिकाकार और वृत्तिकार की भिन्नता को प्रमाणित करना भी तर्कसंगत नहीं है। शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना में यह परम्परा प्रायः दृष्टिगोचर होती है कि ग्रन्थकार ने अपने लिये प्रथम पुरुष का प्रयोग किया है। इस प्रकार की शैली संस्कृत में बहुत अधिक प्रचलित और समादृत रही थी। इससे लेखक की निरभिमानिता तथा अहङ्कारशून्यता परिलक्षित होती है। 'साहित्यदर्पण' के प्रारम्भ में विश्वनाथ ने **"वाग्देवतायाः साम्मुख्यमाधत्ते"** लिख कर और नागेश भट्ट ने **"नागेशः कुरुते सुधीः"** लिख कर अपनी निरभिमानिता को प्रकट किया है।

काव्यों में इस प्रकार के प्रयोग अनेक स्थानों पर देखे जाते हैं, जबकि वक्ता अपने लिये प्रथम पुरुष का प्रयोग करता है। अतः **"परामृशति"** पद में प्रथम पुरुष के प्रयोग के आधार पर कारिकाओं के रचयिता को मम्मट से भिन्न प्रतिपादित करना तर्कसंगत नहीं है।

"समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा" में बहुवचन के आधार पर भी कारिकाओं के कर्तृत्व को मम्मट से भिन्न प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। इसकी वृत्ति में **"बहुत्वमविवक्षितम्"** लिखने का लेखक का विशिष्ट प्रयोजन है। कारिका में बहुवचन का प्रयोग इस कारण किया गया है कि समस्तवस्तुविषय में आरोप्यमाण अनेक होंगे। वृत्ति के **"आरोपविषया इव आरोप्यामाणा यद०"** इस भाग से यह स्पष्ट है। वृत्ति में **"बहुत्वमविवक्षितम्"** से अभिप्राय है कि आरोप्यमाण विषयों के दो होने पर भी समस्तवस्तुविषयक रूपक अलङ्कार होता है। अतः इस आधार पर भी कारिकाकार तथा वृत्तिकार को भिन्न भिन्न व्यक्ति नहीं माना जा सकता।

रूपक अलङ्कार के प्रसंग में ही निम्न कारिका है –

"साङ्गमेतन्निरङ्गं तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्।"

इसमें रूपक अलङ्कार के एक भेद **"मालारूपक"** का संकेत दिया गया है। इससे

प्रतीत होता है कि मालारूपक भी मालोपमा के समान होता है। परन्तु इस तथ्य को कारिका में न कह कर वृत्ति में कहा गया है -

"मालोपमायामिवैकस्मिन् बहवो ह्यारोपिता:" ।

यदि कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न भिन्न व्यक्ति होते तो इस तथ्य को दोनों स्थानों पर कहा जाता। अत: कारिकाओं तथा वृत्ति के रचयिता एक ही आचार्य हैं और वे मम्मट हैं।

मम्मट के ग्रन्थ से यह संकेत कहीं भी नहीं मिलता कि वे किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचित कारिकाओं पर वृत्ति लिख रहे हैं। यदि कारिकायें किसी अन्य व्यक्ति की रचनायें होतीं और मम्मट ने केवल वृत्ति की ही रचना की होती तो वे प्राचीन परम्राओं के अनुसार कारिका तथा वृत्ति के लिये अलग अलग मंगलाचरण की योजना करते। परन्तु कारिका तथा वृत्ति दोनों भागों के लिये एक ही मंगलाचरण होने से यह समझा जा सकता है कि इन दोनों की रचना एक ही लेखक ने की है।

'काव्यप्रकाश' के प्राचीन टीकाकारों - माणिक्यचन्द्र, जयन्त भट्ट, नरहरि सरस्वती, सोमेश्वर, आदि किसी ने कहीं भी कारिकाकार तथा वृत्तिकार को भिन्न व्यक्ति नहीं कहा। इसके विपरीत अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों ने मम्मट को ही कारिकाकार एवं वृत्तिकार प्रतिपादित किया। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में **"काव्यं यशसेऽर्थकृते०"** इस कारिका को तथा इसकी वृत्ति को , दोनों को ही मम्मट कृत माना है। मम्मट के पश्चात् केवल ५० वर्ष उपरान्त ही होने वाले हेमचन्द्र का कथन काफी प्रामाणिक समझा जा सकता है। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के लेखक विद्यानाथ, 'चित्रमीमांसा ' के रचयिता अप्पयदीक्षित, 'रसगंगाधर' के लेखक जगन्नाथ आदि आचार्य 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं तथा वृत्ति के लेखक को एक ही व्यक्ति समझते रहे हैं।

'काव्यप्रकाश' की 'प्रकाशतिलक' टीका के लेखक जयराम ने पहले उन विद्वानों का पक्ष प्रस्तुत किया है, जो कारिकाओं का लेखक भरत को तथा वृत्ति का लेखक मम्मट को प्रतिपादित करते हैं। तदनन्तर उन्होंने पृथक्त्व को प्रतिपादित करने वाली युक्तियों का खण्डन करके कारिकाओं का रचयिता मम्मट को ही सिद्ध किया है। उनकी युक्तियों का सारांश यही है, जो ऊपर दिया जा चुका है।

इस प्रकार कारिकाओं का रचयिता तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति है और वे आचार्य मम्मट हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है।

८. काव्यप्रकाश की प्राचीन टीकायें

'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ पर विचार करते हुये उसकी प्राचीन टीकाओं पर भी विचार करना आवश्यक है। इन टीकाओं के विना 'काव्यप्रकाश' के रहस्य को समझना कठिन ही है। काव्यशास्त्र के विद्वानों में मम्मट का 'काव्यप्रकाश' सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा

था और इसकी टीकायें संख्या में सबसे अधिक लिखी गई थीं। 'काव्यप्रकाश' पर टीका लिखना विद्वता का मापदण्ड जाता था। इस ग्रन्थ पर टीकायें केवल टीकाकारों ने ही नहीं लिखीं, मौलिक ग्रन्थों की रचना करने वाले आचार्यों ने भी इस पर टीकायें लिखीं थी। 'काव्यप्रकाश' को बहुत दुरूह तथा प्रौढ ग्रन्थ समझा जाता था। इस ग्रन्थ की टीकाओं के विषय में निम्न श्लोक प्रसिद्ध था -

"काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे
टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।।"

'काव्यप्रकाश' की निम्न प्राचीन टीकायें अधिक प्रसिद्ध हैं -

(i) रुय्यक या रुचककृत संकेत टीका -

इस टीका की रचना १२वीं शताब्दी ई० के मध्य काल में (११४५ ई० के लगभग) हुई थी।

(ii) माणिक्यचन्द्रकृत संकेत टीका -

'काव्यप्रकाश' की यह टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध है। माणिक्यचन्द्र गुजरात के रहने वाले जैन विद्वान् थे। इन्होंने यह टीका १२१६ विक्रमी संवत् (११६० ई०) में पूरी की थी[६]।

(iii) चित्तानुरञ्जिनी टीका -

नरहरि सरस्वती तीर्थ ने १२४२ ई० में 'चित्तानुरञ्जिनी' टीका लिखी थी।

(iv) दीपिका टीका -

जयन्तभट्ट ने १२९४ ई० में दीपिका टीका लिखी थी। ये गुजरात के राजा शाङ्गदिव के पुरोहित के पुत्र थे।

(v) काव्यादर्श या संकेत टीका -

सोमेश्वर ने १३वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में इस ग्रन्थ की टीका लिखी थी। इस टीका का नाम 'काव्यादर्श' या 'संकेत टीका' है।

(vi) वाचस्पति टीका -

वाचस्पति ने १३ वीं शताब्दी ई० में इस ग्रन्थ की एक टीका लिखी थी। ये मिथिला प्रदेश के रहने वाले थे।

(vii) दीपिका टीका -

चण्डीदासकृत टीका का नाम 'दीपिका' है। ये विश्वनाथ कविराज के पितामह के छोटे भाई थे। इनका समय १३ वीं शताब्दी ई० का मध्य भाग है।

(viii) काव्यप्रकाशदर्पण टीका -

विश्वनाथ कविराज ने भी 'काव्यप्रकाश' की टीका लिखी थी। इनकी टीका का नाम 'काव्यप्रकाशदर्पण' है। इनका समय १४ वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध है। इनका मौलिक

ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' बहुत प्रसिद्ध है।

(ix) काव्यप्रदीप टीका –

'काव्यप्रकाश' पर गोविन्द ठक्कर की 'काव्यप्रदीप' टीका भी बहुत प्रसिद्ध है। इनका समय १५वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध है। इस टीका पर अन्य टीकायें लिखी गईं। इस पर वैद्यनाथ ने 'प्रभा टीका' और नागोजी भट्ट से 'उद्योत टीका' लिखी।

(x) सुधासागर या सुबोधिनी टीका –

भीमसेन ने 'काव्यप्रकाश' पर 'सुधासागर' या 'सुबोधिनी टीका' लिखी थी। उनकी रचना का समय १७२३ ई० है।

(xi) सुबोधिनी टीका –

वामनाचार्य झलकीकर की 'सुबोधिनी टीका' बहुत प्रसिद्ध है। इसमें 'काव्यप्रकाश' के मर्म को बहुत सरल ढंग से समझाया गया है। वामनाचार्य ने इसमें अन्य टीकाकारों के मत भी उद्धृत किये है। यह टीका १७४७ ई० में लिखी गई थी।

वामनाचार्य ने अपनी टीका में ऊपर कही गई टीकाओं के अतिरिक्त निम्न टीकाओं के नाम और गिनाये हैं –

(१) परमानन्दभट्टाचार्यकृत विस्तारिका टीका
(२) आनन्दकवि कृत निदर्शना टीका
(३) श्रीवत्सलांछनकृत सारबोधिनी टीका
(४) महेश्वरकृत आदर्श टीका
(५) कमलाकरभट्टकृत विस्तृता टीका
(६) नरसिंहकृत नरसिंहमनीषा टीका
(७) महेशचन्द कृत तात्पर्यविवृति टीका
(८) नागेशभट्ट कृत लघ्वी टीका
(९) वैद्यनाथ कृत उदाहरणचन्द्रिका टीका
(१०) राघवकृत अवचूरि टीका
(११) श्रीधरकृत टीका
(१२) देवनाथकृत टीका
(१३) भास्करकृत साहित्यदीपिका टीका
(१४) सुबुद्धिमिश्रकृत टीका
(१५) पद्मनाभकृत टीका
(१६) मिथिलेश के मन्त्री अच्युत कृत टीका
(१७) अच्युतपुत्र रत्नपाणिकृत टीका
(१८) भट्टाचार्य की काव्यदर्पण टीका
(१९) भट्टाचार्यपुत्र रवि कृत मधुमती टीका
(२०) तत्त्वबोधिनी टीका(निर्माता का नाम अविदित)
(२१) जयरामकृत प्रकाशतिलक टीका

(२६) पक्षधरकृत टीका
(२७) सूरिकृत रहस्यप्रकाश टीका
(२८) भास्करकृत रहस्यनिबन्ध टीका
(२९) रामकृष्णकृत काव्यप्रकाश-भावार्थ टीका
(३०) कौमुदी टीका (निर्माता का नाम अविदित)
(३१) आलोक टीका (निर्माता का नाम अविदित)

वर्तमान समय में भी 'काव्यप्रकाश' की अनेक टीकायें अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओंमें लिखी जा चुकी हैं।

सन्दर्भ -

१. शब्दब्रह्मसनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान्।
श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः
श्रीमन्मम्मटसंज्ञयाश्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन् ।।
मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्
शास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात्।
तद्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाशं स्फुटं
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात् ।।
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुं
शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः।
श्रीमान् कैयट औव्वटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्यानसिद्धिं गतः।।
भीमसेनकृत काव्यप्रकाश की कीर्तिसुधाकर टीका की प्रस्तावना से ।।

२. आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सुनूना।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथिवीं प्रशासति।।

३. काव्यप्रकाश - दशम उल्लास - उदात्त अलङ्कार का उदाहरण।।

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे, पृ० ३३३ ।

५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे, पृ० ३३९-३४० ।।

६. रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे (१२१६ विक्रमी संवत्) मासि माधवे । मया काव्यप्रकाशस्य संकेतोऽयं समर्पितः।

चौबीसवां अध्याय

रुय्यक

रुय्यक का महत्त्व

'अलङ्कारसर्वस्व' के रचयिता रुय्यक काव्यशास्त्र के इतिहास में अलङ्कारों का निरूपण करने के लिये मेरुदण्ड के सदृश रहे हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के अलङ्कारसम्बन्धी अन्वेषणों और मन्तव्यों का समन्वय कर लिया था। भरत और भामह से लेकर मम्मट तक जितने भी आचार्य हुये थे, उनके अलङ्कार प्रतिपादन में होने वाली कमियों का अनुभव करके रुय्यक ने उनका परिहार किया था। रुय्यक के समय तक ११८ अलङ्कारों की उद्भावना हो चुकी थी। रुय्यक ने इनमें से ७५ अलङ्कारों को स्वीकार किया तथा ७ अलङ्कारों की स्वयं उद्भावना की। इस प्रकार रुय्यक ने ८२ अलङ्कारों का विवेचन किया।

उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों ने अलङ्कारों की जो समीक्षायें की थीं, रुय्यक उनके लिये प्रेरणा के स्रोत रहे थे। रुय्यक के अनन्तर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पाण्डे तक जितने भी काव्यशास्त्र के आचार्य हुये, उन्होंने रुय्यक से प्रेरणा तथा मार्ग का निर्देशन लेकर अपनी अलङ्कारों की विवेचना प्रस्तुत की थी। इस प्रकार अलङ्कारों के चिन्तन एवं विवेचन में रुय्यक मेरुदण्ड के सदृश रहे। इनके अनुशीलन के विना अलङ्कारों का अध्ययन पूर्ण नहीं माना जा सकता।

२. रुय्यक का समय और स्थान

रुय्यक ने अपनी कृतियों में अपने जीवन का परिचय नहीं दिया। रुय्यक के अपने ग्रन्थों से तथा अन्य साहित्य से उनके विषय में स्वल्प ही तथ्य उपलब्ध होते हैं। रुय्यक के नाम से तथा उनके अन्य सम्बन्धों से यह विदित होता है कि वे काश्मीर के निवासी थे। रुय्यक ने 'काव्यप्रकाश' की संकेत टीका लिखी है, अत: वे निश्चित रूप से मम्मट (११००ई०) के उत्तरवर्ती काल में हुये थे। रुय्यक ने 'व्यक्तिविवेक' (१०५० ई०) की टीका भी लिखी थी। इन्होंने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' (१०८५ ई०) के कुछ पद्यों को 'अलङ्कारसर्वस्व' में उद्धृत किया है। अत: इनका समय महिमभट्ट, बिह्लण और मम्मट के बाद का है।

'श्रीकण्ठचरित' के रचयिता मंखक के अनुसार रुय्यक उनके गुरु थे। परन्तु

'श्रीकण्ठचरित' के कुछ श्लोक 'अलङ्कारसर्वस्व' में उदाहरण के रूप में उद्धृत भी हैं। इससे प्रतीत होता है कि रुय्यक और मंखक समकालीन भी रहे होंगे। मंखक काश्मीर नरेश जयसिंह के सन्धि विग्रहिक के पद पर रहे थे। और जयसिंह का राज्यकाल ११२८-११४८ ई० रहा था।अत: रुय्यक और इनके शिष्य मंखक दोनों का समय १२ वीं शताब्दी का मध्य भाग समझा जा सकता है।

रुय्यक का दूसरा नाम रुचक भी प्रसिद्ध था। रुचक संस्कृत भाषा का शब्द है और रुय्यक शब्द स्थानीय भाषा का है। 'सहृदयलीला' के अनुसार इनका एक नाम रुय्यक था और दूसरा नाम रुचक था। परवर्ती ग्रन्थकारों ने इनके रुचक नाम का अधिक प्रयोग किया है।

रुय्यक के पिता का नाम तिलक था, यह 'सहृदयलीला' के उपसंहार से विदित होता है। तिलक इनके गुरु भी थे। रुय्यक द्वारा लिखित 'काव्यप्रकाश' की संकेत टीका के मंगल श्लोक से भी यह विदित होता है कि इनके पिता ही इनके गुरु थे। तिलक ने उद्भट के 'अलङ्कारसारसंग्रह' ग्रन्थ पर 'विवरण' नामक टीका लिखी थी, जिसका उल्लेख जयरथ ने अनेक बार किया है।

रुय्यक के पिता तिलक को और स्वयं रुय्यक को अपनी विद्वत्ता के कारण राजानक की उपाधि प्राप्त हुई थी।

३. रुय्यक की रचनायें

'अलङ्कारसर्वस्व' रुय्यक की सबसे प्रसिद्ध रचना है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने अन्य भी बहुत से ग्रन्थों की रचना की थी। रुय्यक के ग्रन्थ इस प्रकार हैं -

(१) अलङ्कारसर्वस्व
(२) काव्यप्रकाशसंकेत
(३) सहृदयलीला
(४) नाटकमीमांसा
(५) व्यक्तिविवेकविचार
(६) हर्षचरितवार्तिक
(७) साहित्यमीमांसा
(८) श्रीकण्ठस्तव
(९) अलङ्कारानुसारिणी
(१०) अलङ्कारमञ्जरी
(११) अलङ्कारवार्तिक

इन ग्रन्थों में से पांच ग्रन्थ उपलब्ध हैं तथा प्रकाशित हो चुके हैं - 'अलङ्कारसर्वस्व', काव्यप्रकाशसंकेत', 'सहृदयलीला', 'व्यक्तिविवेकविचार' और 'साहित्यमीमांसा'। इन ग्रन्थों

का संक्षिप्त परिचय देना उपयोगी होगा।

(i) काव्यप्रकाशसंकेत टीका -

यह ग्रन्थ मम्मट के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' की टीका है।

(ii) व्यक्तिविवेकविचार -

इस ग्रन्थ में लेखक ने महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' के सिद्धान्तों की परीक्षा की है। इस ग्रन्थ का नाम 'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' भी प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन त्रिवेन्द्रम से और चौखम्बा संस्कृत सीरीज से हुआ है। यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है।

(iii) सहृदयलीला -

यह चार उल्लेखों में विभक्त एक छोटी सी पुस्तिका है। इसका प्रकाशन पिशेल के सम्पादकत्व में काव्यमाला सीरीज में १८८६ ई० में हुआ था। उल्लेख के क्रम से इस ग्रन्थ की विषयवस्तु इस प्रकार है -

(क) प्रथम उल्लेख का नाम गुण उल्लेख है। इसमें रूप, वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, लक्षण, छाया और सौभाग्य - ये दस गुण युवतियों के बताये गये हैं[1]।

(ख) दूसरे उल्लेख का नाम अलङ्कार उल्लेख है। इसमें रत्न, स्वर्ण, अंशुक, माल्य तथा अन्य विविध पदार्थों को अलङ्कार द्रव्य बताया गया है[2]।

(ग) तृतीय उल्लेख का नाम जीवित उल्लेख है। इसके अनुसार सौन्दर्य का प्राण यौवन है[3]।

(घ) चतुर्थ उल्लेख का नाम परिकर उल्लेख है। इसमें सौन्दर्य को बढ़ाने के साधनों का वर्णन है।

(iv) साहित्यमीमांसा -

'साहित्यमीमांसा' एक विशाल ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन १९३४ ई० में त्रिवेन्द्रम सीरीज में हुआा था। इस ग्रन्थ के भी अन्य ग्रन्थों के समान तीन भाग हैं - कारिका, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण के रूप में ६०० श्लोक दिये गये हैं, जिनमे १०० श्लोक प्राकृत में हैं। शेष श्लोक संस्कृत भाषा में है। यद्यपि सम्पूर्ण ग्रन्थ में लेखक के नाम का कहीं भी संकेत नहीं है, तथापि 'अलङ्कारसर्वस्व' के उल्लेख के आधार पर ही इसको रुय्यककृत मान लिया गया है।

आठ प्रकरणों में विभक्त 'साहित्यमीमांसा' का विषय-विवेचन निम्न क्रम से है -

(क) प्रथम प्रकरण में वाच्य-वाचक की वन्दना और वर्ण्य विषय कह कर, तदनन्तर साहित्य के परिष्कार, कवियों के भेद, रसिकों के भेद आदि के वर्णन हैं।

(ख) द्वितीय प्रकरण में वृत्ति, साहित्य के निर्माता आठ तत्त्व, साहित्य एवं काव्य का भेद आदि विषयों का वर्णन है।

(ग) तृतीय प्रकरण में दोषों की विवेचना है।

(घ) चतुर्थ प्रकरण में गुणों का वर्णन है।

(ङ) पञ्चम प्रकरण में अलङ्कारों का निरूपण किया गया है।

(च) षष्ठ प्रकरण बहुत विस्तृत है। इसमें रसों, वृत्तियों, भाषाओं आदि की विवेचना की गई है।

(छ) सप्तम प्रकरण में कवि की साधनाओं, कवियों के प्रकारों, कवि-समयों, सम्बोधन शैली आदि की विवेचना की गई है। इसमें अनेक प्राचीन कवियों तथा शास्त्रकारों का वर्णन किया गया है।

(ज) अष्टम प्रकरण में काव्य के आस्वादन, कवि के शब्दों आदि का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में अनेक प्राचीन कवियों तथा शास्त्रकारों का वर्णन है।

(v) अलङ्कारसर्वस्व –

रुय्यक की सबसे श्रेष्ठ और प्रौढ़ कृति 'अलङ्कारसर्वस्व' है, जिसमें अलङ्कारों की उचित व्याख्या की गई है। विद्वानों ने इसकी बहुत प्रशंसा की है। इस ग्रन्थ का विस्तृत परिचय आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

४. अलङ्कारसर्वस्व

'अलङ्कारसर्वस्व' रुय्यक की सबसे श्रेष्ठ और प्रौढ़ कृति है। इसने उनको काव्यशास्त्रकारों के मध्य अविनश्वर कीर्ति प्रदान की है। रुय्यक ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का सम्यक् अध्ययन करके अलङ्कारों का निरूपण किया था और उन आचार्यों की कमियों को दूर करने का प्रयास किया। रुय्यक मम्मट के कुछ ही समय पश्चात् हुये थे और इन्होंने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' की टीका भी लिखी थी। इसलिये 'अलङ्कारसर्वस्व' पर मम्मट के अलङ्कार प्रकरण का प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी और स्वाभाविक था। तथापि रुय्यक ने अलङ्कारों के निरूपण में स्वतन्त्र दृष्टिकोण भी अपनाया था।

मम्मट के समान ही रुय्यक ध्वनिवादी आचार्य थे और इन्होंने इसी दृष्टिकोण से अपने ग्रन्थ की रचना की थी। 'अलङ्कारसर्वस्व' में ९८ सूत्र हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में रुय्यक ने एक आमुख दिया है, जिसमें पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की विवेचना करते हुये काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन, कुन्तक, महिमभट्ट और आनन्दवर्धन के मतों का सारांश दिया है। इसके बाद उन्होंने ध्वनिकार के मत को पुष्ट किया है।

इस आमुख के अनन्तर रुय्यक ने ११ सूत्रों में छः शब्दालङ्कारों का निरूपण किया है – पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास और चित्र। तदनन्तर ७१ सूत्रों में परम्परागत अर्थालङ्कारों का निरूपण है। इनमें कुछ अलङ्कार स्वयं रुय्यक की उद्भावना हैं। इसके पश्चात् तीन सूत्रों में प्राचीन परम्परा का निर्वाह करते हुये

रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता अलङ्कारों का विवेचन है। इन अलङ्कारों को रुय्यक ने पृथक् अलङ्कार कहा है[६], जिनको कि ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य कहा था। अर्थात् इनमें रुय्यक ने अलङ्कारत्व तो अवश्य माना है, परन्तु अन्य अलङ्कारों से भिन्न प्रकार का। इसके बाद के सूत्रों में मिश्र अलङ्कारों - संकर और संसृष्टि की विवेचना है।

'अलङ्कारसर्वस्व' की विषय प्रतिपादन शैली प्रायः प्राचीन शास्त्रकारों के तुल्य है। इन्होंने पहले अलङ्कारों के लक्षणों को सूत्र के रूप में दिया है, तदनन्तर वृत्ति में उसकी व्याख्या की है और अन्त में उदाहरणों द्वारा लक्षण की पुष्टि की है।

भरत से लेकर मम्मट तक विभिन्न आचार्यों ने अलङ्कारों का प्रतिपादन किया था। उसमें अलङ्कारों की कुल संख्या ११८ हो गई थी। इनमें से ४३ अलङ्कारों को रुय्यक ने स्वीकार नहीं किया। उसने केवल ७५ अलङ्कारों को ही स्वीकार किया था, यद्यपि इनमें से कुछ अलङ्कारों का स्वरूप प्राचीन आचार्यों से भिन्न दिखाया है। इसके अतिरिक्त रुय्यक ने ७ नये अलङ्कारों की उद्‌भावना स्वयं की, जिससे कि उसके द्वारा प्रतिपादित अलङ्कारों की संख्या ८२ हो गई है।

रुय्यक ने अलङ्कारों का जिस प्रकार लक्षण किया है, तथा क्रम रखा है, उससे उसकी विशेष प्रकार की वर्गीकरण की कल्पना प्रतीत होती है। 'अलङ्कारसर्वस्व' की व्याख्या करते हुये डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने भूमिका में इस वर्गीकरण को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है[५] -

१. शुद्ध खण्ड

वर्ग (१) शब्दालङ्कार या पौनरुक्त्य वर्ग -

पौनरुक्त्यविच्छित्ति	(१) अर्थपौनरुक्त्य	पुनरुक्तवदाभास
	(२) व्यञ्जनपौनरुक्त्य	छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास
	(३) स्वरव्यञ्जनपौनरुक्त्य	यमक
	(४) शब्दार्थोभयपौनरुक्त्य	लाटानुप्रास
	(५) स्थानविशेषश्लिष्टवर्ण पौनरुक्त्य	चित्र

वर्ग (२) अर्थालङ्कार वर्ग -

(१) सादृश्यविच्छित्ति

(क) भेदाभेदतुल्यतामूलक — उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण

(ख) अभेदप्राधान्यमूलक

(अ) आरोपाश्रित — रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्,

	उल्लेख, अपह्नुति
(ब) अध्यवसायाश्रित	उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति
(ग) गम्यौपम्यमूलक	तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त निदर्शना
(घ) भेदप्राधान्यमूलक	व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति
(२) विशेषणविच्छित्ति -	
(क) केवलविशेषणविच्छित्ति	समासोक्ति, परिकर
(ख) सविशेष्यविशेषणविच्छित्ति	श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास
(३) गम्यतार्थविच्छित्ति -	पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप
(४) विरोधविच्छित्ति -	
(क) शुद्ध विरोध	विरोध
(ख) कार्यकारणभावाश्रितविरोध मूलक	विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति,विषम, सम, विचित्र, व्याघात
(ग) आश्रयाश्रयित्वविरोधमूलक	अधिक, विशेष
(घ) व्यतिहारविरोधमूलक	अन्योन्य
(५) शृङ्खलाविच्छित्ति -	कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार
(६) न्यायविच्छित्ति -	काव्यलिङ्ग, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति
(क) तर्कन्यायमूलक	परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प
(ख) वाक्यन्यायमूलक	समुच्चय, समाधि
(ग) लोकन्यायमूलक	प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, तद्गुण, अतद्-गुण, उत्तर
(७)गूढार्थपरताविच्छित्ति -	
(क) शुद्ध	सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति
(ख) स्फुटार्थता	भाविक
(ग) उदात्तता	उदात्त
(घ) चित्तवृत्त्याश्रित	रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता

२. मिश्रखण्ड

(१) संसृष्टि	(क) शब्दालङ्कारसंसृष्टि
	(ख) अर्थालङ्कारसंसृष्टि
	(ग) उभयालङ्कारसंसृष्टि

(२) संकर

रुय्यक ने 'काव्यप्रकाश' का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है तथा उससे बहुत कुछ प्रेरणा ली है। परन्तु वह मम्मट का अन्धानुकरण नहीं करता। अनेक स्थानों पर उसने मम्मट से भिन्न पक्ष रखा है। जैसे कि मम्मट ने

राजति पटीयमभिहतदानवरासाऽतिपाति सारावनदा।
गजता च यूथमविरतदानवरा साऽतिपाति सारा वनदा।।

उदाहरण में संकर अलङ्कार बताया है, जिनमें अनुलोम और प्रतिलोम यमक का परस्पर की अपेक्षा से अंगांगिभाव संकर है। परन्तु रुय्यक इसमें शब्दालङ्कारों की संसृष्टि ही प्रतिपादित करते हैं। तथापि अनेक अलङ्कारों के लक्षण रुय्यक ने ' काव्यप्रकाश' से ही ग्रहण किये हैं। 'अलङ्कारसर्वस्व' के लगभग ७६ उदाहरण 'काव्यप्रकाश के १० वें उल्लास में है।

उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों पर 'अलङ्कारसर्वस्व' का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। विश्वनाथ कविराज, पण्डितराज जगन्नाथ, अप्पय दीक्षित, विद्याधर आदि आलङ्कारिकों ने इस ग्रन्थ से प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त की है और अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये रुय्यक के मतों को स्वीकृत तथा उद्धृत किया है।

५. अलङ्कारसर्वस्व के कारिकाकार एवं वृत्तिकार

'अलङ्कारसर्वस्व' के रचयिता सामान्यतः रुय्यक ही प्रसिद्ध हैं। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं - सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। सामान्यतः सम्पूर्ण ग्रन्थ को 'अलङ्कारसर्वस्व' कह दिया जाता है। तथापि सूत्रभाग को 'अलङ्कारसूत्र' और शेष अंश को 'अलङ्कारसर्वस्व' कहना चाहिये।

'अलङ्कारसूत्र' के रचयिता रुय्यक थे, इसमें कोई विवाद नहीं है। परन्तु वृत्ति की रचना के विषय में विवाद उपस्थित हो गया है। कुछ आचार्यों का अभिमत है कि वृत्ति की रचना भी रुय्यक ने की थी, परन्तु दूसरे आचार्य वृत्ति का रचयिता रुय्यक के ही शिष्य मंख या मंखक को मानते हैं। इस विवाद का मुख्य कारण है कि 'अलङ्कारसर्वस्व' के उत्तर भारतीय संस्करण में, जो कि काव्यमाला सीरीज में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से जयरथ की 'विमर्शिणी' टीका सहित प्रकाशित हुआ है, मंगल श्लोक इस प्रकार है -

नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम्।
निजालङ्कारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते।।

इससे यह स्पष्ट होता है कि 'अलङ्कारसूत्र' के रचयिता, जो कि रुय्यक हैं, स्वयं उसकी वृत्ति लिख रहे हैं। परन्तु 'अलङ्कारसर्वस्व' के दक्षिणी संस्करण में, जो कि समुद्रबन्ध की टीका सहित, त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित हुआ है, मंगल श्लोक इस प्रकार है -

नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम्।
गुर्वलङ्कारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते।।

इससे यह प्रतीत होता है कि वृत्ति का रचयिता सूत्र के रचयिता से भिन्न व्यक्ति है, जो कि अपने गुरु के बनाये हुये सूत्रों की व्याख्या करने के लिये वृत्ति की रचना कर रहा है। समुद्रबन्ध का कथन है कि वृत्ति के रचयिता मंख हैं। नीचे की पंक्तियों में वृत्ति के रचयिता के व्यक्तित्व पर विचार किया जा रहा है।

(क) मंख परम्परा -

कुछ आचार्यों का कहना है कि 'अलङ्कारसर्वस्व' में सूत्रों के वृत्तिकार मंख है, इसके लिये निम्न प्रमाण दिये जाते हैं -

(i) त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित 'अलङ्कारसर्वस्व' के संस्करण के प्रारम्भ के मंगल पद्यों में इस प्रकार पाठ मिलता है -

कदाचिन्मंखुकोपज्ञं काव्यालङ्कारलक्षणम्।
प्रदर्श्य रविनिर्माणं प्रार्थयन्तो विपश्चितः।।
गम्भीरं नस्तितीर्षूणां मंखुकग्रन्थसागरम्।
नौरस्तु भवतः प्रज्ञा स्थेयसी यदुनन्दन।।

इस पाठ में मंखुक (मंख) को ग्रन्थ का रचयिता कहा गया है।

(ii) त्रिवेन्द्रम संस्करण के अन्त में इस प्रकार पाठ है -

इति मंखुको वितेने काश्मीरक्षितिपसन्धिविग्रहीकः।
सुकविमुखालङ्कारं तदिदमलङ्कारसर्वस्वम् ।।

इस पाठ में मंखुक (मंख) को ही 'अलङ्कारसर्वस्व'(वृत्ति भाग) का रचयिता कहा गया है ।

(iii) त्रिवेन्द्रम संस्करण में दिये गये प्रथम मंगल श्लोक के अनुसार वृत्तिकार गुरु द्वारा रचित अलङ्कार सूत्रों का तात्पर्य कह रहा है इससे स्पष्ट होता है कि अलङ्कार सूत्रों का रचयिता कोई अन्य है, तथा उसका शिष्य सूत्रों की व्याख्या करने के लिये वृत्ति की रचना कर रहा है। प्राचीन इतिहास से स्पष्ट होता है कि रुय्यक के शिष्य मंख ही थे।

(iv) मंख ने 'श्रीकण्ठचरित' नामक काव्य की रचना की थी। इसमें उसने रुय्यक को अपना गुरु कहा है[६]। यदि मंख ने अपने गुरु द्वारा रचित सूत्रों की व्याख्या की हो, तो यह स्वभाविक है।

(v) 'अलङ्कारसर्वस्व' के व्याख्याकार समुद्रबन्ध ने व्याख्या के अन्त में मंखुक को वृत्तिकार माना है -

मंखुकनिबन्धविवृतौ विहितायामहि समुद्रबन्धेन।
गुणलेशमात्रमित्रैर्भविषीष्टादोषदर्शिभिः सद्भिः।।

(vi) अप्पय दीक्षित 'चित्रमीमांसा' में उपमा के प्रकरण में श्लेष को अन्य अलङ्कारों का बाधक बताते हुये मंखक को इसका प्रतिष्ठाता कहते हैं[७]। यह अभिमत 'अलङ्कारसर्वस्व' में भी दिया गया है।

(vii) वृत्ति भाग में उदाहरण के रूप में दिये गये अनेक श्लोक मंख द्वारा रचित 'श्रीकण्ठचरित' काव्य के है। रुय्यक ने यदि वृत्ति भाग की रचना की होती तो अपने से उत्तरवर्ती मंख के श्लोकों को उदाहरण के रूप में कैसे उद्धृत कर सकते थे। वृत्ति भाग की रचना मंख ने ही की होगी तथा उदाहरण के रूप में स्वरचित श्लोकों को भी दिया होगा।

इन प्रमाणों से विदित होता है कि वृत्ति की रचना मंख या मंखक की होगी। मंख काश्मीर का निवासी था और यह काश्मीर के राजा के सन्धि-विग्रहिक के पद पर नियुक्त था, ऐसा समुद्रबन्ध ने लिखा है।

'राजतरङ्गिणी' के अनुसार काश्मीरनरेश जयसिंह ने मंखक को अपना संन्धि-विग्रहिक बनाया था और इसी मंखक ने 'श्रीकण्ठचरित' काव्य की रचना की थी[८]। जयसिंह का समय ११२८-११४८ ई० रहा था।

(ख) रुय्यक परम्परा –

काश्मीर की परम्परा के अनुसार 'अलङ्कारसर्वस्व' के सूत्र एवं वृत्ति दोनों भागों की रचना रुय्यक ने की थी। रुय्यक का दूसरा नाम रुचक भी प्रसिद्ध है। रुय्यक वृत्ति भाग के भी रचयिता थे, इस सम्बन्ध में निम्न युक्तियां हैं –

(i) जयरथ की विमर्शिणी टीका के मंगल श्लोक में **"निजालङ्कारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते"** पाठ है। इससे स्पष्ट है कि अलङ्कारसूत्रों के रचयिता स्वरचित सूत्रों की स्वरचित वृत्ति द्वारा व्याख्या कर रहे हैं। क्योंकि सूत्रकार रुय्यक हैं, अतः वृत्तिकार भी रुय्यक हैं।

(ii) यदि मंगल श्लोक में यह मान भी लिया जावे कि **"गुर्वलङ्कारसूत्राणाम्"** पाठ ही शुद्ध है, तो उसका यह भाव भी हो सकता है कि सूत्रकार स्वयं गौरव से भरे स्वरचित सूत्रों का स्वरचित वृत्ति द्वारा तात्पर्य लिख रहे हैं।

(iii) काश्मीर की परम्परा रुय्यक को ही सूत्र तथा वृत्ति दोनों का रचयिता मानती है। रुय्यक तथा मंखक दोनों काश्मीरी थे, अतः इस परम्परा को अधिक प्रामाणिक मानना चाहिये।

(iv) 'अलङ्कारसर्वस्व' की विमर्शिणी टीका के रचयिता जयरथ ने, जो कि रुय्यक के केवल ७५ वर्ष ही बाद हुये थे, रुय्यक को ही सूत्र तथा वृत्ति दोनों भागों का रचयिता माना है। जयरथ ने ग्रन्थकार की दो अन्य कृतियों – 'काव्यप्रकाशसंकेत'[९] तथा 'अलङ्कारा-नुसारिणी'[१०] का भी उल्लेख किया है। 'काव्यप्रकाशसंकेत' के रचयिता रुचक (रुय्यक) हैं,

यह उसने प्रारम्भ में ही लिखा है[११]। इसी प्रकार 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' के ८.१९ पद्य की टीका में रत्नकण्ठ ने 'अलङ्कारानुसारिणी' को रुचककृत बताया है।

(v) 'अलङ्कारसर्वस्व' की सञ्जीविनी टीका के लेखक श्रीविद्याचक्रवर्ती ने मंगल श्लोक में रुय्यक (रुचक) को ही सम्पूर्ण ग्रन्थ का रचयिता माना है[१२]।

(vi) अप्पय दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' में 'अलङ्कारसर्वस्व' की पंक्तियों को उद्धृत करके उनको रुचक (रुय्यक) कृत कहा है[१३]। अतः अप्पय दीक्षित के मत में भी 'अलङ्कारसर्वस्व' की रचना रुय्यक ने की थी।

(vii) 'सहृदयलीला' ग्रन्थ में 'अलङ्कारसर्वस्व' का रचयिता रुय्यक को ही कहा गया है[१४]। इस ग्रन्थ का सम्पादन पिशेल ने किया था।

(viii) समुद्रबन्ध को छोड़ कर अन्य किसी आचार्य ने 'अलङ्कारसर्वस्व' की वृत्ति का रचयिता मंखक को नहीं कहा। दक्षिण के ही निवासी कुमारस्वामी ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की 'रत्नापण टीका' में अनेक स्थानों पर 'अलङ्कारसर्वस्व' की पंक्तियों को उद्धृत करके उनको रुचक रचित बताया है[१५]।

(ix) रुय्यक के शिष्य मंखक थे। अपने गुरु के ग्रन्थ का उन्होंने पुनः सम्पादन किया होगा और इसको प्रसारित किया होगा। इसी सम्पादन के समय उन्होंने स्वरचित 'श्रीकण्ठचरित' के कुछ श्लोक भी उदाहरणों के रूप में मिला दिये होंगे। यह भी हो सकता है कि रुय्यक के समय में ही मंखक ने 'श्रीकण्ठचरित' की रचना की होगी तथा रुय्यक ने उसके कुछ श्लोकों को अपने ग्रन्थ में उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया होगा। सम्भवतः इसी कारण 'अलङ्कारसर्वस्व' के रचयिता के रूप में कुछ विद्वानों द्वारा मंखक का नाम जोड़ दिया गया होगा।

(x) 'रसगंगाधर' आदि प्रौढ ग्रन्थों में भी रुय्यक को ही सूत्र और वृत्ति दोनों भागों का रचयिता माना गया है।

(xi) पूना की पाण्डुलिपियों के संग्रहों में 'अलङ्कारसर्वस्व' की शारदा लिपि में दो प्रतियां हैं। इनकी पुष्पिकाओं में रुय्यक को ही 'अलङ्कारसर्वस्व' का रचयिता कहा गया है। वे इस प्रकार हैं -

(क) समापितमिदमलङ्कारसर्वस्वमिति श्रेयः।
कृतिस्तत्र भगवद्राजानकरुय्यकस्येति।।

(ख) सम्पूर्णमिदमलङ्कारसर्वस्वमिति श्रेयो भवतु।
लेखकपाठकयोः कृती राजानकरुय्यकस्य।।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अलङ्कारसर्वस्व' की रचना रुय्यक ने ही की थी। यह सम्भव है कि उनके शिष्य मंखक ने उसका संशोधन या परिष्कार किया हो।

६. अलङ्कारसर्वस्व की प्राचीन टीकायें

प्राचीन काल से ही अनेक आचार्य 'अलङ्कारसर्वस्व' की टीकायें लिखते रहे थे। इनमें चार टीकाओं के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं - राजानक अलक, समुद्रबन्ध विद्याचक्रवर्ती और जयरथ। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न है -

(i) राजानक अलक -

'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' टीका में 'अलङ्कारसर्वस्व' के टीकाकार के रूप में अलक भट्ट के नाम का उल्लेख है। परन्तु यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसलिये अलक का परिचय प्राप्त नहीं है। अलक के 'अलङ्कारसर्वस्व' के टीकाकार होने के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि ये उस अलक से भिन्न होंगे, जिन्होंने 'काव्यप्रकाश' के दशम उल्लास को पूरा किया था।

(ii) समुद्रबन्ध -

दाक्षिणात्य समुद्रबन्ध ने 'अलङ्कारसर्वस्व' की टीका लिखी थी। इनकी टीका का नाम सम्भवतः 'विवरण टीका' है। समुद्रबन्ध केरल (मलाबार) प्रदेश के यदुवंशी राजा रविवर्मा की राजसभा के सभापण्डित थे। रविवर्मा का जन्म १२६५ ई० में हुआ था। अतः समुद्रबन्ध का समय १३ वीं शताब्दी ई० का समझा जा सकता है। इस टीका में राजा रविवर्मा की प्रशंसा में समुद्रबन्ध ने अनेक श्लोक लिखे हैं तथा विभिन्न पाठों का विवेचन किया हैं।

समुद्रबन्ध की टीका के विद्वत्तापूर्ण होने पर भी इसका विवेचन उतना सूक्ष्म नहीं है, जितना जयरथ का है। समुद्रबन्ध ने काव्य के आवश्यक गुणों के सम्बन्ध में पांच प्रचलित मतों का उल्लेख किया है।

समुद्रबन्ध ने अपनी टीका में यह प्रतिपादित किया है कि 'अलङ्कारसर्वस्व' की वृत्ति के रचयिता मंखक थे, जो कि काश्मीर नरेश के सन्धि-विग्रहिक थे। परन्तु उनका यह अभिमत विवादास्पद है।

(iii) विद्याचक्रवर्ती -

विद्याचक्रवर्ती ने 'अलङ्कारसर्वस्व' पर 'सञ्जीविनी' नाम से टीका लिखी थी। इस टीका का पूरा नाम 'अलङ्कारसञ्जीविनी' या 'सर्वस्वसञ्जीविनी' है। इस टीका का उल्लेख मल्लिनाथ ने 'एकावली' की 'तरल टीका' में किया है। मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने भी 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की 'रत्नापण टीका' में विद्याचक्रवर्ती का उल्लेख किया हैं। अतः वे उससे पहले हुये होंगे।

विद्याचक्रवर्ती ने स्वयं को महान् विद्वान् और साधक बताया है और कहा है कि वे होयसेल नरेश बल्लाल तृतीय के सभापण्डित थे। बल्लाल तृतीय का राज्यकाल १२९१-९३

ई० रहा था। अतः विद्याचक्रवर्ती की टीका की रचना का समय १४ वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध होना चाहिये।

श्री विद्याचक्रवर्ती ने अपनी टीका में अलङ्कारों का विवेचन करके उन पर १७ कारिकायें बनाई थीं। ये कारिकायें 'निसृष्टार्थ-कारिका' नाम से अलग से भी मिलती हैं। विद्याचक्रवर्ती ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर 'सम्प्रदायप्रकाशिनी' नाम से टीका भी लिखी थी।

(iv) जयरथ -

'अलङ्कारसर्वस्व' की सबसे श्रेष्ठ, प्रसिद्ध और विद्वत्तपूर्ण टीका जयरथ की है। जयरथ का परिचय बहुत कुछ विदित है। 'अलङ्कारसर्वस्व' के अन्त में इन्होंने अपना स्वल्प परिचय दिया है। इनके पिता काश्मीर नरेश राजराज के मन्त्री थे। जयरथ ने अभिनवगुप्त के 'तन्त्रालोक' की टीका की थी। इस टीका में इन्होंने अपना कुछ विस्तृत परिचय दिया है। इसके अनुसार इनकी वंशावली निम्न प्रकार से थी -

पूर्णमनोरथ (काश्मीर नरेश यशस्कर के मन्त्री - ९३० ई० के लगभग)
|
उत्कलरथ प्रथम
|
प्रकाशरथ
|
सूर्यरथ (भाई धर्मरथ, उत्तमरथ और मनोरथ)
|
उत्पलरथ द्वितीय (भाई अमृतरथ - काश्मीरनरेश अनन्त के आश्रित १००८-१०६३ ई०)
|
सम्मरथ (भाई शिवरथ, चक्ररथ, नन्दिरथ)
|
गुणरथ (भाई देवरथ)
|
राजानक गंगरथ (भाई लंकरथ, पत्नी पद्मावती)
|
शृङ्गाररथ (काश्मीरनरेश राजराज (राजदेव) के मन्त्री - १२०३-१२२६ई०)
|
जयरथ (भाई जयरथ)

जयरथ के गुरु शंखधर और श्रीसंगरथ थे। जयरथ ने श्री सुभटरत्न से दीक्षा ली

थी, जो इनके पिता के भी दीक्षागुरु थे। इन्होंने अपने पिता से भी विद्या का अध्ययन किया था। शैवागम क्रमदर्शन के ये विशेषज्ञ थे। अन्य शास्त्रों के भी ये पण्डित थे।

जयरथ के अनुसार इनके पिता शृङ्गाररथ काश्मीर नरेश राजराज के मन्त्री थे। परन्तु काश्मीर के इतिहास में इस नाम का कोई राजा नहीं हुआ। अतः समय के आधार पर समालोचकों ने राजा राजदेव को उससे अभिन्न माना है। राजदेव का समय १२०३-१२२६ ई० रहा था। अतः शृङ्गाररथ को १३ शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध का और जयरथ को इसके बाद का निर्धारित किया जा सकता है।

जयरथ ने पृथिवीराज चौहान पर लिखित काव्य 'पृथिवीराजविजय' का उल्लेख किया है[१६]। पृथिवीराज को ११९३ ई० में मुहम्मद गौरी ने कैद किया था। इस आधार पर भी उनका यह समय निर्धारित हो सकता है।

जयरथ की टीका को सामान्यतः 'विमर्शिणी' नाम दिया जाता है। परन्तु इसका पूरा नाम 'अलङ्कारविमर्शिणी' है। यह टीकामात्र ही नहीं है, परन्तु अलङ्कारों का एक बृहद् भाष्य है। अलङ्कारों की विवेचना में जयरथ ने स्वयं भी अनेक उदाहरण देकर उनको स्पष्ट किया है। अलङ्कारों के विश्लेषण के लिये जयरथ की 'अलङ्कारविमर्शिणी' का अध्ययन आवश्यक है।

'अलङ्कारविमर्शिणी' में जयरथ ने 'अलङ्कारसार' और 'अलङ्कारभाष्य' नाम के ग्रन्थों को उद्धृत किया है। परन्तु वर्तमान समय में ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इन ग्रन्थों के उपलब्ध होने पर काव्यशास्त्र के विकास पर कुछ और प्रकाश पड़ सकेगा। जयरथ ने ध्वनिविरोधी मतों को प्रदर्शित करने वाली कुछ कारिकायें भी लिखी थीं।

'अलङ्कारसर्वस्व' पर टीका लिखने के अतिरिक्त जयरथ ने अभिनवगुप्त के 'तन्त्रालोक' पर भी टीका लिखी थी। उनका एक और ग्रन्थ 'अलङ्कारोदाहरण' है। इसकी पाण्डुलिपि पूना में विद्यमान है। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है। इस ग्रन्थ में जयरथ ने कुछ नये अलङ्कारों - तात्पर्य, अंग, अनंग, अप्रत्यनीक, अभ्यास, अभीष्ट आदि की कल्पना की है। जयरथ की टीका के विना 'अलङ्कारसर्वस्व' का अध्ययन अधूरा ही है।

....

सन्दर्भ -

१. रूपं वर्णं प्रभा रागः आभिजात्यं विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः।।

२. रत्नं हेमांशुकं माल्यं मण्डनं द्रव्ययोजने।
प्रकीर्णं चेत्यलङ्कारा: सप्तैवैते मया मताः।।

३. शोभाया अनुप्राणकं जीवितम्।।

४ एते पृथगलङ्काराः।। अलङ्कारसर्वस्व सूत्र ८५।।

५. हिन्दी अलङ्कारसर्वस्व - रेवाप्रसाद द्विवेदी (चौखम्बा) पृ०४६-४७।।

६. श्रीकण्ठचरित १.५६, ३.६३, ३.७२।।

७. उपमाप्रतिभानेऽपि तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एव, नोपमेति मंखकादिभिरभ्युपेयते।।
चित्रमीमांसा - स० कलिकाप्रसाद शुक्ल पृ० ५६।।

८. सन्धिविग्रहिको मंखकाख्योऽलङ्कारसोदरः।
समठस्याभवत्प्रष्ठः श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया।। राजतरङ्गिणी ८.३५४।।

९. यत्तु काव्यप्रकाशसंकेते ग्रन्थकृता वस्तुध्वनेः शब्दशक्तिमूलत्वं चिन्त्यमुक्तम्...........।
अलङ्कारसर्वस्व के श्लेषालङ्कार विवेचन में विमर्शिनी टीका से।।

१०. ग्रन्थकृताऽप्यलङ्कारानुसारिण्यामत्र ।
अलङ्कारसर्वस्व में रूपकालङ्कार के विवेचन में विमर्शिनी टीका में।।

११. ज्ञात्वा श्रीतिलकात् सर्वालङ्कारोपनिषद्रसम्।
काव्यप्रकाशसंकेतो रुचकेनेह लिख्यते।।

१२. रुचकार्योपज्ञे सेयमलङ्कारसर्वस्वे।
सञ्जीविनीति टीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते।।
इत्थं भूम्ना रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोऽयम्।।

१३. अभेदमपह्नुतिकथनं व्याजोक्त्यलङ्कारं पृथगनङ्गीकुर्वताम् उद्भटादीनां मतमनुसृत्य ये तु उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिरिति व्याजोक्त्यलङ्कारं पृथगिच्छन्ति तेषामिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुतिरिति रुचकादयः। चित्रमीमांसा पृ० २४२।।

१४. "कृतिः श्रीविपश्चिद्वरराजानकतिलकात्मजश्रीमदालङ्कारिकसमाजाग्रगण्यश्रीराजानकरुय्यकस्य राजानकरुचकापरनाम्नोऽलङ्कारसर्वस्वकृतः"।।

१५. (क) तदुक्तं रुचकेन एषार्थापि धर्मविषये श्लिष्टशब्दहेतुका क्वचिद् दृश्यते।।
प्रतापरुद्रयशोभूषण रत्नापण टीका पृ० ३९३।।

(ख) न चेदं विषमाद्यभेदेऽन्तर्भवति। इह हि स्वनिषेधो वैपरीत्यं गमयति। विषमे तु व्यत्यय इति भेदस्य रुचकेनोक्तत्वात्।। वही पृ० ४२५।।

(ग) काव्यग्रहणं तर्कवैलक्षण्यार्थम्। तेन व्याप्तिधर्मपक्षतादयो न क्रियन्त इति रुचकाः।।
वही पृ० ४८८।।

१६. तत्र भेदेऽभेदो यथा पृथिवीराजविजये -
गृह्णद्भिः परया भक्त्या बाणालिंगपरम्पराः।
अनर्मदिव यत्सैन्यैर्निरमीयत नर्मदा।।
अलङ्कारसर्वस्व विमर्शिणी टीका उत्प्रेक्षा अलङ्कार के विवेचन में।।

....

पचीसवां अध्याय

१. सागरनन्दी का महत्त्व

सागरनन्दी का महत्त्व नाट्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ 'नाटकलक्षणरत्नकोश' की रचना के कारण है। इस ग्रन्थ की रचना करके इन्होंने नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। इस ग्रन्थ का सम्पादन सबसे पहले डबलिन विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्राध्यापक माइसेस डिलन ने किया था। इसका प्रकाशन औक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने १९३७ ई० में किया। बाद में अन्य प्रकाशन संस्थाओं ने भी इसको प्रकाशित किया।

२. सागरनन्दी का समय और परिचय

सागरनन्दी ने अपनी रचना में अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है। तथापि बाह्य प्रमाणों के आधार पर उनके समय को बहुत कुछ निश्चित किया जा सकता है। सागरनन्दी ने अपने ग्रन्थ में जिन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें सबसे अर्वाचीन राजशेखर हैं। राजशेखर के समय की अन्तिम अवधि ९२० ई० समझी जाती है। अत: सागरनन्दी उसके पश्चात् हुये होंगे।

सागरनन्दी को भी उत्तरवर्ती लेखकों ने उद्धृत किया है। सुभूति, सर्वानन्द, जातवेद तथा रायमुकुट ने 'अमरकोष' की टीकायें लिखी थीं। इनमें उन्होंने सागरनन्दी को उद्धृत किया है। कुम्भकरण और शुभंकर ने, जो कि नाट्य और संगीत शास्त्रों के रचयिता रहे थे, अपने ग्रन्थों में 'नाटकलक्षणरत्नकोश' के पद्यों को उद्धृत किया था। जगद्धर ने 'मालतीमाधव' और 'मुद्राराक्षस' की टीकायें लिखी थीं। इन टीकाओं में इन्होंने नाटक समालोचना में 'नाटकलक्षणरत्नकोश' का सहारा लिया था। 'नाटकलक्षणरत्नकोश' को उद्धृत करने वाले इन सब आचार्यों में सुभूति सबसे प्राचीन आचार्य हैं। इनका समय १०६०-११५० ई० के मध्य का माना जाता है। सागरनन्दी को इनके पूर्व का होना चाहिये।

३. सागरनन्दी के ग्रन्थ

सागरनन्दी का केवल एक ही ग्रन्थ 'नाटकलक्षणरत्नकोष' प्राप्त होता है। यह एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थकार का

कथन है कि इन्होंने इसकी रचना श्रीहर्ष, राजा विक्रमादित्य, मातृगुप्त, गर्ग, अश्मकुट्ट तथा बादर के अनुसार भरत के मत का अवगाहन करके की थी। परन्तु सागरनन्दी के मत का विवेचन एवं उद्धरण बहुत कम आचार्यों ने किया था।

'नाटकलक्षणरत्नकोष' में नाट्यशास्त्र के सभी सिद्धान्तों का तथा नाटकों की रचना के लिये आवश्यक सभी विषयों का विवेचन बहुत सरल भाषा में किया गया है। इस ग्रन्थ में निम्न विषयों की विवेचना है -

रूपक, अवस्थापञ्चक, भाषाओं के प्रकार, अर्थप्रकृतियां, अर्थोपक्षेपक, अंक, सन्धियां, प्रदेश, पताकास्थानक, वृत्तियों के लक्षण, अलङ्कार, रस, भाव, नायकों तथा नायिकाओं के भेद और गुण, रूपकों तथा उपरूपकों के भेद तथा स्वरूप आदि।

सागरनन्दी ने सभी स्थानों पर प्राचीन नाट्यशास्त्रियों का अनुकरण किया हो, ऐसा नहीं है। उन्होंने अनेक स्थानों पर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया है। सागरनन्दी का मत है कि वर्तमान काल के राजा को नाटक का नायक बनाया जा सकता है, परन्तु अभिनवगुप्त का मत इसके विपरीत है। वे वर्तमानकालीन राजा के चरित को नाटक में प्रस्तुत करने का निषेध करते हैं। उनका मत है कि प्रख्यातचरित राजा के चरित को ही नाटक की विषय-वस्तु बनाना उचित है[१]।

प्राचीन आचार्यों का अनुसरण करते हुये सागरनन्दी ने वृत्तियों का विभाजन और प्रयोजन रसों की दृष्टि से किया था। परन्तु इस विभाजन में उन्होंने भरत के मत का अनुसरण न करके कोहल के मत का अनुवर्तन किया था। उन्होंने कहा -

वीर, अद्भुत और हास्य रस के लिये भारती वृत्ति, अद्भुत, वीर और रौद्र रस के लिये सात्त्वती वृत्ति, शृङ्गार, हास्य और करुण रस के लिये कैशिकी वृत्ति एवं भयानक और रौद्र रस के लिये आरभटी वृत्ति का नियोजन करना चाहिये[२]।

इस प्रकार रसों की अभिव्यक्ति के लिये सागरनन्दी ने वृत्तियों का विभाजन किया था। उनके द्वारा प्रतिपादित वृत्ति-विभाजन के नियमों का नाट्यों के अभिनय में प्रयोग करना चहिये। वृत्तियों के विभाजन के सम्बन्ध में ये ही नियम हैं।

अन्य भी अनेक स्थलों पर सागरनन्दी का अन्य प्राचीन आचार्यों से मतभेद मिलता है।

सागरनन्दी ने नाट्य के विषय पर यद्यपि बहुत प्रशंसनीय ग्रन्थ लिखा था, जो कि नाट्य और नाट्यशास्त्र के रहस्यों को विस्तार से प्रकट करता है, तथापि उनको इस क्षेत्र में उतना अधिक आदर नहीं मिला, जिसके कि वे अधिकारी थे। वर्तमान समय में भी उनके ग्रन्थ का अधिक अनुशीलन नहीं हो रहा है।

....

सन्दर्भ -

१. वर्तमानराजचरितमवर्णनीयमेव । तत्र विपरीतप्रसिद्धिबाधया अध्यारोपितस्य अकिञ्चित्करत्वाद् योगानन्दरावणादिविषयचरिताध्यारोपवत्।।

भरतनाट्यशास्त्र १८.१२ पर अभिनवगुप्त की टीका।।

२. वीराद्भुतप्रहसनैरिह भारती स्यात्
सात्त्वत्यपीह गदिताऽद्भुतवीररौद्रैः।
शृङ्गारहास्यकरुणैरपि कैशिकी स्या-
दिष्टा भयानकयुताऽऽरभटी सरौद्रा।। नाटकलक्षणरत्नकोष।।

छब्बीसवां अध्याय

वाग्भट प्रथम

१. वाग्भट प्रथम का महत्त्व, परिचय और समय

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में दो वाग्भटों का उल्लेख मिलता है। इनमें से एक वाग्भट ने 'वाग्भटालङ्कार' नामक अलङ्कारग्रन्थ की रचना की थी। दूसरे वाग्भट ने 'काव्यानुशासन' नामक अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा था। इन दोनों में 'वाग्भटालङ्कार' के लेखक पहले हुये थे, अतः उनको वाग्भट प्रथम कहा जाता है। दूसरे 'काव्यानुशासन' के रचयिता को वाग्भट द्वितीय कहते हैं।

वाग्भट प्रथम जैन थे तथा हेमचन्द्र के समकालीन हुये थे। इनके पिता का नाम सोम था और वे किसी राजा के मन्त्री के पद पर प्रतिष्ठित थे। इनके एक पद्य की टीका से प्रतीत होता है कि इनका प्राकृत भाषा में नाम "बाहड" या "बाहड़" था[१]। 'वाग्भटालङ्कार' में वाग्भट ने सभी उदाहरण स्वरचित दिये हैं। ये उदाहरण संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में हैं। इससे इनकी उभयभाषाविज्ञता विदित होती है।

वाग्भट प्रथम के समय को निर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं है। 'वाग्भटालङ्कार' में दिये गये उदाहरण में इन्होंने अनहिलवाड़ के चालुक्यवंशी राजा कर्ण के पुत्र जयसिंह की अनेक स्थानों पर स्तुति की है[२]। इससे विदित होता है कि इनका राजा कर्ण के साथ विशेष सम्बन्ध रहा होगा। जयसिंह ने १०९३-११४३ ई० में ५० वर्ष तक राज्य किया था। अतः वाग्भट का समय १२ वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

२. वाग्भट प्रथम की रचनायें

वाग्भट का काव्यशास्त्रविषयक एक ही ग्रन्थ 'वाग्भटालङ्कार' उपलब्ध होता है। इसको 'काव्यालङ्कार' भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ में वाग्भट ने 'नेमिनिर्माण महाकाव्य' के पद्यों को उद्धृत किया है। इस काव्य का रचयिता भी किसी वाग्भट को बताया जाता है। परन्तु यह सन्देह का विषय है कि 'नेमिनिर्माण' महाकाव्य का लेखक वाग्भट तथा 'वाग्भटालङ्कार' का रचयिता वाग्भट दोनों एक ही व्यक्ति थे या अलग अलग व्यक्ति थे। 'नेमिनिर्माण' महाकाव्य का एक श्लोक, जो कि "क" व्यञ्जन को लेकर लिखा गया था, 'वाग्भटालङ्कार' में उद्धृत है[३]। इस श्लोक पर निम्न प्रकार से टीका की गई थी –

"ककाकु इत्येक श्लोक एकव्यञ्जनतो न नेमिनिर्माणमहाकाव्ये राजमती-परित्यागाधिकारे समुद्रवर्णनरूपो ज्ञेयः।"

परन्तु यह श्लोक 'वाग्भटालङ्कार' में उद्धृत होने पर भी 'नेमिनिर्माण' महाकाव्य में उपलब्ध नहीं हैं, जब कि इस काव्य से उदाहरण के रूप में उद्धृत अन्य श्लोक उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में पी०वी० काणे का मत है कि इस काव्य की रचना भी वाग्भट प्रथम ने ही की थी[४]।

३. वाग्भटालङ्कार

यह ग्रन्थ बहुत विस्तृत नहीं है और पांच परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें २६० पद्य हैं। काव्यशास्त्र के सभी विषयों का इसमें संक्षेप से वर्णन किया गया है। अधिकांश श्लोक अनुष्टुप् छन्द के हैं। परिच्छेदों के क्रम से इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु इस प्रकार है -

(i) प्रथम परिच्छेद -

प्रथम परिच्छेद में काव्य का स्वरूप और उसके उत्पादक हेतु बताये गये हैं। काव्य के लक्षण की व्याख्या करके वाग्भट का कथन है कि काव्य की उत्पत्ति का हेतु प्रतिभा है। परन्तु इसके लिये व्युत्पत्ति और अभ्यास की भी अवश्यकता होती है। इस प्रकार प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों ही काव्य-रचना के तीन हेतु हैं। इस परिच्छेद में यह भी बताया गया है कि कौनसी परिस्थितियां काव्य की रचना के लिये अनुकूल होती हैं। इसमें उन परम्पराओं का भी वर्णन है, जो अपनाने योग्य हैं।

(ii) दूसरा परिच्छेद -

दूसरे परिच्छेद में पहले उन भाषाओं का वर्णन है, जिनमें काव्य की रचना की जानी चाहिये। ये भाषायें चार हैं - संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषा। तदनन्तर काव्य के तीन भेद कहे गये हैं - छन्दोबद्ध, गद्यनिबद्ध और गद्यपद्यमिश्र। इसके बाद पद और वाक्य के आठ दोषों की विवेचना करके अर्थदोषों को निरूपित किया गया है।

(iii) तीसरा परिच्छेद -

तीसरे परिच्छेद में काव्य के दस गुणों की उदाहरण सहित विवेचना की गई है।

(iv) चतुर्थ परिच्छेद -

इस परिच्छेद में पहले अलङ्कारों का विवेचन है। यहां वाग्भट ने चार शब्दालङ्कारों और ३५ अर्थालङ्कारों का विस्तृत विवरण दिया है। इसके बाद वैदर्भी और गौडी इन दो रीतियों का विवरण है।

(v) पञ्चम परिच्छेद -

पांचवें परिच्छेद में वाग्भट ने ९ प्रकार के रसों का, नायक-नायिका भेदों का तथा इनसे सम्बन्धित अन्य विषयों का निरूपण किया है।

४. वाग्भटालङ्कार की प्राचीन टीकायें

वाग्भट का 'वाग्भटालङ्कार' बहुत लोकप्रिय हुआ था। इस पर अनेक टीकायें लिखी गई थीं। इस ग्रन्थ की ९ टीकाओं के लिखे जाने के प्रमाण उपलब्ध हुये हैं।

(i) जिनवर्धन सूरि की टीका -

जिनवर्धन सूरि राजा सरतरगच्छ के पुरोहित थे। इनको आदिनाथ भी कहा जाता है। यह टीका इन्होंने १४०५-१४१९ ई० में लिखी थी। इसका प्रकाशन बम्बई से हुआ है।

(ii) सिंहदेवगणिकृत टीका -

इस टीका का प्रकाशन काव्यमाला सीरीज सं० ४८ में बम्बई से हुआ है।

(iii) क्षेमहंसगणिकृत टीका -

इस टीका का नाम 'समासान्वयटिप्पण' है। यह अप्रकाशित है।

(iv) गणेशकृत टीका -

गणेश भट्ट के पिता का नाम अनन्त भट्ट था। इस टीका का नाम 'विवरण' है।

(v) राजहंस उपाध्याय कृत टीका -

राजहंस उपाध्याय के गुरु जिनतिलकसूरि थे। इस टीका का लेखन १३५०- १४०० ई० में हुआ था।

(vi) समयसुन्दरकृत टीका -

समयसुन्दर ने इस टीका की रचना १६२६ ई० में अहमदाबाद में की थी। इनके गुरु का नाम सकलचन्द्र था।

(vii) अवचूरि टीका -

अवचूरि टीका के लेखक का नाम विदित नहीं हो सका है।

(viii) कृष्णशर्मकृत टीका -

एक प्राचीन टीका कृष्णशर्मा द्वारा लिखित प्राप्त हुई है।

(ix) वामनाचार्य कृत टीका -

वामनाचार्य ज्ञानप्रमोदगणि ने १६२४-२५ ई० में इस टीका को लिखा था। इस टीका का नाम ज्ञानप्रमोदिका है।

सन्दर्भ -

१. वयंडसुत्तिसपुंड............मुत्तिअमणिणोपहासमूव्व।
सिरिवाहडत्ति तणओ आसि वुहो तस्स सोमस्स।। वाग्भटालङ्कार ४.१४८।।
इस पद्य की टीका इस प्रकार है -
इदानीं ग्रन्थकार इदमलङ्कारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधेयस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम-गाथयैकया निदर्शयति।।

२. इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनु-
रैरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः।
दम्भोलिनाऽप्यलमलं यदि तत्प्रतापः
स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा।। वाग्भटालङ्कार ४.७६।।

३. ककाकुकंकके काककेकिकोकैककुः ककः।
अकुकौकः काककाक्कक्रक्काकुकुककांककुः।। वाग्भटालङ्कार ४.१२।।

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी०वी० काणे पृ० ३५७।।

सताईसवां अध्याय

वाग्भट द्वितीय

१. वाग्भट द्वितीय का महत्त्व

पहले कहा जा चुका है कि वाग्भट नामक आचार्य ने 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। परन्तु ये वाग्भट 'वाग्भटालङ्कार' ग्रन्थ के रचयिता वाग्भट से भिन्न थे और काव्यशास्त्र के इतिहास में इनको वाग्भट द्वितीय कहा जाता है। ये वाग्भट प्रथम से उत्तर काल में हुये थे। इनकी रचनाओं तथा अन्य विवरणों से यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि नाम के एक होने पर भी दोनों वाग्भटों के व्यक्तित्व अलग अलग थे। दोनों के समयों में भी बहुत अन्तर था।

वाग्भट द्वितीय ने 'काव्यानुशासन' में अपने से पूर्ववर्ती वाग्भट का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है -

"उन्होंने (वाग्भट प्रथम) काव्य में दस गुणों को प्रतिपादित किया था। परन्तु काव्य में वस्तुतः तीन ही गुण होते हैं[१]।"

२. वाग्भट द्वितीय का परिचय और समय

'काव्यानुशासन' के रचयिता वाग्भट के जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में विशेष परिचय नहीं मिलता। उनका इतना ही परिचय मिलता है कि ये जैनी थे। इनके पिता का नाम नेमिकुमार था। लेखक ने अपने ग्रन्थ में मेदपाट(मेवाड़), राहड़पुर, नलोटकपुर आदि स्थानों का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये मेवाड़ के रहने वाले होंगे।

वाग्भट द्वितीय ने अपने ग्रन्थ में मम्मट और वाग्भट का उल्लेख किया है। इससे इनका समय १२ वीं शताब्दी ई० के बाद का होना चाहिये। विद्वान् समालोचकों का विचार है कि वे १४ वीं शताब्दी ई० के आसपास हुये होंगे।

३. वाग्भट द्वितीय की रचनायें

वाग्भट द्वितीय का केवल एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है - 'काव्यानुशासन'। यह लेखक की काव्यशास्त्र विषय पर प्रसिद्ध रचना है। इस ग्रन्थ में लेखक ने 'ऋषभदेवचरित' और 'छन्दोऽनुशासन' नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है। समालोचकों का अनुमान है कि ये रचनायें भी इन्हीं की होंगी। परन्तु वर्तमान समय में ये कृतियां उपलब्ध नहीं हैं।

४. काव्यानुशासन

वाग्भट द्वितीय का प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यानुशासन है। यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' से भिन्न है। इस ग्रन्थ को मूल रूप में गद्यनिबद्ध सूत्रों में लिखा गया था। वाग्भट ने स्वयं ही इन सूत्रों पर 'अलङ्कारतिलक' नाम से वृत्ति लिखी थी तथा उदाहरणों से उनकी व्याख्या की थी। ग्रन्थ का मूल भाग लेखक की स्वयं की रचना है, परन्तु वृत्ति का अधिकांश भाग दूसरे ग्रन्थों से लिया गया है। उदाहरणों का संग्रह भी इन्होंने दूसरे ग्रन्थों से किया है। 'काव्यमीमांसा', 'काव्यप्रकाश' आदि बहुत से ग्रन्थों से इसमें सामग्री संकलित की गई है।

'काव्यानुशासन' ग्रन्थ पांच अध्यायों में विभक्त है। इनमें काव्य के सभी तत्त्वों का विवेचन है। अध्याय क्रम के अनुसार इसकी विषय-वस्तु निम्न प्रकार से है -

(i) प्रथम अध्याय -

पहले अध्याय में लेखक ने सबसे पहले प्रयोजनों को कह कर हेतुओं को कहा है। काव्य की रचना का मुख्य हेतु प्रतिभा है। व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के सहायक हैं। इसके बाद कवि-समयों का कथन किया गया है और तदनन्तर काव्य के स्वरूप और भेदों की विवेचना है। पहले तो काव्य के तीन भेद - गद्य, पद्य और मिश्र कहे गये हैं। पुनः महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और मिश्र काव्यों की परिभाषायें दी गई हैं। दस प्रकार के रूपकों और गेय काव्यों का विवेचन है।

(ii) द्वितीय अध्याय -

दूसरे अध्याय में दोषों और गुणों की विवेचना की गई है। इसमें पद और वाक्य के १६ दोषों का और १४ अर्थदोषों का विवेचन है। इसके पश्चात् गुणों का विश्लेषण है। वाग्भट का कथन है कि दण्डी, वामन, वाग्भट आदि ने १० गुणों का निरूपण किया था, परन्तु वास्तव में गुण तीन ही होते हैं। ये हैं - ओजः, माधुर्य और प्रसाद।

(iii) तृतीय अध्याय -

तीसरे अध्याय में अर्थालङ्कारों की विवेचना है। वाग्भट ने ६२ अलङ्कारों का विवेचन किया था। इनमें अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, मत, उभयन्यास, भाव और आशीः अलङ्कार अन्य लेखकों की अपेक्षा विलक्षण हैं।

(iv) चतुर्थ अध्याय -

चौथे अध्याय में शब्दालङ्कारों का विवेचन है। वाग्भट ने ६ शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। ये हैं - चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक और पुनरुक्तवदाभास।

(v) पञ्चम अध्याय -

पांचवें अध्याय में रस और रसदोषों का विवेचन है। सबसे पहले ९ रसों का और

उनके प्रतिपादक तत्त्वों - विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों का वर्णन है। उसके पश्चात् नायक-नायिका भेदों, प्रेम की दस अवस्थाओं आदि का विवेचन है। अन्त में रसदोषों की समीक्षा की गई है।

'काव्यानुशासन' ग्रन्थ के अध्ययन से विदित होता है कि इस ग्रन्थ में प्राचीन काव्यशास्त्रियों के मतों का तथा विवेचनाओं का ही अधिक संग्रह किया गया है और लेखक की अपनी मौलिकता कम है। इसमें लेखक ने अपने से प्राचीन अनेक लेखकों और ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। कुछ के नाम इस प्रकार हैं -

अब्धिमन्थन, काव्यप्रकाश, चन्द्रप्रभकाव्य, त्रिविक्रम, दमयन्ती, नेमिनिर्माण, बालरामायण, भीमकाव्य, राजमतीपरित्याग, पद्यमयीकथा, वासवदत्ता, विष्णुविजय, शृङ्गारतिलक, आनन्दवर्धन, शीला आदि।

....

सन्दर्भ -

१. दण्डिवामनमम्मटादिप्रणीताः दश काव्यगुणाः। परन्तु माधुर्यौजःप्रसादान् त्रीनेव गुणान् मन्यामहे।।
काव्यानुशासनवृत्ति पृ० ३१।।

....

अठाईसवां अध्याय

हेमचन्द्र

१. हेमचन्द्र का परिचय और समय

'काव्यानुशासन' के रचयिता हेमचन्द्र ने अपनी विद्या और प्रतिभा के कारण गुजरात में बहुत अधिक प्रसिद्धि पाई थी। 'काव्यानुशासन' के अतिरिक्त उन्होंने अन्य भी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। वे जैन मतावलम्बी थे और गुजरात के राजाओं के गुरु रहे थे।

हेमचन्द्र के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में भी बहुत अधिक सामग्री प्राप्त हो जाती है। सोमप्रभरचित 'कुमारपालप्रतिरोध' (११८५ ई०), प्रभाचन्द्रकृत 'प्रभावकचरित' (१२७७ ई०), मेरुतुंगरचित 'प्रबन्धचिन्तामणि' (१३०७ ई०) और राजशेखरकृत 'प्रबन्धकोष' (१४०५ ई०) नामक ग्रन्थों में इनके जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री है।

ऊपर लिखित ग्रन्थों के अनुसार हेमचन्द्र का जन्म ११४५ विक्रमी संवत् (१०८८ ई०) में हुआ था। वे अहमदाबाद जिले के धुन्धुक नामक स्थान में उत्पन्न हुये थे। जन्म से वे मोड़ बनिया जाति के थे। इनके पिता का नाम चाच और माता का नाम पाहिनी था। हेमचन्द्र का बचपन का नाम चंगदेव था। इनके गुरु देवचन्द्र थे, जिन्होंने ११५० विक्रमी संवत् (१०९३ ई०) में इनकी शिक्षा प्रारम्भ की थी। इस समय इनका नाम हेमचन्द्र हुआ। ११६६ विक्रमी संवत् (११०९ ई०) में इनको सूरि या आचार्य पद प्राप्त हुआ। इनकी मृत्यु १२२९ विक्रमी (११७९ ई०) में ८४ वर्ष की आयु में हुई थी।

हेमचन्द्र गुजरात के चालुक्यवंशी राजाओं के गुरु थे। अनहिलपाटन के राजा सिद्धराज जयसिंह (१०९३-११४३ ई०) तथा जयसिंह के पुत्र कुमारपाल (११४३-११७३ ई०) इनके शिष्य रहे थे। जयसिंह के अनुरोध से हेमचन्द्र ने प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ 'शब्दानुशासन' (सिद्ध हेमचन्द्र) की रचना की थी। 'शब्दानुशासन' की रचना करने के बाद ही इन्होंने 'काव्यानुशासन' को लिखा। इस ग्रन्थ में कुमारपाल का उल्लेख न होने से यह कल्पना की जाती है कि इसकी रचना ११४३ ई० के पहले ही हो गई होगी।

२. हेमचन्द्र की रचनायें

हेमचन्द्र ने काव्यशास्त्र विषय पर 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक विषयों पर इन्होंने अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे थे। इनकी रचनाओं की सूची डा० आफ्रेक्ट ने 'कैटेलोगस कैटेगोरम' में इस प्रकार दी है -

(१) अनेकार्थकोष
(२) अनेकार्थशेष
(३) अभिधानचिन्तामणि
(४) अलङ्कारचूडामणि
(५) उणादिसूत्रवृत्ति
(६) काव्यानुशासन
(७) छन्दोऽनुशासन
(८) छन्दोऽनुशासनवृत्ति
(९) देशीनाममाला
(१०) द्व्याश्रयकाव्य
(११) धातुपाठ
(१२) धातुपारायण
(१३) धातुमाला
(१४) नाममाला
(१५) नाममालाशेष
(१६) निघण्टुशेष
(१७) प्रमाणमीमांसा
(१८) बलाबलसूत्रबृहद्वृत्ति
(१९) बालभाषाव्याकरणसूत्रवृत्ति
(२०) योगशास्त्र
(२१) विभ्रमसूत्र
(२२) लिंगानुशासन
(२३) शब्दानुशासन
(२४) शेषसंग्रह
(२५) शेषसंग्रहसारोद्धार

इन सभी ग्रन्थों में हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' ही काव्यशास्त्र से सम्बन्धित है और बहुत प्रसिद्ध है।

३. काव्यानुशासन

हेमचन्द्र का कथन है कि 'शब्दानुशासन' में उन्होंने वाणी का अच्छी प्रकार विवेचन कर दिया था। अब उसके काव्यत्व का वे 'काव्यानुशासन' लिख कर अनुशासन कर रहे हैं[1]। इस ग्रन्थ में ८ अध्याय हैं। इस लेखन के तीन भाग हैं - कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इनमें कारिका भाग को काव्यानुशासन कहा गया है। इस ग्रन्थ पर हेमचन्द्र ने स्वयं ही टीका लिखी थी। यह विवेक टीका कहलाती है। इस 'विवेकटीका' को हेमचन्द्र ने यद्यपि वृत्ति के स्पष्टीकरण के लिये लिखा था, तथापि उनका कहना है कि कहीं तो अर्थ को स्पष्ट करने के लिये तथा कहीं नवीन बात को कहने के लिये यह टीका लिखी जा रही है[2]। यह टीका अनेक स्थलों पर अपूर्ण ही उपलब्ध हुई है।

'काव्यानुशासन' में अध्याय के क्रम से विषय-वस्तु का विवेचन निम्न प्रकार से है -

(i) प्रथम अध्शय –

पहले अध्याय में मंगलाचरण के अनन्तर काव्य के प्रयोजन और हेतु कहे गये हैं। तदनन्तर काव्य की परिभाषा, गुण, दोष एवं अलङ्कार के लक्षण, शब्द-अर्थ के स्वरूप, मुख्यार्थ, गौणार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ के भेद, इन सबका निरूपण किया गया है।

(ii) द्वितीय अध्याय –

दूसरे अध्याय में रस का लक्षण, रस के भेद, ९ रसों के स्वरूप, स्थायी भाव, सात्त्विक भाव, रसाभास आदि का विवेचन है।

(iii) तृतीय अध्याय –

तीसरे अध्याय में काव्य-दोषों की विवेचना है। इसमें रसदोष, पददोष, वाक्यदोष, पदवाक्यदोष और अर्थदोष का निरूपण है।

(iv) चतुर्थ अध्याय –

चौथे अध्याय में गुणों का विवेचन है। गुण तीन हैं – माधुर्य, ओजः और प्रसाद। इन गुणों के स्वरूप और व्यञ्जक तत्त्वों का निरूपण हुआ है।

(v) पञ्चम अध्याय –

पांचवें अध्याय में शब्दालङ्कार कहे गये हैं। इस प्रकरण में अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास इन ६ अलङ्कारों की विवेचना हुई है।

(vi) षष्ठ अध्याय –

छठा अध्याय अर्थालङ्कारों से सम्बन्धित है। इसमें उपमा, रूपक, निदर्शन, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्त, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति, व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससन्देह, अपह्नुति, परावृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, परिसंख्या, कारणमाला और संकर इन २९ अलङ्कारों की विवेचना है। हेमचन्द्र ने रसवद् आदि अलङ्कारों का विवेचन नहीं किया।

(vii) सप्तम अध्याय –

सातवें अध्याय में नायक-नायिका के गुणों और भेदों का निरूपण है। अन्त में स्त्रियों के २० स्वाभाविक अलङ्कार कहे गये हैं।

(viii) अष्टम अध्याय –

आठवें अध्याय में काव्य के भेदों की विवेचना है। काव्य के श्रव्य और प्रेक्ष्य दो भेद करके इनके विविध भेद शास्त्रकार ने कहे हैं।

'काव्यानुशासन' में काव्य के प्रायः सभी अंगों की विवेचना हेमचन्द्र ने की है। परन्तु काव्यशास्त्र के इतिहास में इस ग्रन्थ को मौलिक महत्त्व का श्रेय प्राप्त नहीं हुआ। इस ग्रन्थ को एक संग्रह ग्रन्थ ही समझा जाता है, जिसमें प्राचीन आचार्यों के मतों और

सिद्धान्तों का समन्वयात्मक रूप से संकलन कर दिया गया है। हेमचन्द्र ने ग्रन्थ की रचना में मुख्य रूप से 'ध्वन्यालोक' और उसकी 'लोचन टीका' को, 'काव्यप्रकाश' को और 'काव्यमीमांसा' को आधार बनाया है। उन्होंने स्वयं अनेक स्थानों पर लिखा है - "अपने इस ग्रन्थ की रचना में अभिनवगुप्त और भरत को आधार रूप से लिया गया है।"

'काव्यानुशासन' में हेमचन्द्र ने लगभग १५०० श्लोकों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ये उदाहरण उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती ग्रन्थों से लिये थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ में अनेक प्राचीन लेखकों और ग्रन्थों को उद्धृत किया था। कुछ के नाम इस प्रकार हैं -

अवन्तिसुन्दरी, उषाहरण, दण्डी, भट्टतौत, भट्टनायक, पञ्चशिख, शूद्रककथा, भामहविवरण, भोजराज, मम्मट, मंगल, मायुराज, यायावरीय, रावणवध, वामन, राहुल, राजशेखर, हरविलास, हरिप्रबोध, हृदयदर्पण आदि।

हेमचन्द्र ने केवल संग्रहमात्र किया हो, ऐसा नहीं है। उन्होंने अनेक स्थानों पर प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा भिन्न मन्तव्य प्रस्तुत करके मौलिकता भी प्रदर्शित की है। काव्य के प्रयोजनों के प्रतिपादन में और लक्षणा के वर्गीकरण में उनके विचार मम्मट से भिन्न हैं। तथापि अधिकांश रूप में उन्होंने प्राचीन आचार्यों का ही अनुसरण किया था। परवर्ती आचार्यों पर हेमचन्द्र का प्रभाव यद्यपि कम ही रहा और बहुत कम आचार्यों ने इनको प्रमाण के रूप में उद्धृत किया, तथापि इनकी विद्वत्ता और प्रौढ़ता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

....

सन्दर्भ -

१. शब्दानुशासनेऽस्माभिः साध्व्यो वाचो निवेशिताः।
तासामिदानीं काव्यत्वं यथावदनुशिष्यते।। काव्यानुशासन १.२।।

२. विवरीतुं क्वचिद् दृब्धं नवं सन्दर्भितुं क्वचित्।
काव्यानुशासनस्यायं विवेकः प्रवितन्यते।। काव्यानुशासन - विवेक टीका का प्रारम्भ।।

....

उनतीसवां अध्याय

अमरचन्द्र

१. अमरचन्द्र का महत्त्व

संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अमरचन्द्र का अपना महत्त्व और विशेषतायें हैं। इन्होंने काव्य के तत्त्वों का विवेचन तो नहीं किया, परन्तु काव्य-रचना की व्यावहारिक शिक्षा देने का प्रशंसनीय प्रयास अवश्य किया था। काव्य-रचना की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ कविशिक्षा कहलाते हैं। अमरचन्द्र ने कविशिक्षा विषय पर ग्रन्थ की रचना की। इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यकल्पलता' है।

२. काव्यकल्पलता का लेखक

'काव्यकल्पलता' अकेले अमरचन्द्र की कृति नहीं है। यह अरिसिंह और अमरचन्द्र की सम्मिलित रचना है। प्रतीत होता है कि इस रचना को लिखने का कार्य अरिसिंह ने प्रारम्भ किया था, परन्तु किसी कारण वे इसको पूरा नहीं कर सके। अमरचन्द्र ने इसको पूरा किया था। इस ग्रन्थ की रचना पहले सूत्र रूप में हुई थी। ग्रन्थ के पूरा हो जाने पर स्वयं अमरचन्द्र ने इस पर वृत्ति लिखी, जो 'कविशिक्षावृत्ति' या 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के नाम से प्रसिद्ध हुई। वृत्ति की पुष्पिका में स्वयं अमरसिंह ने लिखा -"इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने (अरिसिंह) और स्वयं मैंने की है तथा इसकी व्याख्या की जा रही है[१]।"

३. ग्रन्थकार का परिचय

अरिसिंह और अमरसिंह दोनों एक ही गुरु के शिष्य थे। इनके गुरु का नाम जिनदत्तसूरि था। अरिसिंह के पिता का नाम लावण्यसिंह या लवणसिंह था। इन्होंने एक काव्य 'सुकृतसंकीर्तन' की रचना की थी। इस काव्य में उन्होंने वस्तुपाल की प्रशंसा की है। ये वस्तुपाल जैन थे। ढोलका (गुजरात) के राजा धीरधवल के ये मन्त्री थे। धीरधवल और वस्तुपाल का समय १३ वीं शताब्दी का ई० है, अतः अरिसिंह और अमरचन्द्र का समय भी १३ वीं शताब्दी ई० का माना जा सकता है।

४. अमरचन्द्र की कृतिया

अमरचन्द्र विद्वान् और मनीषी लेखक थे। इनकी प्रमुख रचना 'काव्यकल्पलता' है। इस ग्रन्थ तथा इसकी वृत्ति के अतिाक्ति इन्होंने कुछ और ग्रन्थों की रचना भी लिखी थीं। इनके दो और काव्य - 'जितेन्द्रचरित' (पद्मानन्द काव्य) और 'बालभारत' हैं। इनका एक व्याकरण ग्रन्थ 'स्यादिशब्दसमुच्चय' भी है। 'काव्यकल्पलतावृत्ति' में स्वरचित तीन और ग्रन्थों - 'छन्दोरत्नावली', 'काव्यकल्पलतापरिमल' और 'अलङ्कारप्रबोध' का भी उल्लेख है। परन्तु ये ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं।

५. काव्यकल्पलता

अमरचन्द्र की यह रचना एक विस्तृत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'कवितारहस्य' भी है। यह ग्रन्थ चार प्रतानों (खण्डों) में विभक्त है। प्रत्येक प्रतान में अनेक स्तबक (अध्याय) हैं।

पहले प्रतान में छन्द:सिद्धि की विवेचना है। दूसरे प्रतान में शब्दसिद्धि का वर्णन है। तीसरे प्रतान में श्लेषसिद्धि का कथन किया गया है। चौथे प्रतान में अर्थसिद्धि से सम्बन्धित विषयों का वर्णन किया गया है।

६. काव्यकल्पलतावृत्ति

'काव्यकल्पलता' की व्याख्या के लिये स्वयं अमरचन्द्र ने 'काव्यकल्पलतावृत्ति' या 'कविशिक्षावृत्ति' और 'काव्यकल्पलतापरिमल' नामक टीकायें तो लिखी ही थीं, इस पर १६०९ ई, में शुभविजयगणि ने भी 'मकरन्द' नाम से एक टीका लिखी।

....

सन्दर्भ -

१. किञ्चिच्च तद्रचितमात्मकृतञ्च किञ्चित्।
व्याख्यास्यते त्वरितमात्मकृतेऽत्र सूत्रम्।। काव्यकल्पलतावृत्ति पृ० १।।

....

तीसवां अध्याय

देवेश्वर

१. देवेश्वर का परिचय, महत्त्व और रचनायें

कविशिक्षा विषय पर एक अन्य सुन्दर ग्रन्थ 'कविकल्पलता' की रचना देवेश्वर ने (देवेन्द्र) ने की थी। इनके पिता वाग्भट मालवा देश के राजा के महामात्य थे।

देवेश्वर का समय १४ वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध समझा जाता है। इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है - "इस ग्रन्थ का आधार अमरचन्द्र की कृति 'काव्यकल्पलता' है।"

देवेश्वर का समय अमरचन्द्र के बाद का होना चाहिये। देवेश्वर का एक पद्य 'शाङ्र्गधरपद्धति' में में उद्धृत है। इस सूक्तिसंग्रह की रचना का समय १३६३ ई० समझा जाता है। अत: देवेश्वर को १२४० और १३६३ के मध्य का समझा जा सकता है। अधिक सम्भवत: वे १४ वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में हुये होंगे।

२. कविकल्पलता

'कविकल्पलता' में विषय के प्रतिपादन के लिये देवेश्वर ने 'काव्यकल्पलता' को आधार बनाया था। इस ग्रन्थ के बहुत से लक्षणों और नियमों को देवेश्वर ने अपने ग्रन्थ में अक्षरश: उद्धृत किया है।

३. कविकल्पलता की टीका

'कविकल्पलता' ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय रहा होगा। इस पर अनेक टीकायें लिखी गई थीं। निम्न टीकाओं के लिखे जाने के प्रमाण मिलते हैं -

(१) देवेश्वर कृत स्वयं की टीका
(२) बेचाराम द्वारा लिखित सार्वभौम टीका
(३) रामगोपाल कविरत्न रचित टीका
(४) सूर्यकवि कृत बालबोधिका टीका
(५) विवेक टीका

....

इकतीसवां अध्याय

धनञ्जय

१. धनञ्जय का महत्त्व

'दशरूपक' जैसी सारगर्भित नाट्यशास्त्र विषयक रचना लिखने के कारण धनञ्जय ने काव्यशास्त्र के इतिहास में महती प्रसिद्धि प्राप्त की थी। यद्यपि 'दशरूपक' का विशेष सम्बन्ध नाट्यशास्त्र के विषयों से है, तथापि रस का विशेष विवेचन होने के कारण इस ग्रन्थ को काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी विशेष गौरव प्राप्त हुआ है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' के पश्चात् इस विषय पर लिखा गया धनञ्जय का 'दशरूपक' सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। सम्भव है कि इससे पूर्व भी नाट्यशास्त्र विषय पर कुछ ग्रन्थ लिखे गये हों, परन्तु वर्तमान समय में उनमें से कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। भरत के बाद से लेकर धनञ्जय के पहले तक नाट्यशास्त्र विषय पर कोई भी विशेष रचना नहीं लिखी गई। १० वीं शताब्दी ई० में धनञ्जय ने इस कमी को पूरा किया। इस मध्य में यदि कोई विशेष कार्य हुआ भी है, तो वह भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर अभिनवगुप्त की टीका है।

भरत का'नाट्यशास्त्र' एक अति विशाल ग्रन्थ है, जिसमें अनेक विषयों का समावेश हुआ है। उसमें प्रवेश करना और उसके पार उतरना विशिष्ट विद्वानों के लिये भी अति दुष्कर है। धनञ्जय ने उसका संक्षेप करके नाट्यशास्त्र के प्रति रुचि रखने वालों का उपकार किया था[१]।

धनञ्जय के 'दशरूपक' पर उन्हीं के भाई धनिक ने 'अवलोक टीका' लिखी थी। इस टीका के विना यह ग्रन्थ अपूर्ण ही है। 'दशरूपक' का प्रकाशन प्रायः 'अवलोक टीका' सहित ही हुआ है।

२. धनञ्जय का जीवन-वृत्त और समय

धनञ्जय के परिचय और समय के सम्बन्ध में आज का पाठक नितान्त अपरिचित नहीं है। धनञ्जय के ही लिखने के अनुसार वे राजा मुञ्ज की राजसभा के सदस्य थे। इनके पिता का नाम विष्णु था[२]।

इससे प्रतीत होता है कि धनञ्जय ने 'दशरूपक' की कारिकाओं की रचना मुञ्ज के समय में की थी। प्रतिहारवंशी राजा मुञ्ज की राजधानी धारा नगरी थी। वे वाक्पतिराज

के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इनके भाई का नाम सिन्धुराज था। मुञ्ज के बाद उनके भाई सिन्धुराज तथा सिन्धुराज के बाद उनके पुत्र भोज धारा नगरी के राजसिंहासन पर आरूढ हुये। विद्या के व्यसनी भोज कवियों का आदर करने वाले थे। उन्होंने स्वयं भी लोकोपकार के लिये प्रभूत मात्रा में ग्रन्थों की रचना की थी।

इतिहास में प्रसिद्ध है कि मालवराज मुञ्ज और गुजरात के राजा तैलप में प्राय: युद्ध होते रहते थे। एक युद्ध में मुञ्ज की पराजय हुई और तैलप उसको कैद करके अपनी राजधानी अनहिलपाटन में ले गया। वहां मुञ्ज का वध कर दिया गया। यह युद्ध ९९३- ९९४ ई० में हुआ था। मुञ्ज ने कम से कम २० वर्ष तो राज्य किया ही होगा। अत: मुञ्ज का राज्यकाल ९७४-९९४ ई० हो सकता है। धनञ्जय ने अपनी रचना इसी काल में लिखी होगी। अत: दशरूपक की कारिकाओं के लेखन का समय दशम शताब्दी ई० का अन्तिम भाग निश्चित किया जा सकता है।

३. धनिक

धनिक की 'अवलोक टीका' के विना 'दशरूपक' अधूरा ही है। धनिक ने अपने को विष्णु का पुत्र कहा है। 'दशरूपक' के प्रत्येक प्रकाश की टीका के अन्त में उन्होंने अपना परिचय विष्णु के पुत्र के रूप में दिया है[१]। इससे अनुमान होता है कि वे धनञ्जय के छोटे भाई थे और उन्होंने अपनी यह 'अवलोक टीका' 'दशरूपक' की रचना के कुछ ही समय बाद लिख दी होगी।

धनिक ने अपनी 'अवलोक टीका' में 'नवसाहसांकचरित' के कुछ पद्यों को उद्धृत किया है। इस काव्य की रचना मुञ्ज के छोटे भाई तथा उत्तराधिकारी सिन्धुराज के राज्य-शासन के समय में परिमलगुप्त ने की थी। अत: 'अवलोक टीका' की रचना, धनञ्जय के 'दशरूपक' की रचना के कुछ ही समय बाद हो गई होगी। इसका क्रम इस प्रकार रहा होगा -

मुञ्ज के शासन काल में ही धनञ्जय ने 'दशरूपक' की कारिकायें लिखी थीं। इसके बाद सिन्धुराज के शासन काल में परिमलगुप्त ने 'नवसाहसांकचरित' लिखा। तदनन्तर धनञ्जय के छोटे भाई धनिक ने 'अवलोक टीका' की रचना की।

'दशरूपक' पर 'अवलोक टीका' के अतिरिक्त धनिक ने काव्यशास्त्र विषय पर एक और ग्रन्थ की रचना स्वतन्त्र रूप से की थी। इस ग्रन्थ का नाम 'काव्यनिर्णय' था। यह ग्रन्थ यद्यपि उपलब्ध नहीं है, तथापि इसके अनेक श्लोकों को धनिक ने 'अवलोक टीका' में उद्धृत किया है।

४. धनञ्जय और धनिक

कुछ इतिहासज्ञों और समालोचकों का मन्तव्य है कि 'दशरूपक' की कारिकाओं और उसकी 'अवलोक टीका' को एक ही व्यक्ति ने लिखा था। धनञ्जय और धनिक एक

ही व्यक्ति के दो नाम हैं। यह धारणा निराधार और बहुत भ्रान्त है। इस धारणा के तीन हेतु कहे जाते हैं -

(१) कुछ अलङ्कार ग्रन्थों में 'दशरूपक' धनिक की रचना कही गयी है।

(२) 'अवलोक टीका के विना 'दशरूपक'को समझना कठिन है।

(३) 'अवलोक टीका' दस रूपकों की व्याख्या को पूर्ण बनाती है तथा इससे ही अर्थों की संगति और व्याख्या पूर्ण होती है।

परन्तु ये हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैं। 'अवलोक टीका' में ही अनेक स्थल ऐसे हैं, जो सिद्ध करते हैं कि कारिकाओं के लेखक तथा उन पर लिखी गई टीका (वृत्ति) के लेखक एक नहीं, अपितु भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं।

५. धनञ्जय की रचनायें

धनञ्जय की केवल एक ही कृति 'दशरूपक' उपलब्ध होती है। इनकी किसी अन्य कृति का संकेत कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ है।

६. दशरूपक

'दशरूपक' में नाट्यशास्त्र के विषय को संक्षेप करके लिखा गया है। यह ग्रन्थ 'दशरूप' के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह चार प्रकाशों में विभक्त है तथा इसमें कुल १०२ कारिकायें (श्लोक) हैं। इन श्लोकों पर धनिक ने टीका लिखी थी। यह टीका गद्य में है। इसके उदाहरणों का संग्रह भी धनिक ने किया था। 'दशरूपक' की विषय-वस्तु संक्षेप में इस प्रकार है -

(i) प्रथम प्रकाश -

पहले प्रकाश में लेखक ने सबसे पहले गणेश, विष्णु, भरत और सरस्वती की स्तुति की है। इसके बाद दस रूपकों का कथन करके नृत्य, नृत्त, नाट्य, लास्य तथा ताण्डव का स्वरूप कहा गया है। तदनन्तर कथानक की समालोचना है। यहां यह बताया गया है कि रूपक की समालोचना वस्तु, नेता और रस के भेद से की जाती है।

वस्तु की समालोचना करते हुये इतिवृत्त और उसके भेद, अर्थप्रकृतियां, कार्यावस्थायें, सन्धियां तथा उनके अंग, इनकी सविस्तार भेदसहित व्याख्या की गई है। अर्थोपक्षेपकों - विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य और अंकावतार की परिभाषायें कही गई हैं। अन्त में संवादों के भेद - सर्वश्राव्य, अश्राव्य, नियतश्राव्य, जनान्तिक, अपवारितक और आकाशभाषित के लक्षण बताये गये हैं।

(ii) द्वितीय प्रकाश -

दूसरे प्रकाश में पात्रों की विशेषताओं की विवेचना है। इसमें नायकों के स्वरूप तथा उनके चार भेदों - धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित और धीरोद्धत का और उनके प्रभेदों

का वर्णन है। नायक के पश्चात् नायिकाओं का विवेचन है।

नायिकाओं के प्रथम तीन भेद हैं - स्वीया, अन्या तथा साधारणस्त्री। इनके स्वरूप बता कर इनके भेदों, प्रभेदों तथा विशेषताओं का कथन किया गया है। अवस्था के अनुसार नायिकायें ८ प्रकार की होती हैं और उनकी अनेक सहायिकायें होती हैं। नायिकाओं के २० प्रकार के अलङ्कार तीन वर्गों में वर्गीकृत हैं - शरीरज, अयत्नज और स्वभावज। इसके बाद नायक के विशिष्ट सहायकों - मन्त्री आदि का वर्णन है।

नायक-नायिका आदि पात्रों की व्याख्या करके इस प्रकाश में अभिनयोचित चार वृत्तियों - कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती की विशद व्याख्या की गई है। यह भी बताया गया है कि किस रस में किस वृत्ति का प्रयोग किया जाता है। रूपकों में पात्रों को किस भाषा का प्रयोग करना चाहिये, तथा संवादों में पात्र किसको किस प्रकार सम्बोधित करें, इस विषय की भी यहां विस्तृत चर्चा है।

(iii) तृतीय प्रकाश -

तीसरे प्रकाश में सबसे पहले यह बताया गया है कि रूपक का आरम्भ किस प्रकार करना चाहिये। अभिनय को पूर्वराग द्वारा प्रारम्भ किया जाता है। इसके बाद प्रस्तावना के तीन भेदों का कथन है। तदनन्तर इतिवृत्त के सम्बन्ध में सिद्धान्त का प्रतिपादन करके अंकों की योजना को समझाया गया है। इसके बाद रूपक के प्रसिद्ध दस भेदों तथा नाटिका के लक्षण की विस्तृत चर्चा है।

(iv) चतुर्थ प्रकाश -

चौथे प्रकाश में रस का विस्तृत विवेचन है। रस की निष्पत्ति की व्याख्या की दृष्टि से यह प्रकाश बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें रस की सामान्य परिभाषा बता कर उसके साधनों - विभावों, अनुभावों, सात्त्विक अनुभावों और व्यभिचारी भावों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रकरण में धनिक ने इस सबकी विस्तृत व्याख्या करके इनको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। तदनन्तर स्थायी भाव का लक्षण और उसके भेद कहे गये हैं। यहां दशरूपककार ने नाट्य में शम नामक स्थायी भाव के नियोजन का निषेध किया है।

रस की अभिव्यञ्जना के सम्बन्ध में दशरूपककार ने प्राचीन आचार्यों - आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि से भिन्न मत प्रस्तुत किया है। इनका मत है कि रस की निष्पत्ति में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव नहीं होता। लेखक ने ध्वनिकार के मत को उद्धृत करके उसमें व्यञ्जना व्यापार का खण्डन किया है। उसने रस की निष्पत्ति को भावनावादी सिद्धान्त पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका मत है कि विभाव आदि भावक हैं और रस भाव्य है। इस विवेचना के अनन्तर रस के भेदों और उनके स्वरूप की विवेचना है।

रूपक की रचना और उसके तत्त्वों की समालोचना की दृष्टि से 'दशरूपक' का बहुत अधिक महत्त्व है। इसके साथ ही रस की निष्पत्ति की विवेचना की दृष्टि से भी यह

बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'दशरूपक' तथा इसकी 'अवलोक टीका' में ध्वनि सिद्धान्त का तथा रस की अभिव्यञ्जकता का प्रबल विरोध है। दशरूपककार के अनुसार काव्य में रस ध्वनित नहीं होता, अपितु पाठकों और प्रेक्षकों द्वारा आस्वादित किया जाता है[४]। इस सम्बन्ध में दशरूपककार ने भट्टनायक के मत का अधिक अनुसरण किया है।

दशरूपककार और अवलोककार के समय का निरूपण करने से यह विदित होता है कि वे अभिनवगुप्त के लगभग समकालीन थे। समालोचकों का अनुमान है कि 'अवलोक टीका' सहित 'दशरूपक', 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती टीका'और 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन टीका' का प्रणयन लगभग एक ही समय में हुआ होगा। तथापि इन कृतियों में एक दूसरे के नाम का भी संकेत नहीं है। एक दूसरे के सिद्धान्तों और युक्तियों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है, यद्यपि इनमें मत-भिन्नता काफी अधिक है। इन समीक्षकों का कथन है कि पहले 'दशरूपक' की कारिकायें लिखी गईं। उसके बाद अभिनवगुप्त ने अपनी टीकाओं का प्रणयन किया और उसके बाद धनिक ने 'दशरूपक' की कारिकाओं पर अवलोक वृत्ति लिखी।

७. दशरूपक की प्राचीन टीकायें

धनञ्जय के 'दशरूपक' पर सबसे पहली टीका तो उनके भाई धनिक ने ही लिखी थी। इसका नाम 'अवलोक टीका' या वृत्ति है। यह 'अवलोक टीका ' या वृत्ति एक प्रकार से मूल ग्रन्थ का ही भाग हो गई है। 'अवलोक वृत्ति' के विना मूल ग्रन्थ को समझना अति दुष्कर है। 'अवलोक वृत्ति' के अनन्तर जो टीकायें लिखी गईं, वे सब 'दशरूपक' पर कम और 'अवलोक वृत्ति' पर अधिक हैं। 'दशरूपक' पर लिखी गई चार टीकाओं के प्रमाण मिलते हैं -

(१) नृसिंह भट्ट की टीका
(२) देवपाणि की टीका
(३) कुरविराम की टीका
(४) बहुमिश्र की टीका

डा० बलदेव उपाध्याय के अनुसार ये सब टीकायें हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हुई हैं और प्रकाशित नहीं हैं[५]। नृसिंह भट्ट ने दशरूपक के अतिरिक्त 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ग्रन्थ की भी टीका लिखी थी।

सन्दर्भ -

१. उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्मकः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि।। दशरूपक १.४।।

२. विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्।। दशरूपक ४.८६।।

३. इति विष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके प्रथमः प्रकाशः समाप्तः।।

४. अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि - भाव्यभावकभावः। काव्यं हि भावकं भाव्या हि रसादयः। ते तु स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमताः काव्येन भाव्यन्ते।। दशरूपक ४.३७ पर अवलोक वृत्ति।।

५. बलदेव उपाध्याय : भारतीय काव्यशास्त्र पृ० ८३।।

बत्तीसवां अध्याय

रामचन्द्र-गुणचन्द्र

१. रामचन्द्र-गुणचन्द्र का महत्त्व

'नाट्यदर्पण' की रचना रामचन्द्र और गुणचन्द्र का सम्मिलित प्रयास है। 'नाट्यशास्त्र' और 'दशरूपक' की रचना के पश्चात् नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसका प्रमुख स्थान है। इसमें नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों की व्याख्या करने में प्राचीन परम्पराओं का अनुसरण करते हुये भी मौलिक दृष्टि से चिन्तन किया गया है। 'नाट्यदर्पण' मुख्यतः यद्यपि नाट्यशास्त्र से सम्बन्ध रखता है तथापि इसमें रस का चिन्तन मौलिक दृष्टि से किया गया है। इस कारण इसका क्षेत्र अन्य काव्यों तक विस्तृत हो गया है। इस ग्रन्थ का नाम यद्यपि 'नाट्यदर्पण' ही अधिक प्रसिद्ध है, तथापि कहीं कहीं 'नाटकदर्पण' भी नाम मिलता है।

वर्तमान समय में रामचन्द्र-गुणचन्द्र की यद्यपि एक यही कृति उपलब्ध है, तथापि कुछ समीक्षकों का मत है कि प्राचीन समय में इस नाम की कोई अन्य भी कृति रही होगी। परन्तु यह अन्य किसी लेखक की कृति रही होगी।

'विक्रमोर्वशीयम्' की टीका में रंगनाथ ने[१] और 'भट्टिकाव्य' की टीका में भरतमल्लिक ने[२] 'नाट्यदर्पण' की कुछ पंक्तियों को उद्धृत किया है। परन्तु वे वर्तमान समय में उपलब्ध 'नाट्यदर्पण में विद्यमान नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इसी नाम का ग्रन्थ किसी अन्य लेखक ने भी पहले लिखा होगा, जिसकी पंक्तियों को रंगनाथ और भरतमल्लिक ने उद्धृत किया था।

२. रामचन्द्र और गुणचन्द्र का समय एवं जीवनवृत्त

रामचन्द्र का समय ११००-११७५ ई० का समझा जाता है। ये गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह (१०९३-११४३ ई०) और कुमारपाल (११४४-११७२ ई०) के समकालीन थे। कुमारपाल का पुत्र अजयपाल किसी कारण रामचन्द्र से रुष्ट हो गया और उसने उनके लिये मृत्यदण्ड का आदेश दे दिया। यह दण्ड ११७५ ई० में दिया गया था। ताम्बे की चादर को लाल गरम करके और उस पर उनको खड़ा करके यह दण्ड दिया गया था।

प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र, जिन्होंने 'काव्यानुशासन' की रचना की थी, रामचन्द्र के गुरु थे। हेमचन्द्र को ११४० ई० में गुजरात के राजाओं के आचार्य का पद प्राप्त हुआ था।

अतः रामचन्द्र का जीवन-काल ११००-११७५ ई० का सम्भावित किया जा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र के उत्तराधिकारी (पट्टधर) रामचन्द्र ही हुये थे। सिद्धराज ने जब हेमचन्द्र से पूछा कि आपका उत्तराधिकारी किसे बनाया जावे, तो इसके लिये उन्होंने रामचन्द्र को ही मनोनीत किया था।

रामचन्द्र परम विद्वान् और प्रतिभाशाली लेखक थे। 'नाट्यदर्पण' के अतिरिक्त उन्होंने अन्य भी अनेक ग्रन्थ लिखे थे। जैन साहित्य में इनका नाम प्रबन्धशतकर्ता के रूप में प्रसिद्ध है। इनके ११ नाटकों का उल्लेख 'नाट्यदर्पण' में है। इनमें 'नलविलास' अधिक प्रसिद्ध है।

रामचन्द्र के सहयोगी गुणचन्द्र के विषय में विदित होता है कि ये भी हेमचन्द्र के शिष्य थे और रामचन्द्र के सहपाठी थे। 'नाट्यदर्पण' के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना न तो प्राप्त होती है और नाहीं प्रसिद्ध है।

३. रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रचनायें

'नाट्यदर्पण' रामचन्द्र-गुणचन्द्र की सम्मिलित कृति है। परन्तु इसके अतिरिक्त रामचन्द्र ने अन्य भी अनेक कृतियों की रचना की थी। जैन साहित्य में इनको प्रबन्धशतकर्ता कहा गया है। 'नाट्यदर्पण' में रामचन्द्र द्वारा लिखित निम्न पुस्तकों का उल्लेख है -

(१) कौमुदीमित्रानन्द प्रकरण, (२) नलविलास नाटक, (३) निर्भयभीम व्यायोग, (४) मल्लिकामकरन्द प्रकरण, (५) यादवाभ्युदय नाटक, (६) रघुविलास नाटक, (७) राघवाभ्युदय नाटक, (८) रोहिणीमृगांक प्रकरण, (९) वनमाला नाटिका, (१०) सत्यहरिश्चन्द्र नाटक और (११) सुधाकलश नाटक।

४. नाट्यदर्पण

'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ में नाट्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया गया है। इस क्षेत्र में भरत के 'नाट्यशास्त्र' और धनञ्जय के 'दशरूपक' के बाद यह प्रमुख कृति है। यह ग्रन्थ मूल रूप में कारिकाओं में लिखा गया था। इस पर लेखक ने स्वयं ही 'विवरण' नामक वृत्ति लिखी थी। यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है, जिनको विवेक नाम दिया गया था। इनमें विषय-वस्तु का विवेचन निम्न क्रम से किया गया है -

(i) प्रथम विवेक -

प्रथम विवेक का नाम "नाटकनिर्णयविवेक" है। इसमें रूपक के प्रथम भेद नाटक की विवेचना है।

(ii) द्वितीय विवेक -

इस विवेक का नाम "प्रकरणाद्येकादशनिर्णयविवेक" है। इसमें नाटक के अतिरिक्त रूपकों के प्रकरण आदि ११ भेदों का निरूपण किया गया है।

(iii) तृतीय विवेक -

इस विवेक को "वृत्तिभावाभिनयविचार" नाम दिया गया है। इस विवेक में कौशिकी आदि वृत्तियों का और रस, भाव, अभिनय आदि का विचार किया गया है।

(iv) चतुर्थ विवेक -

इस विवेक का नाम "सर्वरूपकसाधारणलक्षणनिर्णय" है। इसमें सभी प्रकार के रूपकों के लिये सामान्य संगठन के तत्त्वों पर विचार किया गया है।

५. नाट्यदर्पण का महत्त्व

'नाट्यदर्पण' के लेखकों ने प्रायः भरत और धनञ्जय का अनुकरण किया है। परन्तु अनेक स्थलों पर वे अपने मौलिक चिन्तन को भी अभिव्यक्त करते हैं। धनञ्जय ने दस रूपकों को प्रमुख माना था और ११ वीं नाटिका का निर्देश किया था। परन्तु रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने रूपकों के १२ भेद किये। इनमें नाटिका सहित ११ भेद तो 'दशरूपक' के ही अनुसार हैं, परन्तु १२ वां भेद प्रकरणी स्वतन्त्र है। परन्तु प्रकरणी का कोई उदाहरण 'नाट्यदर्पण' में नहीं दिया गया है। रूपकों के अतिरिक्त 'नाट्यदर्पण' में उपरूपकों के भी १३ भेद प्रदर्शित किये गये हैं। वे निम्न हैं -

सट्टक, श्रीगदित, दुर्मीलित, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीसक, नर्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाण और भाणिका।

'नाट्यदर्पण' की अधिक विशेषता रसों का स्वरूप तथा संख्या का निर्धारण करने में है। भरत से लेकर रामचन्द्र से पूर्व तक सभी आचार्यों ने सब रसों को सुखात्मक माना है। उन्होंने इस सुख को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा था। रामचन्द्र के गुरु हेमचन्द्र ने सब रसों को सुखात्मक प्रतिपादित किया था। परन्तु सर्वप्रथम रामचन्द्र ने यह कहने का साहस किया कि सभी रस सुखात्मक नहीं होते।

रामचन्द्र का कहना है कि रस दो प्रकार के होते हैं - सुखात्मक और दुःखात्मक। इनमें शृङ्गार, हास्य, अद्भुत और शान्त रस सुखात्मक हैं तथा करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रस दुःखात्मक हैं[३]।

दुःखात्मक होने पर भी सहृदय इनके प्रति क्यों आकृष्ट होता है? इस प्रश्न का उत्तर वे देते हैं - "कवि या अभिनेता के कौशल से चमत्कृत होकर ही सहृदय इनके प्रति प्रवृत्त होते हैं[४]।"

रामचन्द्र ने यह भी प्रतिपादित किया था कि नाट्य का अभिनय करते हुये अभिनेताओं को भी उस रस की अनुभूति हो सकती है, जिस रस को वे दर्शकों में उद्बुद्ध करना चाहते हैं। वे भी रस की अनुभूति उसी प्रकार से कर सकते हैं, जिस प्रकार वेश्यायें रति सुख का अनुभव कर सकती हैं[५]।

रसों की संख्या के विषय में रामचन्द्र ने मौलिक रूप से चिन्तन किया था। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में यह प्रतिपादित किया था कि नाट्य में आठ ही रस होते हैं[६]। तदनन्तर मम्मट आदि आचार्यों ने यह भी प्रतिपादित किया कि नाट्य में ८ ही रस हैं[७], परन्तु अन्य काव्यों में नवम रस हो सकता है[८]। धनञ्जय ने 'दशरूपक' में नाटकों में रसों की संख्या आठ ही निर्धारित की थी। शम के स्थायी भाव होने तथा शान्त के रस होने की भी उन्होंने पुष्टि की थी[९]। परन्तु कुछ उत्तरवर्ती आचार्यों ने नाटकों में रसों की संख्या ९ निर्धारित की और कहा कि नाटकों में ९ रसों की अभिव्यक्ति हो सकती है। इन आचार्यों में रुद्रट प्रमुख हैं[१०]। 'सङ्गीतरत्नाकर' में भी नाटकों में ९ रसों का प्रतिपादन किया गया है[११]। रामचन्द्र ने भी भरत का अनुकरण न करके नाटकों में ९ रसों की अभिव्यक्ति प्रतिपादित की थी[१२]। इसी प्रकार अन्य अनेक स्थानों में नाट्यदर्पणकार की मान्यतायें प्राचीन आचार्यों से मतभेद रखती हैं।

'नाट्यदर्पण' का संस्कृत साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है। इसमें ऐसे ग्रन्थों और काव्यों के उद्धरण हैं, जिनको अभी तक उपलब्ध नहीं किया जा सका है। इनके नाम केवल इस 'नाट्यदर्पण' में मिलते हैं। उदाहरण के लिये विशाखदत्त रचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक नाटक के अनेक उद्धरण हैं, जो अन्यत्र नहीं हैं। इन उद्धरणों से एक ऐतिहासिक सत्य विदित होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय से पहले उसका बड़ा भाई रामगुप्त राजा हुआ था। उसने शकों के लिये अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को देना स्वीकार कर लिया था। परन्तु चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के वेश में जाकर उस शक राजा का वध कर दिया[१३]।

नाट्यशास्त्रीय नियमों के अध्ययन की दृष्टि से 'नाट्यदर्पण' का बहुत अधिक महत्त्व और आदर रहा है। लेखकों का स्वयं का यह दावा है -

"यदि रूपक के स्वरूप को यथार्थ रूप में जानना है, तो इस 'नाट्यदर्पण' का अध्ययन करना चाहिये[१४]।"

....

सन्दर्भ -

१. तथा चोक्तं नाट्यदर्पणसकृता। अत्र च समासोक्त्या पूर्वोक्तप्रकारेण काव्यार्थप्रकाशनात् पत्रावलीसमाख्येयं नान्दी-

यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नाम्ना पत्रावली तु सा।।

विक्रमोर्वशीयम् - रंगनाथकृत टीका निर्णयसागर प्रेस पृ० ७।।

२ शुद्धताम्रमयी मध्यसुषिरा काहला मतेति नाट्यदर्पणे।। भट्टिकाव्य १४.३ की टीका।।

३. सुखदु:खात्मको रस:। ....तत्रेष्टविभावादिप्रथितसम्पत्तय: शृङ्गारहास्यवीराद्भुतशान्ता: पञ्च सुखात्मानोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मान: करुणरौद्रबीभत्सभयानकाश्चत्वारो दु:खात्मान: ।। नाट्यदर्पण ३.७ तथा उसकी वृत्ति।।

४ अनेनैव तु सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धा: परमानन्दरूपतां दु:खात्मकेष्वपि करुणादिषु प्रतिजानते।। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते।।

नाट्यदर्पण ३.७ की वृत्ति से।।

५ पण्यस्त्रियो हि धनलोभेन परस्त्यर्थं रत्यादि विपञ्चयन्त्य: कदाचित्स्वयमपि परां रतिमनुभवन्ति, गायनाश्च परं रञ्जयन्त: कदाचित् स्वयमपि रज्यन्ते। नाट्यदर्पण ३.७ की वृत्ति से।।

६. (क) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका: ।

बीभत्साद्भुतसंज्ञाश्चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता:।। भरत नाट्यशास्त्र ७.१५।।

(ख) एवमेते रसा: ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिता:।। भरत नाट्यशास्त्र ७.८३।।

७. अष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता:।। काव्यप्रकाश ४.२९।।

८. शान्तोऽपि नवमो रस:।। पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।। काव्यप्रकाश ४.३५।।

९. रत्युत्साहजुगुप्सा क्रोधो हास: स्मयो भयं शोक:।

शममपि केचित्प्राहु: पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।। दशरूपक ४.३५।।

१०. शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका:

बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा: स्मृता:।। रुद्रट : काव्यालङ्कार ४.४।।

११. संगीतरत्नाकर श्लोक १३१०-१३१२।।

१२ शृङ्गारहास्यकरुणा: रौद्रवीरभयानका:।

बीभत्साद्भुतशान्ताश्च रसा: सद्भिर्नव स्मृता:।। नाट्यदर्पण ३.९।।

१३. यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवीसम्पादने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेनारिवधार्थं यियासु: प्रतिपन्नध्रुवदेवीनैपथ्य: कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते।।

नाट्यदर्पण गायकवाड ओरियन्टल सीरीज द्वि० सं० पृ० १२४।।

१४. रूपस्वरूपं विज्ञातुं यदीच्छत यथास्थितम्।

सन्तस्तदानीं गृह्णीत निर्मलं नाट्यदर्पणम्।। नाट्यदर्पण १.४ की वृत्ति के अन्त में।।

....

तैंतीसवां अध्याय

जयदेव

१. जयदेव का महत्त्व

जयदेव का 'चन्द्रालोक' ग्रन्थ अपनी सरलता के कारण काव्यशास्त्र के जगत् में बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय रहा। जयदेव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अत्यधिक सरल शैली के द्वारा काव्यशास्त्र के सभी विषयों को विद्यार्थियों को हृदयंगम करा दिया। राजा जसवन्तसिंह ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'भाषाभूषण' नाम से किया था।

२. जयदेव का जीवनवृत्त और समय

जयदेव की रचनाओं से उनके जीवन का स्वल्प परिचय प्राप्त हो जाता है। इनकी दो रचनायें प्रसिद्ध हैं - 'चन्द्रालोक' नाम का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ और 'प्रसन्नराघव' नाम का नाटक। इन रचनाओं में उन्होंने अपने पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा बताया है[१]। 'चन्द्रालोक' के प्रत्येक मयूख के अन्त में इन्होंने अपने माता-पिता का स्मरण किया है।

जयदेव अपने को पीयूषवर्ष कहते थे। इनको पीयूषवर्ष उपाधि प्राप्त थी और इनका यह उपनाम था, इस तथ्य का संकेत इनके ग्रन्थ से मिलता है[२]। 'चन्द्रालोक' के टीकाकार गागाभट्ट के अनुसार यह उनका उपनाम था[३]।

'प्रसन्नराघव' के रचयिता जयदेव न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे, यह तथ्य इस नाटक की प्रस्तावना से विदित होता है[४]। 'भाष्यालोक' नामक एक न्याय ग्रन्थ है। इसकी रचना एक पक्षधर जयदेव ने की थी। मिथिला के पण्डितों में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि 'भाष्यालोक' के रचयिता जयदेव और चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव एक ही व्यक्ति थे। परन्तु इन दोनों जयदेवों के एकत्व को किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सका है। पी०वी० काणे ने इन दोनों जयदेवों को एक ही माना है[५]।

'गीतगोविन्द' नामक गीतिकाव्य की रचना भी जयदेव नामक कवि ने की थी। ये जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के पञ्च रत्नों में से एक थे। इनका निवास बंगाल के वीरभूम जिले के बिन्दुबिल्वल ग्राम में था। यह स्थान आजकल बंगाल में केंदुली के नाम से प्रसिद्ध है। वहां अब भी जयदेव की स्मृति में वैष्णवों का मेला लगता है।

कुछ समालोचकों का विचार है कि 'प्रसन्नराघव' और 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव ही 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव हैं। परन्तु यह विचार तर्गसंगत प्रतीत नहीं होता। 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव ने अपने माता-पिता का नाम रामादेवी और भोजदेव बताया है[६]। दूसरी बात यह है कि 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव बंगाली थे, परन्तु 'चन्द्रालोक' के लेखक जयदेव बंगाली प्रतीत नहीं होते। दोनों जयदेवों के एकत्व के पक्षपाती विद्वानों का कहना है कि 'गीतगोविन्द' का वह श्लोक प्रक्षिप्त है जिसके द्वारा उनके माता-पिता का नाम रामादेवी और भोजदेव कहा गया है। परन्तु यह कथन भी प्रमाणसंगत नहीं हैं। 'प्रसन्नराघव' में जयदेव ने अपने को कौण्डिन्य कह कर कुण्डिनपुर का निवासी बताया है[७], जो कि विदर्भ में है।

जयदेव ने अपने समय के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं दिया है। परन्तु बाह्य प्रमाणों के आधार पर इनके समय का अनुमान किया जा सकता है। जयदेव अपने ग्रन्थ में काव्य के लक्षण के सम्बन्ध में मम्मट की इस प्रकार आलोचना करते हैं -

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।[८]

इस श्लोक में काव्य को **"अनलङ्कृती"** कहने वाले मम्मट की ओर ही जयदेव का संकेत है। दोषों के विवेचन में जयदेव ने मम्मट का ही अनुकरण किया है[९]। अलङ्कारों की विवेचना में जयदेव ने बहुत कुछ रुय्यक का आश्रय लिया है। 'चन्द्रालोक' में विचित्र और विकल्प नामक अलङ्कारों के लक्षणों को जयदेव ने रुय्यक के ही शब्दों में लिखा है। इस आधार पर जयदेव का समय मम्मट और रुय्यक के बाद का ही समझना चाहिये। रुय्यक का समय १२०० ई० के लगभग का है।

विश्वनाथ (१३००-१३८४ ई०) ने ध्वनि के उदाहरण के रूप में 'साहित्यदर्पण' में (३.४) 'प्रसन्नराघव' के एक श्लोक "कदली कदली ०" को उद्धृत किया है। 'शाङ्र्गधरपद्धति' (१३६१-६३) में 'प्रसन्नराघव' के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। अतः जयदेव का समय इनके पहले का होना चाहिये। इस विवेचन के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि जयदेव १२००-१३०० ई० के मध्य काल में हुये होंगे।

३. जयदेव की रचनाये

'चन्द्रालोक' जयदेव का प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। 'प्रसन्नराघव' भी इन्हीं की रचना है। 'भाष्यालोक' नामक न्याय ग्रन्थ को भी अनेक समालोचक जयदेव की ही कृति मानते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में अभी निश्चय से कुछ कहा नहीं जा सकता। साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना सम्भव नहीं है।

४. चन्द्रालोक

जयदेव ने 'चन्द्रालोक' ग्रन्थ की रचना बहुत सरल शैली में की है। अपनी सरलता

के कारण इस ग्रन्थ ने बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी। 'कुवलयानन्द' के रचयिता अप्पय दीक्षित ने इस ग्रन्थ के पञ्चम मयूख के अर्थालङ्कार प्रकरण को आधार बना कर अपनी रचना का प्रणयन किया था।

चन्द्रालोक ग्रन्थ १० मयूखों (अध्यायों) में विभक्त है। इसमें कुल ३५० श्लोक (कारिकायें) हैं, जो अनुष्टुप् छन्द में हैं। इसकी विषय-वस्तु निम्न क्रम से है -

(i) प्रथम मयूख -

पहले मयूख में काव्य की परिभाषा और हेतु देकर शब्दों के तीन प्रकारों - रूढ, यौगिक और योगरूढ का विवेचन किया गया है।

(ii) द्वितीय मयूख -

दूसरे मयूख में दोषों का विवेचन है। शब्द, वाक्य, अर्थ आदि के भेद से दोषों का वर्गीकरण किया गया है। इस प्रकरण पर मम्मट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

(iii) तृतीय मयूख -

तीसरे मयूख में लक्षण नामक काव्यांग का का निरूपण है। कवि को अपने काव्य की रमणीयता को बढाने के लिये जिन उपायों की योजना करनी चाहिये, उनका विवेचन यहां किया गया है।

(iv) चतुर्थ मयूख -

इस मयूख में गुणों का विवेचन है। इस प्रकरण में जयदेव ने भरत, वामन आदि का अनुकरण किया है और काव्य में १० गुण माने हैं।

(v) पञ्चम मयूख -

पांचवें मयूख में अलङ्कारों की विवेचना है। इस मयूख में जयदेव ने चार शब्दालङ्कारों - अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, यमक और चित्र की विवेचना करके एक सौ अर्थालङ्कारों का निरूपण किया है।

(vi) षष्ठ मयूख -

छठे मयूख में रसों और भावों का, तीन रीतियों - पाञ्चाली, गौडी और लाटी का एवं पांच वृत्तियों - मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और मुद्रा का विवेचन है।

(vii) सप्तम मयूख -

सातवें मयूख में व्यञ्जना वृत्ति का प्रतिपादन करके ध्वनि के भेदों की विवेचना की गई है।

(viii) अष्टम मयूख -

इस मयूख में गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के भेदों का निरूपण किया गया है।

(ix) नवम मयूख -

नवें मयूख में लक्षणा का विशद विवेचन है।

(x) दशम मयूख -

दसवें मयूख में अभिधा का निरूपण है।

चन्द्रालोक ग्रन्थ का पञ्चम मयूख विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें एक ही श्लोक के अन्दर लक्षण और उदाहरण दोनों कहे गये हैं। इससे अलङ्कार के लक्षण और उदाहरण दोनों को समझने तथा स्मरण करने में छात्र को बहुत सुविधा होती है। जैसे, उपमा और अनन्वय अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण निम्न प्रकार से हैं -

उपमा - उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।
हृदये खेलतोरुच्चैस्तन्वङ्गीस्तनयोरिव।।

अनन्वय - उपमानोपमेयत्वे यत्रैकस्यैव जागृतः।
इन्दुरिन्दुरिवेत्यादौ भवेदेवमनन्वयः।।

'चन्द्रालोक' की सरल और सुबोध शैली के कारण ही अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' की रचना में इस ग्रन्थ को आधार बनाया था। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपनी पाण्डित्यपूर्ण शैली को जोड़ कर नवीन ग्रन्थ की रचना की। 'कुवलयानन्द' की रचना में 'चन्द्रालोक' के ऋण को उन्होंने निस्संकोच स्वीकार किया है[१०]।

५. चन्द्रालोक की प्राचीन टीकायें

'चन्द्रालोक' की सरलता और लोकप्रियता ने विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट किया था तथा अनेक टीकाकारों ने इस पर टीकायें लिखी थीं। इस समय ६ टीकायें उपलब्ध होती हैं। इनमें कुछ तो प्रकाशित हो चुकी हैं और कुछ हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के रूप में प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रही हैं। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न है -

(i) शरदागम टीका -

इस टीका की रचना १५८३ ई० में हुई थी। इसके लेखक प्रद्योतन मिश्र अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके पिता का नाम बलभद्र मिश्र था। ये बुन्देलखण्ड के राजा वीरभद्रदेव या वीररुद्रदेव के आश्रय में रहते थे। प्रद्योतन मिश्र ने १५७७ ई० में कामशास्त्र की एक टीका 'कन्दर्पचूडामणि' के नाम से लिखी थी।

(ii) रमा टीका -

इस टीका की रचना वैद्यनाथ पायगुण्ड ने की थी। इनके अतिरिक्त एक वैद्यनाथ और भी हुये थे, जो तत्सत् गोत्र के थे। उन्होंने गोविन्द ठक्कर कृत 'काव्यप्रदीप' की और अप्पय दीक्षित कृत 'कुवलयानन्द' की टीका लिखी थी। परन्तु 'चन्द्रालोक' के टीकाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड इनसे भिन्न हैं। इस टीका का रचनाकाल १७५०-१८०० ई० के मध्य का है।

(iii) राकागम या सुधा टीका -

इस टीका की रचना १७ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में हुई थी। इसको विश्वेश्वर भट्ट ने लिखा था। परन्तु इसके लेखक का नाम गागाभट्ट अधिक प्रसिद्ध है। अपने समय के ये प्रसिद्ध विद्वान् थे। इन्होंने मीमांसा और स्मृतियों पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे थे। सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्री कमलाकर भट्ट इनके चाचा थे, जिनको कि शिवाजी के राज्याभिषेक को सम्पन्न करने के लिये बुलाया गया था।

'चन्द्रालोक' की ऊपर लिखी गई तीन टीकायें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी तीन टीकायें हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के रूप में प्राप्त हैं -

(१) प्रदीपिका या दीपिका टीका

(२) शारदशर्वरी टीका

(३) बाजचन्द्र कृत टीका

....

सन्दर्भ -

१. (क) महादेवः सत्रप्रमुखमखविघ्नैकचतुरः।
सुमित्रातद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।। चन्द्रालोक १.१६।।
(ख) प्रसन्नराघव पृ० १४-२५।।

२. चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती।। चन्द्रालोक १.२।।

३. जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम्।। गागाभट्ट।।

४. ननु अयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते -
येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते।। प्रसन्नराघव १.१८।।

५. पी०वी० काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ३६२।।

६. श्रीभोजदेवस्यप्रभवस्य रामादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य।
पाराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु।। गीमगोविन्द।।

७. विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः
कुरंगाक्षीबिम्बाधरमधुरभावं गमयति।
कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो-
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः।। प्रसन्नराघव।।

८. चन्द्रालोक १.८।। पुनः

९. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती क्वापि।। काव्यप्रकाश १.४।।

१०. चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसम्भवः।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम्।।

....

चौंतीसवां अध्याय

विद्याधर

१. विद्याधर का महत्त्व और परिचय

'एकावली' के रचयिता के रूप में काव्यशास्त्र के इतिहास में विद्याधर का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की रचना विद्याधर ने १३ वीं शताब्दी ई० के अन्त और १४ वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में की थी। इस प्रकार काव्यशास्त्र के विकास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योग दिया था। इस ग्रन्थ में काव्य के प्राय: सभी तत्त्वों का विवेचन किया गया है। 'एकावली' की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें सभी उदाहरण लेखक की अपनी रचना हैं।

२. विद्याधर का समय

विद्याधर का समय जानने में कोई कठिनाई नहीं है। एकावली के उदाहरणों में उन्होंने अपने आश्रयदाता उत्कल नरेश की स्तुति की है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि वे नरसिंह की स्तुति में उदाहरणों को प्रस्तुत कर रहे हैं[1]। इनके समय को निर्धारित करने के लिये निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं -

(i) विद्याधर उत्कल नरेश के आश्रय में रहते थे। उत्कल में नरसिंह नाम के दो राजा हुये थे - केसरी नरसिंह और प्रताप नरसिंह। केसरी नरसिंह का राज्यकाल १२८२-१३०७ ई० रहा और प्रताप नरसिंह का राज्यकाल १३०७-१३२७ ई० रहा। विद्याधर ने यह नहीं लिखा कि वे किस नरसिंह की स्तुति कर रहे हैं। यदि विद्याधर की स्थिति दोनों राजाओं के मध्यवर्ती समय की मान ली जावे, तो उनका समय १३ वीं शताब्दी ई० का अन्तिम भाग एवं १४ वीं शताब्दी ई० का प्रारम्भिक भाग समझा जा सकता है।

(ii) 'एकावली'की प्रस्तावना में विद्याधर ने कवि हरिहर और राजा अर्जुन का उल्लेख किया है। इनका समय १३ वीं शताब्दी ई० का पूर्व भाग है। इसलिये विद्याधर को १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का मान लेने में कोई बाधा नहीं है।

(iii) 'एकावली' में रुय्यक का उल्लेख आया है। रुय्यक का समय १२ वीं शताब्दी ई० का मध्य भाग है। विद्याधर की स्थिति उनके बाद ही होगी।

(iv) विद्याधर ने 'नैषधीयचरितम्' के रचयिता श्रीहर्ष का उल्लेख किया है। इनका समय १२वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध है। विद्याधर उनके बाद ही हुये होंगे।

(v) शिंगभूपाल ने उत्कल के राजा नरसिंह का और विद्याधर तथा उनकी 'एकावली' का उल्लेख किया है[२]। शिंगभूपाल १३ वीं शताब्दी ई० के मध्य भाग में हुये थे अत: विद्याधर को उनका समकालीन या पहले का होना चाहिये।

(vi) 'एकावली' पर मल्लिनाथ ने 'तरला टीका' लिखी थी। मल्लिनाथ का समय १४ वीं शताब्दी ई० का अन्तिम भाग है। विद्याधर को इनसे पहले का होना चाहिये।

ऊपर लिखे गये तर्कों के आधार पर विद्याधर तथा उनके द्वारा लिखी गई 'एकावली' की रचना का सम्भावित समय १२८०-१३२० ई० के मध्य का होना चाहिये।

३. विद्याधर की रचनायें

विद्याधर की दो कृतियां उपलब्ध होती हैं - (१) एकावली और (२) केलिरहस्य। इनमें विद्याधर का काव्यशास्त्र पर लिखा गया ग्रन्थ 'एकावली' है। यह ग्रन्थ काव्य के सभी तत्त्वों की समालोचना को तो प्रस्तुत करता ही है, इसकी एक अन्य विशेषता भी है। इसमें विद्याधर ने स्वरचित उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। 'एकावली' के इन उदाहरणों में उसने अपने आश्रयदाता राजा नरसिंह की स्तुति भी की है। इस प्रकार की अन्य अनेक रचनायें काव्यशास्त्रीय विषयों पर लिखी गई थीं, जिनमें लेखकों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा की है। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण', 'नञ्जराजयशोभूषण' और 'रघुनाथभूपालीय' इन ग्रन्थों में कुछ अधिक प्रसिद्ध हैं।

४. एकावली

'एकावली' की रचना करने में विद्याधर ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' को मुख्य आधार बनाया था। परन्तु अलङ्कारों का निरूपण करने में उन्होंने रुय्यक का आश्रय अधिक लिया है। 'एकावली' का विषय-विभाजन आठ उन्मेषों (अध्यायों) में किया गया है। विषय का विवेचन निम्न क्रम से है -

(i) प्रथम उन्मेष -

पहले उन्मेष में काव्य के हेतु तथा स्वरूप का विवेचन किया गया है। इस प्रकरण में विद्याधर ने प्राचीन आचार्यों - भामह, महिमभट्ट आदि के अभिमतों का पर्यालोचन किया है।

(ii) द्वितीय उन्मेष -

दूसरे उन्मेष में तीन प्रकार के शब्दों - वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक का, तीन प्रकार के अर्थों - वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य का एवं तीन प्रकार की वृत्तियों - अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का निरूपण है।

(iii) तृतीय उन्मेष -

तीसरे उन्मेष में ध्वनि के स्वरूप का तथा उसके भेदों का निरूपण है।

(iv) चतुर्थ उन्मेष -

चौथे उन्मेष में गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के स्वरूप और भेदों का निरूपण किया गया है।

(v) पञ्चम उन्मेष -

पांचवें उन्मेष में तीन गुणों - माधुर्य, ओज: और प्रसाद का विवेचन करके विद्याधर ने तीन रीतियों - वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली का स्वरूप बताया है।

(vi) षष्ठ उन्मेष -

छठे उन्मेष में दोषों का निरूपण है।

(vii) सप्तम उन्मेष -

इस उन्मेष में शब्दालङ्कारों का स्वरूप बताया गया है।

(viii) अष्टम उन्मेष -

आठवें उन्मेष में अर्थाङ्कारों का निरूपण किया गया है।

५. एकावली की टीकायें

'एकावली' की एकमात्र प्राचीन टीका प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ की है। इसका नाम 'तरला टीका' है। मल्लिनाथ ने अनेक काव्यों पर टीकायें लिखी थीं, जिनमें अलङ्कारों के स्वरूप का निदर्शन करते हुये प्राय: 'एकावली' को उद्धृत किया गया है।

....

सन्दर्भ -

१. एष विद्याधरस्तेषु कान्तासम्मितलक्षणम्।
करोति नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्।। एकावली १.७।।

२. उत्कलाधिपते: शृङ्गाररसाभिमानिनो नरसिंहदेवस्य चित्तमनुवर्तमानेन विद्याधरेण कविना वाढ-मभ्यन्तरीकृतोऽस्मि। एवं खतु समर्थितमेकावल्याम्।। रसार्णवसुधाकर पृ० २०६।।

....

पैंतीसवां अध्याय

विद्यानाथ

१. विद्यानाथ और प्रतापरुद्रयशोभूषण

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ की रचना विद्यानाथ ने की थी। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में अधिक लोकप्रिय रहा। इस ग्रन्थ में विद्यानाथ ने अपने आश्रयदाता प्रतापरुद्रदेव (वीररुद्र या रुद्र) की स्तुति की है[1]। प्रतापरुद्रदेव काकतीय वंश के सातवें नरेश थे। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के तीसरे अध्याय में अलङ्कार के अंगों तथा उपांगों के उदाहरणों के रूप में लेखक ने 'प्रतापकल्याण' नामक नाटक की रचना की है।

प्रतापरुद्र तैलंगाना के काकतीय वंश के राजा थे। इनकी राजधानी एकशिला (वर्तमान वारंगल) थी। इन्होंने यादववंशी राजा सेवण (देवगिरि का राजा रामदेव - १२७१-१३०९ ई०) को पराजित किया था। इससे सिद्ध है कि प्रतापरुद्र १३ वीं शताब्दी ई० के अन्त में और १४ वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में हुये थे। इनके शिलालेख भी १२९८-१३१७ ई० तक के उपलब्ध होते हैं। विद्यानाथ का यही समय होना चाहिये।

२. प्रतापरुद्रयशोभूषण

काव्यशास्त्रविषयक यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में अधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्रविषयक प्रायः सभी तत्त्वों का विवेचन किया गया है। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में ९ प्रकरण हैं, जिनमें क्रमशः नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और मिश्रालङ्कार का विवेचन किया गया है। विषय का विवेचन करने में विद्यानाथ ने बहुत कुछ मम्मट का अनुकरण किया है। अलङ्कारों का विवेचन करने में बहुत कुछ सामग्री रुय्यक से भी ग्रहण की गई है। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में परिणाम, उल्लेख, विचित्र और विकल्प नामक अलङ्कारों का विवेचन है। मम्मट ने इन अलङ्कारों की विवेचना नहीं की थी, परन्तु रुय्यक ने की थी।

३. प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीकायें

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' पर मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने टीका लिखी थी। इस टीका का नाम 'रत्नापण' है। यह टीका बहुत पाण्डित्यपूर्ण है और महत्त्वशाली है। इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण तथा ग्रन्थकारों के नाम प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ नाम

इस प्रकार हैं -

अलङ्कारचूडामणि, एकावली, कविकल्पद्रुम, नाटकप्रकाश, गोपाल, दशरूपक, नरहरि, चक्रवर्तिन्, भावप्रकाश, भट्टमल्ल, भोज, शृङ्गारप्रकाश, शिंगभूपाल, रसार्णवसुधाकर, पञ्चपादिका, पदमञ्जरी, महिमभट्ट, मानसोल्लास, रसनिरूपण, वसन्तराज, वासन्तराजीव, नाट्यशास्त्र, रसमञ्जरी, रुचक, विदग्धमुखमण्डन, साहित्यचिन्तामणि, हेमचन्द्र, साहित्यदर्पण आदि।

इनमें से अनेक ग्रन्थ वर्तमान समय में प्राप्य नही हैं।

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की एक अन्य टीका 'रत्नशाण' नाम की भी है। परन्तु यह अपूर्ण उपलब्ध हुई है।

ऊपर लिखी गई दोनों टीकाओं सहित यह ग्रन्थ बोम्बे संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ है।

....

सन्दर्भ -

१. प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलङ्कारप्रबन्धोऽयं सान्तःकरणोत्सवोऽस्तु वः।। प्रतापरुद्रयशोभूषण १.९।।

....

छत्तीसवां अध्याय

विश्वनाथ कविराज

१. विश्वनाथ का महत्त्व

विश्वनाथ कविराज ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में काव्यशास्त्र के नियमों को बहुत सरलता से समझाया है। इस ग्रन्थ ने अपनी सरलता, बोधगम्यता एवं व्यापकता के कारण काव्यशास्त्र के विद्वानों में, अध्यापकों में और छात्रों में बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त की है। इनके ग्रन्थ की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि एक ही ग्रन्थ में काव्य के सभी तत्त्वों की विवेचना है। इसके साथ ही इस ग्रन्थ में एक ओर जहां श्रव्य काव्यों का पूरा विवरण है, वहीं दूसरी ओर दृश्य काव्यों (रूपकों) की विभिन्न विशेषताओं और भेदों का भी सांगोपांग विस्तृत विवरण दिया गया है।

कुछ समालोचकों का विचार है -

आनन्दवर्धन, मम्मट, जगन्नाथ आदि की तुलना में विश्वनाथ द्वितीय कोटि के आचार्य हैं। परन्तु विषय के प्रतिपादन की पद्धति और व्यापकता के कारण इनको काव्यशास्त्र के प्रथम कोटि के आचार्यों में ही रखना चाहिये। यह ठीक है कि विश्वनाथ ने ग्रन्थ की रचना करने में प्राचीन आलङ्कारिकों का बहुत कुछ अनुकरण किया है, तथापि उनमें अपनी निजी विशेषता न हो, ऐसा नहीं है।

'साहित्यदर्पण' के पहले परिच्छेद में ही काव्य का लक्षण करते हुये विश्वनाथ की अपनी मौलिकता प्रकट हुई है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन, मम्मट आदि विशिष्ट एवं प्रतिष्ठित काव्यशास्त्रियों द्वारा किये काव्य-लक्षण का खण्डन करके विश्वनाथ ने अपना मौलिक लक्षण प्रतिपादित किया है। उन्होंने दृढ शब्दों में प्रतिपादित किया है कि काव्य का लक्षण **"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"** ही होना चाहिये। इसी प्रकार अलङ्कारों की विवेचना में रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व' का अनुकरण करते हुये भी विश्वनाथ ने स्वतन्त्र रूप से कुछ नये अलङ्कारों की उद्भावना की थी।

मम्मट के विषय प्रतिपादन की पद्धति , अति सूक्ष्म होने के कारण संक्षिप्त होने से अति दुरूह हो गई है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थों में पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों के मन्तव्यों की अपने गहन तर्कों द्वारा कटु आलोचना की है। इस प्रकार अपने ग्रन्थ को

उन्होंने अति दुरूह बना दिया है। इसके विपरीत विश्वनाथ का विषय का प्रतिपादन कहीं कहीं सूक्ष्म और जटिल होते हुये भी सामान्यतः बहुत स्पष्ट है। डा० सत्यव्रतसिंह का यह कथन सत्य है कि 'काव्यप्रकाश' की दुरूहता से पाठक घबरा जाते हैं, परतु 'साहित्यदर्पण' अपनी सुबोधता के कारण काव्यप्रेमी सहृदयों को आकृष्ट करता है[१]।

विश्वनाथ ने एक ही ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों विषयों को समाविष्ट कर लिया है। भामह, दण्डी, वामन, मम्मट, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने नाट्यशास्त्र के विषयों का विवेचन नहीं किया। इसके साथ ही काव्य की विविध विधाओं - महाकाव्य, गद्यकाव्य आदि का भी विवेचन उन्होंने अत्यल्प ही किया है। परन्तु विश्वनाथ ने इस ग्रन्थ में काव्य के विविध विषयों को सम्मिलित करते हुये नाट्य रचना के संविधान, अभिनय, नाट्य, अलङ्कार, रूपकों और उपरूपकों के प्रकार आदि को अति सरल ढंग से समझा दिया है।

विश्वनाथ की इन सभी विशेषताओं के कारण साहित्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के अभिलाषी विद्यार्थियों को सबसे पहले 'साहित्यदर्पण' का अध्ययन कराया जाता है। इसके पश्चात् ही वे मम्मट आदि आचार्यों के दुरूह ग्रन्थों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त होते हैं।

२. विश्वनाथ का जीवनवृत्त और समय

विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थों में अपना स्वल्प परिचय दिया है। जितना परिचय अपना उन्होंने स्वयं दिया है, उससे अधिक प्राप्त भी नहीं होता। इस परिचय से यह विदित होता है कि वे उत्कल प्रदेश के किसी प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुये थे। विश्वनाथ के प्रपितामह का नाम नारायण था। नारायण स्वयं भी महान् विद्वान् थे और उन्होंने अलङ्कारशास्त्र विषय पर एक ग्रन्थ की रचना की थी[२]। 'काव्यप्रकाश' की टीका में विश्वनाथ ने नारायण को अपना पितामह कहा है[३]। प्रतीत होता है कि नारायण वस्तुतः उनके प्रपितामह रहे होंगे, परन्तु संक्षेप में उनको पितामह कह दिया गया होगा।

विश्वनाथ के पिता का नाम चन्द्रशेखर था। 'साहित्यदर्पण' की समाप्ति पर इनका उल्लेख है[४]। चन्द्रशेखर भी उत्तम कोटि के कवि और विद्वान् थे। इनके दो ग्रन्थों - 'पुष्पमाला'[५] और 'भाषार्णव'[६] का उल्लेख विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में किया है। अपने पिता के अन्य अनेक श्लोकों को भी विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत किया है[७]। विश्वनाथ के पितामह के अनुज चण्डीदास प्रसिद्ध विद्वान् थे। आपने 'काव्यप्रकाश' की दीपिका टीका की रचना की थी। उनका उल्लेख भी 'साहित्यदर्पण' में हुआ है।

विश्वनाथ सम्भवतः उड़ीसा के निवासी थे। इन्होंने 'काव्यप्रकाश' की टीका में संस्कृत शब्दों के अनेक उड़िया पर्यायवाची शब्दों को दिया है तथा उनकी व्याख्या की है[८]। विश्वनाथ और उनके पिता दोनों ही किसी राजा के सन्धिविग्रहिक के पद के प्रतिष्ठित पदाधिकारी रहे होंगे, क्योंकि दोनों के ही नाम इस पद से विभूषित मिलते हैं। सम्भवतः

यह राजा कलिंगदेश का अधिपति रहा था।

'साहित्यदर्पण' के पदों से यह विदित होता है कि विश्वनाथ वैष्णव मत के अनुयायी थे। इस मत के प्रति उनकी आस्था के प्रमाण 'साहित्यदर्पण' के प्रथम परिच्छेद में काव्यों के प्रयोजनों की व्याख्या में[९] तथा ग्रन्थ के अन्तिम मंगलश्लोक में[१०] मिलते हैं।

इन विवरणों से प्रतीत होता है कि विश्वनाथ को अपने जीवन में ही प्रचुर यश और सम्मान प्राप्त हुआ था। 'साहित्यदर्पण' में उन्होंने अपने निम्न विरुदों का उल्लेख किया है -

(१) नारायणचरणारविन्दमधुव्रत
(२) साहित्यार्णवकर्णधार
(३) ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य
(४) कविसूक्तिरत्नाकर
(५) अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजंग
(६) आलङ्कारिकचक्रवर्ती
(७) सन्धिविग्रहिक
(८) महापात्र

विश्वनाथ के समय के निर्धारण के सम्बन्ध में अधिक कठिनाई नहीं है। अनेक तथ्य ऐसे मिलते हैं, जिनके आधार पर उनके समय को निश्चित किया जा सकता है। वे इस प्रकार हैं -

(१) विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में शहाबुद्दीन नामक मुसलमान राजा का उल्लेख किया है। वह सन्धि करने पर सर्वस्व का और युद्ध करने पर प्राणों का हरण कर लेता था[११]। यह शहाबुद्दीन नाम का मुसलमान राजा सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ही था। इसका शासन काल १२९६-१३१६ ई० रहा था। इसने अनेक विजयें प्राप्त की थीं तथा हिन्दू राजाओं को पराजित किया था। इस सुलतान के अत्याचारों का उल्लेख विश्वनाथ ने क्रियोत्प्रेक्षा के उदाहरण में किया है,[१२] जबकि सुलतान के लिये वह सुरत्राण पद का प्रयोग हुआ है। कहा जाता है कि सुलतान अलाउद्दीन खिलजी को १३१६ ई० में विष देकर मार दिया गया था। विश्वनाथ ने इन श्लोकों की रचना या तो अलाउद्दीन के जीवन काल में ही की होगी या उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद। अतः विश्वनाथ का समय १३०० ई० के आसपास होना चाहिये।

(२) 'साहित्यदर्पण' की एक प्रति हस्तलिखित पाण्डुलिपि के रूप में जम्मू से प्राप्त हुई है। यह १३८४ ई० में प्रतिलिपि की गई थी। अतः विश्वनाथ १३८४ ई० से पहले ही हुये होंगे।

इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है कि विश्वनाथ का समय १३००-१३८४ ई० के

मध्यवर्ती होना चाहिये। इन सुनिश्चित प्रमाणों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाण भी विश्वनाथ के समय को निर्धारित करने में सहायक हैं। इनसे भी उनका यही समय निर्धारित होता है। ये प्रमाण इस प्रकार हैं -

(१) विश्वनाथ ने निश्चय अलङ्कार के उदाहरण के रूप में 'गीतगोविन्द' से एक पद्य उद्धृत किया था[१३]। 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव का समय १२ वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध है। वे अन्य अनेक कवियों - गोवर्धन आदि के साथ बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की राज्यसभा में विद्यमान थे। लक्ष्मणसेन का एक शिलालेख १११६ ई० का मिला है। अतः विश्वनाथ जयदेव के बाद हुये थे।

(२) विश्वनाथ ने श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरितम्' के एक श्लोक को उद्धृत किया है[१४]। श्रीहर्ष का समय ११६७-११७३ ई० है।

(३) विश्वनाथ ने जयदेव के 'प्रसन्नराघव' के एक श्लोक को उद्धृत किया है[१५]। जयदेव का समय १२००-१२५० ई० है।

(४) विश्वनाथ ने रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व' का बहुत कुछ अनुसरण किया है। वहां से उसने अनेक उदाहरण अक्षरशः प्रस्तुत किये हैं। रुय्यक का समय १२ वीं शताब्दी ई० का मध्य भाग समझा जाता है। अतः विश्वनाथ का समय १२ वीं शताब्दी के मध्य भाग के पश्चात् का होना चाहिये।

(५) 'काव्यप्रकाश; की दीपिका टीका के रचयिता चण्डीदास विश्वनाथ के पितामह के अनुज थे। यह टीका १२५० ई० के लगभग लिखी गई थी। अतः विश्वनाथ का समय इसके पश्चात् का होना ,ाहिये।

(६) कलिंग नरेश नरसिंह की राजसभा में अपने पितामह नारायण और धर्मदत्त के शास्त्रार्थ का विश्वनाथ ने उल्लेख किया है। धर्मदत का उल्लेख विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है[१६] -

"तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे -

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः।।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।।

इस नरसिंह का समय १२७०-१३०३ ई० के मध्य का समझा जाता है।

ऊपर लिखे गये विवरणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विश्वनाथ १२०० ई० के पश्चात् ही हुये होंगे। विश्वनाथ के समय की सीमा निम्न प्रकार से निश्चित की जा सकती है -

(१) मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की 'रत्नापण' टीका में विश्वनाथ को उद्धृत किया था[१७]। कुमारस्वामी का समय १५ वीं शताब्दी ई० था।

(२) 'काव्यप्रकश' की 'प्रदीप' टीका के लेखक गोविन्द ठक्कर ने 'साहित्यदर्पण' की विचारधारा का उल्लेख किया है। उसने नाम का उल्लेख किये विना ही मम्मटकृत काव्य-लक्षण के विश्वनाथ द्वारा खण्डन किये जाने का वर्णन करके विश्वनाथ के काव्य-लक्षण की आलोचना की है[१८]। गोविन्द ठक्कर का समय १५ वीं शताब्दी ई० रहा था।

इन आधारों पर विश्वनाथ का समय १५ वीं शताब्दी ई० से पहले का ही सिद्ध होता है। ऊपर कहे गये सभी प्रमाणों का संक्षेप करके विश्वनाथ के समय को १३००-१३८४ ई० तक सीमित करना तर्कसंगत है।

३. विश्वनाथ की रचनायें

विश्वनाथ ने प्रभूत मात्रा में साहित्य का सृजन किया था। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'साहित्यदर्पण' है। साहित्यशास्त्र पर लिखा गया यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाश' पर 'काव्यप्रकाशदर्पण' नाम से टीका भी लिखी थी।

विश्वनाथ केवल काव्यशास्त्र के ही आचार्य नहीं थे, अपितु सरस कवि भी थे। उन्होंने अनेक काव्यों की रचना की थी। उनकी कविताओं का महत्त्व उनके समालोचना साहित्य से कम नहीं है। परतु उनका वह काव्य साहित्य अत्यल्प उपलब्ध है। 'साहित्यदर्पण' के उद्धरणों से ही उनके काव्यों का बोध होता है। विश्वनाथ द्वारा रचित निम्न काव्यों और काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का परिचय मिलता है -

(i) राघवविलास महाकाव्य -

इस काव्य का उल्लेख 'साहित्यदर्पण' में करुणरस (३.२२२-२२३) के उदाहरण के प्रसंग में है[१९]।

(ii) कुवलयाश्वचरित -

इस काव्य की रचना प्राकृत भाषा में हुई थी। इस काव्य का उल्लेख जडता नामक व्यभिचारी भाव (३.१४८) के उदाहरण के रूप में है[२०]।

(iii) प्रभावतीपरिणय -

यह एक नाटिका थी। इसके एक पद्य को 'साहित्यदर्पण' में मुग्धा नायिका (३.५८) के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है[२१]।

(iv) चन्द्रकला -

यह भी एक नाटिका है और प्रकाशित हो चुकी है। इसका एक पद्य 'साहित्यदर्पण' में अलङ्कारों की विवेचना करते हुये दीप्ति नामक अलङ्कार (३.९३) के उदाहरण के रूप में उद्धृत हुआ है[२२]।

(v) प्रशस्तिरत्नावली -

इस काव्य की रचना १६ भाषाओं में की गई थी। इसमें सम्भवतः कलिंग नरेश

नरसिंह प्रथम और द्वितीय की प्रशस्तियां लिखी गई थीं। इसका उल्लेख 'साहित्यदर्पण' में करम्भक की परिभाषा में (६. ३३७) किया गया है[२३]।

(vi) साहित्यदर्पण -

विश्वनाथ का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसने अन्यतम लोकप्रियता प्राप्त की है। इसकी विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है।

(vii) काव्यप्रकाशदर्पण -

विश्वनाथ ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर एक टीका लिखी थी, जो कि 'काव्यप्रकाशदर्पण' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

(viii) नरसिंहविजय -

विश्वनाथ ने 'नरसिंहविजय' नामक काव्य की रचना की थी। सम्भवत: इस काव्य में कलिंगनरेश नरसिंह द्वितीय की विजयों का गौरवगान किया गया है। यह काव्य 'साहित्यदर्पण'की रचना के अनन्तर लिखा गया होगा, क्योंकि इसका उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं है। इस काव्य का उल्लेख विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास ने 'साहित्यदर्पण' की 'लोचन टीका' में किया है[२४]।

इन काव्यों और शास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त विश्वनाथ ने अनेक फुटकर रचनायें भी लिखी होंगी। 'साहित्यदर्पण' में कुछ उदाहरण इस प्रकार के मिलते हैं, जिनमें किसी पुस्तक या लेखक के नाम का संकेत तो नहीं है, परन्तु समीक्षक इनको विश्वनाथ की ही रचना मानते हैं[२५]।

४. साहित्यदर्पण

'साहित्यदर्पण एक अति विशाल ग्रन्थ है। इसमें काव्य के सभी तत्त्वों और अंगों की विवेचना की गई है। विषय की व्यापकता और शैली की सरलता के कारण इस ग्रन्थ का विस्तृत प्रचार हुआ है।

प्राचीन आचार्यों का अनुकरण करते हुये विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ को तीन भागों में विभक्त किया - कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिकायें सामान्यत: विश्वनाथ की अपनी रचनायें हैं। परन्तु कहीं कहीं प्राचीन आचार्यों की कारिकाओं के शब्दों को उन्होंने समाविष्ट कर लिया है। वृत्ति विश्वनाथ की सम्पूर्णत: अपनी कृति है। उदाहरण अनेक प्रकार के हैं। अधिकांश उदाहरणों का संकलन प्राचीन काव्यों से किया गया है। कुछ उदाहरण उन्होंने अपने पिता, पितामह आदि के ग्रन्थों से संकलित किये हैं। अनेक उदाहरण स्वयं इनकी अपनी ही कृतियों से लिये गये हैं।

'साहित्यदर्पण' १० परिच्छेदों में विभक्त है तथा विषय-वस्तु निम्न क्रम से है -

(i) प्रथम परिच्छेद –

पहले परिच्छेद में मंगलाचरण के अनन्तर विश्वनाथ ने काव्य के प्रयोजन बताये हैं। काव्य के प्रयोजन चार हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तदनन्तर मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा कहे गये काव्य के लक्षण का खण्डन करके विश्वनाथ ने स्वकीय काव्य-लक्षण "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" का प्रतिपादन किया है। अन्त में दोष, गुण, अलङ्कार और रीति का काव्य के साथ सम्बन्ध बताया है।

(ii) द्वितीय परिच्छेद –

दूसरे परिच्छेद में शब्द, अर्थ और शब्दशक्तियों का विवेचन है। वाक्य, पद, तीन प्रकार के अर्थ, तीन प्रकार की शब्दशक्तियां – अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना, इन सबके स्वरूप और भेदों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस प्रकरण में विश्वनाथ ने मम्मट की भूलों का भी निर्देश किया है। परिच्छेद के अन्त में तात्पर्या वृत्ति और तात्पर्यार्थ की व्याख्या शास्त्रकार ने की है।

(iii) तृतीय परिच्छेद –

तीसरे परिच्छेद का मुख्य विषय रस का प्रतिपादन है। रस के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के मत का निदर्शन करते हुये उसके स्वरूप तथा निष्पत्ति की व्याख्या की गई है। विश्वनाथ ने 'नाट्यशास्त्र' के रससूत्र **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोद्रसनिष्पत्तिः"** की व्याख्या करते हुये रस को एकमात्र व्यङ्ग्य प्रतिपादित किया है। तदनन्तर विभावों के स्वरूप को कह कर नायकों के भेद, उनके सहायक तथा उनके गुणों का विवेचन है। इसके पश्चात् नायिकाओं के विभिन्न भेदों, अलङ्कारों, सहायिकाओं आदि का विशद विवेचन है। इस विषय में विश्वनाथ ने बहुत कुछ 'दशरूपक' का आश्रय लिया है। तदनन्तर अनुभावों, सात्त्विक भावों, व्यभिचारी भावों और स्थायी भावों की सोदाहरण व्याख्या है। अन्त में भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का वर्णन है।

(iv) चतुर्थ परिच्छेद –

चौथे परिच्छेद में विश्वनाथ ने काव्य के भेदों – ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्वरूप और भेदों की विस्तृत विवेचना की है। विश्वनाथ के अनुसार काव्य के यही दो मुख्य भेद हैं। अन्त में उन्होंने मम्मट प्रोक्त काव्य के तीसरे भेद चित्र में काव्यत्व का खण्डन किया है।

(v) पञ्चम परिच्छेद –

पांचवें परिच्छेद में व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना की गई है। रस के बोध के लिये व्यञ्जना वृत्ति अनिवार्य है। व्यङ्ग्य अर्थ का बोध कराने में अभिधा या लक्षणा वृत्तियां सफल नहीं होतीं। क्योंकि व्यञ्जना का अन्तर्भाव अभिधा, लक्षणा या अनुमिति में नहीं हो सकता, इसलिये व्यञ्जना को स्वीकार करना ही होगा। इस प्रकरण में विश्वनाथ ने एक नई

उद्भावना भी की है। व्यङ्ग्य अर्थ का बोध कराने वाली व्यञ्जना वृत्ति जब रस की अभिव्यक्ति कराती है, तो यह रसनावृत्ति कहलाती है।

(vi) षष्ठ परिच्छेद -

छठे परिच्छेद में काव्य के अन्य निमित्तक भेद हैं। सबसे प्रथम रूपकों के दस भेदों और उपरूपकों को कह कर नाटकीय भावों की विशद विवेचना की गई है। इसके बाद रूपकों तथा उपरूपकों के विभिन्नभेदों के स्वरूप का कथन किया गया है। इस प्रकरण में विश्वनाथ ने बहुत कुछ 'दशरूपक' का अनुकरण किया है। तदनन्तर श्रव्य काव्यों के विभिन्न भेदों - पद्यकाव्य, महाकाव्य, गद्यकाव्य, कथा, आख्यायिका, गद्यपद्यकाव्य, चम्पू, विरुद, करम्भक आदि के स्वरूप का विशद वर्णन है।

(vii) सप्तम परिच्छेद -

सातवें परिच्छेद में दोषों का विशद वर्णन है। दोष मुख्य रूप से पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगत होते हैं। इनके अनेक भेद-प्रभेदों की व्याख्या इस परिच्छेद में की गई है। अन्त में अलङ्कारगत दोषों का विस्तार से विवेचन है। दोषों के स्वरूप वर्णन में विश्वनाथ ने बहुत कुछ मम्मट का अनुकरण किया है।

(viii) अष्टम परिच्छेद -

आठवें परिच्छेद में गुणों का निरूपण है। इस प्रकरण पर 'काव्यप्रकाश' का बहुत प्रभाव है। तो भी विश्वनाथ ने यहां भी अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। काव्य में माधुर्य, ओजः और प्रसाद ये तीन गुण होते हैं। प्राचीन आचार्यों के दस या बीस गुणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन गुणों में कर दिया गया है। विश्वनाथ ने भी अर्थ गुणों को स्वीकार नहीं किया।

(ix) नवम परिच्छेद -

इस परिच्छेद में रीतियों का वर्णन है। मम्मट का अनुकरण न करके विश्वनाथ ने रीतियों तथा उनके स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है। उसने चार प्रकार की रीतियां - वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडी और लाटी बताई हैं।

(x) दशम परिच्छेद -

इस अन्तिम परिच्छेद में अलङ्कारों का विवेचन है। सबसे पहले अलङ्कार का स्वरूप तथा काव्य में उसकी उपयोगिता का कथन किया गया है। इसके पश्चात् शब्दालङ्कारों की विवेचना है। विश्वनाथ ने सात शब्दालङ्कारों - पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषायमक, श्लेष और चित्र के वर्णन किये हैं। तदनन्तर अर्थालङ्कारों का वर्णन है। विश्वनाथ ने ७५ अर्थालङ्कारों के स्वरूप, भेद तथा उदाहरण देकर उनके मिश्रण संसृष्टि तथा संकर की व्याख्या की है। अलङ्कारों के विवरण में विश्वनाथ पर रुय्यक का बहुत प्रभाव है।

५. साहित्यदर्पण की प्राचीन टीकायें

'साहित्यदर्पण' सरलता और सर्वांगपूर्णता के कारण लोकप्रिय तो बहुत हुआ था, परन्तु इसकी टीकायें कम ही लिखी गई थीं। इस ग्रन्थ का अधिक प्रचलन पूर्वी भारत में हुआ और यहीं इसकी टीकायें भी लिखी गईं। अब तक इस ग्रन्थ की पांच टीकायें विदित हुई हैं। ये निम्न हैं -

(i) लोचन टीका -

'साहित्यदर्पण' की इस टीका की रचना विश्वनाथ के ही पुत्र अनन्तदास ने की थी। यह प्रकाशित हो चुकी है। लोचन टीका संक्षिप्त और प्रसंग के अनुकूल है तथा विद्वत्तापूर्ण है।

(ii) विवृति टीका -

इस टीका की रचना रामचरण तर्कवागीश ने १७७१ ई० में की थी। यह टीका काफी विस्तृत, प्रसंग के अनुकूल और उपयोगी है। तथापि 'काव्यप्रकाश' की प्रदीप, उद्योत आदि टीकाओं के समान विद्वत्तापूर्ण नहीं है। इस टीका का भी प्रकाशन हो चुका है।

(iii) टिप्पण टीका -

इस टीका की रचना मथुरानाथ शुक्ल ने की थी। अभी तक इसका प्रकाशन नहीं हुआ है।

(iv) प्रभा टीका -

इस टीका को श्री गोपीनाथ ने लिखा था। यह भी अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

(v) विज्ञप्रिया टीका -

इस टीका को माहेश्वर भट्ट ने लिखा था। यह टीका विद्वत्तापूर्ण और विस्तृत है। इसका प्रकाशन हो चुका है। माहेश्वर ने 'काव्यप्रकाश' पर भी टीका लिखी थी।

वर्तमान समय में 'साहित्यदर्पण' का अध्ययन बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ है। इसकी विविध भाषाओं में अनेक टीकायें लिखी जा चुकी हैं। इनमें श्री पी०वी० काणे, आचार्य कृष्णमोहन शास्त्री, पं० शालिग्राम शास्त्री, डा० सत्यव्रतसिंह, डा० निरूपण विद्यालङ्कार आदि की टीकायें अधिक विद्वत्तापूर्ण और उपयोगी हैं।

विश्वनाथ को आधुनिक समीक्षकों ने यद्यपि द्वितीय श्रेणी का शास्त्रकार माना है, तथापि काव्यशास्त्र को सरलता तथा व्यापकता से प्रतिपादित करने तथा काव्य के रसेच्छुकों को हृदयंगम कराने की दृष्टि से इनका 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। उत्तरवर्ती साहित्य को इसने बहुत प्रभावित किया है। सम्भवतः 'साहित्यदर्पण' की रचना ने ही पण्डितराज जगन्नाथ को 'रसगंगाधर' ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी थी।

सन्दर्भ -

१. डा० सत्यव्रतसिंह : हिन्दी साहित्यदर्पण – भूमिका पृ० ६४।।

२. तत्प्राणत्वं मास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीनारायणपादैरुक्तम्।।
साहित्यदर्पण ३.२-३ की वृत्ति से।।

३. यदाहु: श्रीकलिंगभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तं............
अस्मत्पितामहश्रीनारायणपादा:।। काव्यप्रकाशदर्पण की भूमिका पृ० २१।।

४. श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु-
श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य
साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त।। सात्यिदर्पण १०.९९।।

५. द्वादशपदा नान्दी यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्।। साहित्यदर्पण ६.४५ की वृत्ति से।।

६. भाषालक्षणानि मम तातपादानां भाषार्णवे।। साहित्यदर्पण ६.१६९ की वृत्ति से।।

७. साहित्यदर्पण ३.५८, ३.८२, ३.२०७ और ३.२१३ के उदाहरणों से।।

८. वैपरीत्ये रुचिं कुर्विति पाठ:।"चिङ्कुपदं काश्मीरादिभाषायामश्लीलार्थबोधकम्, उत्कलादिभाषायां धृतकाण्ड इव" इति।
काव्यप्रकाश - वामनाचार्य झलकीकर कृत टीका की भूमिका पृ० २५ से उद्धृत।।

९. किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना ......स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।।
साहित्यदर्पण १.२ की वृत्ति।।

१०. यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीनारायणस्याङ्कमलङ्करोति।
तावन्मन: सम्भवयन् कवीनामेष: प्रबन्ध: प्रथितोऽस्तु लोके।। साहित्यदर्पण १०.१००।।

११ सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रह:।
अल्लावद्दीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रह:।। साहित्यदर्पण ४.१४ का उदाहरण।।

१२. गंगाम्भसि सुरत्राण तव नि:स्वानिस्वन:।
स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी।। साहित्यदर्पण १०.४२ का उदाहरण।।

१३. हृदि बिसलताहारो नायं भुजंगमनायक:।। साहित्यदर्पण १०.३९।।

१४. धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इत: स्तुति: का खलु चन्द्रिकाया: यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।। साहि० १०.५० का उदाहरण।।

१५. कदली कदली करभ: करभ: करिराजकर: करिराजकर:।
भुवनत्रयेऽपि विभाति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृश:।। साहित्यदर्पण ४.३ का उदाहरण।।

१६. साहित्यदर्पण ३.३ की वृत्ति।।

१७. सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगज:।
अमुना चोत्तम: शेते मध्यो हसति गायति।।
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति।। प्रतापरुद्रयशोभूषण रत्नापण टीका रसप्रकरण।।

१८. अर्वाचीनास्तु "यथोक्तस्य काव्यलक्षणे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरलविषयं वा स्यात्। दोषाणां दुर्निवारत्वात्। तस्माद् वाक्यं रसात्मकं काव्यमिति लक्षणम्। तथा च दुष्टेऽपि रसान्वये काव्यमस्त्येव। परं त्वपकर्षमात्रम्। तदुक्तम् - कीटानुविद्धरत्नादि० इत्यादि। एवमलङ्कारादिसत्त्वे उत्कर्षमात्रम्। नीरसे तु चित्रादौ काव्यव्यवहारो गौण इत्याहु:।। काव्यप्रकाश - प्रदीप टीका।।

१९. यथा मम राघवविलासे -

विपिने क्व जटानिबन्धनं तत्र चेदं क्व मनोहरं वपुः।
अनयोर्घटनाविधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम्।।

२०. यथा मम कुवलयाश्वचरिते -

णवरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्थरदिट्ठिं।
आलेक्खओपिअं विअं खणमेत्तं तत्थ सट्ठिअं मुअसण्णं।।

२१. प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा पार्वतीपरिणये -

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्
नोद्दामं हसति क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।
किञ्चिद् भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग् भाषते
सभ्रूभंगमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्ती सखीम्।।

२२. यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम् -

तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसंपदो हासः।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम्।।

२३. करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम्।
यथा मम षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली।।

२४. यथा मम तातपादानां विजयनरसिंहे।।

२५. यथा वा मम -

लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिंगन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि।।

....

सैंतीसवां अध्याय

केशवमिश्र

१. केशवमिश्र का परिचय

सोलहवीं शताब्दी ई० के काव्यशास्त्रियों में केशवमिश्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने 'अलङ्कारशेखर' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ का प्रकाशन काव्यमाला सीरीज नं० ५० के अन्तर्गत हुआ था। काशी संस्कृत सीरीज वाराणसी से भी यह प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में केशवमिश्र ने काव्यशास्त्र के प्राय: सभी विषयों की विवेचना की है।

२. केशवमिश्र का समय

केशवमिश्र के समय के सम्बन्ध में अधिक विवाद नहीं है। ग्रन्थ की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है कि 'अलङ्कारशेखर' की रचना धर्मचन्द्र के पुत्र कल्याणचन्द्र की प्रेरणा से की गई। धर्मचन्द्र के पिता रामचन्द्र थे।

रामचन्द्र के पूर्वज राजा सुशर्मा ने दिल्ली के काबुली (अफगान) बादशाह को युद्ध में पराजित किया था। कनिंघम के अनुसार माणिक्यचन्द्र कांगड़ा के राजा थे, जो धर्मचन्द्र के अनन्तर १५८३ ई० में सिंहासन पर आरूढ हुये थे। इन्होंने १० वर्ष तक राज्य किया था[१]। इस राजा की वंशावली नहीं मिल सकी है। इस राजा का उल्लेख केशवमिश्र ने 'अलङ्कारशेखर' में किया है। अत: केशवमिश्र का समय १६ वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध समझा जा सकता है।

३. केशवमिश्र की रचनायें

केशवमिश्र की एक ही रचना 'अलङ्कारशेखर' उपलब्ध होती है। इसके तीन भाग हैं - कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिकाओं (सूत्रों) के विषय में केशवमिश्र का कथन है कि इनकी रचना शौद्धोदनि ने की थी। उनके आधार पर ही वे अपने ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं[२]।

शौद्धोदनि कौन थे, इस बात को जानना बहुत कठिन है। यह मानना तो असम्भव ही है कि इन कारिकाओं (सूत्रों) की रचना भगवान् बुद्ध (भगवान् बुद्ध का एक नाम शौद्धोदनि भी है) ने की होगी। यह हो सकता है कि किसी बौद्ध लेखक ने इन

कारिकाओं की रचना की हो तथा बौद्ध होने के कारण वह अपने आपको शौद्धोदनि कहता हो। परन्तु काव्यशास्त्र के आचार्यों में शौद्धोदनि नाम सर्वथा अपरिचित है।

केशवमिश्र ने 'अलङ्कारशेखर' में किन्हीं श्रीपाद नामक लेखक का अनेक बार उल्लेख किया है। इस लेखक का नाम और परिचय अन्यत्र कहीं नहीं मिलता और नाहीं इनकी लिखी किसी रचना का नाम मिलता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ये श्रीपाद ही भगवान् शौद्धोदनि होंगे।

केशवमिश्र ने 'अलङ्कारशेखर' की रचना शौद्धोदनि के सूत्रों के आधार पर की थी, इसलिये इन सूत्रों का लेखन, 'अलङ्कारशेखर' की रचना से बहुत पहले हो गया होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। शौद्धोदनि ने काव्य का लक्षण रस के आधार पर किया था। इसके अतिरिक्त इनके सूत्रों के विवेचन पर 'वाग्भटालङ्कार का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इस कारण इन कारिकाओं की रचना १२ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध से पहले नही हुई होगी।

केशवमिश्र ने 'अलङ्कारशेखर' ग्रन्थ में सूचित किया है कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना से पहले कवियों का उपकार करने के लिये सात कृतियां लिखी थीं। परन्तु वर्तमान समय में उन सब कृतियों के नाम भी उपलब्ध नहीं होते। इन नामों में केवल दो नाम प्राप्त हुये हैं - 'अलङ्कारसर्वस्व' और 'काव्यरत्न'।

४. अलङ्कारशेखर

'अलङ्कारशेखर' में केशवमिश्र ने वर्ण्य विषय का विभाजन आठ रत्नों और २२ मरीचियों में किया है। यह इस प्रकार है -

(१) काव्य की परिभाषा तथा काव्य के हेतु।
(२) वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाली तीन रीतियां, उक्ति एवं मुद्रा के विभिन्न प्रकार।
(३) शब्द की तीन वृत्तियां - शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना।
(४) पद के आठ दोष।
(५) वाक्य के १२ दोष।
(६) अर्थ के आठ दोष।
(७) पांच शब्दगुण - संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति और समाधि।
(८) चार अर्थगुण - भाविकत्व, सुशब्दत्व, पर्यायोक्ति और सुधर्मिता।
(९) पहले कहे गये पद,वाक्य और अर्थ के दोष कहीं गुण भी बन जाते हैं। अब वे वैशेषिक गुण कहलाते हैं और दोष नहीं रहते।
(१०) आठ शब्दालङ्कार - चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर और यमक।

(११) चौदह अर्थालङ्कार - उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशक, विशेषोक्ति और विभावना।

(१२) रूपक के भेद-प्रभेद।

(१३) उत्प्रेक्षा, समासोक्ति आदि अलङ्कारों की परिभाषायें, भेद और उदाहरण। इस वर्णन में कामिनियों के विभिन्न अंगों - वर्ण, केश, मस्तक, नेत्र, भ्रू आदि के उपमान दिये गये हैं।

(१४) नायक की शारीरिक विशेषताओं के वर्णन की विधि।

(१५) सादृश्यवाचक शब्दों तथा कवि-समयों का वर्णन।

(१६) विभिन्न वर्ण्य विषयों - राजा, रानी, प्रदेश, नगर, नदी आदि के वर्णन करने की विधि तथा उनके गुणों का वर्णन।

(१७) प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं के स्वरूप तथा रंग।

(१८) एक से लेकर एक हजार तक की संख्या को व्यक्त करने वाली वस्तुओं के नाम। विविध प्रकार के चमत्कारों की रूपरेखा।यथा- गतागत, संस्कृत-प्राकृत आदि शब्दों की एकरूपता आदि।

(१९) समस्यापूर्ति।

(२०) रसों का वर्णन। रस ही काव्य की आत्मा है। नौ प्रकार के रसों का स्वरूप-विवेचन। नायक-नायिका के भेदों और उपभेदों का एवं भावों का निरूपण।

(२१) रसदोष।

(२२) रसों के अनुकूल वर्णों का विवेचन।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि 'अलङ्कारशेखर' में काव्यशास्त्र के अनेक विषय संक्षेप में प्रस्तुत हैं। लेखक ने अनेक प्राचीन लेखकों का उल्लेख किया है। जैसे -

काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, वाग्भटालङ्कार, कविकल्पलता, गोवर्धन, भोजराज, भार्गवसर्वस्वमहिमा, व्यक्तिविवेक, राजशेखर, श्रीहर्ष, श्रीपाद आदि। श्रीपाद का उल्लेख तो है, परन्तु काव्यशास्त्र के इतिहास में यह नाम सर्वथा अपरिचित है। सम्भवत: कारिकाकार शौद्धोदनि ही श्रीपाद रहे होंगे।

....

सन्दर्भ -

१. आर्केओलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया भाग ५ , पृ० १६०।।

२. अलङ्कारविद्यासूत्रकारो भगवाञ्छौद्धोदनि: परमकारुणिक: स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन् प्रथमं काव्यस्व-रूपमाह।। अलङ्कारशेखर पृ ० २।।

....

अड़तीसवां अध्याय

शारदातनय

१. शारदातनय का महत्त्व और परिचय

नाट्यशास्त्र विषय पर जिन विद्वानों ने कार्य किया है, उनमें शारदातनय का नाम बहुत प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण है। 'भावप्रकाशन' ग्रन्थ की रचना करके उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण विषय के प्रतिपादन में बहुत बड़ा योग दिया था।

शारदातनय के जीवन-वृत्तान्त और समय का विशेष परिचय अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। उनका वास्तविक नाम क्या था, यह भी विदित नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में अपने आपको शारदा (सरस्वती) देवी का तनय (पुत्र) बताया है। अतः उनका नाम शारदातनय प्रसिद्ध हो गया।

अपने एक वर्णन के अनुसार शारदातनय उत्तर भारत के मेरूत्तर जनपद के माठरपूजा नाम के ब्राह्मण पविार में उत्पन्न हुये थे। उनके पूर्वज बहुत विद्वान् थे। उनके पिता का नाम भट्टगोपाल था। भट्टगोपाल ने 'काव्यप्रकाश' पर टीका लिखी थी। शारदातनय का जन्म क्योंकि सरस्वती की कृपा से हुआ था, अतः इनका नाम शारदातनय प्रसिद्ध हुआ। इनके गुरु का नाम दिवाकरभट्ट था, जो कि एक नाट्यशाला के अधिपति थे [1]।

२. शारदातनय का समय

शारदातनय का समय निर्धारित करने के लिये अधिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। बाह्य प्रमाणों के आधार पर इनके समय को निश्चित किया जा सकता है। 'भावप्रकाशन' ग्रन्थ में 'शृङ्गारप्रकाश'और 'काव्यप्रकाश' के उद्धरण दिये गये हैं। इसमे भोजराज के मतों का भी उल्लेख है। अतः शारदातनय का समय १२ वीं शताब्दी ई० के बाद का समझा जा सकता है।

शिंगभूपाल ने 'रसार्णवसुधाकर' में 'भावप्रकाशन' के उद्धरण दिये हैं। शिंगभूपाल का समय १३२० ई० के लगभग का है। अतः शारदातनय को १४ वीं शताब्दी ई० से पहले का होना चाहिये। इस आधार पर शारदातनय को १२-१३ वीं शताब्दी ई० के मध्य का माना जा सकता है। समालोचकों ने शारदातनय के समय को ११७५-१२५० ई० के लगभग का निर्धारित किया है।

३. शारदातनय की रचनायें

शारदातनय का एक ही ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ ने ही इनको अमर तथा अक्षय कीर्ति प्रदान की है। नाट्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों में इनका ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। अपने ग्रन्थ की रचना में शारदातनय ने 'दशरूपक' का बहुत कुछ अनुकरण किया है। परन्तु वे अपने को अभिनवगुप्त का अनुगामी कहते हैं[२]।

४. भावप्रकाशन

भरत मुनि से लेकरशारदातनय के समय तक नाट्यशास्त्र विषयक जितने भी तत्त्वों का विकास हुआ था, उस सम्पूर्ण सामग्री का संकलन शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थ में कर दिया है। भरत के अतिरिक्त कोहल, मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु, नन्दिकेश्वर आदि प्रसिद्ध नाट्याचार्यों की कृतियों का उल्लेख तथा उनके मतों का पर्यालोचन 'भावप्रकाशन' में किया गया है। इन प्राचीन नाट्यशास्त्रीय कृतियों में हमको इस समय केवल नन्दिकेश्वर की एक छोटी सी रचना 'अभिनयदर्पण' ही प्राप्त है।

'भावप्रकाशन' ग्रन्थ का विषय-विभाजन दस अधिकारों (अध्यायों) में हुआ है। प्रथम अधिकार के प्रारम्भ में ही लेखक ने सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों का संक्षेप में कथन किया है। यह निम्न प्रकार से है –

शारदातनयो देव्यास्तानधीत्य च सन्निधौ।
आदाय सारमेतेभ्यो हिताय नाट्यवेदिनाम्।।
भावप्रकाशनं नाम प्रबन्धमकरोत्तथा।
एतस्मिन् प्रथमो भावस्तस्य भेदास्ततः परम्।।
तदवान्तरभेदाश्च तत्तत्कार्येषु कौशलम्।
तत्साध्योऽर्थस्तथा तेषामुपकार्योपकारिता।।
रसोत्पादकता तेषां चरस्थिरविभागतः।
तद्दर्शनानि तद्दृष्टिः दृष्टिधर्मास्तथाविधाः।।
परस्परस्य सामर्थ्यं साहचर्यात् क्वचित् क्वचित्।
इति भागतया भावाः द्वादशैते ततो रसः।।
तद्भेदाः भेदभेदाश्च तेषां जन्म च नाम च।
जनकत्वं च जन्यत्वं तेषामन्योन्यतः पृथक्।।
प्रधानेतरभावश्च तेषामन्योन्यसंकरः।
तन्मेलनं च तत् सिद्धिविशेषः संकरोद्भवः।।
तद्व्यङ्ग्यता वाच्यता च तन्मैत्री तद्विरोधिता।
तत्कालनियमास्तत्तद् वर्णास्तद्दैवतानि च।।

स्थायिसञ्चारिभेदाश्च नैषां तद्दृष्टयोऽपि च।
इति विंशतिरुद्दिष्टाः प्रकाराः रसगामिनः।।
ततः शब्दार्थसम्बन्धस्तत्प्रकाराः पृथग्विधाः।
तद्वृत्तयो रूप्यकाणि तद्भेदास्त्रिंशदात्मिकाः।
एतैरर्थैः प्रबन्धोऽयं यथावत् कथ्यतेऽधुना।।

'भावप्रकाशन' में प्रतिपादित किये गये उपर्युक्त सभी विषयों को चार विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है -- भाव, रस, शब्दार्थसम्बन्ध और रूपक। ग्रन्थ के दस अधिकारों का विवेचन निम्न क्रम से किया गया है -

(१) भावनिर्णय
(२) रसस्वरूपाश्रयवृत्तिनिर्णय
(३) रसभेदतत्प्रकारनिर्णय
(४) शृङ्गारालम्बननायकनायिकादिस्वरूपनिर्णय
(५) नायकनायिकाभेदतत्तदवस्थादिनिरूपण
(६) शब्दार्थसम्बन्धतद्भेदप्रकारनिर्णय
(७) नाट्येतिवृत्तशरीरलक्षणाभिधान
(८) दशरूपकलक्षण
(९) नृत्यभेदस्वरूपनिरूपण
(१०) नाट्यप्रयोगभेदप्रकारविशेषनिर्णय

'भावप्रकाशन' में भावों और रसों का स्वरूप, निष्पत्ति, भेद आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। नाट्य से सम्बन्धित विषयों का भी इसमें विस्तृत परिचय है। इस ग्रन्थ की सबसे पहली विशेषता यह है कि इसमें नाट्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन करने के साथ साथ उनके व्यावहारिक उपयोग को भी समझाया गया है। यह ग्रन्थ एक प्रकार से नाट्य और रस के विशेष ज्ञान के लिये कोश के समान है।

सन्दर्भ -

१. नाट्यशालाधिपतिः कश्चिद् दिवाकर इति द्विजः।
तथैव नाट्यवेदस्य नियुक्तोऽध्यापने तथा।। भावप्रकाशन।।

२. भट्टाभिनवगुप्तार्यपादप्रोक्तेन वर्त्मना।
अयं प्रबन्धः कथितः शारदायाः प्रसादतः।। भावप्रकाशन।।

उनतालीसवां अध्याय

शिंगभूपाल (सिंहभूपाल)

१. सिंहभूपाल का महत्त्व

सिंहभूपाल का नाम नाट्य तथा संगीत दोनों विषयों के आचार्य के रूप में प्रसिद्ध है। भारत में संगीत का विकास वैदिक युग से भी पूर्व हो गया था। परन्तु संगीतशास्त्र पर जिन ग्रन्थों की रचना अति प्राचीन काल में हुई थी, वे वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं। यदि कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हुये भी हैं, तो वे अभी तक हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के रूप में पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। अभी तक प्रकाशित नहीं हो सके हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में नारद लिखित 'संगीतमकरन्द' और शाङ्र्गधर लिखित 'संगीतरत्नाकर' प्रसिद्ध हैं। सिंहभूपाल ने इनमें से 'संगीतरत्नाकर' ग्रन्थ पर 'संगीतसुधाकर' नाम की टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त इन्होंने नाट्य विषय पर 'रसार्णवसुधाकर' नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी।

२. सिंहभूपाल का समय और परिचय

'रसार्णवसुधाकर' और 'संगीतसुधाकर' में सिंहभूपाल ने अपना स्वल्प परिचय दिया है। 'संगीतसुधाकर' में, जो कि 'संगीतरत्नाकर' की टीका है, दूसरे अध्याय के अन्त में ाहिभूपाल ने लिखा है -

"इति श्रीमदन्ध्रमण्डलाधीश्वरप्रतिगुणभैरवश्रीअन्नप्रोतनरेन्द्रनन्दनभुजबलभीम-श्रीशिंगभूपालविरचितायां संगीतरत्नाकरटीकायां सुधाकराख्यायां रागविवेकाध्यायो द्वितीय: ।"

इसी प्रकार 'रसार्णवसुधाकर' के प्रथम अध्याय में लिखा है -

"इति श्रीमदन्ध्रमण्डलाधीश्वरप्रतिगुणभैरवश्रीअन्नप्रोतनरेन्द्रनन्दनभुजबलभीम-श्रीशिंगभूपालविरचिते सुधाकरनाम्नि नाट्यालङ्कारे रञ्जकोल्लासो नाम प्रथमो विलास: ।"

इन उद्धरणों से विदित होता है कि सिंहभूपाल आन्ध्रप्रदेश के राजा थे।

'रसार्णवसुधाकर' के आरम्भ में सिंहभूपाल ने अपने पूर्वजों का परिचय भी दिया है। रेचल्ल वंश के सिंहभूपाल की राजधानी राजाचल थी। सिंहभूपाल के ६ पुत्र थे। राज्य

का विस्तार विन्ध्याचल से श्रीशैल पर्वत तक था। शेषगिरि शास्त्री ने अपने इतिहास ग्रन्थ 'बायोग्राफिक स्केचेज आफ दी राजाज आफ वेंकटगिरि' में प्रतिपादित किया है -

'संगीतसुधाकर' ग्रन्थ का रचयिता सिंहभूपाल वेंकटगिरि का राजा था और वह सिंहनायडू के नाम से प्रसिद्ध था। इसका समय १३३० ई० के लगभग था।

'रसार्णवसुधाकर' के प्रारम्भ में सिंहभूपाल ने अपने को शूद्र बताया है तथा दक्षिण भारत में नायडू लोगों की गणना शूद्रों में होती है। इसलिये सिंहभूपाल का व्यक्तित्व शेषगिरि शास्त्री के अनुसार हो सकता है। उन्होंने सिंहभूपाल का समय १४ वीं शताब्दी ई० का मध्य काल प्रतिपादित किया है।

रामकृष्ण भाण्डारकर के अनुसार सिंहभूपाल ने अपने को अन्ध्रमण्डल का अधिपति लिखा है। उनका समय कहना तो कठिन है, तथापि देवगिरि के राजा सिंघण को सिंहभूपाल समझा जा सकता है। इस राजा का समय १२१८-१२४९ ई० था। यह राजा संस्कृत का अनुरागी और विद्वान् था। 'संगीतरत्नाकर' के लेखक शाङ्र्गधर इसी राजा के सभापण्डित थे। सम्भवत: सिंघण ने स्वयं भी 'संगीतरत्नाकर' की टीका लिखी। यह भी सम्भव है कि किसी अन्य लेखक ने यह टीका लिख कर अपने आश्रयदाता राजा के नाम से प्रसिद्ध की हो। इस सिंघण (सिंहभूपाल) का समय १३वीं शता० ई० का हो सकता है।

परन्तु रामकृष्ण भाण्डारकर का मत है कि ऊपर कही गई युक्ति में कोई आधार नहीं है। वेंकटगिरि के राजा सिंघ या सिंघण से सिंहभूपाल की अभिन्नता का कोई प्रमाण नहीं है। पी०आर० भाण्डारकर ने सिंहभूपाल को १६ वीं शताब्दी ई० का माना था[१]। परन्तु इस कथन को भी असत्य सिद्ध किया जा चुका है।

मिथिला के पण्डितों में यह किम्वदन्ती प्रसिद्ध रही है कि सिंहभूपाल मिथिला के राजा थे। परन्तु इस किम्वदन्ती में भी कोई सत्यता नहीं है। सिंहभूपाल ने स्वयं ही अपने को अन्ध्रमडल का राजा लिखा है। 'रसार्णवसुधाकर' की हस्तलिखित प्रतियां दक्षिण में ही मिली हैं। उधर ही इसका प्रचार भी अधिक है। इसलिये सिंहभूपाल को दाक्षिणात्य ही समझना चाहिये। श्री श्यामनारायण ने अपनी इतिहास पुस्तक में लिखा है कि सिंहभूपाल को १४ वीं शताब्दी ई० में मिथिला का शासक समझा जाता था। परन्तु यह तथ्य अत्यधिक विवादास्पद है[२]।

३. सिंहभूपाल की रचनायें

सिंहभूपाल की दो कृतियां उपलब्ध होती हैं - 'संगीतसुधाकर' और 'रसार्णवसुधाकर'। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से है -

४. संगीतसुधाकर

यह रचना शाङ्र्गधर द्वारा रचित 'संगीतरत्नाकर' की टीका है। देवगिरि के राजा

सिंह (१२१८-१२४९ ई०) की राजसभा में शाङ्‍र्गधर ने 'संगीतरत्नाकर' ग्रन्थ की रचना की थी। सिंहभूपाल ने इस ग्रन्थ की 'संगीतसुधाकर' टीका लिखी 'संगीतरत्नाकर' की एक और प्राचीन टीका चतुर मल्लिनाथ (१५ वीं शताब्दी ई० का मध्य भाग) ने लिखी थी।

५. रसार्णवसुधाकर

'रसार्णवसुधाकर' की रचना मुख्य रूप से नाट्यविषयक तथ्यों को लेकर की गई थी। परन्तु रस आदि का विवेचन होने से इसको काव्यशास्त्र के इतिहास में भी विवेचित किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में सिंहभूपाल ने अपने वंश का परिचय दिया है। इसके अनुसार वे रेचल्लवंशीय थे। इनके पिता का नाम अनन्त या अन्नपोत था। पितामह का नाम सिंगप्रभु और प्रपितामह का नाम दाचनायक था। इनके राज्य का विस्तार विन्ध्याचल से लेकर श्रीशैल पर्वत तक था। इनकी राजधानी राजाचल थी।

'रसार्णवसुधाकर' में सिंहभूपाल ने नाट्यशास्त्र के विषयों का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया है। तीन विलासों में विभक्त इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु निम्न है -

(१) प्रथम विलास -

प्रथम विलास का नाम रञ्जकोल्लास रखा गया है। इसमें नायक और नायिका के स्वरूप तथा गुणों की विस्तृत विवेचना है। इसके अनन्तर चारों वृत्तियों के लक्षण और भेद विस्तार से कहे गये हैं।

(२) द्वितीय विलास -

इस विलास का नाम रसिकोल्लास है। इसमें रस का रोचक ढंग से विस्तृत वर्णन है। रति-वर्णनके प्रसंग में सिंहभूपाल ने भोज के रसविषयक मन्तव्यों का खण्डन किया है।

(३) तृतीय विलास -

भावोल्लास नाम के तीसरे विलास में रूपक के तीन प्रमुख अंगों - वस्तु, नेता और रस का सांगोपांग विवेचन है।

'रसार्णवसुधाकर' का दक्षिण भारत में अधिक आदर और प्रचार रहा । इसमें नाट्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन 'दशरूपक' की अपेक्षा अधिक विशद और स्पष्ट है।

सन्दर्भ -

१. डा० भण्डारकर कृत संस्कृत पुस्तकों की खोज (१८८२-१८८३) पृ० १६७।।

२ He (Singa Bhupal) is identified with some Mithila rular of 14th century, but the question is much disputed. हिस्ट्री आफ तिरहत पृ० १६७।।

चालीसवां अध्याय

विश्वेश्वर कविचन्द्र

१. विश्वेश्वर कविचन्द्र का महत्त्व

केरल के रेचल्लवंशीय राजा शिंगभूपाल स्वयं तो काव्य और काव्यशास्त्र के महान् कवि तथा काव्यशास्त्रज्ञ थे ही, उनके आश्रय में, इनकी राजसभा में भी श्रेष्ठ श्रेणी के कवियों और शास्त्रज्ञों को सम्मानप्रद स्थान प्राप्त होता था। श्री शिंगभूपाल ने 'संगीतसुधाकर' और 'रसार्णवसुधाकर' जैसी यशस्वी रचनाओं का सृजन करके शास्त्ररचना के यश से दिगन्तों को आलोकित किया था। इनकी राजसभा के रत्न विश्वेश्वर कविचन्द्र भी श्रेष्ठ कोटि के कवि और काव्यशास्त्रकार हुये। अनेक काव्य-कृतियों का सृजन करने के साथ ही विश्वेश्वर कविचन्द्र ने 'चमत्कारचन्द्रिका' नाम से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। काव्य-समीक्षा के लिये प्राचीन पद्धति का अनुसरण करके भी इस महान् काव्यशास्त्रज्ञ ने समीक्षा के सिद्धान्तों को सर्वथा नवीन रूप से प्रस्तुत किया था। इन्होंने कहा कि काव्य में चमत्कार तत्त्व ही सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करता है। गुण, रीति आदि सात तत्त्व ही चमत्कार के कारण हैं[१]।

विश्वेश्वर कविचन्द्र की कृति 'चमत्कारचन्द्रिका' का प्रथम सम्पादन श्रीमती डा० पन्दिरि सरस्वती मोहन ने किया था, जो अमेरिका में वेस्लियन विश्वविद्यालस मिडलटाउन कनेक्टिकट में प्रोफेसर हैं। इसमें श्री राघवन ने रस की प्रस्तावना लिखी थी और मेहरचन्द लक्ष्मणदास दिल्ली ने इसको प्रकाशित किया था।

२. कविचन्द्र विश्वेश्वर का परिचय और समय

विश्वेश्वर कविचन्द्र केरल के रेचल्लवंशीय राजा शिंगभूपाल के सभापण्डित थे। उनकी कृतियों से यह तथ्य स्पष्ट है। 'चमत्कारचन्द्रिका' के प्रत्येक विलास के अन्त में इस राजा से उन्होंने अपने सम्बन्ध को स्पष्ट किया है[२]। ये शिंगभूपाल वे ही हैं, जिन्होंने 'संगीतसुधाकर' और 'नाट्यसुधाकर' जैसे संगीत, नाट्य और रस का विवेचन करने वाले विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी। ३९ वें अध्याय में इस राजा का परिचय विस्तार से दिया जा चुका है।

विश्वेश्वर कविचन्द्र के समय के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद और विप्रतिपत्ति नहीं है। क्योंकि ये राजा शिंगभूपाल की राजसभा के सदस्य थे, अतः इस राजा

का समय ही विश्वेश्वर का समय समझना चाहिये। पहले प्रतिपादित किया जा चुका है कि शिंगभूपाल १३ वीं शताब्दी ई० (कुछ समालोचकों के मत में १४ वीं शताब्दी ई०) में हुये थे, अतः विश्वेश्वर कविचन्द्र का भी यही समय रहा होगा। विश्वेश्वर कविचन्द्र ने इनके आश्रय में रहने को अपना परम सौभाग्य माना है[३]।

विश्वेश्वर कविचन्द्र के जीवन-वृत्त आदि के सम्बन्ध में अधिक सामग्री प्राप्त नहीं है। तथापि इनसे सम्बन्धित कुछ तथ्य अवश्य प्राप्त हुये हैं। जैसा कि 'चमत्कारचन्द्रिका' में वर्णन मिलता है, इनके गुरु का नाम काशीश्वर मिश्र था[४]। विश्वेश्वर भारद्वाज गोत्र के थे। इनको अनेक प्रशस्तियां और उपाधियां प्राप्त हुई थीं[५]। विश्वेश्वर ने अपनी कुछ कृतियों में अपनी कुछ उपाधियों - **"सरससाहित्यचातुरीधुरीण"** और **"कविचन्द्र"** का उल्लेख किया है। विश्वेश्वर कविचन्द्र के शिष्य का नाम पशुपति नागनाथ था। अपनी एक रचना भाण-नाट्य - 'मदनविलास' में कवि ने अपने गुरु के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है[६]।

३. विश्वेश्वर कविचन्द्र की कृतियां

विश्वेश्वर कविचन्द्र की महनीय काव्यशास्त्रीय रचना 'काव्यचन्द्रिका' है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य अनेक काव्य-कृतियों की रचना की थी। श्री एस० दोरस्वामी ने अपने एक लेख में[७] इनकी निम्न ९ कृतियों का उल्लेख किया है -

(१) आनन्दकोशप्रहसन
(२) अभिरामराघव
(३) करुणाकन्दल
(४) वीरनाद
(५) वीरभद्रविजृम्भण
(६) महेश्वरानन्द
(७) अमोघराघव
(८) कन्दर्पसम्भव
(९) रत्नपञ्चाशिका

इन कृतियों में अनेक कृतियां राजा शिंगभूपाल के लिये समर्पित हैं। कवि ने अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा का गान किया है।

४. चमत्कारचन्द्रिका

'चमत्कारचन्द्रिका' में कविचन्द्र विश्वेश्वर ने काव्य की समीक्षा को सर्वथा नये रूप में प्रतिपादित किया है। इनका कहना है कि काव्य में अभिव्यक्त चमत्कार ही सहृदयों के हृदयों को आनन्द के प्रवाह में निमग्न करने में समर्थ होता है। काव्य के सात अंग इस चमत्कार के कारण हैं। ये सात अंग हैं - गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और

अलङ्कार[८]। सात अंगों से युक्त यह काव्य एक साम्राज्य के समान शोभित होता है[९]।

लेखक ने 'चमत्कारचन्द्रिका' को आठ विलासों में विभक्त किया था। इनकी विषय-वस्तु निम्न क्रम से है -

(१) प्रथम विलास -

प्रथम विलास में लेखक ने सबसे पहले मंगलाचरण करके काव्य के प्रयोजनों का कथन किया है। तदनन्तर इनका कहना है कि काव्य में चमत्कार ही सहृदयों के आनन्द का हेतु है। काव्य का लक्षण किया गया है - "चमत्कार से युक्त वाणी और अर्थ को काव्य कहते हैं[१०]।" यह वाक् तीन प्रकार की होती है - वर्ण, पद और वाक्य। वर्ण दो प्रकार के होते हैं - स्निग्ध और रूक्ष। यहां लेखक ने वर्णों का विभाग विस्तृत रूप से प्रदर्शित किया है। इनके शुभ-अशुभ फल भी बताये हैं। गुरु-लघु वर्णों का विभाग किया है। अशुभ फल के निवारण के उपाय भी बताये हैं।

उक्ति का माधुर्य ही वर्ण का गुण है। माधुर्य का न होना ही दोष है।

काव्य में पदों की स्थिति विभक्तियों से युक्त होती है। ये पद तीन प्रकार के होते हैं - वाचक, लक्षक और व्यञ्जक[११]। काव्य में १५ प्रकार के पद-दोष हो सकते हैं -

अपभ्रष्ट, अपप्रयुक्त, निरर्थक, निरुद्धार्थ, अपुष्टार्थ, अप्रतीत, अनिश्चित, क्लिष्ट, देश्य, नेयार्थ, प्रतिहस्तक, प्रवाचक, जुगुप्सित, अकल्याणक और व्रीडाकर।

(२) द्वितीय विलास -

दूसरे विलास में लेखक ने वाक्य का विवेचन किया है। समन्वय से युक्त पदों को वाक्य कहते हैं। वाक्य दो प्रकार के होते हैं - लक्षक और व्यञ्जक[१२]। वाक्य में १३ प्रकार के दोष हो सकते हैं -

अप्रयुक्त, दुस्सन्धि, व्युत्क्रम, पुनरुक्तमत्, दुरन्वय, वाक्यांगसंकीर्ण, वाक्यगर्भित, भिन्नलिंग, भिन्नवचन, न्यूनोपम, अधिकोपम, विफल और केवल।

(३) तृतीय विलास -

लेखक ने तृतीय विलास में अर्थ का विवेचन किया है। अर्थ तीन प्रकार का होता है - वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ[१३]। वाच्य अर्थ का बोध अभिधा वृत्ति द्वारा होता है। यह जात्यादि होता है[१४]। लक्षणा वृत्ति से बोधित होने वाला अर्थ लक्ष्यार्थ होता है[१५]। व्यञ्जना वृत्ति से व्यक्त होने वाला अर्थ व्यङ्ग्यार्थ कहलाता है। व्यङ्ग्य अर्थ तीन प्रकार का है - वस्तुरूप, अलङ्काररूप और रसभावादिरूप[१६]। काव्य में अर्थदोष १६ प्रकार के होते हैं -

अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, परुष, विरस, भिन्न, अतिमात्र, अनुज्ज्वल, नीचोपमान, अधिकोपमान, असदृशोपमान, अप्रथितोपमान, अश्लील और विरुद्ध।

शब्दार्थरूप काव्य तीन प्रकार का होता है - चमत्कारि, चमत्कारितर और चमत्कारितम। शब्द के चमत्कार से युक्त होने पर काव्य चमत्कारि है। इसमें अनुप्रास

आदि अलङ्कार होते हैं। वाच्यार्थ के चमत्कार से युक्त होने पर यह काव्य चमत्कारितर होता है[१७]। व्यङ्ग्य अर्थ के गुणीभूत होने पर काव्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं। इसका अन्तर्भाव भी ध्वनि में हो जाता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के आठ भेद होते हैं -

अगूढ, अपरस्यांग, वाच्यसिद्ध्यंग, अस्फुट, सन्दिग्धव्यङ्ग्य, तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य, काक्वाक्षिप्त और असुन्दर।

वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ में अधिक चारुत्व होने पर यह काव्य चमत्कारितम कहलाता है। इसी को ध्वनिकाव्य कहते हैं।

काव्य पुनः तीन प्रकार का है - गद्य, पद्य और मिश्र। यह पुन' दो प्रकार का है - प्रेक्ष्य और श्रव्य। प्रेक्ष्य काव्य पुनः दो प्रकार का है - रूपक अैर उपरूपक। नाटक आदि के भेद से रूपक दस प्रकार के होते हैं। श्रीगदित आदि के भेद से उपरूपक भी अनेक प्रकार के होते हैं। मिश्र काव्य के दो भेद हैं - चम्पू और उपचम्पू।

(४) चतुर्थ विलास -

चतुर्थ विलास में गुणों का विवेचन किया गया है। जिस प्रकार रूप आदि गुणों से शरीर के अंगों का उत्कर्ष होता है, उसी प्रकार काव्य के अंगों का उत्कर्ष करने वाले तत्त्व गुण हैं[१८]। ये गुण २३ प्रकार के होते हैं -

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, औदार्य, ओजः, कान्ति, उदात्तता, प्रेयान्, समाधि, और्जित्य, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, शब्दचमत्कार, भाविक, सम्मितत्व, गति, उक्ति और रीति।

पदों की घटना को रीति कहते हैं। यह पद **"रीङ् गतौ"** धातु से निष्पन्न होता है[१९]। काव्य में रीति चार प्रकार की होती है - असमासा, मध्यसमासा, अतिदीर्घसमासा और मिश्रा।

विकार, विक्षेप, विक्षोभ और विस्तर के माध्यम से चित्त में विद्यमान रहने वाले तत्त्व को वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति छः प्रकार की होती है[२०] - कैशिकी, आरभटी, भारती, सात्त्वती, मध्यभारती और मध्यकैशिकी।

वाणी के परिपाक को, जो आस्वाद को पुष्ट करता है, पाक कहते हैं[२१]। यह दो प्रकार का होता है - मृदुपाक और खरपाक।

पदों की परस्पर मैत्री और विनिमय को शय्या कहते हैं। यह साहित्य की पराकाष्ठा है। देश भेद से यह विविध प्रकार की होती है और लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त होती है[२२]।

(५) पञ्चम विलास -

विश्वेश्वर कविचन्द्र ने पञ्चम विलास में रस आदि का परिचय दिया है। काव्य के संविधान के चातुर्य से जो साक्षात् रूप से परिस्फुरित होता है और अलौकिक आस्वाद से सम्पन्न होता है, उसको रस कहते हैं[२३]। रस आठ प्रकार के होते हैं और इनमें शृङ्गार

रस प्रधान होता है।

उक्तियां तीन प्रकार की होती हैं - वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। रसोक्ति के दस भेद होते हैं - सत्ता, स्फुरता, अनुबन्ध, निष्पत्ति, पुष्टि, संकर, ह्रास, आभास, शम और शेष।

रस आठ प्रकार के होते हैं - शृङ्गार (सम्भोग और विप्रलम्भ), हास्य, वीर, अद्भुत, रौद्र, करुण, बीभत्स और भयानक।

(६) षष्ठ विलास -

छठे विलास में लेखक ने अलङ्कार का लक्षण किया है। जिस प्रकार शरीर के एक भाग को कनक-कुण्डल आदि अलङ्कृत करते हैं, उसी प्रकार जो तत्त्व काव्य के शरीर शब्द-अर्थ को अलङ्कृत करते हैं, उनको अलङ्कार कहते हैं[२४]। ये अलङ्कार तीन प्रकार के होते हैं - शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार। 'चमत्कारचन्द्रिका' में ११ शब्दालङ्कारों का निरूपण किया गया है -

छाया, मुद्रा, युक्ति, श्लेष, अनुप्रास, गुम्फना, चित्र, यमक, वाकोवाक्य, गूढ और प्रश्नोत्तर।

(७) सप्तम विलास -

सप्तम विलास में अर्थालङ्कारों का निरूपण है। इनकी संख्या २० है। ये निम्नलिखित हैं -

जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मरण, भाव, अर्थापत्ति और अनुमान।

(८) अष्टम विलास -

अष्टम विलास में उभयालङ्कारों का निरूपण है। इनकी संख्या २४ है -

उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति, अपह्नुति, समाध्युक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भावना और संसृष्टि।

५. चमत्कारचन्द्रिका में अन्य लेखकों तथा कृतियों के उल्लेख

विश्वेश्वर कविचन्द्र ने 'काव्यचन्द्रिका' में अनेक प्राचीन लेखकों, कवियों तथा रचनाओं का उल्लेख किया है। काव्यशास्त्र के विकास के इतिहास की दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व है। इस तथ्य का संक्षिप्त दिग्दर्शन उपयोगी होगा।

'चमत्कारचन्द्रिका' में 'काव्यादर्श', 'ध्वन्यालोक', 'भावप्रकाशिका', शिंगभूपालरचित **'रसार्णवसुधाकर'** और काशीश्वर मिश्र कृत 'रसमीमांसा' के उद्धरण प्राप्त होते हैं। अनेक **सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्रियों** - भरत, भामह, भोज आदि के सन्दर्भ मिलते हैं। विद्याधर आदि

लेखकों के सन्दर्भ भी हैं।

'चमत्कारचन्द्रिका' में अनेक काव्यों, नाटकों तथा कवियों के विवरण हैं। यथा - कालिदास, 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपालवध', 'महिम्नस्तव', 'बालरामायण', भोजकृत 'रामायणचम्पू', 'नैषधीयचरित', और 'कन्दर्पसम्भव' के सन्दर्भ इस ग्रन्थ में हैं। वात्सायन के 'कामशास्त्र'और भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' के उद्धरण विश्वेश्वर कविचन्द्र ने प्रस्तुत किये हैं। 'तीर्थक्रमोत्तंस' महाकाव्य का भी संकेत इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

ऊपर वर्णित कवियों तथा रचनाओं में से काशीश्वर मिश्र कृत 'रसमीमांसा' और 'तीर्थोत्तंस' महाकाव्य का उल्लेख और कहीं नहीं मिलता।

....

सन्दर्भ –

१. चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते जनाः।। चमत्कार० प्र० वि० - २।।

२. इति सरससाहित्यचातुरीधुरीणश्रीविश्वेश्वरकविचन्द्रप्रणीतायां श्रीशिंगभूपालकीर्तिसुधासारशीतलायां चमत्कारचन्द्रिकायां वर्णपदविवेको नाम प्रथमो विलासः।। चमत्कार० पृ० ३१।।

३. अहो साहित्यसौभाग्यं श्रीशिंगधरणीपतेः।
श्लाघायै यस्य सन्नद्धाः वाचो विश्वेश्वरस्य मे।। चमत्कार० पृ० ११।।

४. तथा चोक्तमस्मदाचार्यैः काशीश्वरमिश्रैः।। चमत्कार० पृ० १३०।।

५. कविर्भारद्वाजो जगदवधि जाग्रन्निजयशाः।। चमत्कार० पृ० २०।।

६. असुलभसुकृतोन्मेषकविरससाहित्यविद्यासाम्राज्यसकलकलाकलापविज्ञानचतुर्मुखस्य भरद्वाजान्वय-पारावारपूर्णरत्नाकरस्य गुरुविश्वेश्वरकविचन्द्रस्य प्रियशिष्यो नागनाथकविः।तेन विरचितं मदन-विलासं नाम भाणमभिनीय सामाजिकानां चित्तमाराधयामि।।

७. तिरुमलई श्रीवेंकटेश्वर जर्नल १ , १ - सिंगभूपाल - हिज डेट पृ० ५१-५४।।

८. चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते जनाः।। चमत्कार० पृ० २।।

९. सप्तांगसंगतं राज्यं साम्राज्यमिव शोभते।। चमत्कार० पृ० ३।।

१०. वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः।। चमत्कार० पृ० ३।।

११. विभक्त्यन्तं पदं तच्च वाचकं लक्षकं तथा।
व्यञ्जकं चापरं प्रोक्तं ध्वनिप्रस्थानवेदिभिः।। चमत्कार० पृ० ९।।

१२. समन्वितपदं वाक्यं लक्षकं व्यञ्जकं च तत्।। चमत्कार पृ० ३२।।

१३. अर्थौ वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्योऽपि च विविच्यते।। चमत्कार० पृ० ४९।।

१४. अभिधावृत्तिगम्यार्थो जात्यादिर्वाच्य ईरितः।। चमत्कार० पृ० ४९।।

१५. लक्षणावृत्तिगम्यार्थो लक्ष्य इत्यभिधीयते।। चमत्कार० पृ० ४९।।

१६. शब्देनार्थेन वाऽर्थोऽन्यो व्यञ्जनासहचारिणा।
व्यङ्ग्यार्थो वस्त्वलङ्काररसभावादिलक्षणः।। चमत्कार० पृ० ५२।।

१७. वाच्यचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारितरं मतम्।। चमत्कार० पृ० ७३।।

१८. रूपादय इवांगस्य स्वरूपोत्कर्षहितव.।
काव्यस्यैतान् हि जानन्ति गुणान् गुणविवेकिनः।। चमत्कार० पृ० ८३।।

१९. रीतिः पदानां घटना प्रोक्ता रीतिविशारदैः।
रीङ् गतावित्यतो धातोरागता रीतिरीर्यति।। चमत्कार० पृ० ९५।।

२०. या विकासे च विक्षेपे विक्षोभे विस्तरे तथा।
चेतसो वर्तयित्री स्यात् या वृत्तिस्सापि षड्विधा।।चमत्कार० पृ० ९९।।

२१. पाकं वाचां परीपाकमाहुरास्वादहेतुकम्।। चमत्कार० पृ० १०५।।

२२. शय्या पदानामन्योन्यमैत्री विनिमया सहा।
साहित्यस्य परा काष्ठा शय्या देशविभेदतः।।
लोके प्रसिद्धिमित्येषा प्राज्ञैश्शय्येति कीर्तिता।। चमत्कार० पृ० १०५।।

२३. संविधानकचातुर्यात् साक्षादिव परिस्फुरन्।
अलौकिकसमास्वादो यस्स्यात्सोऽत्र रसो मतः।। चमत्कार० पृ० १०७।।

२४. एकदेशं गतास्सर्वं शरीरं कटकादिवत्।
अलङ्कुर्वन्ति ये काव्यं तेऽलङ्कारतया मताः।। चमत्कार० पृ० १३२।।

....

इकतालीसवां अध्याय

भानुदत्त मिश्र

१. भानुदत्त मिश्र का महत्त्व

काव्यशास्त्र के इतिहास में भानुदत्त मिश्र अनेक रचनाओं के लेखक के रूप में विख्यात हैं। इनकी रचनाओं का समाज में बहुत अधिक आदर हुआ था। भानुदत्त की 'रसमञ्जरी' पर प्राचीन काल में ११ टीकायें लिखी गई थीं। इससे इनकी लोकप्रियता अभिव्यक्त होती है।

२. भानुदत्त का परिचय

भानुदत्त ने अपनी रचनाओं - 'रसमञ्जरी आदि ग्रन्थों में अपना स्वल्प परिचय यद्यपि दिया है, तथापि अपने समय आदि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। उनके समय का अनुमान अन्य प्रमाणों से करना पड़ता है।

'रसमञ्जरी' के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि भानुदत्त के पिता का नाम गणेश्वर था। वे मिथिला (विदेहभू) के रहने वाले थे, जहां कि गंगा (सुरसरित्) बहती है[1]। कुछ पाण्डुलिपियों में **"विदेहभू"** के स्थान पर **"विदर्भभू"** पाठ है। परन्तु यह पाठ अशुद्ध ही है। विदर्भ देश से गंगा नदी का कोई सम्बन्ध प्रतिपादित नहीं होता।

मिथिला जनपद में सरिसव नाम का ग्राम भानुदत्त का मूल स्थान था। 'हिस्ट्री आफ तिरहुत' नामक ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया गया है -

"इसहपुर नामक ग्राम में एक पुष्करिणी है, जो भानुमती के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है कि इसको भानुदत्त मिश्र ने बनवाया था। अत: अनुमान है कि भानुदत्त मिश्र का निवास स्थान इसहपुर था।"

परन्तु यह कथन असंगत ही है। भानुदत्त मिश्र के पूर्वजों का निवास स्थान सरिसव ग्राम ही प्रसिद्ध है। भानुदत्त मिश्र के प्रजामाता गंगानन्द कवि ने सरिसव ग्राम को ही उनका निवास स्थान बताया था[2]। इसहपुर ग्राम की स्थिति सरिसव ग्राम के समीप ही होने के कारण भानुदत्त मिश्र के द्वारा यहां पुष्करिणी बनवाना सम्भव है। लोकप्रसिद्धि है कि यहां इस पुष्करिणी को भानुदत्त मिश्र ने बनवाया था।

भानुदत्त मिश्र के पिता का नाम गणेश्वर या गणपति था। भानुदत्त की एक रचना 'कुमारभार्गवीय' में उनकी वंशावलि इस प्रकार दी गई है -

रत्नेश्वर मिश्र
|
सुरेश्वर मिश्र
|
विश्वनाथ मिश्र
|
रविनाथ मिश्र
|
जीवननाथ मिश्र — भवनाथ मिश्र — देवनाथ मिश्र
|
शंकर मिश्र — महादेव मिश्र — भासदास मिश्र
|
गणपति (गणेश्वर) मिश्र
|
भानुदत्त मिश्र

३. भानुदत्त का समय

भानुदत्त का समय १६ वीं शताब्दी ई० निश्चित किया जा सकता है। डा० बलदेव उपाध्याय ने इनका समय १३ वीं शताब्दी ई० का अन्त और १४ वीं शताब्दी ई० का प्रारम्भ निश्चित किया है। उन्होंने इसके लिये तीन प्रमाण प्रस्तुत किये हैं[३] -

(१) भानुदत्त के पिता का नाम गणेश्वर था और वे मैथिल पण्डित थे। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वे गणेश्वर, वे ही प्रसिद्ध गणेश्वर मन्त्री थे, जिनके पुत्र चण्डेश्वर ने 'विवादरत्नाकर' ग्रन्थ लिखा था तथा जिन्होंने १३१५ ई० में तुलादान कराया था। अतः भानुदत्त का समय इन्हीं के समीप होना चाहिये।

(२) भानुदत्त ने 'शृङ्गारतिलक' (११ वीं शताब्दी ई०) और 'दशरूपक' (१० वीं शताब्दी ई०) का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है।

(३) गोपाल आचार्य ने १४२८ ई० में 'रसमञ्जरी' पर टीका लिखी थी।

परन्तु बलदेव उपाध्याय का यह मत नितान्त भ्रान्त है और ये प्रमाण दोषपूर्ण हैं। भानुदत्त के पिता गणेश्वर और गणेश्वर मन्त्री को एक ही व्यक्ति मानना किसी प्रमाण पर आधारित नहीं है। नाहीं अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध है। 'शृङ्गारतिलक' और 'दशरूपक' का भानुदत्त की कृतियों में उल्लेख होने से यह तो कहा जा सकता है कि वे ११ वीं शताब्दी ई० के पश्चात् हुये थे, परन्तु इसके आधार पर यह प्रतिपादित करना कि वे १३ वीं शताब्दी ई० में हुये थे, तर्कसंगत नहीं होगा।

'रसमञ्जरी' पर गोपाल आचार्य ने जो टीका लिखी है, उसको १४२८ ई० में रचित मानना भी गलत है। सम्भवत: इस धारणा का कारण यह रहा होगा कि स्टेन ने जम्मू पुस्तकालय में रखी हुई हस्तलिखि पाण्डुलिपियों की सूची में नृसिंह के पुत्र गोपाल की 'रसमञ्जरी' की 'विकास टीका' को १४८४ विक्रमी संवत् बताया है। परन्तु इस प्रकार बताने में स्टेन ने भूल की है। पहली भूल तो यह है कि उसमें १४८४ पाठ नहीं है, अपितु १४९४ पाठ है। दूसरी भूल यह है कि उसमें विक्रमी संवत् नही, अपितु शक संवत् है। अत: भानुदत्त के समय को १३ वीं शताब्दी ई० या १४ वीं शताब्दी ई० का मानना असंगत होगा।

भानुदत्त के समय को १६ वीं शताब्दी ई० का मानने के लिये निम्न प्रमाण दिये जा सकते हैं -

(१) भानुदत्त के पितामह महादेव के बड़े भाई शंकरमिश्र थे। नेपाल के राजकीय पुस्तकलय के एक लेख के अनुसार शंकर मिश्र की स्थिति १४८८ ई० में थी। अत: शंकर मिश्र के भाई महादेव मिश्र को भी उसी समय का होना चाहिये तथा महादेव के पौत्र भानुदत्त को १६ वीं शताब्दी ई० में होना चाहिये।

(२) भानुदत्त के जामाता विश्वेश्वर मिश्र के पौत्र गंगानन्द प्रसिद्ध कवि थे। वे बीकानेर के राजा कर्णसिंह के आश्रय में रहते थे। इन्होंने अपने 'कर्णभूषण' ग्रन्थ में अपने आश्रयदाता का वर्णन किया है। श्री सी०एम० लिखित 'क्रोनोलोजी आफ इण्डिया' के अनुसार महाराज कर्णसिंह १७ वीं शताब्दी ई० में हुये थे। अत: गंगानन्द का समय भी १७ वीं शताब्दी ई० रहा होगा। अत: गंगानन्द के पितामह के श्वसुर भानुदत्त को १६ वीं शताब्दी ई० का मानने में कोई असंगति नहीं है।

(३) भानुदत्त की 'रसमञ्जरी' में एक स्थान पर निजाम मुसलिम शासक का उल्लेख है[४]। 'क्रोनोलोजी आफ इण्डिया' नामक इतिहास ग्रन्थ के अनुसार १४००-१५५० ई० में दक्षिण भारत में अनेक निजाम शासक हुये थे। अत: १६ वीं शताब्दी ई० में भानुदत्त द्वारा निजाम का उल्लेख करना सम्भव है। हो सकता है कि भानुदत्त कुछ समय तक निजामशाह के दरबार में भी रहे हों। अनन्त भट्ट कृत 'व्यङ्ग्यार्थकौमुदी' के अनुसार यह निजाम देवगिरि का शासक था।

(४) 'हिस्ट्री आफ तिरहुत' के लेखक ने भी भानुदत्त मिश्र को १३ वीं शताब्दी ई०

के अन्तिम भाग का बताया था, परन्तु ऊपर दी गई युक्तियों के आधार पर उनका यह मन्तव्य असंगत ही सिद्ध होता है।

अत: इस तथ्य को निश्चय से समझ लेना चाहिये कि भानुदत्त का समय सोलहवीं शताब्दी ई० के ही लगभग रहा होगा।

४. भानुदत्त की रचनायें

भानुदत्त ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी कुछ रचनायें हैं -

'रसमञ्जरी', 'रसतरङ्गिणी', 'रसपारिजात', 'गीतगौरीपति' 'गीतगौरीश', 'कुमारभार्गवीय', 'अलङ्कारतिलक', 'मुहूर्तसार', शृङ्गारदीपिका'आदि। इनके कुछ ग्रन्थ तो उपलब्ध हैं और कुछ नहीं भी हैं। 'रसमञ्जरी','रसतरङ्गिणी' और 'अलङ्कारतिलक' इनके प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। भानुदत्त की कुछ रचनाओं का परिचय इस प्रकार है -

(१) गीतगौरीपति -

यह एक गीतिकाव्य है, जो जयदेव के 'गीतगोविन्द' के अनुकरण पर लिखा गया प्रतीत होता है। १० सर्गों के इस काव्य में भगवान् शिव की स्तुति की गई है। कवि ने गौरी के प्रति शिव के प्रेम का वर्णन किया है। इस गीतिकाव्य में पद्यों के रागों का भी निर्देश है।

(२) कुमारभार्गवीय -

यह काव्य गद्य-पद्य मिश्रित है। १२ उच्छ्वासों के इस काव्य में भगवान् शिव के पुत्र कार्तिकेय की कथा है।

(३) रसपारिजात -

यह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें भानुदत्त और इसके पिता के श्लोकों का संग्रह है। इस संग्रह में १००० श्लोक संग्रहीत हैं। इस संग्रह के कतिपय श्लोकों में निजामशाह, वीरभानु, कृष्ण (कृष्णदेवराय १५०९-१५६० ई०) और संग्रामशाह नामक राजाओं की प्रशंसा है। प्रतीत होता है कि भानुदत्त को इन सबका आश्रय प्राप्त हुआ था। इस ग्रन्थ का सम्पादन पं० बदरीदत्त झा ने किया था।

(४) अलङ्कारतिलक -

यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र विषयक है। इसका परिचय आगे दिया गया है।

(५) रसमञ्जरी -

यह ग्रन्थ नायक-नायिका विषयक है। इसका परिचय भी आगे दिया गया है।

(६) रसतरङ्गिणी -

काव्यशास्त्रविषयक इस ग्रन्थ का परिचय भी आगे है।

५. अलङ्कारतिलक

पांच परिच्छेदों में विभक्त इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु निम्न प्रकार से है -

(१) प्रथम परिच्छेद -

प्रथम परिच्छेद में काव्य के स्वरूप का विवेचन है तथा काव्य को एक शरीर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार काव्य शरीर है और रस उसका आत्मा है। रीति, गीति, वृत्ति, गुण और दोषहीनता ये पांच उस काव्य-शरीर की इन्द्रियां हैं। काव्य-शरीर का प्राण व्युत्पत्ति है तथा अभ्यास मन है। भाषा के भेद से यह काव्य चार प्रकार का होता है - संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र।

(२) द्वितीय परिच्छेद -

दूसरे परिच्छेद में पद, वाक्य और वाक्यार्थ का विवेचन करके तदनन्तर काव्य-दोषों का प्रदर्शन किया गया है।

(३) तृतीय परिच्छेद -

तीसरे परिच्छेद में गुणों की विवेचना है। गुण तीन प्रकार के हैं - बाह्य, आन्तर और वैशेषिक। शब्द के गुण बाह्य होते हैं। अर्थ के गुण आन्तर हैं। श्लेष आदि २४ वैशेषिक गुण हैं।

(४) चतुर्थ परिच्छेद -

चतुर्थ परिच्छेद में शब्दालङ्कारों का विवेचन है। इस विवेचन में भानुदत्त ने 'काव्यप्रकाश' का अनुकरण किया है। इसमें वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास अलङ्कारों की विवेचना है।

(५) पञ्चम परिच्छेद -

पांचवें परिच्छेद में ४८ अर्थालङ्कारों की विवेचना है।

'अलङ्कारतिलक' का सम्पादन प्रो० जी०वी० देवस्थली ने किया था।

६. रसमञ्जरी

भानुदत्त का 'रसमञ्जरी ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय नायक-नायिका भेदों का निरूपण करना है। ग्रन्थ का नायिका-भेद प्रकरण बहुत विस्तृत है। ग्रन्थ के दो तिहाई भाग में इसी का विवेचन है। इसमें नायिकाओं के विभिन्न भेदों की सांगोपांग व्याख्या है। नायिकाओं की सहायिकाओं की भी विवेचना है। इसके बाद नायक के भेदों और उनके सहायकों का वर्णन है। इसके बाद आठ प्रकार के सात्त्विक भावों, दो प्रकार के शृङ्गार रसों, विप्रलम्भ की दस अवस्थाओं आदि की विवेचना की गई है।

रसमञ्जरी की टीकायें -

भानुदत्त का यह 'रसमञ्जरी' ग्रन्थ बहुत अधिक प्रचलित और लोकप्रिय हुआ था।

इस तथ्य की पुष्टि इसी बात से होती है कि इसकी अनेक टीकायें प्राचीन काल में ही विद्वान् मनीषियों द्वारा लिखी गई थीं। इससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता, गम्भीरता और गौरव प्रमाणित होते हैं। इसकी ११ टीकाओं के प्रमाण उपलब्ध होते हैं -

(१) अनन्त भट्ट कृत व्यङ्ग्यार्थकौमुदी टीका -

यह टीका १६३५ ई० में लिखी गई थी। अनन्त भट्ट का मूल स्थान गोदावरी के तट पर पुण्यस्तम्भ (वर्तमान नाम पुणताम्बी) नामक नगर था। इनके पिता का नाम त्र्यम्बक था।

(२) नागेश भट्ट कृत प्रकाश टीका -

ये प्रसिद्ध टीकाकार नागेश भट्ट ही हैं। इन्होंने 'रसगंगाधर' की टीका भी लिखी थी। ये १८ वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में हुये थे।

(३) शेषचिन्तामणि की परिमल टीका -

शेषचिन्तामणि भट्टोजि दीक्षित के गुरु थे। इनके पिता का नाम शेषनृसिंह और भाई का नाम शेषकृष्ण था।

(४) गोपाल आचार्य की विकास टीका -

गोपाल आचार्य के पिता का नाम नृसिंह था। गोपाल आचार्य का दूसरा नाम गोपदेव अधिक प्रसिद्ध था। यह टीका १५७२ ई० में लिखी गई थी।

(५) द्रविड गोपाल भट्ट की रसिकरञ्जनी टीका -

ये गोपाल भट्ट द्रविड ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम हरिवंश भट्ट था। इन्होंने 'रसमञ्जरी' की रसिकरञ्जनी नाम की टीका लिखी थी।

(६) विश्वेश्वर पाण्डेय पर्वतीय की समञ्जसा या व्यङ्ग्यार्थकौमुदी टीका -

विश्वेश्वर पाण्डेय ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। ये प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर पाण्डेय था। इनका समय १८ वीं शताब्दी ई० का प्रारम्भ था। इन्होंने समञ्जसा नाम से 'रसमञ्जरी' की टीका लिखी थी। इस टीका को 'व्यङ्ग्यार्थकौमुदी' भी कहा जाता है।

(७) रंगशायिन् की आमोद टीका -

इस टीका की रचना १७ वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में हुई थी।

(८) आनन्द शर्मा की व्यङ्ग्यार्थदीपिका टीका -

आनन्द शर्मा त्र्यम्बक के पुत्र थे। इन्होंने 'व्यङ्ग्यार्थदीपिका' नाम से टीका लिखी थी।

(९) महादेव की भानुभावप्रकाशनी टीका -

महादेव द्वारा लिखी गई यह टीका भानुदत्त के भावों को स्पष्ट करती है।

(१०) ब्रजराज दीक्षित की रसिकरञ्जन टीका -

यह टीका १८ वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में लिखी गई थी।

(११) रसमञ्जरी की स्वतात्पर्य टीका -

इस टीका को किसी अज्ञात आचार्य ने लिखा था।

इन टीकाओं में से केवल दो टीकायें प्रकाशित हुई हैं - अनन्त भट्ट की टीका और नागेश भट्ट की टीका।

७. रसतरङ्गिणी

भानुदत्त के इस ग्रन्थ में रसविषयक तत्त्वों का विस्तार से विवेचन किया गया है। आठ तरंगों के इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु निम्न क्रम से है -

(१) प्रथम तरंग -

प्रथम तरंग को भगवान् कृष्ण की वन्दना के साथ प्रारम्भ किया गया है। इसके बाद कुछ परिभाषायें देकर भावों और स्थायी भावों के स्वरूप और भेदों को समझाया गया है।

(२) द्वितीय तरंग -

दूसरे तरंग में विभावों की परिभाषायें और भेद कहे गये हैं।

(३) तृतीय तरंग -

तीसरे तरंग में अनुभावों का विवेचन है।

(४) चतुर्थ तरंग -

चौथे तरंग में आठ सात्त्विक अनुभावों की विवेचना है।

(५) पञ्चम तरंग -

पांचवें तरंग में व्यभिचारी भावों का निरूपण किया गया है।

(६) षष्ठ तरंग -

छठे तरंग में रस का स्वरूप बता कर शृङ्गार रस की विस्तृत व्याख्या की गई है।

(७) सप्तम तरंग -

सातवें तरंग में शृङ्गार रस के अतिरिक्त अन्य रसों पर विचार किया गया है।

(८) अष्टम तरंग -

आठवें तरंग में आठ प्रकार के स्थायी भावों, २० प्रकार के व्यभिचारी भावों और आठ प्रकार के रसों की विवेचना करके इनसे उत्पन्न दृष्टियों की उदाहरण सहित व्याख्या की गई है। इसके पश्चात् एक रस से दूसरे रस की उत्पत्ति तथा रस-विरोध आदि विषयों का समझाया गया है।

भानुदत्त का यह ग्रन्थ भी बहुत लोकप्रिय हुआ था। इस प्रकार के संकेत मिलते हैं

कि इस ग्रन्थ की कम से कम नौ टीकायें लिखी गई थीं। इन टीकाओं में से केवल एक टीका प्रकाशित हुई है। इसकी रचना श्री गंगाराम जड़ी ने १७३२ ई० में की थी।

रस-सिद्धान्त और उसकी व्याख्या की दृष्टि से भानुदत्त के दोनों ही ग्रन्थ 'रसमञ्जरी' और 'रसतरङ्गिणी' बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

सन्दर्भ -

१. तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालङ्कारचूडामणि-
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता।
पद्येन स्वकृतेन येन कविना श्रीभानुना योजिता
वाग्देवी श्रुतिपारिजातकुसुमस्पर्धाकरी मञ्जरी।। रसमञ्जरी का अन्तिम श्लोक।।

२. मीमांसायाः श्रवणसरसा शेमुषी तावकी चेत्
चित्ते चित्ते किमपि कविताकर्णने कौतुकं या।
भ्राम्यन् भ्राम्यन् बुधजनचतुष्पीठिकासु प्रयत्नाद्
विद्याशालिप्रियसरिसवग्रामरत्नं परीयाः।। भृंगदूत।।

३. भारतीय साहित्यशास्त्र (२००७) पृ० १३९।।

४. भेदो वाचि दृशोर्जलं कुचतटे स्वेदः प्रकम्पोदरे
पाण्डुर्गण्डतटी वपुः पुलकितं लीनं मनस्तिष्ठति।
आलस्यं नयनश्रियश्चरणयोः स्तम्भः समुज्जृम्भते
तत्किं राजपथे निजामधरणीपालोऽयमालोकितः।। रसमञ्जरी - १२१।।

बयालीसवां अध्याय

विश्वनाथदेव

१. विश्वनाथदेव का महत्त्व

संस्कृत काव्यशास्त्रकारों के मध्य में विश्वनाथदेव यद्यपि गुणी जनों में अग्रगण्य रहे, तथापि उनको अपने गुणों के अनुरूप प्रतिष्ठा नहीं मिली। उनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'साहित्यसुधासिन्धु' मम्मटकृत 'काव्यप्रकाश' के समान सर्वाङ्गपूर्ण है। उसमें काव्य के सभी अंगों का विवेचन किया गया है। परन्तु वर्तमान समय में भी यह अधिक प्रसिद्ध नहीं हुआ और कुछ पुस्तकालयों में ही इसकी पाण्डुलिपि सुरक्षित रही।

१९७८ ई० वर्ष में जम्मू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा० रामप्रताप की 'साहित्य-सुधासिन्धु' ग्रन्थ पर दृष्टि पड़ी। अथक परिश्रम करके उन्होंने क्षीरसागर से अमृत के समान, विविध पुस्तकालयों से इसकी पाण्डुलिपियों का संग्रह करके तथा इनको सम्पादित करके इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया। काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थों में 'साहित्यसुधासिन्धु' को स्थान नहीं मिल सका है। यहां इस ग्रन्थ का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

२. विश्वनाथदेव का परिचय और समय

विश्वनाथदेव के परिचय और समय के सम्बन्ध में कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। वे निम्न हैं -

(१) विश्वनाथदेव की तीन कृतियों का परिचय मिलता है - 'चित्रमीमांसा', 'मृगाङ्कलेखा' और 'साहित्यसुधासिन्धु'। 'चित्रमीमांसा' ग्रन्थ में अलङ्कारों का विवेचन हुआ है, 'मृगाङ्कलेखा' नाटिका है और 'साहित्यसुधासिन्धु' काव्यशास्त्रीय प्रौढ ग्रन्थ है। 'मृगाङ्कलेखा' नाटिका की प्रस्तावना में और 'साहित्यसुधासिन्धु' ग्रन्थ को समाप्त करते हुये विश्वनाथदेव ने अपना परिचय दिया है।

(२) 'मृगाङ्कलेखा' नाटिका की प्रस्तावना से विदित होता है कि विश्वनाथदेव दक्षिण भारतीय थे। इनका जन्म गोदावरी नदी के तटवर्ती धारासुर नगर में हुआ था। उनके पिता का नाम विमलदेव था। उन्होंने भगवान् शिव की नगरी काशी में अपना निवास बनाया[१]। 'मृगाङ्कलेखा' नाटिका की रचना १६६४ विक्रम संवत् में हुई थी[२]।

(३) 'साहित्यसुधासिन्धु' ग्रन्थ में भी विश्वनाथदेव ने अपना स्वल्प परिचय दिया

है। आठवें तरंग में ग्रन्थ को समाप्त करते हुये आचार्य विश्वनाथदेव ने लिखा[३] -

"गोदावरी नदी के तट पर धारासुर नगरी है। वहां के निवासी अनन्तदेव थे। उनके पुत्र त्रिमलदेव ने वाराणसी में अपना निवास बनाया। उनके पुत्र विश्वनाथदेव ने इस 'साहित्यसुधासिन्धु' ग्रन्थ की रचना की। वे बुद्धिमान् विद्वानों के मनों को प्रसन्नता से भर दें। इस प्रकार त्रिमलदेव के पुत्र विश्वनाथदेव द्वारा रचित इस 'साहित्यसुधासिन्धु' ग्रन्थ में अलङ्कार-मार्जन नाम का आठवां तरंग समाप्त हुआ। विश्वनाथ की यह कृति कल्याण करने वाली होवे।

गुणों से विभूषित महाराज विक्रमादित्य के स्वर्ग चले जाने पर उसी क्रम में १६४९ विक्रम संवत् में एकादशी के दिन बृहस्पतिवार को विद्वान् विश्वनाथदेव ने शिव की नगरी वाराणसी में इस ग्रन्थ की रचना की।

(४) इन विवरणों से प्रतीत होता है कि विश्वनाथदेव ने 'साहित्यसुधासिन्धु' नामक ग्रन्थ को १६४९ विक्रमाब्द (१५९२ ई०) में लिखा था। विश्वनाथदेव ने 'मृगाङ्कलेखा' नाटिका की रचना १६६४ विक्रमाब्द (१६०७ ई०) में पूरी की। इस विवरण से यह अनुमान किया जा सकता है कि यदि विश्वनाथदेव ने ५० वर्ष की आयु में 'मृगाङ्कलेखा' नाटिका को लिखा और उसके बाद वे विद्वान् आचार्य १० वर्ष और जीवित रहे, तो उनका जीवन काल १५४२-१६१७ ई० के मध्यवर्ती मानना चाहिये।

(५) भारतीय इतिहास में मुगल शासन में हुमायूं का शासन-काल १५३०-१५५६ ई० के मध्य का, अकबर का शासन-काल १५५६-१६०५ ई० के मध्य का और जहांगीर का शासन-काल १६०५-१६२७ ई० के मध्य का रहा था। इतिहासविदों ने इनके शासन के समय को इसी प्रकार निर्धारित किया है। विश्वनाथदेव की स्थिति इन्हीं तीन मुगल सुलतानों के शासन काल में ही रही थी।

(६) 'साहित्यसुधासिन्धु' ग्रन्थ के रचयिता के नाम तीन प्रकार से उपलब्ध होते हैं - विश्वनाथ, विश्वनाथ शर्मा और विश्वनाथदेव। विश्वनाथदेव ने अपनी कृतियों में इन तीनों नामों का उल्लेख किया है। 'मृगाङ्कलेखा' की प्रस्तावना में इन्होंने अपने आपको विश्वनाथ शर्मा लिखा है[४]। नाटिका के चतुर्थ अंक की समाप्ति पर वे अपने को विश्वनाथदेव लिखते हैं[५]। 'साहित्यसुधासिन्धु' के आठवें तरंग की समाप्ति पर लेखक ने अपने आपको विश्वनाथ लिखा था[६]।

इन विवरणों से प्रतीत होता है -

यद्यपि लेखक ने अपने आपको तीन विभिन्न नामों से लिखा था, तथापि उनका नाम मूल रूप से विश्वनाथ था। कुल परम्परा से नाम में "देव" पद का प्रयोग होते रहने से (अनन्तदेव और विमलदेद) लेखक ने अपने आपको विश्वनाथदेव लिखा।

३. विश्वनाथदेव की कृतियां

जैसे कि पहले लिखा जा चुका है, विश्वनाथदेव की तीन कृतियों का परिचय प्राप्त होता है - 'चित्रमीमांसा', 'मृगाङ्कलेखा' और 'साहित्यसुधासिन्धु'। इन कृतियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना उपयोगी होगा।

(१) चित्रमीमांसा -

विश्वनाथदेव की तीन कृतियों में 'चित्रमीमांसा' वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। इसकी रचना का संकेत विश्वनाथदेवकृत 'साहित्यसुधासिन्धु' के सातवें तरंग में चित्रकाव्य की विवेचना के प्रसंग में प्राप्त होता है।

(२) मृगाङ्कलेखा -

'मृगाङ्कलेखा' चार अंकों में विभक्त एक ललित नाटिका है। इस नाटिका में कलिंग जनपद के अधिपति राजा कर्पूरतिलक और कामरूप के राजा की पुत्री मृगाङ्कलेखा के प्रणय और विवाह की घटनाओं के वर्णन कवि ने किये हैं। इस नाटिका का प्रकाशन सरस्वती भवन टेक्स्ट सं० २६ के अन्तर्गत वाराणसी में १९३१ ई० में हुआ था। इसका सम्पादन साहित्याचार्य नारायण शास्त्री खिस्ते ने किया था।

(३) साहित्यसुधासिन्धु -

विश्वनाथदेव की तीसरी कृति 'साहित्यसुधासिन्धु' है। यह एक प्रौढ काव्य- शास्त्रीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का विस्तृत परिचय नीचे दिया जा रहा है।

४. साहित्यसुधासिन्धु

विश्वनाथदेवकृत 'साहित्यसुधासिन्धु' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का प्रकाशन कुछ समय पूर्व ही हुआ है। यद्यपि इस ग्रन्थ की अनेक पाण्डुलिपियां विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित थीं, तथापि इस ग्रन्थ का प्रकाशन नहीं हो सका था। डा० रामप्रताप वेदालङ्कार ने इस ग्रन्थ के विभिन्न संस्करणों का संग्रह करके और पाठों को संयोजित करके इसकी विस्तृत भूमिका लिख कर हिन्दी में व्याख्या लिखी। तदनन्तर वाराणसी स्थित भारतीय विद्या संस्थान ने इस रचना को १९७८ ई० में प्रकाशित किया।

'साहित्यसुधासिन्धु' को ध्वनि सम्प्रदाय का संग्रह ग्रन्थ समझा जाता है। इस ग्रन्थ की रचना में आचार्य विश्वनाथदेव ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' को आदर्श के रूप में रखा था। अनेक समीक्षक 'साहित्यसुधासिन्धु' को 'काव्यप्रकाश' का ही परिष्कृत संस्करण मानते हैं। परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिये। 'साहित्यसुधासिन्धु' की रचना करने में मम्मट का अनुकरण करते हुये भी विश्वनाथदेव ने अपनी मौलिकता प्रकट की है और अनेक प्रसंगों में मतभेद भी प्रदर्शित किया है।

'साहित्यसुधासिन्धु' में विश्वनाथदेव ने काव्य के सभी अंगों की समीक्षा-विधि लिखी

है। परन्तु उन्होंने रूपकों (नाटकों) की समीक्षा नहीं लिखी। अन्य सभी काव्यांगों की इस ग्रन्थ में विवेचना है। यह ग्रन्थ आठ तरंगों में विभक्त है -

(१) प्रथम तरंग -

प्रथम तरंग में काव्यशास्त्रकार ने मंगलाचरण करके सबसे पहले काव्य के प्रयोजनों की समीक्षा की है। तदनन्तर काव्य का लक्षण बताया है। काव्य का लक्षण प्रतिपादित करने में विश्वनाथदेव ने भोज का अनुकरण किया है। इसके बाद काव्य के भेद कहे गये हैं। काव्य के तीन भेद हैं - (क) उत्तम काव्य - ध्वनि काव्य, (ख) मध्यम काव्य - गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य और (ग) अधम काव्य - चित्र काव्य। परन्तु विश्वनाथदेव का यह भी कहना है कि इस प्रकार काव्य के प्रभेदों का कथन करना न तो उचित है और नाहीं तर्कसंगत है।

(२) द्वितीय तरंग -

दूसरे तरंग में तीन प्रकार के शब्दों - वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जक की, तीन प्रकार के अर्थों - वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्य की और तीन प्रकार के शब्द-व्यापारों - अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जना की विशद व्याख्या है।

(३) तृतीय तरंग -

तीसरे तरंग में ध्वनि काव्य के दो मुख्य भेदों - लक्षणामूलध्वनि और अभिधामूलध्वनि की व्याख्या है। इसमें लक्षणामूलध्वनि के दो भेद कहे गये हैं - अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अभिधामूलध्वनि के भी दो मुख्य भेद हैं - संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और असंलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम। इस तरंग में विद्वान् लेखक ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का विस्तार से विवेचन किया है। विश्वनाथदेव ने रसों की संख्या १२ कही है - शृङ्गार, वीर, करुण, रौद्र, अद्भुत, भयानक, बीभत्स, हास्य, प्रेयान्, दान्त, शान्त और उदात्त। इस प्रसंग में विभिन्न रसों के भेदों के विभावों, अनुभावों, स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों का वर्णन है। पुनः लेखक ने ध्वनि के ५२ भेदों की, सात भेदों की तथा संकर- संसृष्टि से बने असंख्य भेदों की व्याख्या की है।

(४) चतुर्थ तरंग -

चौथे तरंग में गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की व्याख्या है। यह मध्यम काव्य है और इसके चार भेद होते हैं - अगूढ, अपराङ्ग, वाच्यसिद्ध्यङ्ग, अस्फुट, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त और असुन्दर। गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की ध्वनि-सम्मितता को प्रदर्शित करके विद्वान् लेखक ने दो प्रकार के चित्र काव्यों - शब्दचित्र और वाच्यचित्र का वर्णन किया है।

(५) पञ्चम तरंग -

पांचवें तरंग में काव्य-दोषों का वर्णन है। शास्त्रकार ने यहां पहले काव्य-दोषों का

सामान्य लक्षण दिया है। तदनन्तर ३ प्रकार के पद-दोषों का, २० प्रकार के वाक्य-दोषों का और २३ प्रकार के अर्थ-दोषों का वर्णन है। इसके बाद १३ प्रकार के रस-दोष भी कहे गये हैं।

(६) षष्ठ तरंग -

छठे तरंग में सबसे पहले विश्वनाथदेव ने गुण सामान्य का लक्षण प्रदर्शित करके गुणों की संख्या तीन कही है। ये गुण हैं - माधुर्य, ओजः और प्रसाद। तदनन्तर उन्होंने गुणों से सम्बन्धित रसों की और गुणों की अभिव्यञ्जना करने वाले वर्णों की विवेचना की है। तदनन्तर गुणों का आश्रय लेकर काव्य में विद्यमान रहने वाली रीतियों - वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली की व्याख्या है। अब लेखक ने गुणों और अलङ्कारों के विभाग को प्रदर्शित करके दण्डी द्वारा कहे गये दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों के लक्षणों और उदाहरणों का निर्देश किया है। विश्वनाथदेव ने वामन द्वारा प्रतिपादित किये गये काव्य-पाकों का भी वर्णन किया है। प्राचीन आचार्यों द्वारा वर्णित गुणों का मम्मट ने जिस प्रकार तीन गुणों में अन्तर्भाव प्रतिपादित किया है, विश्वनाथदेव ने उसके प्रति असहमति प्रकट की है।

(७) सप्तम तरंग -

विश्वनाथदेव ने सातवें तरंग में शब्दालङ्कारों की व्याख्या की है। शब्दालङ्कारों की संख्या ६ है - वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, समुच्चय और चित्र। ग्रन्थकार ने इन अलङ्कारों के भेदों, लक्षणों और उदाहरणों की विस्तृत व्याख्या की है।

(८) अष्टम तरंग -

आठवें तरंग में विश्वनाथदेव ने पहले तो आचार्य मम्मटआदि द्वारा कहे गये ६१ अलङ्कारों की गणना की है। इसके बाद उपमा आदि अलङ्कारों की भेदों-उपभेदों सहित विवेचना है। इस प्रसंग में शास्त्रकार ने यह भी प्रदर्शित किया है कि कुछ अलङ्कारों का अन्तर्भाव अन्य अलङ्कारों में हो जाता है। जैसे कि अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना और अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारों का अन्तर्भाव अपह्नुति अलङ्कार में हो जाता है। व्यतिरेक, प्रतिवस्तूपमा आदि अलङ्कारों का अन्तर्भाव उपमा अलङ्कार में हो जाता है। अलङ्कारों का विवेचन करके लेखक ने उपमा आदि अलङ्कारों के दोषों का कथन किया है। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपना और अपने वंश का संक्षिप्त परिचय दिया है।

५. साहित्यसुधासिन्धु ग्रन्थ के प्राचीन संस्करण

'साहित्यसुधासिन्धु' ग्रन्थ की कोई प्राचीन टीका उपलब्ध नहीं है। परन्तु इस ग्रन्थ की तीन प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियां उपलब्ध हुई हैं। इनके विवरण निम्न हैं -

(१) जम्मू संस्करण -

जम्मू में विद्यमान रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान यह पाण्डुलिपि अति

प्राचीन है। १८७६ ई० में पं० आशानन्द ने वाराणसी जाकर इस पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि बनाने का कार्य सम्पन्न किया था। पाण्डुलिपि के लेखन कार्य को पूरा करते हुये उन्होंने लिखा -

"यह पुस्तक काशी में रहने वाले चिन्तामणि ने लक्ष्मण को दी[७]।"

(२) अलवर संस्करण -

यह पाण्डुलिपि अलवर में स्थित प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के शाखा कार्यालय में विद्यमान है। इसका लिपीकरण का समय १८४७ ई० है।

(३) तिरुपति पाण्डुलपि -

यह पाण्डुलिपि तिरुपति में विद्यमान वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय के ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट संस्था में विद्यमान है। इसका लिपीकरण का समय १९९८ विक्रम सम्वत् है।

६. साहित्यसुधासिन्धु ग्रन्थ की विशेषतायें

'साहित्यसुधासिन्धु' काव्यशास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्तों का संग्रह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में विश्वनाथदेव ने रुद्रटकृत 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ के समान, मम्मटकृत 'काव्यप्रकाश' के समान और कविराज विश्वनाथकृत 'साहित्यदर्पण' के समान काव्य के सभी अंगों की समालोचना के लिये सिद्धान्तों का संग्रह करके इनको सम्पादित किया था। शास्त्रकार ने इस ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के मतों को परिष्कृत रूप में समाविष्ट किया था। इस प्रकार 'साहित्यसुधासिन्धु' ग्रन्थ में १६ वीं शताब्दी ई० पर्यन्त प्रचलित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों, नियमों, सम्प्रदायों और परम्पराओं का संकलन और सम्पादन विश्वनाथदेव ने कर दिया है।

....

सन्दर्भ -

१. सूत्रधारः -(स्मृतिमभिनीय) नन्विमामेव गोदावरीतीरपवित्रधारासुरनगरनिवासिनः साम्प्रतं विरचितवाराणसीवसतेस्त्रिमलदेवतनूजस्य विश्वनाथदेवशर्मणः कृतिं मृगाङ्कलेखाभिधानां नाटिकामभिनेतुमधुना एवाऽस्मि। मृगाङ्कलेखा - प्रस्तावना।।

२. इसका समय विक्रम संवत्सर की सतरहवीं शताब्दी है। सम्पादक को जो पुस्तक प्राप्त हुई है, उसमें ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है कि इस प्राकृत नाटिका का लेखन संवत् १६६४ में हुआ था। डा० रामप्रताप द्वारा सम्पादित साहित्यसुधासिन्धु के विषय-अवतरणिका पृ० XX पर।।

३. आस्ते धारासुराख्यनगरमतिलसत्केशवोद्दामधाम-
प्रभ्राजत्कीर्तिपूरं विलसति सविधे यस्य गोदावरी सा।
तत्रत्योऽनन्तदेवात्मज इह वसतिं मुक्तिपुर्यां सवर्यां
तस्याङ्गजस्योल्लसति कृतिरियं विश्वनाथाभिधस्य।।

प्रबलकर्कशतर्कविचारणोल्लसितकाव्यसुलक्षणलक्षिता।

विमलदेवतनूजविनिर्मितिर्मतिमतां वितनोतु मनो मुदम्।।

इति श्रीविमलदेवतनयविश्वनाथविरचिते साहित्यसुधासिन्धौ अर्थालङ्कारमार्जनं नामाष्टमस्तरंग:।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः -

कृतिरियं विश्वनाथस्य। शुभं भवतु।

कीर्तिशेषं गते तैस्तैर्गुणैर्विक्रमभूभुजि।

ग्रहाम्भोधिरसेन्दौ तस्मिन् संवत्सरक्रमे।।

एकादश्यां गुरौ स्वीयः सुधासिन्धुर्विलेखितः।

पत्तने चन्द्रचूडस्य विश्वनाथेन धीमता।।

४. त्रिमलदेवतनूजस्य विश्वनाथदेवशर्मणः कृतिम्।।

५. समाप्तेयं मृगाङ्कलेखाभिधाना नाटिका कृतिरियं विश्वनाथदेवकवेः।।

६. श्रीत्रिमलदेवतनयविश्वनाथविरचिते साहित्यसुधासिन्धौ।।

७. इदं पुस्तकं काशीस्थचिन्तामणिना लक्ष्मणब्रह्मज्ञानिने प्रदत्तम्।।

....

तैंतालीसवां अध्याय

रूपगोस्वामी

१. रूपगोस्वामी का महत्त्व

काव्यशास्त्र के इतिहास में रूपगोस्वामी का महत्त्व भक्तिरस के विवेचन के कारण है। १५वीं-१६वीं शताब्दी ई० में बंगाल में श्री चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णव भक्ति की धारा प्रवाहित की थी, जिसने कृष्ण के प्रति प्रेम और रहस्यवाद के आन्दोलन को जन्म दिया था। इस आन्दोलन से प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने - विद्वानों, मनीषियों और भक्तों ने कृष्ण-भक्ति पर आधारित वैष्णव कल्पनाओं को रस सिद्धान्त की शब्दावली के आवरण में ग्रथित किया और भक्ति रस के सिद्धान्त की स्थापना की। इन विद्वानों में सबसे प्रसिद्ध रूपगोस्वामी हैं।

२. रूपगोस्वामी का जीवनवृत्त और समय

रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य थे, अतः वे उनके समकालीन थे। इसलिये रूपगोस्वामी का समय १५वीं शताब्दी ई० के अन्त तथा १६वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ का समझना चाहिये। रूपगोस्वामी ने अपनी रचनाओं में उनके लिखने के समय का संकेत दिया है। इनसे भी इनका यही समय निश्चित होता है।

रूपगोस्वामी की कृतियों से इनके साहित्य-सृजन की अवधि ५५ वर्ष की अनुमानित होती है। डा० डे के अनुसार सनातन और रूप दोनों भाई सन् १५५४ ई० तक जीवित रहे थे और दोनों की मृत्यु कुछ ही समय के अन्तर से हुई थी।

रूपगोस्वामी कर्नाटकी ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज १४ वीं शताब्दी ई० के अन्त तथा १५ वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में बंगाल में आकर बस गये थे। इनके वंश के मूल पुरुष का नाम जगद्गुरु सर्वज्ञ मिलता है। वे कर्नाटक प्रदेश के राजपुत्र थे। वे वेदों के परम विद्वान् थे तथा भारद्वाज गोत्र के थे। सर्वज्ञ के पुत्र अनिरुद्ध हुये। अनिरुद्ध के दो पुत्र हुये - रूपेश्वर और हरिहर। हरिहर के षड्यन्त्र के कारण रूपेश्वर का युवराज पद छिन गया था। रूपेश्वर का पुत्र पद्मनाभ हुआ। पद्मनाभ ने कर्नाटक से प्रवास करके बंगाल की यात्रा की और वहीं गंगा के तट पर नवहट्ट ग्राम को अपना निवास बनाया।

पद्मनाभ के पांच पुत्र हुये। इनमें सबसे बड़ा मुकुन्द था। पारिवारिक कलह के कारण मुकुन्द ने पिता के घर को छोड़ दिया और पूर्वी बंगाल में जैसोर के समीप फतेहाबाद में अपना निवास बनाया। मुकुन्द का एक पुत्र हुआ - श्रीकुमार। श्रीकुमार के तीन पुत्र हुये - सनातन, रूप और अनुपम (बल्लभ)। कहा जाता है कि बाल्यकाल में इन तीनों के मूल नाम थे - अमर, सन्तोष और बल्लभ। परन्तु चैतन्य महाप्रभु ने दीक्षा देने के अनन्तर इनके नाम क्रमशः सनातन, रूप और अनुपम रख दिये।

ये तीनों भाई परम विद्वान्, बुद्धिमान्, प्रतिभाशाली और नीतिज्ञ थे। तत्कालीन गौड जनपद के बादशाह शाहहुसैन ने इनको मन्त्री के पद पर नियुक्त किया था। तदनन्तर वे रामबलि ग्राम में रहने लगे । इन्होंने शाही दरबार में बहुत अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की। शाही दरबार में अपने पद के कारण सनातन और रूप को साकिरमलिक और हुबीरखास कहा जाता था। इस कारण कुछ व्यक्तियों ने यह अनुमान किया है कि ये दोनों भाई मुसलमान हो गये थे, परन्तु चैतन्य महाप्रभु से साक्षत्कार होने के बाद वे पुनः वैष्णव मत में दीक्षित हो गये। किन्तु इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है कि सनातन और रूप ने मुसलिम मजहब ग्रहण किया था। सम्भावना यही हो सकती है कि उनको जो मुसलिम नाम के पद मिले इससे उन व्यक्तियों ने इनके मुसलमान हो जाने का अनुमान लगा लिया होगा।

सनातन और रूप दोनों वैष्णव मत के अनुयायी थे। विष्णु और कृष्ण के प्रति इनकी अनन्य भक्ति थी। चैतन्य महाप्रभु से मिलने पर उनकी सरलता, निष्ठा और भावनात्मक भक्ति से वे अत्यधिक प्रभावित हुये तथा उनके भक्ति सिद्धान्त के अनुयायी हो गये थे। चैतन्य महाप्रभु के साथ उनका प्रथम साक्षात्कार रामकवि ग्राम में हुआ था। इससे इनमें वैष्णव भक्ति प्रगाढ हो गई। कुछ समय बाद उन्होंने शाही दरबार छोड़ दिया और प्रयाग जाकर महाप्रभु के पुनः दर्शन किये। अब महाप्रभु के आदेश से इन्होंने वृन्दावन को अपना मुख्य निवास बनाया।

३. रूपगोस्वामी की रचनायें

विविध विधाओं में रचना करने में कुशल रूपगोस्वामी ने अनेक कृतियों की रचना की थी। इनके भतीजे तथा शिष्य जीवगोस्वामी ने सनातन गोस्वामी द्वारा लिखित 'लघुभागवतामृत' की 'लघुतोषिणी व्याख्या' में जो सूचना दी है, उससे प्रतीत होता है कि रूपगोस्वामी ने १७ पुस्तकों की रचना की थी। इनमें से कुछ कृतियों के साथ सनातन गोस्वामी का नाम जुड़ा हुआ है। रूपगोस्वामी की कृतियों में कुछ तो बड़े आकार की और कुछ छोटे आकार की पुस्तकें हैं। इनमें आठ रचनायें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं का विषय के अनुसार वर्गीकरण निम्न प्रकार से है -

(क) खण्डकाव्य - (१) हंसदूत, (२) उद्धवसन्देश।

(ख) नाट्य - (३) दानकेलिकौमुदी (४) ललितमाधव (५) विदग्धमाधव

(ग) काव्यशास्त्र - (६) नाटकचन्द्रिका (७) भक्तिरसामृतसिन्धु (८) और उज्ज्वलनीलमणि।

इन आठ बड़ी रचनाओं के अतिरिक्त ९ रचनायें और हैं -

(१) लघुभागवतामृत (२) पद्मावती (३) स्तवमाला (४) उत्कलिकामञ्जरी (५) आनन्दमहोदधि (६) मधुरामहिमा (७) गोविन्दविरुदावली (८) मुकुन्दमुक्तावली और (९) अष्टादश छन्द।

इन १७ रचनाओं के अतिरिक्त निम्न चार रचनाओं को भी रूपगोस्वामीकृत माना जाता है -

(१) गौराङ्गस्तवकल्पतरु (३) कुसुमस्तबक (३) यमुनास्तोत्र (४) पुष्पाञ्जलिस्तव।

ऊपर लिखी गई रूपगोस्वामी की रचनाओं में तीन रचनाओं का सम्बन्ध काव्यशास्त्र से है। इनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

४. नाटकचन्द्रिका

'नाटकचन्द्रिका' में रूपगोस्वामी ने नाट्यशास्त्र के विषयों का विवेचन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में वे लिखते हैं कि उनकी रचना भरत और 'रससुधाकर' (सिंहभूपालरचित रसार्णवसुधाकर) के अनुकरण पर लिखी गई है। इसके अतिरिक्त भरत के मत के विरुद्ध होने के कारण उन्होंने साहित्यदर्पण को छोड़ दिया है[1]।

'नाटकचन्द्रिका' आठ विभागों में विभक्त है। इसमें सर्वप्रथम नाटक का लक्षण दिया गया है। तदनन्तर नायक, रस, इतिवृत्त, प्रस्तावना, नान्दी, सन्धियां, पताका, अर्थोपक्षेपक, भाषा, वृत्ति आदि की विवेचना है और तदनुकूल रसों का निरूपण किया गया है। विषय के स्पष्टीकरण के लिये उदाहरण दिये गये हैं। इन उदाहरणों में बहुत से तो कवि के स्वरचित हैं, परन्तु बहुत से उदाहरण अन्य वैष्णव ग्रन्थों से भी लिये गये हैं। अनेक उद्धरण 'ललितमाधव' से हैं।

५. भक्तिरसामृतसिन्धु

'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ में रूपगोस्वामी ने भक्ति रस के सिद्धान्त का विस्तार के साथ विवेचन किया है। यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक विभाग में अनेक लहरियां हैं। चार विभागों के नाम हैं - पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। इनका विषयक्रम इस प्रकार है -

(१) पूर्व विभाग -

पूर्व विभाग में भक्ति के सामान्य स्वरूप तथा लक्षण की विवेचना की गई है।

(२) दक्षिण विभाग –

दक्षिण विभाग में रस के अंगभूत विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों का वर्णन है।

(३) पश्चिम विभाग –

पश्चिम विभाग में लेखक ने भक्ति रस का विवेचन करके इसके पांच भेद किये हैं- शान्त भक्ति रस, प्रीत भक्ति रस, प्रेम भक्ति रस, वात्सल्य भक्ति रस और मधुर भक्ति रस।

(४) उत्तर विभाग –

उत्तर विभाग में अन्य रसों – हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक का वर्णन करके रसों के परस्पर विरोध और अविरोध की विवेचना की गई है।

इस ग्रन्थ की रचना का समय १४६३ शक सम्वत् (१५५१ ई०) है।

६. उज्ज्वलनीलमणि

रूपगोस्वामी का यह 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ एक प्रकार से 'भक्तिरसामृतसिन्धु' का ही परिशिष्ट या पूरक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के दूसरे श्लोक में कहा गया है –

"उनके पूर्वलिखित ग्रन्थ (भक्तिरसामृतसिन्धु) में भक्ति रस का संक्षेप में विवेचन किया गया था। क्येंकि इसका विषय गूढ रहस्यमय है, अतः इस ग्रन्थ में इसका विस्तार से विवेचन किया जाता है।"

'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ की विवेचना के अनुसार भक्ति रस का स्थायी भाव मधुरा रति है। जब यह मधुरा रति विभाव आदि के द्वारा आलम्बन की स्थिति में पहुंच जाती है, तब इसको मधुराख्य रति कहते हैं।

'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ में नायक-नायिका के भेदों का विस्तार से वर्णन है। प्रथम नायक चार प्रकार के होते हैं – धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। वे पुनः दो-दो प्रकार के होते हैं – पति और उपपति। पुनः इनके तीन-तीन भेद होते हैं – पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम। ये पुनः चार-चार प्रकार के हैं – धृष्ट, शठ, अनुकूल और दक्षिण। इस प्रकार नायकों के कुल ९६ भेद कहे गये हैं। इन भेदों की परिभाषायें, गुण, कार्यव्यापार एवं उदाहरण दिये गये हैं। नायकों के पांच प्रकार के सहायकों – चेट, विट, विदूषक, पीठमर्द और प्रियनर्मसख का वर्णन है।

'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ में नायिकाओं का भी विस्तार से वर्णन है। नायिकायें दो प्रकार की कही गई हैं – स्वीया और परकीया। कृष्ण की द्वारिकावासिनी १६१०८ रानियां स्वीया नायिकायें हैं। इनमें आठ प्रमुख हैं – रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, अर्कनन्दिनी, शैव्या, भद्रा, कौशल्या और माद्री।

परकीया नायिकायें पुनः दो प्रकार की होती हैं - परोढा और कन्या। परोढा नायिकायें ब्रज में निवास करती हैं। परोढा नायिकाओं के तीन भेद हैं - साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया। साधनपरा के पुनः दो भेद हैं - यौथिक्या और अयौथिक्या। यौथिक्या के दो भेद हैं - मुनि और उपनिषद्। अयौथिक्या नायिकाओं के भी दो भेद होते हैं - प्राचीन और नव।

स्वीया औा परकीया नायिकाओं के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं - मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। इन्हीं प्रभेदों के पुनः आठ भेद होते हैं - अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका और स्वाधीनपतिका। इस प्रकार नायिकाओं के ३६० भेद हो जाते हैं।

नायिकाओं के भेदों का विस्तृत वर्णन करने के अनन्तर नायिकाओं की सहायिकाओं - दूतियों, सखियों का तथा उनके गुणों का विस्तार के साथ वर्णन लेखक ने किया है।

'उज्ज्वलनीलमणि' में शृङ्गार रस का विस्तार से विवेचन करके उसी को भक्ति रस में परिकल्पित कर दिया गया है। शृङ्गार रस का स्थायी भाव प्रेमा रति है। इसके ६ प्रकार हैं - स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव। जिस प्रकार इक्षु के ६ पदार्थ - रस, गुड,खांड, शर्करा, सिता और सितोपला होते हैं, उसी प्रकार प्रेम-विलास भी स्नेह आदि के भेदों से ६ प्रकार के होते हैं[२]।

इस प्रकार 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ में भक्ति रस का विस्तार से विवेचन हुआ है। इसमें सभी उदाहरण कृष्ण और उनके भक्तों से सम्बन्धित हैं।

७. उज्ज्वलनीलमणि की टीकायें

भक्ति रस के प्रतिपादन की दृष्टि से 'उज्ज्वलनीलमणि' को बहुत अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इसकी दो टीकायें प्रकाशित होचुकी हैं -

(क) लोचनरोचनी टीका -

इस टीका की रचना रूपगोस्वामी के भतीजे (बल्लभ के पुत्र) जीवगोस्वामी ने की थी। वे स्वयं भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका जन्म १५२३ ई० में हुआ था और मृत्यु १६१८ ई० में हुई।

(ख) आनन्दचन्द्रिका टीका -

'उज्ज्वलनीलमणि' की दूसरी टीका विश्वनाथ चक्रवर्ती ने की थी। यह टीका लेखक के प्रकाण्ड पाण्डित्य को अभिव्यक्त करती है। इस टीका को 'आनन्दचन्द्रिका टीका' या 'उज्ज्वलनीलमणिकिरण' कहा जाता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती वैष्णव सम्प्रदाय के अति समादृत ग्रन्थकार रहे थे। इनका समय १७ वीं शताब्दी ई० का अन्तिम भाग और १८वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध रहा। टीका का लेखन १६९६ ई० में हुआ।

....

सन्दर्भ -

१. वीक्ष्य भरतमुनिशास्त्रं रसपूर्वसुधाकरञ्च रमणीयम्।
लक्षणमतिसंक्षेपात् विलिख्यते नाटकस्येदम्।।
नातीव संगतत्वाद् भरतमुनेर्मतविरोधाच्च।
साहित्यदर्पणीया न गृहीता प्रक्रिया प्रायः।। नाटकचन्द्रिका १.१-२।।

२. बीजमिक्षुः स च रसः स गुडः स खण्ड एव सः।
सा शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात् सितोपला।।
अतः प्रेमविलासाः स्युः भावाः स्नेहादयस्तु षट्।।
उज्ज्वलनीलमणि - स्थायिभाव प्रकरण श्लोक ५४-५५।।

....

चौवालीसवां अध्याय

कर्णपूर

१. कर्णपूर का महत्त्व, परिचय और समय

'अलङ्कारकौस्तुभ' नामक अलङ्कार ग्रन्थ के रचयिता कर्णपूर बंगाल के सुपसिद्ध ग्रन्थकार हुये हैं। सौभाग्य से उनके जीवन-वृत्त और समय के सम्बन्ध में स्वल्प सी जानकारी प्राप्त है।

कर्णपूर के पिता का नाम शिवानन्दसेन था अैर गुरु का नाम श्रीनाथ था। कर्णपूर का जन्म बंगाल के नदिया जिले में १५२४ ई० में हुआ था। इनका दूसरा नाम परमानन्दसेन था। ये भी चैतन्य महाप्रभु के परम भक्त थे। महाप्रभु के जीवन-चरित को प्रदर्शित करने के लिये कर्णपूर ने १५७२ ई० में चैतन्यचन्द्रोदय' नामक नाटक की रचना की थी।

२. कर्णपूर की रचनायें

कर्णपूर की दो रचनायें प्रसिद्ध हैं - 'चैतन्यचन्द्रोदय' और 'अलङ्कारकौस्तुभ'। इनमें 'चैतन्यचन्द्रोदय' एक नाटक है। इसमें चैतन्य महाप्रभु के जीवन-चरित का वर्णन किया गया है। इसकी रचना १५७२ ई० में हुई थी। 'अलङ्कारकौस्तुभ' काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रचार बंगाल में अधिक हुआ है। इस ग्रन्थ का स्वल्प परिचय देना उचित होगा।

३. अलङ्कारकौस्तुभ

'अलङ्कारकौस्तुभ' उत्तम कोटि का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। सहृदयों के हृदयों को प्रसन्न करने वाले इस ग्रन्थ का विद्वज्जनों ने बहुत सम्मान किया था। इसमें काव्यशास्त्र के सभी विषयों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में १० किरण (अध्याय) हैं। इनमें विषयों का विवेचन निम्न प्रकार से किया गया है -

(१) प्रथम किरण -

प्रथम किरण में काव्य के लक्षण की व्याख्या है।

(२) **द्वितीय किरण –**

दूसरी किरण में शब्द और अर्थ की विवेचना है।

(३) **तृतीय किरण –**

तीसरी किरण में ध्वनि का निरूपण है।

(४) **चतुर्थ किरण –**

चतुर्थ किरण में गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की समीक्षा है।

(५) **पञ्चम किरण –**

पांचवीं किरण में रस-भाव आदि का स्वरूप बताया गया है।

(६) **षष्ठ किरण –**

छठी किरण में गुणों की व्याख्या है।

(७) **सप्तम किरण –**

सातवीं किरण में शब्दालङ्कारों के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

(८) **अष्टम किरण –**

आठवीं किरण में अर्थालङ्कारों की विवेचना की गई है।

(९) **नवम किरण –**

नवीं किरण में रीतियों के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

(१०) **दशम किरण –**

दसवीं किरण में कर्णपूर ने दोषों की विवेचना की है।

'अलङ्कारकौस्तुभ' में उदाहरण में दिये गये श्लोक अधिकांश में भगवान् कृष्ण की स्तुति में हैं।

४. अलङ्कारकौस्तुभ की टीकायें

'अलङ्कारकौस्तुभ' का प्रचार बंगाल में अधिक होने से इसकी टीकायें भी यहीं लिखी गई थीं। तीन टीकाओं के नाम विशेष रूप से मिलते हैं -

(१) विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारबोधिनी' टीका।

(२) वृन्दावन तर्कालङ्कार चक्रवर्ती की 'दीधितिप्रकाशिका' टीका।

(३) लोकनाथ चक्रवर्ती की टीका।

इन तीनों टीकाओं में से केवल 'सारबोधिनी टीका' ही प्रकाशित हुई है।

....

पैंतालीसवां अध्याय

कविचन्द्र

कर्णपूर के पुत्र कविचन्द्र हुये थे। इनकी माता का नाम कौशल्या था। कविचन्द्र का समय १६ वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध और १७वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध रहा था। काव्यशास्त्र विषय पर इन्होंने 'काव्यचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

'काव्यचन्द्रिका' में कविचन्द्र ने काव्यशास्त्र के सभी विषयों का पर्यालोचन किया था। यह ग्रन्थ १६ प्रकाशों में समाप्त हुआ है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने अपने दो अन्य ग्रन्थों का भी संकेत दिया है। ये ग्रन्थ हैं - 'धातुचन्द्रिका' और 'सारलहरी'। परन्तु ये ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं।

....

छियालीसवां अध्याय

अप्पय दीक्षित

१. अप्पय दीक्षित का महत्त्व

काव्यशास्त्र के इतिहास में उत्तरवर्ती युग के काव्यशास्त्रियों में अप्पय दीक्षित बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। काव्यशास्त्र के विषय पर इन्होंने तीन पुस्तकें लिखी थीं - 'वृत्तिवार्तिक', 'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानन्द'। इन ग्रन्थों में अप्पय दीक्षित ने काव्यशास्त्र के दो अंगों - वृत्तियों तथा अलङ्कारों पर विचार किया था। अप्पय दीक्षित के 'वृत्तिवार्तिक' और 'चित्रमीमांसा' ग्रन्थ अधूरे ही रह गये हैं। 'कुवलयानन्द' सम्पूर्ण मिलता है।

अप्पय दीक्षित केवल काव्यशास्त्र के ही पण्डित नहीं थे, अपितु अनेक शास्त्रों के विद्वान् थे। इन्होंने वेदान्त, मीमांसा, व्याकरण आदि अनेक विषयों पर अपनी लेखनी उठा कर ग्रन्थों का प्रणयन किया था।

२. अप्पय दीक्षित का जीवन-वृत्त तथा समय

अप्पय दीक्षित के जीवन का परिचय प्रायः इनके ग्रन्थों से उपलब्ध हो जाता है और बाह्य प्रमाणों से इसकी पुष्टि होती है। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य विचारणीय हैं -

(१) अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' के उपसंहार में लिखा है कि यह ग्रन्थ उन्होंने वेंकटपति के आदेश से लिखा है[१]। आफ्रेक्ट तथा एमेलिन का अभिमत है कि यह वेंकटपति विजयनगर का राजा था, जिसका समय १५३५ ई० के लगभग था। परन्तु हुल्त्स महोदय का कथन है कि अप्पय दीक्षित के आश्रयदाता पेन्नगोंडा के राजा वेंकट प्रथम थे, जिनके अभिलेख १५८५ ई० से १६१३ ई० तक के उपलब्ध होते हैं।

(२) अप्पय दीक्षित की एक रचना आत्मार्पण है। इस पर शिवानन्द यति ने टीका लिखी थी। इसमें अप्पय दीक्षित की जन्म-पत्रिका उद्धृत है[२]। इसके अनुसार अप्पय दीक्षित का जन्म ४६५४ कलिवर्ष (१५५३ ई०) में हुआ था।

(३) नीलकण्ठ दीक्षित ने, जो कि अप्पय दीक्षित के छोटे भाई अच्चन के पोते थे, 'शिवलीलार्णव' में लिखा है कि अप्पय दीक्षित ७२ वर्ष तक जीवित रहे और इन्होंने १०० ग्रन्थों की रचना की थी[३]। इससे अप्पय दीक्षित का जीवन-काल १५५३ ई० से १६२५ ई० तक का प्रमाणित होता है।

(४) हुल्त्ज महोदय ने अपने ग्रन्थ में अप्पय दीक्षित की रचना 'शिवादित्य-मणिदीपिका' के एक अवतरण को उद्धृत किया है। इस अवतरण के अनुसार अप्पय दीक्षित के पिता का नाम रंगराज था तथा पितामह का नाम आचार्य दीक्षित था। इस ग्रन्थ के उपसंहार के श्लोक के अनुसार अप्पय दीक्षित ने ग्रन्थ-रचना की प्रेरणा राजा चिन्नबोम्म्स से ली थी। यह चिन्नबोम्म्स चिन्नवीर का पुत्र था और लिंगनायक का पिता था। वेंकट प्रथम और लिंगनायक समकालीन थे। वेंकट प्रथम का एक लेख १६०१ ई० का है। इन विवरणों से यह प्रतीत होता है कि अप्पय दीक्षित को पहले राजा चिन्नबोम्म्स का और उसके बाद राजा वेंकट प्रथम का आश्रय मिला होगा।

(५) कमलाकर भट्ट ने १७ वीं शताब्दी ई० के प्रथम चरण में अप्पय दीक्षित का उल्लेख किया है।

(६) पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित की अति कटु व्यक्तिगत आलोचना की है। इसका कारण यह कहा जाता है कि जगन्नाथ ने एक यवन युवती को घर में रख लिया था और अप्पय दीक्षित ने इनको जाति से बहिष्कृत कर दिया था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अप्पय दीक्षित जगन्नाथ से आयु में बड़े होने से कुछ समय तक उनके समकालीन भी रहे होंगे। पण्डितराज जगन्नाथ का साहित्य रचना का काल १६२०-१६६५ ई० के मध्य का समझा जाता है। यदि ५-६ वर्ष भी दोनों समकालीन रहे हों, तो अप्पय दीक्षित १६२५-१६२६ ई० तक अवश्य जीवित रहे होंगे। अप्पय दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' ग्रन्थ की रचना की थी। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका खण्डन करने के लिये और इसमें दोष दिखाने के लिये 'चित्रमीमांसाखण्डन' ग्रन्थ लिखा[४]। पण्डितराज जगन्नाथ के खण्डन करने के लिये अप्पय दीक्षित के भाई के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने 'चित्रमीमांसादोषधिक्कार' ग्रन्थ की रचना करके जगन्नाथ के आक्षेपों का उत्तर दिया।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो जाता है कि अप्पय दीक्षित १६वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध और १७ वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में हुये थे।

अप्पय दीक्षित स्वयं तो विद्वान् और प्रतिभाशाली थे ही, उनके परिवार में भी यह प्रतिभा परम्परागत रूप से विद्यमान थी। वे भारद्वाज कुल के थे और इनके पिता अपने समय के प्रसिद्ध याज्ञिक थे[५]। इनके पितामह वक्षःस्थलाचार्य आचार्य दीक्षित के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने 'वरदराजवसन्तोत्सव' काव्य की रचना की थी[६]। अप्पय दीक्षित के छोटे भाई अच्चन के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित एक प्रतिभाशाली विद्वान् और कवि हुये। इन्होंने अनेक शास्त्रों का और काव्यों का प्रणयन किया था।

अप्पय दीक्षित के नाम के तीन रूप प्राप्त होते हैं - अप्प दीक्षित, अप्पय दीक्षित और अप्पय्य दीक्षित। 'कुवलयानन्द' में अप्पय दीक्षित नाम का उल्लेख है। अन्य ग्रन्थों में अप्प दीक्षित और अप्पय्य दीक्षित नाम भी मिलते हैं। साधारणतः अप्पय दीक्षित नाम ही अधिक

मिलता है। सम्भवत: छन्द के अनुरोध से यह नाम-भेद हो गया हो।

३. अप्पय दीक्षित की रचनायें

अप्पय दीक्षित विविध शास्त्रों के विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि थे। इन्होंने विविध विषयों पर ग्रन्थों की रचनायें की थीं। कहा जाता है कि इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की कुल संख्या १०४ थी। इनके अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु कुछ प्राप्त नहीं भी हैं। कुछ प्रमुख ग्रन्थ विषय के अनुसार इस प्रकार हैं -

(क) अद्वैतवेदान्तविषयक ग्रन्थ -

(१) श्रीपरिमल (२) सिद्धान्तलेशसंग्रह (३) वेदान्तनक्षत्रवादावली (३) मध्वतन्त्र-मुखमर्दनम् (५) मध्वमतविध्वंसनम् (६) न्यायरक्षामणि।

(ख) रामानुजमतविषयक ग्रन्थ -

(७) नखमयूखमालिका (८) नखमयूखव्याख्या (९) श्रीवेदान्तदेशिकविरचित यादवाभ्युदय की व्याख्या (१०) श्रीवेदान्तदेशिकविरचित पादुकासहस्र की व्याख्या (११) वरदराजस्तव।

(ग) माध्वसिद्धान्तानुसारी ग्रन्थ -

(१२) न्यायरत्नावली (१३) न्यायरत्नावली-व्याख्या।

(घ) पूर्वमीमांसाविषयक ग्रन्थ -

(१४) नक्षत्रवादावली (१५) विधिरसायनम् ।

(ङ) व्याकरणविषयक ग्रन्थ -

(१६) नक्षत्रवादावली।

(च) भक्तिविषयक ग्रन्थ -

(१७) शिखरिणीमाला (१८) शिवतत्त्वविवेक (१९) ब्रह्मतर्कस्तव (२०) आदित्यस्तवरत्नम् (२१) आदित्यस्तवरत्नम् की व्याख्या (२२) शिवाद्वैतनिर्णय (२३) शिवध्यानपद्धति (२४) पञ्चरत्नम् (२५) पञ्चरत्नम् की व्याख्या (२६) आत्मार्पणम् (२७) मानसोल्लास (२८) शिवकर्णामृतम् (२९) आनन्दलहरी (३०) चन्द्रिका (३१) शिवमहिमकालिकास्तुति (३२) रत्नत्रयपरीक्षा (३३) रत्नत्रयपरीक्षा की व्याख्या (३४) अरुणाचलेश्वरस्तुति (३५) अपीतकुचाम्बास्तव (३६) चन्द्रकलास्तव (३७) शिवार्कमणिदीपिका (३८) शिवपूजापद्धति (३९) नयमणिमाला (४०) नयमणिमाला की व्याख्या।

(छ) अलङ्कारविषयक ग्रन्थ -

(४१) वृत्तिवार्तिक (४२) चित्रमीमांसा (४३) कुवलयानन्द।

इस प्रकरण में अप्पय दीक्षित के अलङ्कारविषयक ग्रन्थों का स्वल्प परिचय देना उपयुक्त होगा। इन ग्रन्थों में सबसे पहले अप्पय दीक्षित ने 'वृत्तिवार्तिक' की रचना की थी। तदनन्तर उन्होंने 'चित्रमीमांसा' की और उसके बाद 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ की रचना की।

४. वृत्तिवार्तिक

यह एक छोटा सा ग्रन्थ है तथा दो परिच्छेदों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में अप्पय दीक्षित ने शब्दशक्तियों का विवेचन किया है।

(१) प्रथम परिच्छेद -

पहले परिच्छेद में अभिधा की विवेचना है। अभिधा तीन प्रकार की कही गई है - (अ) रूढि, (ब) योग और (स) योगरूढि।

(२) द्वितीय परिच्छेद -

दूसरे परिच्छेद में लक्षणा का निरूपण है। लक्षणा के प्रथम दो भेद हैं - शुद्धा तथा गौणी। पुनः प्रत्येक के दो दो भेद किये गये हैं - निरूढा और फलवती। इन भेदों के भी पुनः उपभेद किये गये हैं।

'वृत्तिवार्तिक' ग्रन्थ में अप्पय दीक्षित ने व्यञ्जना पर विचार नहीं किया। अतः यह ग्रन्थ अपूर्ण ही समझना चाहिये।

५. चित्रमीमांसा

अप्पय दीक्षित का यह प्रौढ ग्रन्थ है। इसमें सबसे पहले काव्य के तीन भेद किये गये हैं - ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र। दीक्षित जी के अनुसार शब्दचित्र काव्य में रमणीयता नहीं होती। अतः 'चित्रमीमांसा' में उन्होंने केवल अर्थालङ्कारों का वर्णन किया है[७]। इस ग्रन्थ में दीक्षित जी ने उपमा अलङ्कार को सभी साधर्म्यमूलक अलङ्कारों का आधार माना है। उपमा ही वह नर्तकी है, जो अनेक प्रकारों के अलङ्कारों की भूमिका में अवतीर्ण होकर काव्यमञ्च पर नृत्य करती हुई सहृदयों के मनों को आनन्दित करती है[८]।

इसके अनन्तर अप्पय दीक्षित ने प्राचीन आचार्यों द्वारा किये गये उपमा के लक्षण की आलोचना की है और उसके स्वरूप तथा भेदों को बताया है। दीक्षित जी के अनुसार यह उपमा साधर्म्यमूलक २२ अलङ्कारों का मूल है। वे सभी अलङ्कारों की विवेचना 'चित्रमीमांसा' में करना चाहते थे। परन्तु केवल अतिशयोक्ति अलङ्कार तक १२ अलङ्कारों का निरूपण कर सके। इस ग्रन्थ में निम्न अलङ्कारों का विवेचन हुआ है -

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ को अप्पय दीक्षित ने जानबूझ कर अधूरा छोड़ दिया है। अतिशयोक्ति अलङ्कार की विवेचना भी अधूरी रह गई है। 'चित्रमीमांसा' के अन्त में लेखक ने स्वयं लिखा है -

"अधूरी 'चित्रमीमांसा भी किसको आनन्दित नहीं करेगी'[९]।"

पण्डितराज जगन्नाथ ने 'चित्रमीमांसा' में प्रदर्शित दीक्षित जी के मतों की कठोर आलोचना की थी तथा इनका खण्डन करने के लिये 'चित्रमीमांसाखण्डन' नामक ग्रन्थ

लिखा था। अप्पय दीक्षित के भाई अच्चन के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने पण्डितराज के आक्षेपों का उत्तर देने के लिये 'चित्रमीमांसादोषधिक्कार' ग्रन्थ की रचना की।

'चित्रमीमांसा' की टीकायें -

'चित्रमीमांसा' ग्रन्थ की व्याख्या अनेक विद्वानों ने की थी। इनमें चार टीकायें अधिक प्रसिद्ध हैं -

(१) बालकृष्ण पायगुण्डकृत गूढार्थप्रकाशिका
(२) अतिरात्रयज्वन् कृत दोषधिक्कार
(३) परानन्दकृत सुधाटीका
(४) चित्रालोक टीका

६. कुवलयानन्द

अलङ्कारों का अध्ययन करने के लिये अप्पय दीक्षित का यह 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इसकी रचना इन्होंने वेंकटपति के अनुरोध से की थी। इस ग्रन्थ के लेखन में लेखक ने जयदेव के 'चन्द्रालोक' का आश्रय लिया था। 'चन्द्रालोक' के अर्थालङ्कारों के श्लोकों को लेकर उन्होंने उनकी आलोचना की तथा नवीन श्लोक भी लिखे[१०]। इस प्रकार अप्पय दीक्षित ने 'चन्द्रालोक' के १०० तथा स्वयं के रसवद् आदि २३ अलङ्कारों का, इस प्रकार कुल १२३ अलङ्कारों का विवेचन इस ग्रन्थ में किया है।

अलङ्कारों का निरूपण करने के क्षेत्र में 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ को यद्यपि मौलिक नहीं कहा जा सकता और इसको संग्रह ग्रन्थ ही कहना अधिक उपयुक्त होगा, तथापि अलङ्कारों की रूपरेखा को समझने के लिये यह ग्रन्थ अति उपयोगी है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ पर अनेक टीकायें लिखी गईं।

७. कुवलयानन्द की टीकायें

अलङ्कारों का अध्ययन करने के लिये 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ ने बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी। इस ग्रन्थ पर अनेक विद्वानों ने टीकायें लिखीं। निम्न टीकायें अधिक प्रसिद्ध हैं -

(१) अलङ्कारचन्द्रिका टीका -

इस टीका को रामचन्द्र के पुत्र वैद्यनाथ तत्सत् ने लिखा था। इसकी रचना १६६३ ई० के लगभग हुई थी।

(२) अलङ्कारसुधा टीका -

इस टीका की रचना नागेश भट्ट ने १८वीं शताब्दी ई० के प्रथम चरण में की थी।

(३) कारिकादीपिका टीका -

इसको रामजी भट्ट के पुत्र आशाधर भट्ट ने लिखा था। इसकी रचना १७वीं शताब्दी

ई० के लगभग हुई थी।

(४) रसिकरञ्जनी टीका -

इस टीका को गंगाधर ने १७०० ई० के लगभग लिखा था। यह टीका बहुत शुद्ध समझी जाती है। टीकाकार के अनुसार अप्पय दीक्षित उनके पितामह के बड़े भाई के गुरु थे तथा उन्होंने इसके पाठ को शुद्ध करने का बहुत प्रयास किया था। तन्जौर के राजा शाह जी (१६८४-१७११ ई०) की राजसभा के वे सदस्य थे।

इन टीकाओं के अतिरिक्त 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ की निम्न टीकायें भी प्रसिद्ध हैं-

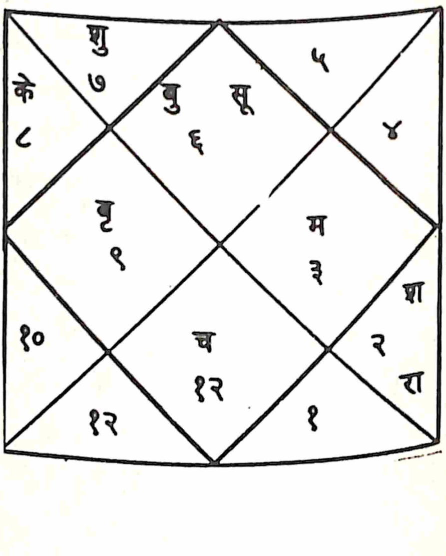
(१) नागेशभट्टकालकृत विषमपदव्याख्याषट्पदानन्द
(२) न्यायवागीश भट्टाचार्यकृत काव्यमञ्जरी
(३) मथुरानाथकृत टीका
(४) रामचरण तर्कवागीश कृत टीका
(५) गोपीनाथ कृत प्रभा टीका
(६) देवीदत्त कृत लघ्वलङ्कारचन्द्रिका टीका

....

सन्दर्भ -

१. अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पयदीक्षितः।
नियोगाद् वेंकटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः।।

२. अप्पय दीक्षित की जन्मपत्रिका →



वीणातत्त्वज्ञसंख्यालसितकलिसभाभाक् प्रमादी च वर्षे
कन्यामासे तु कृष्णप्रथमतिथियुतेऽप्युत्तरप्रोष्ठपादे
कन्यालग्नेऽद्रिकन्यापतिमितदयासेवधिर्वैदिकेषु
श्रीगौर्यैद्राग्यथाहस्मसमजनि विरिञ्जीशपुर्यां कलेशः।
लग्ने रवीन्द्रसुतयोर्मकरे च मान्यौ
मीने शशिन्यथ वृषे रविजे च राहौ।
चापे गुरौ तिथिसुते मिथुने तुलायां
शुक्रे शिखिन्यलिगते शुभलग्न एवम्।।

३. कालेन शम्भुः किल तावताऽपि कलाश्चतुःषष्टिमिताः प्रणिन्ये।
द्वासप्ततिं प्राप्य समा प्रबन्धांञ्छतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्द्रः।। शिवलीलार्णव १.६।।

४. सूक्ष्मं विभाव्यमयकासमुदीरिताना-
मप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्या-
दस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि।। चित्रमीमांसाखण्डन ।।

५. श्रीमदद्वैतविद्याचार्यश्रीमद्भरद्वाजकुलजलधिकौस्तुभश्रीरंगराजाध्वरीन्द्रवरसूनोः श्रीमदप्पयदीक्षितस्य कृतिः कुवलयानन्दः समाप्तः।।

६. सन्देहालङ्कारध्वनिर्यथा अस्मत्कुलकूटस्थवक्षःस्थलाचार्यकृते वरदराजवसन्तोत्सवे काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गी............वक्षःस्थलं वैक्षत।। चित्रमीमांसा पृ० ६३।।

७. शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तथाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।। चित्रमीमांसा पृ० ५।।

८. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।। चित्रमीमांसा पृ० ६।।

९. अप्यर्थचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव घर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः।। चित्रमीमांसा ।।

१० येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते।। कुवलयानन्द - ५।।

....

सैंतालीसवां अध्याय

आशाधर भट्ट

१. आशाधर भट्ट का महत्त्व

आशाधर नाम के दो विद्वानों का संकेत प्राचीन साहित्य में मिलता है। प्रथम आशाधर भट्ट १३ वीं शताब्दी ई० में हुये थे और दूसरे १७वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में। नाम के सादृश्य के कारण कुछ समालोचकों ने दोनों आशाधरों को यद्यपि एक ही व्यक्ति मान लिया था, तथापि अनेक प्रमाणों के तथा ग्रन्थों की रचना के आधार पर इनका पृथक् व्यक्तित्व सिद्ध हो जाता है।

१३ वीं शताब्दी ई० के आशाधर जैन मतावलम्बी थे। इनका जन्म अजमेर प्रदेश में हुआ था। इनके पिता का नाम सल्लक्षण था। किसी कारण ये धारा नगरी में जाकर रहने लगे थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इनके 'त्रिषष्टिस्मृतिचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ से विदित होता है कि इसकी रचना १२३६ ई० में हुई थी। इन्होंने रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' की टीका की थी। अनेक जैन ग्रन्थों की भी इन्होंने रचना की।

हमारे आलोच्य आशाधर भट्ट १७ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में हुये थे। इनके साथ भट्ट उपनाम लगा होने से इनका ब्राह्मण होना सिद्ध होता है।

२. आशाधर भट्ट का परिचय

आशाधर भट्ट ने अपने ग्रन्थों में न तो अपने जीवन-वृत्त आदि के सम्बन्ध में कुछ लिखा है और नाहीं यह लिखा कि वे किस समय लिखे गये। बाह्य लेखकों के आधार पर ही इनका कुछ परिचय मिल पाता है। आशाधर भट्ट ने 'कुवलयानन्द' पर 'कारिकादीपिका' (अलङ्कारदीपिका) लिखी थी। इससे विदित होता है कि इनके गुरु का नाम धरणीधर था और इनके पिता का नाम रामजी भट्ट था[1]। आशाधर ने अपने पिता को व्याकरण, न्याय और मीमांसा का उत्कृष्ट पण्डित लिखा है। अनुमान किया जाता है कि ये गुजरात के निवासी थे। इनके ग्रन्थ यहीं पर विशेष रूप से प्राप्त हुये हैं।

३. आशाधर भट्ट का समय

रचनाओं में समय का उल्लेख न होने से आशाधर भट्ट के समय को निर्धारित करने में बहुत कठिनाई है। परन्तु निम्न प्रमाणों के आधार पर इनके समय को बहुत कुछ

निश्चित किया जा सकता है -

(१) आशाधर ने अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ पर 'कारिकादीपिका' नामक टीका लिखी थी। अतः वे अप्पय दीक्षित (१५५३-१६२५ ई०) के बाद ही हुये थे।

(२) आशाधर ने 'त्रिवेणिका' ग्रन्थ में भट्टोजिदीक्षित का उल्लेख किया है। 'सिद्धान्तकौमुदी' आदि ग्रन्थों के रचयिता भट्टोजिदीक्षित का समय १६ वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध और १७ वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध समझा जाता है। आशाधर इनके उत्तरवर्ती ही होंगे।

(३) आशाधर भट्ट के 'कोविदानन्द' ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि करने का समय १८६१ ई० उल्लिखित है तथा 'कारिकादीपिका' की एक हस्तलिखित प्रति के प्रतिलिपीकरण का समय १८५९ ई० दिया गया है। अतः आशाधर भट्ट की ये रचनायें इससे बहुत पहले लिखी गई थीं।

(४) आशाधर भट्ट ने 'त्रिवेणिका' ग्रन्थ में वैयाकरणों की आलोचना इसलिये की है, कि वे व्यञ्जना वृत्ति को नहीं मानते[२]। परन्तु प्रसिद्ध विद्वान् नागोजिभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'परमलघुमञ्जूषा' में प्रतिपादित किया है कि वैयाकरणों को भी व्यञ्जना वृत्ति माननी चाहिये। इसका हेतु यह है कि निपातों का द्योतकत्व स्वीकार करके पतञ्जलि और भर्तृहरि ने व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार किया है[३]। इस आधार पर यह कहा गया है कि आशाधर भट्ट की स्थिति नागोजिभट्ट से पूर्व विद्यमान थी या वे इनके समकालीन थे। नागोजिभट्ट का समय १७ वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध और १८ वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध है। अतः आशाधर भट्ट का समय भी इसी समय के लगभग माना जा सकता है।

ऊपर लिखे गये प्रमाणों के आधार पर यही अनुमान लगाया जा सकता है कि आशाधर भट्ट १७ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध और १८ वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में हुये होंगे।

४. आशाधर भट्ट की रचनायें

आशाधर भट्ट ने अनेकों ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें से केवल दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं - 'त्रिवेणिका' और 'कुवलयानन्द' पर 'कारिकादीपिका' टीका। ये दोनों ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। इनके अतिरिक्त आशाधर भट्ट के तीन अन्य ग्रन्थों के भी संकेत मिलते हैं - 'कोविदानन्द', 'अद्वैत वेदान्त' और 'प्रभापटल'। इन ग्रन्थों का परिचय निम्न है -

५. कोविदानन्द

आशाधर भट्ट का यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु इनकी 'त्रिवेणिका' नामक रचना में इसका उल्लेख अनेक बार हुआ है। 'त्रिवेणिका' ग्रन्थ के पहले श्लोक के "पुनः"

पद से प्रतीत होता है कि 'कोविदानन्द' ग्रन्थ में भी वृत्तियों का विवेचन किया गया होगा[४]। डा० भाण्डारकर ने 'कोविदानन्द' नामक एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि का उल्लेख किया है। भाण्डारकर ने यह भी बताया है कि इस ग्रन्थ पर ग्रन्थकार ने स्वयं भी 'कादम्बिनी' नामक टीका लिखी थी[५]। इस टीका के नीचे लिखे श्लोक से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में वृत्तियों का निरूपण किया गया था[६]।

६. अद्वैत वेदान्त

आशाधर का यह ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ की रचना का संकेत आशाधर की 'त्रिवेणिका' में ही मिलता है, जिसमें इसका एक पद्य भी उद्धृत है। ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है कि इसका विषय अद्वैत वेदान्त रहा होगा।

७. प्रभापटल

यह ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है। वटुकनाथ शर्मा ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में इस ग्रन्थ का संकेत किया है। 'प्रभापटल' के दो श्लोक 'त्रिवेणिका' के अन्त में उद्धृत किये गये हैं[७]।

८. त्रिवेणिका

आशाधर भट्ट के इस काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ का प्रकाशन सरस्वती टेक्स्ट ग्रन्थमाला काशी से हुआ था। डा० आफ्रेक्ट ने भ्रमवश इस ग्रन्थ को व्याकरण विषय के ग्रन्थों की सूची में दे दिया था। इस कारण काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध लेखकों ने इस ग्रन्थ का अपनी कृतियों में उल्लेख नहीं किया। इस ग्रन्थ में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियों का समुचित रूप से विवेचन किया गया है। अतः इस ग्रन्थ का नाम 'त्रिवेणिका' रखा गया। 'त्रिवेणिका' ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं। इनका विषय-विवेचन निम्न प्रकार से है -

(१) प्रथम परिच्छेद -

प्रथम परिच्छेद में अभिधा का विस्तृत विवेचन है। सबसे पहले लेखक ने अर्थज्ञान के तीन भेद - चारु, चारुतर और चारुतम किये हैं। अभिधाजन्य अर्थ चारु है, लक्षणाजन्य अर्थ चारुतर है और व्यञ्जनाजन्य अर्थ चारुतम है। तदनन्तर अभिधा के तीन भेद बताये गये हैं - योग, रूढि और योगरूढि। इसके बाद विशद व्याख्या करके इनको उदाहरणों के द्वारा समझाया गया है।

(२) द्वितीय परिच्छेद -

दूसरे परिच्छेद में लक्षणा की विस्तृत विवेचना है। सबसे पहले लक्षणा के स्वरूप को बता कर पुनः इसके भेद कहे गये हैं। लक्षणा के भेद हैं - जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा, निरूढा, फलवती, गूढा, अगूढा, व्यधिकरणविषया, समानाधिकरणविषया, गौणी और शुद्धा। इनके और भी उपभेद दिखाये गये हैं तथा सबको उदाहरणों द्वारा

समझाया गया है।

(३) तृतीय परिच्छेद -

तीसरा परिच्छेद व्यञ्जना विषयक है। व्यञ्जना के प्रमुख भेद हैं - शक्तिमूलक और लक्षणामूलक। व्यञ्जना को अनुमान के अन्तर्गत मानने का नैयायिकों के प्रयास का तथा शक्ति के अन्तर्गत मानने के वैयाकरणों के प्रयास का आशाधर ने खण्डन किया है।

९. कारिकादीपिका

यह ग्रन्थ अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ की टीका के रूप में है। मूल रूप में ग्रन्थ की रचना जयदेव ने 'चन्द्रालोक' के रूप में की थी। इनके अर्थालङ्कार के प्रकरण के आधार पर अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' की रचना की। आशाधर ने 'कुवलयानन्द' की टीका के रूप में 'कारिकदीपिका' को लिखा। यदि सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया जावे तो आशाधर का यह ग्रन्थ मात्र टीका न होकर ग्रन्थ भी है, जिसको आशाधर ने 'कुवलयानन्द' के आधार पर लिखा था। लेखक ने इस ग्रन्थ का नाम 'कुवलयानन्दकारिका' या 'अलङ्कारदीपिका' भी रखा। इसको संक्षेप से 'कारिकादीपिका' कह दिया जाता है।

'कारिकादीपिका' को तीन भागों में लिखा गया है। ये भाग प्रकरण कहलाते हैं तथा इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं। इनका विषय-विवेचन निम्न प्रकार से है -

(१) प्रथम प्रकरण -

प्रथम प्रकरण में 'कुवलयानन्द' में लिखित कारिकाओं की व्याख्या की गई है। इसमें केवल मूल कारिकाओं की व्याख्या है। सूक्ष्म विवेचन को बालकों के लिये अनुपयुक्त समझ कर छोड़ दिया गया है।

(२) द्वितीय प्रकरण -

दूसरे प्रकरण का नाम उद्दिष्टालङ्कार प्रकरण है। 'कुवलयानन्द' के अन्त में जिन रसवद् आदि अलङ्कारों के नाम गिनाये गये हैं तथा जिनके लक्षण नहीं दिये गये हैं, आशाधर ने उनके लक्षणों को बनाने के लिये कारिकाओं की रचना की तथा इन कारिकाओं को अपनी ही रचना बताया[८]।

(३) तृतीय प्रकरण -

तीसरे प्रकरण का नाम परिशेष प्रकरण है[९]। इसमें संकर और संसृष्टि अलङ्कारों के स्वरूप तथा भेदों का ज्ञान कराने के लिये आशाधर ने स्वयं कारिकाओं की रचना की। इस प्रकरण को भी उन्होंने स्वरचित बताया।

'कारिकादीपिका' में आशाधर ने १२ अलङ्कारों का विवेचन किया है। अलङ्कारों को सरलता से समझने के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

अलङ्कारशास्त्र विषय पर ग्रन्थों की रचना करके आशाधर ने इस विषय को

सर्वसाधारण के लिये सुलभ बनाया है। अलङ्कारों को सरलता से सीखने के लिये आशाधर के ग्रन्थ बहुत उपयोगी हैं।

....

सन्दर्भ –

१. शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम्।
आशाधरेण कविना रामजीभट्टसूनुना।।
धरणीधरपादाब्जप्रसादासादितस्मृतेः।
आशाधरस्य वागेषा तनोतु विदुषां मुदम्।।

२. त्रिवेणिका पृ० २७-२८।।

३. अत एव निपातानां द्योतकस्य स्फोटस्य व्यङ्ग्यता च हर्यादिभिरुक्ता । द्योतकत्वं च स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्तिव्यञ्जकत्वमिति। वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः।।
परमलघुमञ्जूषा पृ० २०।।

४. प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा।
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्तिविवेचना।। त्रिवेणिका ।।

५. संस्कृत पाण्डुलिपियों की सूची भाग १, १८५३ ई० बम्बई , पृ० ६८।।

६. यदिह लिखतामव्युत्पत्त्या पतेल्लघुदूषणं
निपुणाधिषणैरुज्झित्वा तत् कृतिर्मम सेव्यताम्।
सरसि विमले वाताक्षिप्तं निवार्य तु शैवलं
सलिलममृतप्रायं प्रायः पिबन्ति पिपासवः।।
यदि मम सरस्वत्यां कश्चित् कथञ्चन दूषणं
प्रलपति तदा प्रौढप्रज्ञैः स किं कविभिः समः।
रघुपतिकुटुम्बिन्या सत्यामदद्यमुदाहरन्
हतकरजकः साम्यं लेभे स किं सह राजभिः।।

८. आशाधरभट्टकृतमुद्दिष्टनामकं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्।।

९. इति.......आशाधरभट्टविरचितं तृतीयं परिशेषप्रकरणं समाप्तम्।।

....

अड़तालीसवां अध्याय

पण्डितराज जगन्नाथ

१. पण्डितराज जगन्नाथ का महत्त्व

काव्यशास्त्र के इतिहास में सबसे अधिक प्रौढ और पाण्डित्यपूर्ण आचार्य तीन समझे जाते हैं -

(१) ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन

(२) काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट

(३) रसगंगाधर के रचयिता पण्डितराज जगन्नाथ

इनमें पण्डितराज सबसे अन्तिम आचार्य हैं। समालोचना की दृष्टि से इनका ग्रन्थ 'रसगंगाधर' सबसे अधिक प्रौढ और पाण्डित्यपूर्ण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक तथ्य को तर्क की कसौटी पर रखा गया है और उसी रूप में उसकी समालोचना की गई है। नव्य न्याय की शैली में प्राचीन आचार्यों के प्रतिपादनों की परीक्षा करके पण्डितराज ने अपने मन्तव्यों को प्रतिपादित किया है।

पण्डितराज ने जिस प्रकार विषयों का स्पष्ट एवं उज्ज्वल विश्लेषण किया है, वैसा दूसरे अलङ्कारग्रन्थों में मिलना दुर्लभ है। इस विश्लेषण के करने में उन्होंने प्राचीन मान्य आचार्यों - आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि की आलोचना करने में भी संकोच नहीं किया है। अनेक स्थलों पर प्राचीन आचार्यों के प्रतिपादन में विषय का पूरी तरह स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने उन विषयों की भी समुचित व्याख्या की है। उदाहरण के लिये रस-निष्पत्ति का प्रकरण है।

मम्मट ने रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में भट्टलोल्लट आदि जिन प्राचीन आचार्यों के मतों को प्रस्तुत किया है, उनकी युक्तियां अच्छी प्रकार स्पष्ट नहीं हो पाई हैं। विशेष रूप से भट्टनायक का मत तो 'काव्यप्रकाश' में बहुत अस्पष्ट है। पण्डितराज ने इन सभी मतों की बहुत स्पष्ट व्याख्या की है। रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में मम्मट ने भट्टलोल्लट आदि चार आचार्यों के ही मत प्रस्तुत किये हैं, परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने अन्य अनेक आचार्यों के मतों को भी प्रस्तुत करके उनकी समीक्षा की है।

रसों की संख्या ९ है। उनके स्थायी भाव भी ९ हैं, इस प्रकार का मन्तव्य मम्मट ने लिखा। परन्तु उसने यह नहीं बताया कि स्थायी भाव को स्थायी भाव क्यों कहा जाता है तथा वे रस ९ ही क्यों हैं? पण्डितराज ने इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला है।

शृङ्गार रस के दो भेद - संभोग और विप्रलम्भ, प्राचीन काल से ही किये जाते रहे हैं। परन्तु संभोग और विप्रलम्भ से क्या अभिप्राय विवक्षित है तथा इस विभाजन का क्या अभिप्राय है, यह किसी ने स्पष्ट नहीं किया। सबसे पहले पण्डितराज ने ही इस रहस्य का उन्मीलन किया और कहा कि चित्तवृत्तियों के आधार पर ही सम्भोग और विप्रलम्भ शृङ्गार की अवस्था होती है। चित्तवृत्ति के कारण ही एक शय्या पर स्थित भी दम्पती में मान की अवस्था में विप्रलम्भ शृङ्गार होता है।

पण्डितराज ने सैद्धान्तिक दृष्टि से अपनी अनुपम विशेषता को प्रदर्शित किया है। उदाहरण के रूप में काव्य के लक्षण को लिया जा सकता है। प्राचीन आचार्यों ने शब्द-अर्थ युगल को काव्य माना था। पण्डिजराज का कथन है कि शब्द को ही काव्य का शरीर मानना चाहिये तथा वह शब्द रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला होना चाहिये[1]।

मम्मट ने काव्य के तीन हेतु कहे थे - शक्ति, निपुणता और अभ्यास। पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभा को ही काव्य का हेतु प्रतिपादित करते हैं[2]। मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य के तीन भेद किये थे - उत्तम, मध्यम और अधम। परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ का अभिमत है कि काव्य के चार भेद करने चाहियें - उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम[3]। शब्दचित्र और वाच्यचित्र काव्य को एक ही वर्ग में रखने का उन्होंने विरोध किया। प्राचीन ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों को रस का ही धर्म माना था था, परतु पण्डितराज इनको शब्द, अर्थ, वर्ण, रचना और रस सभी का धर्म मानते हैं।

इसी प्रकार से अनेक स्थलों पर पण्डितराज ने प्राचीन आचार्यों से अपने सैद्धान्तिक मतभेदों को प्रकट करके अपने पक्ष को तर्कों से पुष्ट किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ की और भी विशेषतायें हैं। मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों में आलोचना और तर्क करने की प्रतिभा तो है, परन्तु कवित्व का सामर्थ्य नहीं है। बहुत कम आचार्यों ने स्वरचित उदाहरणों द्वारा अपने सिद्धान्त पक्ष को पुष्ट किया है। मम्मट आदि आचार्यों को उदाहरणों को प्रस्तुत करने के लिये परमुखापेक्षी होना पड़ा है। प्राचीन काव्यों से अपने प्रकरण के अनुकूल उदाहरणों को खोज कर उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। परन्तु पण्डितराज एक ओर जहां प्रखर आलोचक हैं, वहीं दूसरी ओर सरस कविता की रचना करने में भी प्रतिभाशाली हैं। उदाहरणों को प्रस्तुत करने में उन्होंने प्राचीन कवियों का आश्रय नहीं लिया है, अपितु स्वयं उनकी रचना करके अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। उनकी काव्य रचना की प्रतिभा न केवल उनके स्वरचित काव्यों में ही परिलक्षित होती है, अपितु 'रसगंगाधर' में प्रस्तुत किये गये उदाहरणों में भी दृष्टिगोचर होती है। पण्डितराज

का कथन है -

"मैं इस ग्रन्थ में दूसरों की कविता को नहीं, अपितु स्वयं रचित काव्यों को उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूं। कस्तूरी मृग अपनी ही सुगन्ध का सेवन करता है, पुष्पों की नहीं[४]।"

२. पण्डितराज जगन्नाथ का समय

पण्डितराज का समय बहुत पुराना नहीं है। मुगल सम्राट् शाहजहां के वे कृपापात्र थे तथा बहुत समय तक उनके राजदरबार में रहे थे। अतः उनके समय के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। यह निश्चित है। शाहजहां ने इनको पण्डितराज की उपाधि दी थी। शाहजहां १६२८ ई० में राजगद्दी पर बैठा था, १६५८ ई० में औरंगजेब ने उसको कैद कर लिया और १६६६ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। पण्डितराज का भी यही समय होना चाहिये। सम्भव है कि शाहजहां की मृत्यु के बाद कुछ समय तक वे जीवित रहे हों।

३. पण्डितराज जगन्नाथ का जीवन-वृत्त

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने जीवन-वृत्तान्त, परिवार आदि के सम्बन्ध में स्वयं सूचनायें दी हैं। इससे उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ सूचनायें प्राप्त हो जाती हैं। वे तैलंग ब्राह्मण थे[५]। उनके पिता का नाम पेरुभट्ट या पेरमभट्ट था और माता का नाम लक्ष्मी था[६]। इनके पिता बहुत विद्वान् थे। जगन्नाथ ने अनेक गुरुओं से विविध शास्त्रों का अध्ययन किया था। उन्होंने ज्ञानेन्द्रभिक्षु से वेदान्त का, महेन्द्र से न्याय और वैशेषिक का, खण्डदेवोपाध्याय से पूर्वमीमांसा का एवं शेषवीरेश्वर आदि से व्याकरण-महाभाष्य का अध्ययन किया था[७]।

पण्डितराज ने विद्या का अध्ययन अधिकांशतः अपने सर्वविद्याविशारद पिता से किया था। अपने पिता के गुरु शेषवीरेश्वर से भी वे पढे थे। 'मनोरमाकुचमर्दन' ग्रन्थ में उन्होंने इस तथ्य का संकेत किया है[८]। अपने प्रखर पाण्डित्य के कारण जगन्नाथ ने सम्राट् शाहजहां से पण्डितराज की उपाधि प्राप्त की थी और उनके राजदरबार में स्थान पाकर अपना जीवन वहीं व्यतीत किया[९]। शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह के वे प्रियपात्र थे। उसने जगन्नाथ से संस्कृत का अध्ययन किया था। 'जगदाभरण' नामक काव्य में पण्डितराज ने दाराशिकोह को चित्रित किया है।

४. पण्डितराज जगन्नाथ के सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियां

पण्डितराज जगन्नाथ के जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं। इनसे उनके जीवन वृत्तान्त का परिचय मिलता है। उनमें से कुछ को प्रस्तुत करना रोचक होगा।

(१) पण्डितराज जगन्नाथ मुगल बादशाह शाहजहां के कृपापात्र थे। उनके दरबार में वे कैसे पहुंचे, एक किंवदन्ती से यह स्पष्ट होता है। कहा जाता है कि जगन्नाथ ने

जयपुर में एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की थी और वहां दिल्ली से आने वाले किसी काजी को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। इस काजी ने दिल्ली जाकर जगन्नाथ की बहुत प्रशंसा की। तब शहजहां ने उनको दिल्ली बुलवा लिया।

(२) यह भी कहा जाता है कि जयपुर नरेश ही जगन्नाथ की विद्वत्ता से प्रसन्न होकर उनको दिल्ली ले आये थे। दिल्ली दरबार में मुल्ला लोग क्षत्रियों पर यह आक्षेप किया करते थे कि परशुराम ने जब २१ बार क्षत्रियों का संहार कर दिया तो क्षत्रिय बचे ही नहीं। अत: आप लोग क्षत्रिय नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि अरबी भाषा संस्कृत भाषा से प्राचीन है। मुल्लाओं के इन आक्षेपों का उत्तर देने के लिये ही जयपुर नरेश जगन्नाथ को दिल्ली लाये थे। यहां जगन्नाथ ने मुल्लाओं के आक्षेपों का उत्तर इस प्रकार दिया -

(क) परशुराम ने जब पहली बार क्षत्रियों का विनाश किया था और पृथिवी को क्षत्रियविहीन कर दिया था तब अवश्य ही कुछ क्षत्रिय बच गये होंगे। तभी तो उन्होंने दूसरी बार पृथिवी को क्षत्रियों से विहीन किया। इस प्रकार जब-जब परशुराम ने पृथिवी को क्षत्रियों से विहीन किया, तो कुछ न कुछ क्षत्रिय अवश्य बच गये होंगे। इस प्रकार २१ बार संहार करने पर भी कुछ क्षत्रिय अवश्य बच गये। वर्तमान क्षत्रिय उन्हीं की सन्तान हैं।

(ख) अरबी भषा की प्राचीनता के सम्बन्ध में जगन्नाथ ने उत्तर दिया - 'हदीस' में लिखा है कि मुसलमानों को हिन्दुओं के विपरीत आचरण करना चाहिये, यही उनका धर्म है। इससे सिद्ध होता है कि मुसलमानों से पूर्व हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ थे। हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं, अत: संस्कृत भाषा अरबी भाषा से प्राचीन है।

जगन्नाथ की प्रतिभा और प्रत्युत्पन्नमतित्व से शाहजहां बहुत प्रसन्न हुये। उन्होंने उनको अपने राजदरबार में स्थान दिया तथा पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया।

(३) किसी यवन सुन्दरी के साथ जगन्नाथ की प्रणय कथा बहुत प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि शाहजहां के अन्त:पुर मे लवंगी नाम की एक कन्या परम सुन्दरी थी। वह जगन्नाथ की दृष्टि में पड़ गई। किसी समय शाहजहां की अति प्रसन्न मुद्रा में उन्होंने उसको मांग लिया। पण्डितराज के प्रति अतिशय कृपा करने वाले सम्राट् शाहजहां ने भी उस कन्या को उन्हें दे दिया। इस कन्या को पाकर जगन्नाथ ने अपने जीवन को सार्थक और धन्य माना। वे अपने जीवन को उसी के साथ चरितार्थ करने लगे। यवनी के सौन्दर्य की प्रशंसा में रचित जगन्नाथ के अनेक पद्य बहुत प्रसिद्ध हैं[१०]।

यह भी प्रसिद्ध है कि पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उस यवनी के संसर्ग को पण्डितों ने सहन नहीं किया और बहुत घृणित माना था। शाहजहां के आश्रय में अपनी युवावस्था को व्यतीत करके जगन्नाथ उस यवनी को साथ लेकर काशी चले आये थे। वहां अप्पय दीक्षित आदि पण्डितों ने उनको यवनी के संसर्ग से दूषित कह कर धिक्कारा। उनको बहुत अपमानित किया गया और जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। एक बार वे उस यवनी को

साथ लेकर गंगा के तट पर चादर लेकर सो रहे थे कि अप्पय दीक्षित उधर से आ निकले। एक वृद्ध का ऐसा आचरण देख कर वे कह उठे -

"किं निःशङ्कं शेषे शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ "।

परन्तु जब जगन्नाथ ने मुख खोल कर देखा तो वे इस प्रकार कह कर चले गये-

"अथवा सुखं शयीथाः निकटे जागर्ति जाह्नवी भवतः "।

काशी के पण्डितों द्वारा किये गये इस अपमान ने जगन्नाथ को बहुत दुःखी किया। गंगा के तट पर बैठ कर वे उसकी स्तुति में श्लोकों का गान करने लगे। यवनी के सम्बन्ध में भी इन्होंने एक श्लोक कहा[११]। काशी में यह गाथा प्रसिद्ध है कि पण्डितराज जगन्नाथ की स्तुति से प्रसन्न होकर एक एक पद्य पर भगवती गंगा एक एक सीढी उमड़ती चली गई और अन्त में यवनी सहित उनको अपनी गोदी में समाविष्ट करके प्रवाहित करके ले गई। यह स्तोत्र 'पीयूषलहरी' के नाम से प्रसिद्ध है और इसमें ५० पद्य हैं। यह भी कहा जाता है कि काशी के पण्डितों द्वारा किये गये अपमान से दुःखी होकर पण्डितराज ने गंगालहरी (पीयूषलहरी) स्तोत्र का पाठ करते हुये यवनी को साथ लेकर गंगाजल में समाधि ले ली।

(४) यह भी प्रसिद्ध है कि पण्डितराज जगन्नाथ को भट्टोजिदीक्षित तथा अप्पय दीक्षित से व्यक्तिगत वैमनस्य हो गया था। कहा जाता है कि शेषश्रीकृष्ण के पुत्र शेषवीरेश्वर पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट के गुरु थे। भट्टोजिदीक्षित, शेषश्रीकृष्ण के छात्र थे। पण्डितराज जगन्नाथ का भट्टोजिदीक्षित एवं अप्पय दीक्षित से विरोध हो गया था, क्योंकि वे इनको म्लेच्छ कहा करते थे। इन दोनों दीक्षितों की कटु आलोचना जगन्नाथ ने अपनी कृतियों में की है। अप्पय दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' नामक अलङ्कार ग्रन्थ की रचना की थी। उसका विरोध करने के लिये जगन्नाथ ने 'चित्रमीमांसाखण्डन' नामक पुस्तक लिखी।

भट्टोजिदीक्षित को अपमानित करने का प्रयास भी जगन्नाथ ने इसी प्रकार से पुस्तक लिख कर किया था। भट्टोजिदीक्षित ने व्याकरणविषयक एक ग्रन्थ 'मनोरमा' लिखा था। इसका खण्डन करने के लिये पण्डितराज ने 'मनोरमाकुचमर्दन' पुस्तक लिखी। यह कहा जाता है कि अपने ग्रन्थ 'मनोरमा' में भट्टोजिदीक्षित ने जगन्नाथ के गुरु का अपमान किया था। इसी से रुष्ट होकर जगन्नाथ ने 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक ग्रन्थ लिख कर अपना क्रोध उतारा और गुरु के प्रति किये गये अपमान का प्रतिकार किया। इन्होंने भट्टोजिदीक्षित के लिये गुरुद्रुह् और गुरुविद्रोही विशेषण पदों का प्रयोग किया है[१२]।

इस सम्बन्ध में विस्तृत वार्ता यह है -

यदि भट्टोजिदीक्षित, जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट के गुरु शेषवीरेश्वर के पिता शेषश्रीकृष्ण के शिष्य थे और अप्पय दीक्षित इनके समकालीन थे, तो भट्टोजिदीक्षित तथा अप्पय दीक्षित दोनों जगन्नाथ के समकालीन कैसे हो सकते हैं, जिससे कि इनमें परस्पर विरोध होकर

व्यक्तिगत शत्रुता उत्पन्न हो? भट्टोजिदीक्षित का साहित्य-रचना का समय १५८०-१६३० ई० का तथा अप्पय दीक्षित का साहित्य-रचना का समय १६२०-१६७० ई० समझा जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ का समय १६२०-१६७० माना जा सकता है। अत: पण्डितराज की युवावस्था में इन आचार्यों की वृद्धावस्था रही होगी तथा कुछ समय के लिये वे समकालीन रहे होंगे।

५. पण्डिजराज जगन्नाथ की रचनायें

पण्डितराज अति प्रतिभाशाली विद्वान् और कवि थे। एक ओर तो उन्होंने 'रसगंगाधर' जैसे प्रौढ और पाण्डित्य से पूर्ण ग्रन्थ की रचना की, वहीं दूसरी ओर सरस, हृदयाह्लादक काव्यों का निर्माण भी किया। इनकी कृतियों का संक्षिप्त विवरण निम्न है -

(१) लक्ष्मीलहरी -

इस काव्य में लेखक ने भगवती लक्ष्मी की स्तुति की है। इस स्तोत्र रूप काव्य में ४१ श्लोक हैं।

(२) अमृतलहरी -

इस काव्य में जगन्नाथ ने भगवती यमुना की स्तुति की है। इसमें यमुना के जल को अमृत के तुल्य कहा गया है। यह काव्य शार्दूलविक्रीडित छन्द के १० श्लोकों में लिखा गया है।

(३) करुणालहरी -

इस काव्य में भगवान् विष्णु की स्तुति है। यह काव्य शिखरिणी छन्द के ५२ श्लोकों में पूरा हुआ है।

(४) पीयूषलहरी -

इस काव्य का दूसरा नाम 'गंगालहरी' भी है। यह काव्य शिखरिणी छन्द के ५२ श्लोकों में है। इस स्तोत्र का पाठ करते हुये ही पण्डितराज जगन्नाथ ने यवनी सहित अपने आपको भागीरथी के जल में प्रवाहित कर दिया था।

(५) जगदाभरण -

इस काव्य की रचना पण्डितराज ने शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह की प्रशंसा में की थी।

(६) आसफविलास -

इस काव्य में शाहजहां के सेनापति नबाब आसफखां का वर्णन है। आसफखां की मृत्यु १६४१ ई० में हुई थी।

(७) भामिनीविलास -

यह एक संग्रह काव्य है। इसमें पण्डितराज की अनेक विविध विषयक कवितायें हैं। इसके चार भाग हैं - अन्योक्तिविलास, शृङ्गारविलास, करुणविलास और शान्तिविलास।

(८) प्राणाभरण –

यह काव्य प्राणनारायण की प्रशंसा में लिखा गया था। प्राणनारायण मुगलों के एक सामन्त थे। इनकी मृत्यु १६६६ई० में हुई थी। ये कहां के शासक थे, इस विषय में मतभेद है। कुछ विद्वानों ने इनको कामरूप-आसाम का, कुछ ने कमता का और कुछ ने नेपाल का शासक बताया है।

(९) यमुनावर्णनचम्पू –

यह एक चम्पूकाव्य रहा होगा, परन्तु वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। 'रसगंगाधर' में इसका उल्लेख है और इसके कुछ अंश उद्धृत हैं।

(१०) चित्रमीमांसाखण्डन –

इस ग्रन्थ में पण्डितराज ने अप्पय दीक्षित विरचित 'चित्रमीमांसा' का खण्डन किया है।

(११) मनोरमाकुचमर्दन –

यह व्याकरण विषयक ग्रन्थ है। भट्टोजिदीक्षित ने 'सिद्धान्तकौमुदी' पर टीका मनोरमा' नाम की लिखी थी। इसका खण्डन करने के लिये ही जगन्नाथ ने 'मनोरमाकुचमर्दन' या 'मर्दिनी' ग्रन्थ लिखा।

(१२) रसगंगाधर –

काव्यशास्त्र विषय पर लिखा गया जगन्नाथ का यह ग्रन्थ अपूर्व है। यद्यपि यह ग्रन्थ अपूर्ण है, तथापि इसने जगन्नाथ को अक्षय कीर्ति प्रदान की है। इसकी विषय-वस्तु का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

५. रसगंगाधर

पण्डितराज जगन्नाथ का सबसे श्रेष्ठ और पाण्डित्य से पूर्ण ग्रन्थ 'रसगंगाधर' है। काव्यशास्त्र के आचार्यों में इस ग्रन्थ को पाण्डित्य की कसौटी कहा जाता है। अपूर्ण होने पर भी इस ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन स्पष्ट, सशक्त एवं उच्च समीक्षात्मक है। इस ग्रन्थ में पण्डितराज ने प्राचीन प्रतिष्ठित आचार्यों की भी कठोर आलोचना की है। आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ जैसे आचार्य भी उनकी प्रखर आलोचना से बचे नहीं रहे। काव्यशास्त्र के अनेक विषयों पर इन्होंने अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जो प्राचीन आचार्यों से अनेक अंशों में भिन्न है। काव्य के लक्षण, प्रयोजन, हेतु, भेद, गुण, अलङ्कार आदि सभी विषयों पर इनका स्वतन्त्र अभिमत स्थान स्थान पर परिलक्षित होता है। विषयों के प्रतिपादन की दृष्टि से रसगंगाधर को दो आननों में विभक्त किया गया है। इनका विवेचन कुछ इस प्रकार है –

(१) प्रथम आनन –

पण्डितराज जगन्नाथ ने पहले प्रस्तावना में कुछ परिचायक श्लोक दिये हैं।

तदनन्तर काव्य का लक्षण, प्रयोजन, हेतु और भेदों की व्याख्या करके रस के स्वरूप को बताया गया है। रस के भेदों की विवेचना करके पण्डितराज ने गुणों के स्वरूप तथा संख्या का निरूपण किया है। प्राचीन आचार्यों – वामन आदि ने गुणों के दो वर्ग किये थे – शब्दगुण और अर्थगुण। परन्तु मम्मट का अनुकरण करते हुये पण्डितराज ने उनका अन्तर्भाव माधुर्य, ओजः और प्रसाद इन तीन गुणों में सिद्ध किया। ये तीनों भी शब्दगुण ही हैं, अर्थगुण नहीं। इसके अनन्तर विभिन्न भावों, व्यभिचारी भावों आदि का निरूपण करके रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का निरूपण है। इस प्रकार पण्डितराज का कथन है कि अलक्ष्यक्रम ध्वनि भी कहीं लक्ष्यक्रम हो जाती है तथा वर्ण, रचना आदि रसादि के अभिव्यञ्जक नहीं होते।

(२) द्वितीय आनन –

दूसरे आनन में सबसे पहले संलक्ष्यक्रम ध्वनि का विवेचन है। इसके पश्चात् शक्तिनियामक तत्त्वों – संयोग, विप्रयोग आदि का वर्णन है। इसके अनन्तर शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक ध्वनियों का विस्तृत विवेचन किया गया है। तदनन्तर लक्षणामूल ध्वनि का विस्तृत निरूपण करते हुये अभिधा तथा लक्षणा शक्तियों की विवेचना की गई है। अब अलङ्कारों का विवेचन प्रारम्भ होता है। 'रसगंगाधर' में इस अवसर पर उपमा से लेकर उत्तर अलङ्कार तक ७० अलङ्कारों का कथन किया गया है।

उपलब्ध 'रसगंगाधर' ग्रन्थ अपूर्ण ही प्रतीत होता है। इसमें सभी अलङ्कारों की विवेचना नहीं हो सकी है। उपमा से लेकर उत्तर अलङ्कार तक ७० अलङ्कारों का ही कथन किया गया है। अनेक समालोचकों का विचार है –

पण्डितराज जगन्नाथ इस ग्रन्थ की रचना को पूरा नहीं कर सके थे, क्योंकि उत्तर अलङ्कार तक इस ग्रन्थ को लिखने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई थी। जगन्नाथ की मृत्यु के ५० वर्ष बाद नागेश भट्ट ने 'रसगंगाधर' की टीका लिखी थी। यह टीका भी उत्तर अलङ्कार तक ही उपलब्धं होती है।

परन्तु अन्य समालोचकों का विचार है कि जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ की रचना को पूरा कर लिया था। यह तथ्य उनके ही कथन से प्रमाणित हो जाता है। 'रसगंगाधर' की रचना के पश्चात् ही उन्होंने 'चित्रमीमांसाखण्डन' को लिखा था। यह सूचना इस ग्रन्थ की प्रस्तावना के श्लोक से ही प्राप्त हो जाती है [१३]। इसके अतिरिक्त 'चित्रमीमांसाखण्डन' में उदाहरण अलङ्कार की आलोचना करते हुये उन्होंने लिखा है कि इसको विशेष रूप से 'रसगंगाधर' में ही उदाहरण अलङ्कार के प्रकरण में देख लेना चाहिये[१४]।

इस विवेवन से दो बातों का अनुमान किया जा सकता है –

(१) 'रसगंगाधर' को पण्डितराज जगन्नाथ ने उत्तर अलङ्कार से आगे भी लिखा होगा और सभी अलङ्कारों का विवेचन किया होगा। परन्तु यह अंश किन्हीं कारणों से विलुप्त हो गया। वह अब उपलब्ध नहीं है।

(२) पण्डितराज जगन्नाथ उत्तर अलङ्कार तक 'रसगंगाधर' की रचना कर 'चित्रमीमांसाखण्डन' को लिखने में लग गये। वे बाद को इसे पूरा कर लेंगे, यह विचार रखते होंगे, परन्तु किन्हीं कारणों से उसको पूरा नहीं कर सके।

७. रसगंगाधर की प्राचीन टीकायें

प्राचीन अलङ्कार ग्रन्थों पर यद्यपि अनेक टीकायें लिखी गई थीं, तथापि 'रसगंगाधर' जैसे प्रौढ और पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ पर बहुत कम टीकायें लिखी जा सकीं। सम्भवतः ग्रन्थ की अत्यधिक कठिनता ही इसका कारण रही हो। सामान्य कोटि के विद्वान् इस महनीय ग्रन्थ की टीका लिखने का साहस नहीं कर सके। अंगुलियों पर गिनने योग्य भारतीय विद्वान् ही यह कार्य सम्पन्न कर सके। 'रसगंगाधर' पर दो प्राचीन टीकायें विदित हुई हैं – (१) विषमपदी टीका और (२०) गुरुमर्मप्रकाशिका टीका।

(१) विषमपदी टीका –

यह टीका अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकी है। इसके लेखक का नाम भी विदित नहीं हो सका है।

(२) गुरुमर्मप्रकाशिका टीका –

इस टीका की रचना इतिहास में प्रसिद्ध वैयाकरण तथा टीकाकार नागेश भट्ट ने की थी। यह टीका पण्डितराज जगन्नाथ की मृत्यु के ५० वर्ष बाद लिखी गई थी। इस टीका का परिचय अगले अध्याय में नागेश भट्ट के प्रसंग में देखना चाहिये।

वर्तमान समय में 'रसगंगाधर' ग्रन्थ की कुछ टीकायें लिखी गई हैं। इनमें पं० मथुरादत्त की संस्कृत टीका संक्षिप्त होते हुये भी विषय को स्पष्ट करती है। कविशेखर पं० बदरीदत्त झा की संस्कृत टीका तथा पं० मदनमोहन की हिन्दी टीका बहुत उपयोगी हैं और विषय की व्याख्या करती हैं। विषय को स्पष्ट करने में ये बहुत उपयोगी हैं।

....

सन्दर्भ –

१. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।। रसगंगाधर प्रथम आनन।।

२. तस्य कारणं कविगता केवलं प्रतिभा। रसगंगाधर प्रथम आनन।।

३. तच्चोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा।। रसगंगाधर प्रथम आनन।।

४. निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयाऽत्र विहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।। रसगंगाधर प्रस्तावना श्लोक।।

५. तैलंगकुलावतंसेन...........।। आसफविलास का प्रारम्भ।।

६. पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्।। रसगंगाधर प्रस्तावना श्लोक।।

७. श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः
काणादीराक्षपादादपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः।। रसगंगाधर प्रस्तावना श्लोक।।

८. अस्मद्गुरुशेषवीरेश्वराणाम्.........।। मनोरमाकुचमर्दन ।।

९. दिल्लीबल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।। भामिनीविलास।।

१०. यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीये यदि नीयते कदाऽपि।
अवनीतलमेव साधु मन्ये नवनी माघवती विनोदहेतुः।।
न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं
न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता
लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गीकरोतु।।
यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतमा नवनीतसमा।
जहि ऊहि वचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्कगता।।

११. सुरधुनि मुनिकन्ये तारयेः पुण्यवन्तं
स तरति निजपुण्यैस्तत्र ते किं महत्त्वम्।
यदि हि यवनकन्यां पापिनीं मां पुनीहि
तदिह तव महत्त्वं तन्महत्त्वं महत्त्वम्।।

१२. दृप्यद्द्राविडदुर्ग्रहग्रहवशान्म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा
यन्म्लेच्छेति वचोऽवचिन्त्यसदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना।
तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृद्नात् कुचं
निर्बध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्पय्ययाद्यात् स्थितान्।।

१३. रसगंगाधरे चित्रमीमांसायां मयोदिता।
ये दोषास्तेऽत्र संक्षिप्य कथ्यन्ते विदुषां मुदे।। चित्रमामांसाखण्डन।।

१४ विशेषस्तु उदाहरणालङ्कारप्रसंगे रसगंगाधरादवसेयः।। चित्रमीमांसाखण्डन पृ० १२।।

....

उनचासवां अध्याय

नागेश भट्ट

१. नागेश भट्ट का परिचय और महत्त्व

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों के टीकाकारों में नागेश भट्ट का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनकी टीकायें अति महत्त्वपूर्ण और कीर्तिशाली हैं। व्याकरणशास्त्र के उद्भट विद्वान् होने के साथ ही वे काव्यशास्त्र के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। 'रसगंगाधर' ग्रन्थ की टीका करने के कारण इन्होंने काव्यशास्त्र के आचार्यों में सम्माननीय स्थान प्राप्त किया था।

२. नागेश भट्ट का परिचय

नागेश भट्ट महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनका उपनाम काले था। वे नागोजिभट्ट के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इनके पिता का नाम शिवभट्ट था। माता का नाम था - सती देवी। शेषश्रीकृष्ण के पुत्र शेषवीरेश्वर जगन्नाथ के गुरु थे। भट्टोजिदीक्षित शेषश्रीकृष्ण के शिष्य थे। शेषवीरेश्वर के पुत्र वीरेश्वर थे तथा वीरेश्वर के पुत्र हरिदीक्षित नागेशभट्ट के गुरु थे। इस प्रकार नागेश भट्ट का स्थिति-काल पण्डितराज जगन्नाथ के दो पीढियों बाद का सिद्ध होता है। यह गुरु-शिष्य परम्परा निम्न प्रकार से बनती है[1] -

शेष श्रीकृष्ण

शेष वीरेश्वर (पुत्र तथा शिष्य) — भट्टोजि दीक्षित(शिष्य)

पुरुषोत्तम (पुत्र) — चक्रपाणि (पुत्र) — पेरुभट्ट (शिष्य)

जगन्नाथ (पुत्र तथा शिष्य)

लक्ष्मीधर

भट्टोजि दीक्षित (पुत्र) — रंगोजि भट्ट (पुत्र)

कोण्डभट्ट (पुत्र)

वीरेश्वर (पुत्र तथा शिष्य) — जगन्नाथ (शिष्य) — भानुजी उपनाम रामाश्रय (पुत्र)

हरिदीक्षित (पुत्र तथा शिष्य)

नागेश भट्ट (शिष्य)

३. नागेश भट्ट का समय

नागेश भट्ट ने भानुदत्त की 'रसमञ्जरी' पर टीका लिखी थी। इस टीका की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि १७१२ ई० की मिली है। अत: नागेश भट्ट को १७ वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ का माना जा सकता है।

४. नागेशभट्ट की रचनायें

नागेश भट्ट प्रसिद्ध वैयाकरण थे और इन्होंने व्याकरण विषय पर महनीय कृतियों का सृजन किया था। इस प्रसंग पर यहां इन ग्रन्थों पर विचार नहीं किया जा रहा। नागेश भट्ट काव्यशास्त्री भी थे। इन्होंने प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर अनेक टीकायें लिखी थीं। यहां उनका परिचय देना उचित होगा। ये निम्न हैं -

(१) रसगंगाधर पर गुरुमर्मप्रकाशिका टीका -

नागेश भट्ट लिखित यह टीका 'रसगंगाधर' ग्रन्थ पर लिखी गई प्राचीनतम उपलब्ध टीका है। इस टीका का नाम 'गुरुमर्मविमर्शिनी' भी है। वस्तुत: इसको टीका न कह कर टिप्पणी कहना ही अधिक उचित है। यह टीका अति संक्षिप्त है और अनेक स्थानों पर मूल का स्पर्श ही नहीं किया गया है। मूल का स्पर्श होने पर भी अनेक स्थलों पर नागेशभट्ट ने 'रसगंगाधर' के मत का खण्डन भी किया है। उदाहरण के लिये -

नागेशभट्ट ने जगन्नाथ के काव्य-लक्षण का खण्डन करके शब्द-अर्थ समुदाय को ही काव्य का शरीर प्रतिपादित किया है।

नागेश भट्ट ने अनेक स्थानों पर पण्डितराज के दोषों का उद्घाटन किया है। कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि नागेश भट्ट का उद्देश्य पण्डितराज के दोषों का उद्घाटन करना ही अधिक था। पं० मथुरादत्त ने अपनी टीका में नागेश भट्ट की टीका के अनेक दोषों को प्रदर्शित किया है।

(२) बृहदुद्योतटीका -

गोविन्द ठक्कर की काव्यप्रकाशीय टीका का सम्पादन कर नागेश भट्ट ने दो टीकायें लिखीं। इनमें एक टीका बड़े आकर की - बृहदुद्योतटीका है।

(३) लघु उद्योत टीका -

ऊपर कही गई गोविन्द ठक्करकृत काव्यप्रकाशीय टीका के अतिरिक्त एक छोटी टीका भी नागेश भट्ट ने लिखी थी। इसका नाम लघु-उद्योत टीका है।

(४) उदाहरणदीपिका -

नागेश भट्ट ने इस टीका में 'काव्यप्रकाश' के अन्तर्गत उदाहरणों को स्पष्ट किया है और बताया है कि वे श्लोक किस ग्रन्थ के हैं।

(५) अलङ्कारसुधा और विषमपदव्याख्यानषट्पदानन्द –

इन ग्रन्थों में अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' की व्याख्या है।

(६) रसतरङ्गिणी टीका –

नागेश भट्ट ने भानुदत्त की 'रसतरङ्गिणी' पर टीका लिखी थी।

(७) रसमञ्जरी की टीका –

नागेशभट्ट ने भानुदत्त की 'रसमञ्जरी' पर भी टीका लिखी थी।

....

सन्दर्भ –

१. पी०वी०काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ४०१।।

....

पचासवां अध्याय

विश्वेश्वर

१. विश्वेश्वर का महत्त्व

पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् काव्यशास्त्रविषयक मौलिक रचनाओं के लेखन में संस्कृत विद्वानों की प्रतिभा लुप्त हो गई हो, ऐसा नहीं है। १८ वीं शताब्दी ई० में भी कुछ विद्वानों ने अपनी प्रतिभा और व्युत्पत्ति से संस्कृत के अनुरागियों को अनुरञ्जित और चमत्कृत किया था।

१८ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में जन्मे पं० विश्वेश्वर पाण्डेय ने अपनी मौलिक प्रतिभा तथा ग्रन्थों के लेखन से विद्वज्जनों को निश्चय ही चमत्कृत किया था। विश्वेश्वर पाण्डेय एक ओर जहां प्रकाण्ड पण्डित थे, वहीं दूसरी ओर सहृदय कवि भी थे। उन्होंने व्याकरण, दर्शन एवं काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचना तो की ही थी, सरस काव्यों का भी गद्य और पद्य दोनों में प्रणयन किया था। पाण्डेय जी के ग्रन्थों में हमको गम्भीर प्रौढ पाण्डित्य के साथ साथ सरस काव्य-प्रतिभा के भी दर्शन होते हैं।

२. विश्वेश्वर का जीवन वृत्त और समय

विश्वेश्वर पाण्डेय के पूर्वज अलमोड़ा जिले के अन्तर्गत पाटिया नामक ग्राम में निवास करते थे। इन पाण्डेय लोगों के पूर्वज श्रीबल्लभ पाण्डेय उपाध्याय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे । वे चन्द राजाओं के समय में कन्नौज के खोर नामक ग्राम से पर्वतों में आये थे। उनका गोत्र भारद्वाज था। यहां के चन्द राजाओं ने इस वंश के पण्डितों को अपना राजगुरु बनाया था। पाटिया नामक ग्राम इनको जागीर के रूप में दिया गया[१]।

विश्वेश्वर पाण्डेय के पिता लक्ष्मीदत्त पाण्डेय वृद्धावस्था में पाटिया से काशी चले आये थे। यहां आकर वे मणिकर्णिका घाट पर रह कर भगवान् विश्वेश्वर की आराधना में जीवन व्यतीत करने लगे। भगवान् विश्वेश्वर की कृपा से उनको पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। पुत्र का नाम भी उन्होंने विश्वेश्वर रखा। इस बालक की जन्मतिथि को ठीक ठीक निर्धारित करना कठिन है। तथापि अनुमान से वे १८ वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भिक काल में उत्पन्न हुये होंगे। विश्वेश्वर पाण्डेय के एक ग्रन्थ 'वैयाकरणसुधानिधि' के अवलोकन से यह विदित होता है कि वे भट्टोजिदीक्षित के काफी समय बाद हुये थे।

विश्वेश्वर को उनके पिता लक्ष्मीदत्त पाण्डेय ने ही मुख्य रूप से विद्या का अध्ययन कराया था। इन्होंने अपने पिता की वन्दना गुरु के तुल्य ही की है[२]। 'मन्दारमञ्जरी', 'रसचन्द्रिका', 'अलङ्कारमुक्तावली', 'अलङ्कारप्रदीप' आदि ग्रन्थों में इन्होंने इसी प्रकार से अपने पिता का स्मरण किया है। विश्वेश्वर के एक पुत्र का नाम जयकृष्ण था। उसने अपने पिता की एक रचना 'रसमञ्जरी की टीका की थी। इस टीका में एक श्लोक द्वारा उसने यह सूचित किया था -

"इस पुस्तक की पाण्डुलिपि का लेखन ग्रन्थकार के पुत्र जयकृष्ण ने किया है।" जयकृष्ण ने इस प्रतिलिपि के लेखन को १६३४ शालिवाहन शक सम्वत् के श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को पूरा किया था[३]।

काशी में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि विश्वेश्वर पाण्डेय का ४२ वर्ष की अल्प आयु में ही अनेक पुस्तकों की रचना करने के अनन्तर देहावसान हो गया था।

३. विश्वेश्वर की रचनायें

विश्वेश्वर पाण्डेय व्याकरण, दर्शन, काव्यशास्त्र आदि अनेक विषयों के प्रकाण्ड मनीषी विद्वान् थे। पांच वर्ष की स्वल्प आयु में ही इन्होंने विद्या का अध्ययन कर लेखन प्रारम्भ कर दिया था। जिस शास्त्र का वे अध्ययन प्रारम्भ करते थे, उसी पर ग्रन्थों का लेखन भी करने में लग जाते थे। इस प्रकार शास्त्रों का अध्ययन करने के साथ वे शास्त्रों की रचना करने में भी वे कुशल हो गये थे। वे प्रतिभाशाली कवि भी थे और उन्होंने अनेक काव्यों की रचना की थी। उनके अनेक ग्रन्थ तो प्रकाशित हो गये हैं, परन्तु कुछ प्रकाशित नहीं भी हो सके हैं। 'मन्दारमञ्जरी' के टीकाकार श्री तारादत्त पन्त ने उनकी विदित रचनाओं की संख्या निम्न प्रकार से दी है -

(१) अलङ्कारकौस्तुभ
(२) अलङ्कारमुक्तावली
(३) आर्यासप्तशती
(४) कवीन्द्रकण्ठाभरण
(५) काव्यतिलक
(६) काव्यरत्न
(७) तर्ककुतूहल
(८) दीधितिप्रवेश
(९) नवमालिका
(१०) नैषधीयकाव्यटीका
(११) मन्दारमञ्जरी

(१२) रसचन्द्रिका
(१३) रसमञ्जरी
(१४) रोमावलीशतक
(१५) लक्ष्मीविलास
(१६) वक्षोजशतक
(१७) शृङ्गारमञ्जरीसट्टक
(१८) षड्ऋतुवर्णन
(१९) सिद्धान्तसुधानिधि (वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधि)
(२०) होलिकाशतक
(२१) कुछ तान्त्रिक ग्रन्थ

४. विश्वेश्वर पाण्डेय की कुछ प्रमुख रचनाओं का परिचय

(१) मन्दारमञ्जरी –

'मन्दारमञ्जरी' एक गद्य काव्य है। इस काव्य की रचना में पाण्डेय जी ने बाण की 'कादम्बरी' का अनुकरण किया है। यह काव्य 'कादम्बरी' की अपेक्षा भी अधिक पाण्डित्यपूर्ण तथा कठिन हो गया है। विना टीका के इस काव्य को समझना सामान्य पाठकों के लिये कठिन ही है। पं० तारादत्त पन्त ने सम्वत् १९९५ में इस काव्य की टीका लिखी थी। इस काव्य के दो भाग हैं – पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की रचना विश्वेश्वर पाण्डेय की है, परन्तु उत्तरार्द्ध को उनके किसी शिष्य ने लिखा था। उत्तरार्द्ध की पाण्डुलिपि के अन्तिम पृष्ठों के न मिलने से इस लेखक का नाम विदित नहीं हो सका है।

(२) वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधि –

इस ग्रन्थ में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के क्रम से सूत्रों की व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थ की रचना में पाण्डेय जी ने पातञ्जल 'महाभाष्य' का अनुकरण किया है। इस ग्रन्थ की सहायता से 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों का अर्थ अच्छी प्रकार से समझ में आ जाता है। इस ग्रन्थ के तीन अध्याय ही उपलब्ध हुये हैं। इनको चौखम्बा ग्रन्थमाला ने प्रकाशित किया है। यह एक विशाल ग्रन्थ है तथा तीन अध्यायों का विस्तार ही १५१९ पृष्ठों में विस्तृत है। इस ग्रन्थ में लेखक ने वेद, व्याकरण, न्याय, वेदान्त, मीमांसा और साहित्य विषयक ग्रन्थों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है।

(३) आर्यासप्तशती –

यह एक सुन्दर मुक्तक रचना है। इसमें आर्या छन्द में ६९४ श्लोक हैं। इस पुस्तक में देवता, गुरु एवं कवि की वन्दना करके नृप की स्तुति की गई है। तदनन्तर अकारादि क्रम से आर्या छन्द में पद्यों की रचना है।

५. प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का परिचय

(१) अलङ्कारकौस्तुभ –

काव्यशास्त्र विषय पर विश्वेश्वर पाण्डेय का यह ग्रन्थ अत्यधिक गौरवपूर्ण है। इसको काव्यशास्त्र का अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ समझा जा सकता है। इस ग्रन्थ में लेखक ने रस, रीति, गुण, दोष आदि की बहुत विस्तृत गहन विवेचना की है। इस विवेचना में वे मम्मट, जगन्नाथ आदि से भी बहुत आगे बढ गये हैं। इनका यह विवेचन नव्य न्याय के आधार पर हुआ है।

'अलङ्कारकौस्तुभ' ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता अलङ्कारों का विवेचन है। इसमें लेखक ने स्थान-स्थान पर अप्पय दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ के मतों का खण्डन किया है। इस ग्रन्थ की विशालता का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि इसमें उपमा के स्वरूप और भेदों की विवेचना ही १५० पृष्ठों में पूरी हुई है। इस ग्रन्थ की रचना लेखक ने विशेष विद्वानों के लिये ही की थी। बालकों के लिये 'अलङ्कारमुक्तावली' की रचना करते हुये उन्होंने 'अलङ्कारकौस्तुभ' को **"नानापक्षविभावनकुतुक"** कहा। इसका अभिप्राय यह है कि अलङ्कारों के निरूपण में इस ग्रन्थ में विश्वेश्वर ने विभिन्न मतों की समीक्षा कर अपने मत को प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की टीका स्वयं विश्वेश्वर ने 'स्वोपज्ञ' नाम से की थी।

(२) अलङ्कारमुक्तावली –

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि 'अलङ्कारकौस्तुभ' नामक विस्तृत ग्रन्थ की रचना करके विश्वेश्वर ने 'अलङ्कारमुक्तावली' का लेखन इसलिये किया कि बालक भी सुखपूर्वक अलङ्कारों का अध्ययन कर सकें[४]। इस ग्रन्थ में विवेचना बहुत कम है तथा अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण ही अधिक हैं। लेखक ने पहले कारिकायें दी हैं, जो कि प्रायः 'अलङकारकौस्तुभ' से ली गई हैं। तदनन्तर उदाहरण देकर उनकी विवृति है। इस ग्रन्थ में कुल ५९ काकियें हैं।

(३) अलङ्कारप्रदीप –

'अलङ्कारप्रदीप' ग्रन्थ में अलङ्कारों की सरल विवेचना की गई है। इस ग्रन्थ का लेखन भी बालकों को सरलता से अलङ्कारों को समझाने के लिये किया गया है। इसमें पहले अलङ्कारों का लक्षण सूत्र रूप में लिखा है, तदनन्तर सूत्र की व्याख्या है और उसके बाद उदाहरण द्वारा उसको स्पष्ट किया गया है। इस ग्रन्थ में ११९ सूत्र हैं। लेखक ने प्रायः स्वरचित श्लोकों को उदाहरण के रूप में दिया है।

(४) रसचन्द्रिका –

इस ग्रन्थ में नायक-नायिका के भेदों की तथा उनके स्वरूप की व्याख्या है। उनकी विवेचना परिष्कृत लक्षणों और नवीन उदाहरणों द्वारा की गई है। इसके साथ ही रस आदि का भी विस्तार से निरूपण है।

(५) कवीन्द्रकण्ठाभरण –

इस ग्रन्थ की रचना में विश्वेश्वर पाण्डेय ने 'विदग्धमुखमण्डन' ग्रन्थ का अनुकरण किया है। इसमें शब्दालङ्कारों का विवेचन है तथा चित्रकाव्य का सुन्दर प्रामाणिक विवेचन है। प्रहेलिका और चित्रालङ्कारों को समझने के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इस ग्रन्थ की रचना में ग्रन्थकार का कथन यह है कि प्राचीन आचार्यों ने विचार करके जिन गौरवास्पद तथ्यों को प्रस्तुत किया था, वे उसी का अनुकरण कर रहे हैं। विद्वज्जन उसका उपहास न करें[५]।

ऊपर की गई विवेचना से तथा ग्रन्थों के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि विश्वेश्वर पाण्डेय के पाण्डित्य की प्रतिभा और परिश्रम अद्वितीय तथा अनुपम हैं। वे महान् विचारक, दार्शनिक एवं कवि तो हैं ही, अलङ्कारशास्त्र के विकास के लिये भी उनकी देन कम नहीं है। पं० विश्वेश्वर पाण्डेय की कृतियों का अध्ययन किये विना काव्यशास्त्र का अध्ययन अपूर्ण ही रहता है।

....

सन्दर्भ –

१. बदरीदत्त पाण्डेय : कुमायूं का इतिहास पृ० ५६३-५६४।।
२. जयति यथाजातानां वाग्जातसुजातपारिजातश्री।
श्रीलक्ष्मीधरविबुधावतंसचरणाब्जरेणुनिकरः ।। मन्दारमञ्जरी प्रस्तावना श्लोक १२।।
३. दिग्गुणर्तुशशलाञ्छनयुक्ते शालिवाहनचक्रे जयकृष्णः।
श्रावणीयसितदशम्यां निर्मितिं पितुरिमां विलिलेख।।
४. नानापक्षविभावनकुतुकमलङ्कारकौस्तुभं कृत्वा।
सुखबोधाय शिशूनां क्रियते मुक्तावली तेषाम्।। अलङ्ारमुक्तावली कारिका २।।
५. यदभिहितं बहुमहितं पूर्वाचार्यैर्विचार्यैव।
अनुकुर्वन् किञ्चिद् बहुविद्भिर्नार्हमुपहास्यः।।

....

इकावनवां अध्याय

नरसिंह कवि

१. नरसिंह कवि का महत्त्व

नरसिंह १९ वीं शताब्दी ई० के कवि थे। इन्होंने 'नञ्जराजयशोभूषण' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ काव्य और शास्त्र दोनों है। इस प्रकार नरसिंह को काव्यशास्त्री और कवि दोनों ही कहा जा सकता है। नरसिंह ने यह ग्रन्थ अपने आश्रयदाता नञ्जराज की स्तुति में लिखा था।

'नञ्जराजयशोभूषण' में लेखक ने काव्यशास्त्र के तत्त्वों की विवेचना करके स्वरचित उदाहरणों को नञ्जराज की स्तुति के रूप में प्रस्तुत किया है। नरसिंह कवि को कालिदास की उपाधि प्राप्त हुई थी । इस ग्रन्थ में नरसिंह ने अपने को नवकालिदास तथा नञ्जराज को नवभोजराज कहा है[1]।

२. नरसिंह कवि का जीवन-वृत्त और समय

नरसिंह कवि नञ्जराज की राजसभा में तथा उनके आश्रय में रहा करते थे। नञ्जराज के पिता मैसूर (महीशूर) देश के राजा के सर्वाधिकारी के पद पर प्रतिष्ठित थे। नञ्जराज के पिता का नाम वीरराज था। इनके दो बड़े भाई भी थे - देवराज और दोड्डराज। ये दोनों भी मैसूर के राजा के उच्च पदाधिकारी थे।

मैसूर में १७३४-१७६६ ई० तक कृष्णराज द्वितीय (चिक्का कृष्णराज) का शासन रहा। १७३९ ई० में उसने नञ्जराज को सर्वाधिकारी के पद पर नियुक्त किया था तथा नञ्जराज ने शासन के सभी अधिकार अपने हाथ में ले लिये थे। यह समय बहुत संकट का था। फ्रैंच और अंग्रेज भारत की राजनीति में और युद्धों में भाग ले रहे थे। मैसूर पर मरहटों तथा मुसलमानों के भी निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। नञ्जराज ने हैदरअली की सहायता से इन उपद्रवों को शान्त किया। परन्तु हैदरअली ने भी १७५९ ई० में नञ्जराज से अधिकार छीन कर उसको अपनी जागीर कोन्नूर में ही रहने के लिये बाध्य कर दिया।

इस प्रकार नञ्जराज १७३९-१७५९ ई० २० वर्ष की अवधि तक मैसूर का सबसे शक्तिशाली अधिकारी रहा। कुछ समय के पश्चात् हैदरअली ने १७६६ ई० में कृष्णराज को राजगद्दी से उतार कर और शासन के अधिकारों से वंचित कर राज्य के सभी अधिकार संभाल लिये।

इस समय मैसूर पर निजाम के तथा मरहटों के आक्रमण पुनः होने लगे। हैदरअली को यह आभास हुआ कि इन आक्रमणों में नञ्जराज का षड्यन्त्र है। उसने मित्रता का बहाना करके १७७१ ई० में नञ्जराज को श्रीरंगपट्टन बुला कर धोखे से कैद कर लिया। इसी कैद में नञ्जराज की मृत्यु हो गई।

नञ्जराज न केवल वीर, निपुण शासक और राजनीतिज्ञ ही था, अपितु साहित्यिक अभिरुचि रखने वाला कवि भी था। उसके नाम से निम्न १८ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं -

(१) संगीतगंगाधर (२) हालास्यमाहात्म्यम् (३) शिवभक्तिविलास (४) काशीमहिमार्थदर्पणम् (५) कुकुद्गिरिमाहात्म्यम् (६) काशीकाण्डम् (७) शिवगीता (८) गरलपुरीमाहात्म्यम् (९) शिवधर्मोत्तरम् (१०) विघ्नेश्वरव्रतकल्प (११) मार्कण्डेयपुराणम् (१२) भद्रगिरिमाहात्म्यम् (१३) शिवभक्तिमाहात्म्यम् (१४) भारतम् (१५) हरदत्ताचार्यमाहात्म्यम् (१६) हेतुमहिमादर्शः (१७) शैवधर्मः (१८) हरिवंशः।

इन ग्रन्थों में 'संगीतगंगाधर' ग्रन्थ संस्कृत भाषा में है तथा शेष पुस्तकें कन्नड़ भाषा में हैं।

नरसिंह कवि इन्हीं नञ्जराज के आश्रय में रहा करते थे। शास्त्रकार और कवि इन्होंने अपने वंश आदि का विवरण नहीं दिया। तथापि 'नञ्जराजयशोभूषण' ग्रन्थ में इसके कुछ संकेत अवश्य आ गये हैं।

नरसिंह कवि सनगर कुल में उत्पन्न ब्राह्मण थे। इस कुल के ब्राह्मण अब भी बंगलौर में रहते हैं। नरसिंह के पिता का नाम शिवराम सुधी था[२]। प्रतीत यह होता है कि अपने पिता से इन्होंने शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। 'नञ्जराजशोभूषण' के प्रत्येक विलास के अन्त में इन्होंने अपने पिता का सादर स्मरण किया है तथा उनको शिव के अवतार के रूप में चित्रित किया है[३]। नरसिंह के एक गुरु योगानन्द भी थे। प्रथम विलास के आरम्भ में इन्होंने अपने गुरु योगानन्द की स्तुति की है[४]। इस ग्रन्थ में नरसिंह ने अपने एक मित्र तिरुमल कवि का भी उल्लेख किया है। वे आलूर के निवासी थे। उनको नरसिंह ने अभिनव भवभूति कहा है[५]।

नरसिंह ने 'नञ्जराजयशोभूषण' ग्रन्थ की रचना नञ्जराज के जीवन काल में ही की थी, अतः दोनों का समकालत्व सिद्ध ही है। इस आधार पर नरसिंह का समय १८वीं शताब्दी ई० का मध्य भाग निश्चित होता है।

३. नरसिंह कवि की रचनायें

नरसिंह कवि की एक रचना 'नञ्जराजयशोभूषण' उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ में नरसिंह कवि ने काव्यशास्त्रीय विषयों का पर्यालोचन तो किया ही है, साथ में उदाहरणों द्वारा उन विषयों को स्पष्ट भी किया है। इन उदाहरणों में नञ्जराज की स्तुति है और ये उदाहरण नरसिंह कवि के स्वरचित हैं।

४. नञ्जराजयशोभूषण

'नञ्जराजयशोभूषण' में सात विलासों में विषय-वस्तु का विभाजन किया गया है। इन विलासों की विषय-वस्तु निम्न क्रम से प्रस्तुत की गई है -

(१) प्रथम विलास -

प्रथम विलास में नायक के गुण, नायक के भेद और नायिका के भेद कहे गये हैं।

(२) द्वितीय विलास -

दूसरे विलास में वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्दों, वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य तीन प्रकार के अर्थों और अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना तीन प्रकार की शब्द-शक्तियों का पहले निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् कैशिकी आदि वृत्तियों और वैदर्भी आदि रीतियों की विवेचना है। तदनन्तर ध्वनि के हेतु से काव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद किये गये हैं।

(३) तृतीय विलास -

तीसरे विलास में पहले ध्वनि काव्य के और उसके बाद गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के भेद किये गये हैं। तदनन्तर महाकाव्य, उपकाव्य तथा क्षुद्र प्रबन्ध काव्य के लक्षण और भेद हैं।

(४) चतुर्थ विलास -

चतुर्थ विलास में रस का विवेचन है। रस, भाव, स्थायी भाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाच, शृङ्गार चेष्टाओं, शृङ्गार आदि की अवस्थाओं के स्वरूप और भेदों की विस्तृत व्याख्या की गई है।

(५) पञ्चम विलास -

पांचवें विलास में पद-दोषों, वाक्य-दोषों और अर्थ-दोषों की विवेचना करके गुणों का निरूपण किया गया है।

(६) षष्ठ विलास -

छठे विलास में नाटक से सम्बन्धित तत्त्वों की विवेचना है। इस विलास को कवि ने अपने आश्रयदाता नञ्जराज की प्रशंसा में पूरे नाटक का ही रूप दे दिया है। उसने नाटक के तत्त्वों की व्याख्या करके उनके उदाहरणों के रूप में नञ्जराज को नायक बना कर नाटक की ही रचना कर दी है।

(७) सप्तम विलास -

सातवें विलास में शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का विवेचन कवि ने किया है।

नरसिंह कवि की इस रचना 'नञ्जराजयशोभूषण' पर विद्यानाथ रचित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' का पूरा प्रभाव है। ग्रन्थ की योजना और उदाहरणों की रचना में नरसिंह ने विद्यानाथ का पूरा अनुकरण किया है। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के अनेक लक्षणों और

उदाहरणों को नरसिंह ने अपने ग्रन्थ में उसी रूप में ग्रहण कर लिया है।

'नञ्जराजयशोभूषण' ग्रन्थ में नरसिंह कवि की कुछ अपनी विशेषता न हो, ऐसा नहीं है। अलङ्कारों के विवेचन में उन्होंने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। ध्वनिकाव्य के भेदों के निरूपण में भी उनकी मौलिकता है। अलङ्कारों के निरूपण में उनके अपने मौलिक विचार परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के रूप में उत्प्रेक्षा अलङ्कार के विवेचन को लिया जा सकता है। इस अलङ्कार के नरसिंह कवि ने ९६ भेद प्रदर्शित किये हैं। इनके जैसी सूक्ष्म विवेचना अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती।

....

सन्दर्भ –

१. श्रीनञ्जराजो नवभोजराजो नृसिंहसूरिर्नवकालिदासः।
परस्परान्तस्थितभावरीतिर्विज्ञायते येन परस्पराभ्याम्।।

नञ्जराजयशोभूषण विलास ६, पृ० ८९।।

२. शिवरामसुधीसूनोर्नरसिंहकवेः कृतिः।। नञ्जराजयशोभूषण के प्रथम विराम के प्रारम्भ में।।

३. श्रीपरमशिवावतारशिवरामदेशिकचरणारविन्दानुसन्धानमहिमसमासादितनिःसहायदैनन्दिनप्रबन्धनिर्माणसाहसिकनिखिलविद्वज्जनलालनीयसरससाहित्यसम्प्रदायप्रवर्तकनरसिंहकविविरचिते नञ्जराजयशोभूषणे..........।। प्रत्येक विलास के अन्त में।।

४. योगानन्दयतीन्द्राय सान्द्राय गुरवे नमः।।

नञ्जराजयशोभूषण प्रथम विलास का प्रारम्भ।।

५. आलूरतिरुमलकवेरभिनवभवभूतिनामविरुदस्य ।
सुहृदा नृसिंहकविना कृतिरकृत नवीनकालिदासेन।।.

....

डा० कृष्णकुमार कृत काव्यशास्त्रविमर्श ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड का इकावनवां अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय खण्ड समाप्त हुआ।।

काव्यशास्त्रविमर्श

तृतीय खण्ड

काव्य की आत्मा

प्रथम अध्याय

काव्य की आत्मा

१. प्रारम्भिक कथन

काव्य की आत्मा ध्वनि है, इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुये, आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य में ध्वनि का ही आत्मतत्त्व के रूप में अनुसन्धान किया था। इस प्रसंग में यह विचार करना आवश्यक है कि काव्यों में आत्मतत्त्व क्या है, जो सहृदयों के हृदयों द्वारा ग्राह्य होता है।

२. काव्य में आत्मा की खोज

काव्यशास्त्र का अध्ययन करते हुये इस बात को जानना आवश्यक है कि काव्य का आत्मतत्त्व क्या है, जिसके विना काव्य को काव्य नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार शरीर में आत्मतत्त्व ही सबसे प्रमुख है, क्योंकि उसके विना शरीर की कोई भी गतिविधि नहीं हो सकती, उसका अस्तित्व नहीं रह सकता और शरीर का सम्पूर्ण आकर्षण इसी आत्मा के कारण होता है, इसी प्रकार काव्य में भी कोई तत्त्व ऐसा अवश्य होना चाहिये, जो कि आत्मस्थानीय है। इसी तत्त्व के कारण शब्द और अर्थ रूप शरीर वाले काव्य में सौन्दर्य, आकर्षण एवं आह्लादकत्व निहित रहता है तथा वह काव्य कहलाता है।

जिस प्रकार दर्शनशास्त्र में आत्मतत्त्व का अन्वेषण एवं उसका अनुभव करना ही परम ध्येय है और उसी के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है, उसी प्रकार काव्य में भी आत्मतत्त्व का अन्वेषण तथा उसका अनुभव सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसी के द्वारा साहित्यिक आनन्द की अनुभूति होती है। काव्यशास्त्र के आरम्भिक युग से ही आचार्य उस आत्मतत्त्व का अन्वेषण करते रहे हैं।

विभिन्न मतावलम्बी आचार्यों ने काव्य के विभिन्न तत्त्वों को उसकी आत्मा निर्धारित किया था तथा इस कारण कांव्यशास्त्र के इतिहास में विभिन्न सम्प्रदायों का अविर्भाव हुआ।

ज़िस प्रकार विभिन्न दर्शनों में विभिन्न तत्त्वों में से किसी एक तत्त्व को आत्मा

कहा गया। किसी ने शरीर को, किसी ने इन्द्रियों को , किसी ने मन को, किसी ने प्राणों को, किसी ने बुद्धि को और किसी ने परम सूक्ष्म चैतन्य को आत्मा कहा, उसी प्रकार की स्थिति काव्यशास्त्र के विवेचन में भी हुई। विभिन्न आचार्यों ने काव्य के विभिन्न तत्त्वों को आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिपादित करने का प्रयास किया था। किसी आचार्य ने रस को, किसी ने अलङ्कार को, किसी ने रीति को, किसी ने वक्रोक्ति को किसी ने औचित्य को और किसी ने ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया था। इस प्रकार काव्यगत विभिन्न तत्त्वों को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिपादित करने के कारण काव्यशास्त्र के इतिहास में विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ था।

काव्यशास्त्र का प्रारम्भ लगभग २००० वर्ष पूर्व भरत मुनि से होता है। उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' की रचना करके काव्यशास्त्र का आविर्भाव किया था। भरत और भरत के पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने काव्य के तत्त्वों का विश्लेषण करके काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्धारण किया था। अनेक शताब्दियों तक विभिन्न आचार्यों द्वारा यह विश्लेषण किया जाता रहा तथा यह खोज की जाती रही कि काव्य में ऐसा कौनसा मूल तत्त्व है, जिसके कारण सहृदय उसके प्रति आकर्षित होते हैं तथा आनन्द का अनुभव करते हैं। जिस आचार्य ने काव्य के जिस अंग में सौन्दर्य का आकर्षण अनुभव किया, उसने उसी को काव्य की आत्मा कहा ।

इस सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का विचार हुआ कि काव्य में सबसे प्रमुख तत्त्व रस है। काव्य का प्रमुख उद्देश्य रस का सञ्चार करना है, जिसका आस्वादन करके सहृदय जन आह्लाद का अनुभव करते हैं। अत: काव्य की आत्मा रस है। अन्य आचार्यों के अनुसार काव्य का प्रमुखतम आकर्षक एवं आह्लादक तत्त्व अलङ्कार है। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है। उनको अलङ्कृत करने वाले अलङ्कार ही काव्य की आत्मा हैं। कुछ आचार्यों ने प्रतिपादित किया कि काव्य का सौन्दर्य पदों की संघटना के कारण होता है। पदों की संघटना को रीति कहते हैं। यह रीति ही काव्य की आत्मा है। दूसरे आचार्यों का मन्तव्य था कि काव्य में आकर्षण तथा आह्लादकत्व वैचित्र्य के कारण उत्पन्न होता है। इस वैचित्र्य की उत्पत्ति उक्ति की विशेषता से होती है। वैचित्र्य से युक्त उक्ति को वक्रोक्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में **"वैदग्ध्यभङ्गीभणिति"** को वक्रोक्ति कहा जाता है। यह वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है। अन्य आचार्यों ने औचित्य को काव्य की आत्मा कहा; क्योंकि काव्य में औचित्य ही परम रहस्य, आकर्षक,, सहृदयाह्लादक तत्त्व है। अन्य आचार्यों ने यह सिद्ध किया कि काव्य में सौन्दर्य व्यङ्ग्य अर्थ के कारण होता है। काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ के प्रधान होने पर वह ध्वनि काव्य कहलाता है। यह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

इस प्रकार विभिन्न विचारधाराओं के उपस्थित हो जाने के कारण बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये कि काव्य में कौन सा तत्त्व आत्मा हो सकता है, जिसके द्वारा सहृदय जन काव्य में आनन्द का अनुभव करते हैं।

३. काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भरत मुनि तथा उनके पश्चात् भी अनेक शताब्दियों तक काव्य के परम रहस्य सहृदयाह्लादक तत्त्व का अन्वेषण काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा किया जाता रहा था। विभिन्न आचार्यों द्वारा काव्य के विभिन्न तत्त्वों को आत्मा के रूप में प्रतिपादित करने के कारण काव्यशास्त्र के इतिहास में विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ था। इतिहास के क्रम से ये सम्प्रदाय ६ हुये -

(१) रस सम्प्रदाय
(२) अलंकार सम्प्रदाय
(३) रीति सम्प्रदाय
(४) ध्वनि सम्प्रदाय
(५) वक्रोक्ति सम्प्रदाय
(६) औचित्य सम्प्रदाय

भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ और विश्वेश्वर पाण्डेय तक जितने भी आचार्य हुये, उन्होंने इन छः सम्प्रदायों में से किसी एक पक्ष का पोषण करके उसका समर्थन किया। इस प्रकार प्रत्येक आचार्य को किसी सम्प्रदाय विशेष का समर्थन करने के कारण उसके अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

वस्तुतः काव्य के विभिन्न तत्त्वों को आत्मा प्रतिपादित करने के सम्बन्ध में सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग अधिक समुचित नहीं कहा जा सकता। उसके लिये पक्ष शब्द का उपयोग अधिक योग्य है, जैसा कि 'अलङ्कारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने किया है। तथापि प्राचीन संस्कृत साहित्य में इस शब्द का बहुधा प्रयोग किया जाने के कारण और आधुनिक समालोचकों द्वारा इसको स्वीकार कर लेने के कारण यहां भी सम्प्रदाय शब्द का ही ग्रहण कर लिया गया है। रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य और ध्वनि के लिये तत्तत् सम्प्रदाय कह दिया गया है।

काव्य के आत्मतत्त्व के अन्वेषण के लिये की गई विभिन्न समीक्षाओं के कारण विभिन्न समयों में नये-नये सम्प्रदायों का आविर्भाव किस आधार पर हुआ, इसका विश्लेषण 'अलङ्कारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने वैज्ञानिक रूप से किया है। वह लिखता है -

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्", तयोश्च वैशिष्ट्यधर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्यमुखेन चेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतो, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चमो आनन्दवर्धनेन[१]।

इसका अभिप्राय है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ ही काव्य कहलाते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से हो सकती है -

(१) धर्म के द्वारा

(२) व्यापार के द्वारा और

(३) व्यङ्ग्य के द्वारा ।

इस प्रकार ये तीन पक्ष हैं। धर्म की विशिष्टता भी दो प्रकार से हो सकती है -

(१) अलंकार के द्वारा और

(२) गुण के द्वारा।

व्यापार की विशिष्टता भी दो प्रकार से हो सकती है -

(१) वक्रोक्ति के द्वारा और

(२) भोजकत्व के द्वारा

इस प्रकार पांच पक्ष हो जाते हैं -

(१) अलङ्कार

(२) गुण

(३) वक्रोक्ति

(४) भोजकत्व और

(५) व्यङ्ग्य।

इनमें पहले पक्ष को उद्भट आदि आचार्यों ने, दूसरे पक्ष को वामन ने, तीसरे पक्ष को कुन्तक ने, चौथे पक्ष को भट्टनायक ने तथा पांचवें पक्ष को आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया था।

समुद्रबन्ध ने आत्मतत्त्व के विश्लेषण में ऊपर कहे पक्षों में अलङ्कार से अलङ्कार सम्प्रदाय का, गुण द्वारा वामन के रीति सम्प्रदाय का, वक्रोक्ति द्वारा कुन्तक के वक्रोक्ति सम्प्रदाय का, भोजकत्व द्वारा रस सम्प्रदाय का तथा व्यङ्ग्य द्वारा ध्वनि सम्प्रदाय का संकेत किया है।

इनमें औचित्य सम्प्रदाय का संकेत नहीं आया। सम्भवतः समुद्रबन्ध ने क्षेमेन्द्र के औचित्य में किसी नवीन वैशिष्ट्य का अनुभव नहीं किया होगा। परन्तु क्षेमेन्द्र का दृष्टिकोण भी विचारणीय है। उसने औचित्य को जो काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था, उसका भी विचार इस प्रकरण में अपेक्षित है।

काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति एवं स्थिति का ऊपर विश्लेषण करने के पश्चात् इनकी पृथक्-पृथक् विवेचना करना उपयोगी है।

सन्दर्भ -

१. अलंकारसर्वस्व की समुद्रबन्धकृत टीका - पृ० ३।

दूसरा अध्याय

रस-सम्प्रदाय

१. रस-सिद्धान्त का प्रवर्तन

काव्यशास्त्र के इतिहास में रस-सिद्धान्त का प्रवर्तन सबसे पहले भरतमुनि ने किया था। यद्यपि राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में लिखा है -

भरत ने रूपकों का निरूपण किया था और रसों का प्रथम निरूपण नन्दिकेश्वर ने किया था[१]। तथापि नन्दिकेश्वर का रसविषयक कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वर्तमान समय में भरत मुनि का जो 'नाट्यशास्त्र' उपलब्ध है, उसमें रूपक तथा रस दोनों का विवेचन किया गया है। अतः रस-सिद्धान्त का आदि प्रवर्तक भरत को ही माना जा सकता है।

भरत ने रस के सम्बन्ध में जिन सिद्धान्तों को स्थिर किया था, उन्हीं की व्याख्या उत्तरवर्ती आचार्यों ने विस्तार के साथ की थी। भरत ने कहा - "रस के विना किसी अर्थ का प्रवर्तन काव्य में नहीं होता"[२]।

अभिनवगुप्त ने इस पर टीका करते हुये लिखा है -

सम्पूर्ण रूपक में रस ही एक मात्र सूत्र की तरह प्रतीत होता है[३]। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य ही रस है तथा रस का समुदाय ही नाट्य है[४]।

यद्यपि भरत के 'नाट्यशास्त्र' में रस का निरूपण रूपक के ही हेतु से किया गया है और भरत ने आठ रसों को **"अष्टौ नाट्यरसाः"** कहा है, तथापि भरत के समय तक नाट्य तथा काव्य का इस प्रकार विभाजन नहीं हुआ था और इन दोनों पदों को समानार्थक समझा जाता था। भरत ने नाट्य के लिये काव्य पद का व्यवहार अनेक स्थानों पर किया था और अभिनवगुप्त ने इसका समर्थन किया था। इसी कारण भरत द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त को उत्तरवर्ती आचार्यों ने विकसित तथा पल्लवित किया और रस को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना।

परन्तु भरत के उत्तरवर्ती प्राचीन भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, आदि आचार्यों ने काव्य एवं नाटक में भेद किया। इसी कारण रस-सिद्धान्त से परिचित होते हुये भी उन्होंने

रस को केवल नाट्य के लिये ही अनिवार्य माना तथा काव्य के लिये अलङ्कारों की अनिवार्यता प्रतिपादित की। काव्य में रस का समावेश उन्होंने अलङ्कारों के अन्तर्गत कर लिया था।

२. रस शब्द के विभिन्न अर्थ तथा प्राचीन साहित्य में रस शब्द का प्रयोग

संस्कृत साहित्य में रस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में अति प्राचीन काल से किया जाता रहा था। वेद, वेदाङ्ग, ब्राह्मण, उपनिषद्, आयुर्वेद, 'रामायण', 'महाभारत' आदि साहित्य में रस पद का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। कोष ग्रन्थों के अनुसार रस पद के अनेक अर्थ हैं -

स्वाद, जल, वीर्य, शृङ्गार आदि काव्यरस, विष, द्रव, पारद, राग, गृह, धातु, मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय ये छः भोजन के रस, परमात्मा आदि[५]।

काव्य साहित्य में रस शब्द से शृङ्गार आदि रसों का बोध होता है। आयुर्वेद में इससे मधुर आदि भोजन रसों का , विष का, रस नामक धातु का और द्रव का बोध होता है। सार रूप पदार्थ को भी रस कहा जाता है। वैदिक साहित्य में, विशेष रूप से उपनिषदों में परमात्मा के लिये भी रस पद का व्यवहार हुआ है।

'तैत्तिरीय उपनिषद्' में ब्रह्म को रस कहा गया है। उसको प्राप्त करके जीव आनन्द का अनुभव करता है[६]। इसकी व्याख्या में शङ्कराचार्य का कहना है कि जिस प्रकार मधुर आदि लौकिक रसों से मनुष्य आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार परमात्मरूप रस को पाकर योगी जन परम आनन्द को प्राप्त करते हैं।

वैदिक साहित्य में शृङ्गार आदि साहित्यिक रसों के लिये भी रस पद का प्रयोग हुआ है। शृङ्गार, हास्य आदि पदों का वैदिक साहित्य में प्रयोग हुआ है। उससे साहित्यिक मनोभावों का निर्देश मिलता है। भरत ने रूपकों की रचना में रस को वेदों से, विशेष रूप से 'अथर्ववेद' से ग्रहण किया था। इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है[७]।

व्याकरण के अनुसार रस पद की व्युत्पत्ति चार प्रकार से की जा सकती है -

(१) **"रस्यते आस्वाद्यत इति रसः"**। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन पदार्थों का आस्वादन किया जाता है, वे रस हैं। इस प्रकार परमात्मरूप रस, मधुर पदार्थ, सोम, गन्ध, मधु आदि पदार्थों को रस कहा जा सकता है।

(२) **"रस्यते अनेन इति रसः"**। जिन पदार्थों के द्वारा आस्वादन किया जाता है, उनको भी रस कहते हैं। इस आधार पर शब्द, राग, वीर्य, शरीर आदि को रस कह सकते हैं।

(३) **"रसति रसयति वा रसः"**। जो व्याप्त हो जाता है या व्याप्त कर लेता है, उसको रस कहते हैं। इस प्रकार पारद, जल, शरीर की रस धातु या अन्य द्रव पदार्थों को रस कहते हैं।

(४) "रसनं रस आस्वादः"। जो आस्वाद है, उसको रस कहते हैं। इस आधार पर शृङ्गार आदि को रस कहते हैं, क्योंकि वे आस्वाद रूप हैं।

ऊपर दी गई व्युत्पत्तियों में से प्रथम तथा चतुर्थ व्युत्पत्ति साहित्यिक रसों के लिये प्रयुक्त हो सकती है, क्योंकि साहित्यिक रसों का आस्वादन किया जाता है तथा वे आस्वादरूप होते हैं।

रस-सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये तथा काव्यों को रसात्मक प्रतिपादित करने लिये 'वाल्मीकि रामायण' का प्रायः दृष्टान्त दिया जाता है। वाल्मीकि ऋषि स्नान करने के लिये तमसा के तीर पर जाते हैं। वहां वे देखते हैं कि एक व्याध ने काम से मोहित क्रौंच पक्षी पर शर का प्रहार किया है। क्रौंच पक्षी रुधिर से आप्लावित होकर भूमि पर गिर जाता है। उसकी प्रेयसी क्रौंची उसके लिये विलाप करती है। इस घटना को देख कर वाल्मीकि शोक से आर्द्र होते हैं और उनका वह शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हो जाता है[८]। आनन्दवर्धन ने इसी शोक को काव्य की आत्मा माना[९]।

स्वयं महर्षि वाल्मीकि ने अपने काव्य में यह प्रतिपादित किया -

यह श्लोक उनके शोकविह्वल होने के कारण प्रस्फुटित हुआ तथा अन्यथा नहीं हो सकता[१०]। इस रस के द्वारा ही काव्य की सृष्टि की सम्भावना हुई तथा वाल्मीकि का यह 'रामायण काव्य' संस्कृत साहित्य का आदि काव्य कहलाया। 'रामायण' के करुण रस प्रधान काव्य होने पर भी इसमें शृङ्गार, हास्य, वीर, रौद्र, अद्‌भुत और शान्त सभी रसों का समावेश हुआ। काव्य के इन रसों के स्वरूप को आचार्यों ने अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदर और लोकोत्तर वमत्कार प्राणरूप कहा[११]।

३. रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन और भरत का रससूत्र

रस के स्वरूप तथा अनुभूति का सर्वप्रथम विवेचन भरत ने किया था। भरत का यह विवेचन उनके 'नाट्यशास्त्र' के छठे अध्याय में रससूत्र के रूप में प्रकट हुआ था। उत्तरवर्ती युग में रस के सम्बन्ध में जो भी विचार तथा आलोचन प्रस्तुत किये गये थे वे भरत के रससूत्र को आधार बना कर प्रस्तुत किये गये थे। भरत का यह रससूत्र निम्न है -

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः"

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने रस की निष्पन्नता में भरत के इसी रससूत्र को आधार बनाया। इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ के अभिमत को प्रस्तुत करना अधिक उपयोगी है। मम्मट ने लिखा है -

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण:।
व्यक्त: स तैर्विभावाद्यै: स्थायी भावो रस: स्मृत:।।[१२]

मम्मट ने रस का स्वरूप निम्न प्रकार से बताया था -

लोक में रति आदि भावों के जो कारण, कार्य तथा सहकारी हैं, जैसे नायक, नायिका आदि आलम्बन कारण हैं, चन्द्रोदय, वसन्त, उद्यान आदि उद्दीपन कारण हैं, कटाक्ष, रोमाञ्च आदि कार्य हैं और चिन्ता, हर्ष आदि सहकारी हैं, उनका जब काव्य या नाटक में निबन्धन किया जाता है, तब वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। इन विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता हुआ स्थायी भाव ही रस कहलाता है।

विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' में भी रस की निष्पन्नता इसी प्रकार की है -

विभावेनानुभावेन व्यक्त: सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि: स्थायिभाव: सचेतसाम्।।[१३]

विभाव, अनुभाव और और सञ्चारी भावों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता हुआ रति आदि स्थायी भाव सहृदयों के लिये रसत्व को प्राप्त करता है।

४. भरत के रससूत्र की व्याख्या

भरत के 'नाट्यशास्त्र' का रससूत्र यद्यपि बहुत सरल प्रतीत होता है, तथापि व्याख्याकारों की विभिन्न व्याख्याओं के कारण यह बहुत पेचीदा हो गया है। इस रससूत्र के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव पदों की व्याख्या में तो कोई मतभेद नहीं है, परन्तु **"संयोगात्"** और **"निष्पत्ति"** पदों की व्याख्या करने में विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग मत प्रतिपादित किये हैं। इस सम्बन्ध में अन्तिम प्रामाणिक व्याख्या अभिवनवगुप्त की है।

अभिनवगुप्त ने **"संयोगात्"** पद का अर्थ **"व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावात्"** और **"निष्पत्ति"** पद का अर्थ **"अभिव्यक्ति"** करके रस को व्यङ्ग्य अर्थ माना है।

अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती टीका' में और 'ध्वन्यालोक' की 'लोचनटीका' में जब अपनी व्याख्या प्रस्तुत की, तो उसने पहले अपने से प्राचीन भट्टलोल्लट आदि की व्याख्याओं की समीक्षा की। इनमें भट्टलोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक की समीक्षायें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मम्मट आदि ने भी अपने ग्रन्थों में इन सभी आचार्यों की व्याख्याओं की समीक्षा करके अभिनवगुप्त के मत को सबसे अधिक युक्तिसंगत प्रतिपादित किया है। 'रसगङ्गाधर' में पण्डितराज जगन्नाथ ने रससूत्र की आठ व्याख्याओं को प्रस्तुत किया था। भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने रससूत्र की जो व्याख्यायें प्रस्तुत कीं थीं, रस के स्वरूप को निर्धारित करने में उनका बहुत अधिक महत्त्व है। इस कारण उनको संक्षेप से यहां प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। भट्टलोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। उनके मतों की समीक्षा के लिये उनके ही

विरोधी आचार्यों - अभिनवगुप्त आदि के ग्रन्थों की शरण लेने के लिये बाध्य होना पड़ता है। ये व्याख्यायें संक्षेप से निम्न प्रकार से है -

(१) भट्टलोल्लट (उत्पत्तिवाद) -

भट्टलोल्लट का मत उत्पत्तिवाद कहलाता है। उन्होंने **"संयोग"** और **"निष्पत्ति"** पदों की व्याख्या इस प्रकार की है -

"संयोगात् = उत्पाद्य-उत्पादकसम्बन्धात्। निष्पत्तिः = उत्पत्तिः"।

इनकी व्याख्या संक्षेप से इस प्रकार है -

ललना आदि आलम्बन विभाव हैं और उद्यान आदि उद्दीपन विभाव हैं। इन विभावों से राम आदि पात्रों में रति आदि भावों की उत्पत्ति अर्थात् उद्‌बोधन होता है। तदनन्तर कटाक्ष, भुजक्षेप आदि कार्यरूप अनुभावों से रामगत रति आदि स्थायी भाव प्रतीति के योग्य हो जाते हैं। उनकी लज्जा, चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों से परिपुष्टि होती है। इस प्रकार रति आदि स्थायी भाव नाटक या काव्य में पात्रों में ही रहते हैं। जब कोई अभिनेता राम आदि पात्रों का रूप रख कर उनका अभिनय कर रहा होता है तो सामाजिक उसमें ममत्व का आरोप कर लेते हैं, अर्थात् उसी को राम समझ लेते हैं। इस प्रकार वह राम आदि गत रति सामाजिकों को अभिनेता में प्रतीत होती हुई उनके हृदयों में विशेष चमत्कार का आधान करती है और रस की पदवी को धारण कर लेती है।

इस व्याख्या का भाव यह है -

जिस प्रकार सीपी के रजत में न होने पर भी दर्शकों में उसके रूप के कारण रजत की भ्रान्ति होती है और उसको देख कर वे प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार राम आदि गत रति भाव अभिनेताओं में न होने पर भी वह सामाजिकों को उनमें प्रतीत होता है तथा उस भ्रान्ति से वे आनन्द का अनुभव करते हैं।

भट्टलोल्लट की इस व्याख्या में उत्तरवर्ती आचार्यों को अनेक दोष प्रतीत हुये थे। भट्टलोल्लट ने रस की स्थिति अनुकार्य में, अर्थात् राम आदि पात्रों में मानी है। अभिनेताओं में भी रस की स्थिति वास्तविक न होकर अनुकरण मात्र ही है। इस अवस्था में सामाजिकों के हृदयों में रस की अनुभूति किसी प्रकार नहीं हो सकेगी तथा वे रस का आस्वादन नहीं कर सकेंगे। यदि उनमें रस की स्थिति को मान भी लिया जावे तो वह भ्रान्ति मात्र होगा। अतः काव्यों के भ्रमोत्पादक होने से वे मान्य नहीं हो सकेंगे। भट्टलोल्लट की इस व्याख्या में उक्त दोष का अनुभव करके रससूत्र के व्याख्याता अन्य आचार्यों ने रससूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से की -

(२) श्रीशङ्कुक (अनुमितिवाद) -

शङ्कुक ने रस की अनुभूति को अनुमान का विषय प्रतिपादित किया था। उनका मत अनुमितिवाद कहलाता है। श्रीशङ्कुक ने **"संयोगात्"** और **"अनुमिति"** पदों की

व्याख्या निम्न प्रकार से की है -

"संयोगात् = अनुमाप्य-अनुमापकसम्बन्धात्। निष्पत्तिः = अनुमितिः"।

इसी कारण उनके मत को अनुमितिवाद कहा गया। इस मत की व्याख्या इस प्रकार है -

सामाजिक जब रङ्गमञ्च पर किसी कुशल अभिनेता को अभिनय करते देखता है, तो उसको वह राम समझ लेता है। इस प्रकार अभिनेता में जो राम की प्रतीति है, वह एक विलक्षण ज्ञान है। ज्ञान चार प्रकार का होता है

"सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य"।

अभिनेता में राम की प्रतीति होना इन चारों ज्ञानों से विलक्षण है, क्योंकि सामाजिक का यह ज्ञान न तो सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या प्रतीति है, न संशय प्रतीति है और नाहीं सादृश्य की प्रतीति है। यह प्रतीति वस्तुतः "चित्रतुरगप्रतीति" है। यह **चित्रतुरगन्याय** से होती है। जिस प्रकार चित्र में घोड़े को देख कर उस चित्र के वस्तुतः घोड़ा न होने पर भी, वह घोड़ा है, इस प्रकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अभिनय में राम के उपस्थित न होने पर भी राम का अभिनय करने वाले अभिनेता में सामाजिक को राम की प्रतीति होती है।

इस प्रकार सामाजिक जब अभिनेता को ही राम समझ लेता है तो शिक्षा और अभ्यास की कुशलता के कारण उसके कृत्रिम विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को वह कृत्रिम नहीं समझता और उनके द्वारा वह अभिनेता में रति आदि स्थायी भावों का अनुमान कर लेता है। रति आदि भावों की यह अनुमिति अन्य शास्त्रोक्त अनुमितियों से विलक्षण होती है। कारण यह है कि सामान्य अनुमिति प्रत्यक्ष ज्ञान पर आश्रित है, जबकि यह अनुमिति परोक्षात्मक है। इस प्रकार रति आदि भावों के उन अभिनेताओं में न होने पर भी सामाजिक अपने हृदय में निहित वासना के द्वारा उन भावों का अभिनेताओं में अनुमान करते हुये रस का आस्वादन करता है।

भाव यह है -

जिस प्रकार किसी स्थान पर धूम के न होने पर भी धुंध आदि को धूम समझ कर उसके द्वारा अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार नट आदि में वास्तविक रति आदि के न होने पर भी उनके अभिनय के कौशल से कृत्रिम विभावों से रति आदि स्थायी भावों का अनुमान सामाजिक कर लेता है। यह अनुमिति अपने सौन्दर्य के बल से सामाजिकों द्वारा आस्वाद्यमान होकर चमत्कार को उत्पन्न करती हुई रसदशा को प्राप्त होती है।

श्रीशङ्कुक की इस व्याख्या में भी उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनेक दोषों का अनुभव किया था। ये दोष इस प्रकार हो सकते हैं -

(क) श्रीशङ्कुक ने जिन विभाव आदि को अनुमिति का हेतु बताया है, वे कल्पित तथा कृत्रिम हैं। इस कारण यदि अभिनेताओं में रस का अनुमान कर भी लिया जावे तो वह चमत्कारजनक नहीं होगा।

(ख) सहृदय जनों में रस का प्रत्यक्ष अनुभव ही चमत्कारजनक होता है, अनुमति नहीं।

(ग) यदि सामाजिक को यह निश्चय हो जावे कि सीता आदि विभाव कृत्रिम हैं, तो उसको रति आदि भावों की अनुमिति नहीं हो सकेगी।

इस प्रकार श्रीशङ्कुक की व्याख्या में दोषों का अनुभव करके भट्टनायक ने भरत के रससूत्र की व्याख्या अन्य प्रकार से की थी -

(३) भट्टनायक (भुक्तिवाद) -

भरत के रससूत्र की व्याख्या के प्रसंग में रस की निष्पत्ति की व्याख्या करते हुये भट्टनायक ने पहले तो अन्य आचार्यों के मतों का खण्डन किया और तदनन्तर अपने पक्ष की स्थापना की। रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में उत्पत्ति, अनुमिति और अभिव्यक्ति के सिद्धान्तों का खण्डन करके इन्होंने निष्पत्ति पद का अर्थ भुक्ति किया। उनका मत भुक्तिवाद कहलाता है। भट्टनायक द्वारा अन्य आचार्यों के मतों के खण्डन को मम्मट ने निम्न शब्दों में कहा है -

"न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते"।

भट्टनायक के अनुसार रस की स्थिति न तो तटस्थ (पात्र या अभिनेता) में होती है और न आत्मगत (सामाजिकगत) होती है। यदि रस को पात्रगत (राम आदि अनुकार्य गत) या अभिनेतागत मान लें तो उसका सामाजिक के हृदय के साथ सम्बन्ध न हो सकेगा, क्योंकि सामाजिक के तटस्थ होने से उसके लिये वे निष्प्रयोजन हैं। यदि रस को आत्मगत मानें, तो भी यह संगत नहीं होगा। इसका कारण यह है कि रस की निष्पत्ति सीता आदि विभावों द्वारा होती है। सीता आदि राम के प्रति तो विभाव हो सकते हैं, किन्तु सामाजिकों के प्रति नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त सीता आदि के प्रति पूजनीय बुद्धि होने से सामाजिक उनको शृङ्गार रस के लिये किसी भी प्रकार विभाव आदि के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार रस की स्थिति न तो तटस्थगत (पात्र या अभिनेतागत) हो सकती है और नाहीं आत्मगत (सामाजिकगत) हो सकती है।

भट्टनायक का यह भी कथन है कि रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। इन तीन पदों द्वारा भट्टनायक ने शङ्कुक के अनुमितिवाद, भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद का खण्डन किया है।

भट्टनायक का कथन है कि अनुमिति उस वस्तु की होती है, जो प्रत्यक्ष आदि के द्वारा पूर्व अनुभूत हो। काव्य या नाटक में पूर्व अनुभव की स्थिति न होने से रस की अनुमिति

नहीं हो सकती। वे रस के उत्पत्तिवाद के सिद्धान्त को भी नहीं मानते। यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जावे तो करुण आदि रसों के दुःखोत्पादक होने से उनके प्रति सामाजिकों की प्रवृत्ति नहीं होगी। रस को वे अभिव्यक्ति का विषय भी नहीं मानते। अभिव्यक्ति उस वस्तु की होती है, जो पूर्वसिद्ध हो। रस तो एक प्रकार की अनुभूति है, जो अनुभव के समय के पहले या बाद में नहीं रहती। सहृदयों के हृदयों में रस वासना के रूप में पहले से विद्यमान रहता है, इस सिद्धान्त को भी भट्टनायक ने स्वीकार नही किया, क्योंकि इससे रस-सामग्री की उत्कृष्टता या निकृष्टता का भी बोध होगा। अतः रस को अनुमिति, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति का विषय नहीं माना जा सकता।

रस की निष्पत्ति की व्याख्या के लिये भट्टनायक ने भुक्तिवाद का प्रतिपादन किया था। उन्होंने **"संयोगात्"** और **"निष्पत्ति"** पदों की व्शाख्या निम्न प्रकार से की -

संयोगात् = भोज्य-भोजकसम्बन्धात्। निष्पत्तिः = उत्पत्तिः।

इसकी व्याख्या इस प्रकार है -

काव्य के शब्द अन्य शब्दों से विलक्षण होते हैं। उनमें एक तो अभिधा व्यापार होता है तथा उससे भिन्न दो अन्य व्यापार होते हैं - भावकत्व और भोजकत्व। इनमें अभिधा व्यापार वाच्यार्थविषयक, भावकत्व व्यापार रसादिविषयक और भोजकत्व व्यापार सहृदयविषयक होता है। काव्य में यदि केवल अभिधा व्यापार को ही माना जावे, तो रसनिष्ठ काव्य का श्लेष आदि अलङ्कृत काव्य से तथा तन्त्र आदि शास्त्रों से कोई भेद नहीं रहेगा। अतः अभिधा से अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को मानना होगा।

अभिधा द्वारा काव्य के वाच्य अर्थ को जानने के अनन्तर उससे विलक्षण भावकत्व व्यापार के द्वारा विभाव आदि का साधारणीकरण हो जाता है। साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि राम,सीता आदि पात्र अपने विशिष्ट अंश का परित्याग करके साधारण नायक, नायिका आदि के रूप में रह जाते हैं। राम, सीता आदि पात्रों के दो अंश हैं -

(१) विशिष्ट अंश रामत्व और सीतात्व तथा

(२) साधारण अंश नायकत्व और नायिकात्व।

भावकत्व व्यापार द्वारा राम और सीता का साधारणीकरण होता है। अर्थात् राम और सीता के विशिष्ट अंश रामत्व और सीतात्व का परित्याग होकर वे केवल साणारण नायक और नायिका मात्र रह जाते हैं। इस प्रकार साधारणीकरण द्वारा रस आदि के भावित हो जाने पर तीसरा व्यापार भोजकत्व कार्य करता है। इस व्यापार से स्थायी भाव का भोग निष्पन्न होता है। यह भोग चित्त की द्रुति, विस्तर एवं विकास रूप है, रजस् और तमस् से रहित सत्त्वमय है, निज चेतनस्वरूप है, परम आनन्दरूप है और परम ब्रह्म के आस्वाद के सदृश है। वह ही प्रधानभूत अंश है और सिद्धरूप है। भट्टनायक की इस रसानुभूति (भोग) के स्वरूप को अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की लोचनटीका में इस प्रकार कहा है

"भाविते च रसे तस्य भोगो योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्याननुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृति-विश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः। स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति"।

(४) अभिनवगुक्त (अभिव्यक्तिवाद) –

भट्टनायक द्वारा रस की निष्पत्ति के लिये भुक्तिवाद के रूप में जो विवेचना की गई थी, वह भी सब आचार्यों को स्वीकृत नहीं हुई। अभिनवगुप्त ने इनका खण्डन किया। भट्टनायक के साधारणीकरण व्यापार को स्वीकार करके भी उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को अनावश्यक माना। अभिनवगुप्त का कथन है कि भावकत्व और भोजकत्व व्यापार न तो आवश्यक ही हैं और न प्रामाणिक हैं। एक व्यञ्जना व्यापार के द्वारा ही साधारणीकरण भी हो जाता है और रस के आस्वादन की प्रक्रिया भी निष्पन्न हो जाती है। भरत के रससूत्र में **"संयोगात्"** और **"निष्पत्तिः"** पदों की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है -

संयोगात् = अभिव्यङ्ग्य-अभिव्यञ्जकसम्बन्धात्। निष्पत्तिः = अभिव्यक्तिः।

अभिनवगुप्त के प्रतिपादन को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है -

(क) सामाजिक के हृदय में स्थायी भाव वासना के रूप में विद्यमान रहते हैं। लौकिक जीवन में ललना, कटाक्ष, उद्यान आदि द्वारा जिन्होंने रति आदि स्थायी भावों का अनुमान करने में जितनी अधिक कुशलता प्राप्त कर ली है, उनमें यह वासना उतनी ही अधिक विकसित रूप में विद्यमान रहती है।

(ख) लोक में रति आदि भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी हैं, वे ही काव्य में अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

(ग) काव्य की अलौकिक अभिव्यञ्जना शक्ति के कारण विभाव आदि का साधारणीकरण हो जाता है। उनमें स्वकीयत्व, परकीयत्व और उपेक्षणीयत्व का भाव नष्ट हो जाता है। इस प्रकार राम और सीता में रामत्व और सीतात्व का विशिष्ट अंश तिरोहित होकर केवल युवकत्व और युवतीत्व का भाव अवशिष्ट रह जाता है।

(घ) साधारणीकरण के हो जाने पर प्रमाता (सामाजिक) के चित्त की सीमाओं के बन्धन नहीं रहते। उनकी चित्तवृत्ति अपरिमित हो जाती है। इससे रति आदि भावों का साधारणीकरण होता है। इस साधारणीकरण को सभी सहृदय अनुभव करते हैं।

(ङ) सामाजिक को यह रसानुभूति अपने से अभिन्न अनुभूत होती है। वह अपने अन्दर रस की चर्वणा करता हुआ अनुभव करता है। इस प्रकार अभिव्यक्त यह स्थायी भाव ही रस है।

(च) रस का रूप केवल आस्वाद्यमान है। जब तक विभाव आदि विद्यमान रहते हैं, तभी तक रस की अनुभूति होती है। विभाव आदि की यह प्रतीति अलग अलग रूप से नहीं

होती, अपितु अखण्डात्मक होती है। जिस प्रकार इलायची, कालीमिर्च, केसर आदि पदार्थों से निर्मित पानक में उन सभी वस्तुओं से विलक्षण एक स्वाद होता है, उसी प्रकार विभाव आदि से विलक्षण रस का आस्वाद होता है।

(छ) रस का आस्वादन अलौकिक होता है। वह हृदय में प्रविष्ट होता सा प्रतीत होता है। अपने से अतिरिक्त यह अन्य सभी ज्ञानों को तिरोहित कर देता है। वह ब्रह्मज्ञान के आनन्द के सदृश होता है।

(ज) रस सदा ध्वन्यात्मक़ (व्यङ्ग्य) होता है। इसका कथन या तो, रस, भाव आदि शब्दों द्वारा किया जा सकता है या विभाव आदि के द्वारा। रस, भाव आदि शब्दों के होने पर भी, परन्तु विभाव आदि के न होने पर रस की प्रतीति नहीं होती। इसके विपरीत, रस, भाव आदि शब्दों के न होने पर, अपितु विभाव आदि के होने पर रस की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से यह सिद्ध है कि रस विभाव आदि के द्वारा ही प्रतीत होता है और ध्वन्यात्मक है।

(झ) रस अलौकिक होता है। वह कार्य भी नहीं है और ज्ञाप्य भी नही है। यदि रस को कार्य मान लें, तो इसके कारणों के न रहने पर भी इसकी उपस्थिति माननी पड़ेगी, जैसे कि कुम्हार आदि कारणों के न रहने पर भी उसका कार्य घट विद्यमान रहता है। रस को ज्ञाप्य इसलिये नहीं माना जा सकता, क्योंकि वैसा मानने पर इसको पूर्वसिद्ध मानना पड़ेगा, जो कि है नहीं। रस कार्य भी है और ज्ञाप्य भी है। चर्वणा की निष्पत्ति से रस की निष्पत्ति होती है, अतः रस कार्य है। क्योंकि यह लोकोत्तर स्वसंवेदन का विषय है, अतः ज्ञाप्य भी है। इस प्रकार रस कार्य भी नहीं है और ज्ञाप्य भी नहीं है। यह कार्य भी है और ज्ञाप्य भी है। इस प्रकार के प्रतिपादन में इसके अलौकिक होने से विरुद्धता नहीं है।

(ञ) रस को यदि ज्ञाप्य माना जावे, तो यह प्रश्न होता है कि यह किस ज्ञान का विषय है - सविकल्पक ज्ञान का या निर्विकल्पक ज्ञान का। विभाव आदि की उपस्थिति के कारण यह निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। रस के अलौकिक आनन्दमय होने तथा स्वसंवेदन सिद्ध होने से यह सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता।परन्तु यह दोनों ज्ञानों का विषय भी है। विभाव आदि के उपस्थित होने से यह सविकल्पक ज्ञान का विषय है तथा अलौकिक आनन्दमय होने से यह निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है। रस के अलौकिक होने से इसमें विरोध नहीं मानना चाहिये।

रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की व्याख्या को अधिकांश उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्वीकार कर लिया था। भामह, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने रस की निष्पत्ति को अभिव्यक्ति ही स्वीकार किया। परन्तु कुछ आचार्यों ने इसका खण्डन भी किया। इनमें दशरूपककार धनञ्जय और उनके टीकाकार धनिक प्रमुख हैं।

धनञ्जय और धनिक व्यञ्जना वृत्ति को नहीं मानते थे। उन्होंने अभिधा, लक्षणा

और तात्पर्या इन तीन वृत्तियों को माना। वे भाट्ट मीमांसकों से प्रभावित थे। भाट्ट मीमांसक व्यञ्जनावादियों के व्यञ्जनाप्रतिपाद्य अर्थ को तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं मानते थे। धनञ्जय और धनिक ने आनन्दवर्धन के इस मत का खण्डन किया था कि रस व्यङ्ग्य होता है। इनका मत था कि स्थायी भाव (रस) विभाव आदि के द्वारा प्रतीत होने वाला वाक्यार्थ ही है। जैसे वाक्य में अभिहित या प्रकरण आदि द्वारा बुद्धि में स्थित क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ होता है, उसी प्रकार विभाव आदि द्वारा अभिहित होकर प्रकरण आदि द्वारा बुद्धि में स्थित स्थायी भाव तात्पर्यार्थ (वाक्यार्थ) ही होता है[१४]। इसके साथ ही उन्होंने रस की स्थिति को सामाजिक में ही प्रतिपादित किया था[१५]।

परन्तु रस की स्थिति के सम्बन्ध में धनञ्जय और धनिक के इस अभिमत का उत्तरवर्ती आचार्यों ने पोषण नहीं किया। अभिनवगुप्त के मत को स्वीकार करके रस को व्यङ्ग्य ही माना जाता रहा।

५. विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव

भरत के रससूत्र में कहा गया था कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। पूर्वोक्त प्रकरण में रस की निष्पत्ति की प्रक्रिया को समझाया गया है। अब विभाव आदि के स्वरूप का निरूपण करना उपयोगी होगा।

(१) विभाव –

भरत कहते हैं – जिनके द्वारा कायिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनयों का विभावन होता है, अर्थात् ज्ञान होता है, उनको विभाव कहते हैं[१६]। विश्वनाथ ने कहा है –

"लोक में जो पदार्थ रति आदि को उद्बोधित करते हैं, उनको काव्य या नाटक में विभाव कहा जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं – आलम्बन और उद्दीपन[१७]।

(क) आलम्बन विभाव –

नायक, नायिका आदि पात्र आलम्बन विभाव कहलाते हैं, क्योंकि उनके आलम्बन से ही रस का उद्गम होता है[१८]।

(ख) उद्दीपन विभाव –

स्थायी भाव के उद्दीपक विभावों को उद्दीपन विभाव कहा जाता है। उद्दीपन विभाव भी दो प्रकार के होते हैं –

(१) पहले वे हैं, जिनका सम्बन्ध नायक, नायिका आदि पात्रों की चेष्टाओं, रूप, बोली, पहनावा आदि से होता है।

(२) दूसरे उद्दीपन विभाव वे हैं, जिनका सम्बन्ध देश-काल, उद्यान, चन्द्रोदय, नदी, वन, वसन्त ऋतु आदि से होता है[१९]।

आलम्बन विभावों से स्थायी भाव उद्बुद्ध होता है। उसके पश्चात् उद्दीपन विभावों से वह उद्दीप्त होता है।

(२) अनुभाव -

जिस प्रकार कारण के पीछे कार्य होता है, उसी प्रकार विभाव के पीछे अनुभाव होते हैं। **"अनु पश्चात् भवन्ति इति अनुभावा:"।** विभावों द्वारा स्थायी भावों के उद्‌बुद्ध तथा उद्‌दीप्त होने पर मन की भावनायें विविध विकारों के रूप में प्रकट होने लगती हैं[२०]। इस प्रकार कारण रूप विभावों से उद्‌बुद्ध रति आदि स्थायी भावों को प्रकाशित करने वाले जो कार्य हैं, उनको काव्य और नाटक में अनुभाव कहा जाता है[२१]। अनुभूयमान होने के कारण भी इनको अनुभाव कहते हैं।

ये अनुभाव दो प्रकार के होते हैं -

(क) नायक, नायिका आदि के शरीर की चेष्टाओं के रूप में होने वाले कटाक्ष, भुजक्षेप, स्मित आदि ।

(ख) नायक आदि के मन के विकारों के कारण उत्पन्न होने वाले स्वेद आदि।

ये दूसरे प्रकार के अनुभाव सात्त्विक भाव या अनुभाव कहलाते हैं। इनकी संख्या आठ है - स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्पन, विवर्णता, अश्रु और मूर्छा[२२]। भानुदत्त मिश्र ने जृम्भा को नवां सात्त्विक अनुभाव कहा है[२३]।

(३) व्यभिचारी भाव -

व्यभिचारी भाव स्थिर न रहने वाली चित्तवृत्तियां हैं। ये विभाव और अनुभाव की अपेक्षा से विभिन्न रसों में अनुकूल होकर विचरण करते हैं। इसलिये इनको सञ्चारी भाव भी कहा जाता है। एक रस में अनेक व्यभिचारी भावों की तथा एक व्यभिचारी भाव की अनेक रसों में स्थिति हो सकती है। रसों के प्रति विभिन्न प्रकार से सञ्चरित होने वाले इन विकारों को व्यभिचारी भाव कहते हैं[२४]। ये रस के प्रति उन्मुख होकर विशेष रूप से विचरण करते हैं और स्थायी भाव में इस प्रकार डूबते और उतराते हैं, जिस प्रकार समुद्र में तरङ्गें[२५]।

व्यभिचारी भावों की संख्या ३३ कही गई है -

निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा, चञ्चलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, जागरण, अमर्ष, अवहित्था (मन के भावों को चतुराई से छिपाना), उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क[२६]।

कौन से व्यभिचारी भाव किस रस के साथ सम्बद्ध रहते हैं, इसकी गणना भी आचार्यों ने की है। विस्तार के भय से इसको यहां नहीं दिया जा रहा। इन ३३ व्यभिचारी भावों के अतिरिक्त स्थायी भाव भी कभी कभी व्यभिवारी भाव हो जाते हैं। जैसे शृङ्गार-वीर में हास, हास्य-वीर-करुण में उत्साह आदि। कभी कभी व्यभिचारी भाव भी स्थायी भाव के रूप में कार्य करते हैं। तब प्राय: उनको भाव की संज्ञा दी जाती है[२७]।

यद्यपि भरत आदि आचार्यों ने व्यभिचारी भावों की संख्या ३३ कही है, तथापि कुछ अन्य आचार्यों ने कुछ और भी व्यभिचारी भाव बताये हैं। भोज ने ईर्ष्या, शम और स्नेह की, हेमचन्द्र ने दम्भ, उद्वेग क्षुधा और तृष्णा की, रामचन्द्र ने क्षुधा, तृष्णा, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, अरति, सन्तोष, क्षमा, मार्दव, आर्दव, दाक्षिण्य आदि की, और भानुदत्त ने छल की गणना व्यभिचारी भावों में की है। परन्तु समन्वयवादी आचार्यों ने इन अतिरिक्त व्यभिवारी भावों का समन्वय इन्हीं ३३ व्यभिचारी भावों में कर दिया है।

भोजराज ने स्थायी भावों, सात्त्विक भावों और व्यभिचारी भावों को नियत करने में तीव्र आपत्ति की थी। उनका कथन था कि कोई भी भाव कभी स्थायी भाव, कभी सात्त्विक भाव और कभी व्यभिचारी भाव हो सकता है[२८]।

(४) स्थायी भाव -

मनुष्य अपने दैनिक जीवन में जो कुछ देखता है, सुनता है, और अनुभव करता है, उसका संस्कार मन पर स्थिर हो जाता है। इस संस्कार को वासना भी कहते हैं। ये वासना रूप संस्कार ही स्थायी भाव कहलाते हैं। काव्यशास्त्र में स्थायी भावों का निरूपण वैज्ञानिक आधार पर किया गया है। वे स्थायी भाव आधुनिक मनोविज्ञान में मनोवेगों के समान हैं।

सभी प्राणियों में प्रेम आदि की प्रवृत्तियां विद्यमान रहती हैं। किसी में किसी विशिष्ट प्रवृत्ति की उत्कटता रहती है और किसी में किसी अन्य प्रवृत्ति की उत्कटता होती है। प्राचीन आचार्यों ने इन प्रवृत्तियों के वर्गीकरण का प्रयास किया था और इनकी संख्या निर्धारित की थी। सर्वप्रथम भरत ने आठ प्रवृत्तियां निर्धारित की होंगी। उनके अनुसार स्थायी भावों की संख्या आठ सुनिश्चित की गई थी। इन आठ प्रकार के स्थायी भावों के अनुसार रसों की संख्या भी आठ है। एक विशेष स्थायी भाव एक विशेष रस के रूप में परिणत होता है। उत्तरवर्ती काल में कुछ और स्थायी भाव भी निश्चित किये गये तथा उनके रसों की संख्या में भी उतनी ही वृद्धि हो गई।

(५) सहज प्रवृत्तियां तथा मन:संवेग -

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान के अध्ययन में मानव की सहज प्रवृत्तियों तथा उनसे सम्बन्धित मन:संवेगों का अध्ययन किया है। मैकडानल ने निर्धारित किया था कि मानव की सहज प्रवृत्तियां १८ प्रकार की होती हैं। पुन: इनको मैकडोनल ने १४ में संक्षिप्त किया था। ये १४ सहज प्रवृत्तियां तथा इनसे सम्बद्ध मन:संवेग निम्न प्रकार से गिने जा सकते हैं -

सहज प्रवृत्तियां	मन:संवेग
१. भय से पलायन (आत्मरक्षा के लिये)	भय
२. युद्ध करने की इच्छा	क्रोध

३. निवृत्ति या वैराग्य	घृणा
४. मातृभावना	वात्सल्य
५. आत्माभिमान	गर्व
६. आत्महीनता (उदासीनता)	दैन्य
७. काम की प्रवृत्ति	रति
८. आमोद-प्रमोद	हास
९. कुतूहल या जिज्ञासा	औत्सुक्य
१०. शरणागति या करुण भाव	शोक
११. भोजन को खोजने की प्रवृत्ति	भूख
१२ संग्रह करने की प्रवृत्ति	अधिकार भावना
१३. सामाजिकता	एकाकीपन
१४. विधायकता या रचनात्मक प्रवृत्ति	सृजनोत्साह

ऊपर कही गई १४ प्रवृत्तियों में से अन्तिम चार का सम्बन्ध साहित्यिक रसों से नहीं है। पहली १० प्रवृत्तियां साहित्यिक रसों से सम्बन्धित हैं। इनके मन:संवेग रसदशा को प्राप्त होते हैं। भारतीय परिभाषा में इनको स्थायी भाव कहा जा सकता है। इन सहज प्रवृत्तियों और मन:संवेगों का भारतीय साहित्यशास्त्र में भावों तथा रसों से आश्चर्यजनक सम्बन्ध है -

सहज प्रवृत्ति	मन:संवेग	स्थायी भाव	रस
१. भय से पलायन	भय	भय	भयानक
२. युद्ध करने की इच्छा	क्रोध	क्रोध	रौद्र
३. निवृत्ति या वैराग्य	घृणा	जुगुप्सा	बीभत्स
४. मातृभावना	वात्सल्य	वत्सलता	वत्सल
५. आत्माभिमान	गर्व	उत्साह	वीर
६. आत्महीनता	दैन्य	निर्वेद	शान्त
७. काम की प्रवृत्ति	रति	रति	शृङ्गार
८. आमोद-प्रमोद	हास्य	हास	हास्य
९. कुतूहल या जिज्ञासा	औत्सुक्य	विस्मय	अद्भुत
१०. शरणागति	दु:ख	शोक	करुण

स्थायी भावों का मनोवृत्तियों के रूप में भारतीय काव्यशास्त्र में भी अध्ययन किया गया था। 'भावप्रकाशन' में शारदातनय ने लिखा है कि मनोवृत्तियों के आठ प्रकार का होने से आठ ही प्रकार के रसों की अनुभूति होती है[२९]।

स्थायी भावों को स्थायी भाव इसलिये कहा जाता है, क्योंकि मनुष्यों के हृदयों में ये

चित्तवृत्तियों के रूप में दीर्घ काल तक स्थिर रहते हैं। जिस भाव को न तो कोई प्रतिकूल भाव और नाहीं कोई अनुकूल भाव तिरोहित कर सकता है, उसको स्थायी भाव कहते हैं। यह रस के आस्वादन का अनुकरण कन्द है[३०]। दशरूपककार का यह कथन है -

"जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं होता, अपितु अन्य भावों को आत्मसात् कर लेता है, वह स्थायी भाव है"[३१]।

'नाट्यशास्त्र' में भरत ने स्थायी भावों की संख्या आठ बतायी है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में 'नाट्यशास्त्र' की कारिका को उद्धृत करके नाट्य में आठ स्थायी भाव माने हैं - रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय[३२]।

उत्तरवर्ती काल में जैसे जैसे रसों की संख्या में वृद्धि हुई, वैसे ही वैसे स्थायी भावों की संख्या भी बढती गई। मम्मट ने निर्वेद को स्थायी भाव मान कर शान्त रस को नवम रस कहा था[३३]। विश्वनाथ ने शान्त रस का स्थायी भाव शम को बताया। दशरूपककार ने भी शम को ही शान्त रस का स्थायी भाव कहा[३४]। विश्वनाथ ने वत्सलता को स्थायी भाव मान कर वत्सल नामक दशम रस का प्रतिपादन किया[३५]। मम्मट इस वत्सलता को भाव मानते हैं।

'उज्ज्वलनीलमणि', 'भक्तिरसामृसिन्धु' आदि ग्रन्थों में भगवद्विषयक प्रेम को स्थायी भाव मान कर भक्ति को रस कहा गया है। परन्तु मम्मट ने भक्ति को भाव की संज्ञा दी है[३६]।

६. रसों की संख्या

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त स्थायी भाव ही रस कहलाता है। अतः स्थायी भावों की जो संख्या होगी, वही रसों की संख्या होगी। भरत मुनि ने रसों की संख्या आठ गिनाई है - शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत[३७]।

भरत ने रसों की संख्या का निर्धारण नाट्य की दृष्टि से ही किया था। नाट्य की दृष्टि से अन्य काव्यों में अन्य रस भी हो सकते हैं। आचार्य मम्मट ने निर्वेद को स्थायी भाव मान कर शान्त रस को नवम रस कहा था। धनञ्जय और धनिक ने शम को शान्त रस का स्थायी भाव प्रतिपादित किया। विश्वनाथ ने वत्सल की गणना भी रसों में की। रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और उज्ज्वलनीलमणि' में भक्ति रस का प्रतिपादन किया था[३८]।

इस प्रकार रसों की संख्या ११ हो जाती है। परन्तु अधिकांश आचार्य रसों की संख्या ९ ही मानते हैं। वत्सल और भक्ति को रस न मान कर भाव ही कहा गया है। मम्मट ने देवता आदि विषयक रति को भाव की संज्ञा दी है[३९]। आचार्य हेमचन्द्र 'काव्यानुशासन' में लिखते हैं कि स्नेह, भक्ति और वात्सल्य ये रति के ही भेद हैं[४०]।

रसों की संख्या के विषय में भोज ने अपना अलग पक्ष रखा है। उन्होंने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में पहले शृङ्गार आदि आठ रसों को तथा उनके स्थायी भावों को बताया[४१]। परन्तु आगे चल कर उन्होंने चार रसों का और प्रतिपादन किया तथा रसों की संख्या १२ निर्धारित की - शृङ्गार, वीर, करुण, रौद्र, अद्भुत, भयानक, बीभत्स, हास्य, प्रेयान्, शान्त, उदात्त और उद्धत[४२]।

शान्त को रस माना जावे या नहीं, इस विषय में आचार्यों में बहुत समय से मतभेद रहा है। अतः इस विषय पर विचार करना उचित होगा। कुछ आचार्यों का अभिमत है कि शान्त रस तो हो सकता है, परन्तु इसको नाट्य में नहीं होना चाहिये। दशरूपककार ने लिखा है -

> **शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।**
> **निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।**
> **वैरस्यास्यैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः।।**

दशरूपक ४.३५-३६।।

दशरूपक की इस कारिका पर धनञ्जय ने निम्न प्रकार से टीका लिखी थी -

"इति शान्तरसं प्रति वादिनामनेकधा विप्रतिपत्तयः। केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः, तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयित्वा अनादिकालप्रवाहागतरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। यथा तथा अस्तु। नाटकादौ अभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्। यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितं तत्तु मलयवत्यनुरागेण आप्रबन्धवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम्। न ह्यनेकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागावुपलब्धौ। अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्। अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति"।

धनिक तथा धनञ्जय के ऊपर लिखे गये वचनों से नाट्यों में शान्त रस की निषिद्धता के निम्न कारण प्रतीत होते हैं -

(१) भरत मुनि ने शान्त रस के विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं किया।

(२) राग-द्वेष का सर्वथा नाश हो जाने पर ही शम की स्थायी भाव के रूप में स्थिति होती है। अनादि काल से चले आ रहे राग और द्वेष का सर्वथा विनाश सम्भव न हो सकने के कारण शम स्थायी भाव नहीं हो सकता और इस प्रकार शान्त रस की स्थिति नहीं हो सकती।

(३) शान्त रस का अन्तर्भाव कुछ आचार्य वीर, बीभत्स आदि रसों में करते हैं।

(४) अभिनयात्मक नाटकों में शम का सर्वथा निषेध है, क्योंकि समस्त व्यापारों

का निषेध करने वाले शम का अभिनय किया जाना सम्भव नहीं है।

(५) 'नागानन्द' नाटक का स्थायी भाव शम नहीं है। अपितु उसमें दयावीर रस का स्थायी भाव उत्साह ही प्रधान है।

(६) स्थायी भावों को विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न न होने वाला कहा गया है। निर्वेद आदि में यह स्थिति नहीं है। अत: वे स्थायी भाव न होकर व्यभिचारी भाव ही हैं।

(७) नाटकों में शम का परिपोष विरसता को उत्पन्न करने वाला है। अत: कम से कम नाटकों में शान्त रस की स्थिति नहीं होनी चाहिये।

७. रसों में प्रधानता

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्यों ने रसों की संख्या ८ से ११ मानी थी। इनमें भी आचार्यों ने कुछ रसों को प्रधान तथा कुछ को गौण माना। उन्होंने कुछ रसों को मूल रस मान कर उनकी अलग अलग दृष्टि से कल्पना की। कुछ आचार्य मूल रस एक ही मानते हैं। भोज ने 'शृङ्गारप्रकाश' में शृङ्गार रस को और भवभूति ने 'उत्तररामचरितम्' में करुण रस को सब रसों का मूल प्रतिपादित किया था। अभिनवगुप्त ने शान्त रस को सब रसों में प्रधान माना था। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में यह प्रतिपादित किया है कि उनके प्रपितामह नारायण अद्भुत रस को सबसे प्रधान रस (मूल रस) मानते थे[४३]।

रसों की प्रधानता एवं अप्रधानता का निर्णय सबसे पहले भरत ने किया था। उनके अनुसार शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस उत्पन्न होते हैं[४४]। इसका अभिप्राय है कि शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स रस प्रधान हैं तथा हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रस अप्रधान हैं।

रसों की प्रधानता और अप्रधानता का आधार चित्तवृत्तियों को बनाया जाना चाहिये। अन्त:करण में अनादि काल से संचित वासनाओं या संस्कारों को वर्गीकृत करके स्थायी भावों के नाम दिये गये हैं। अत: रस के आस्वाद के समय चित्तवृत्तियों की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर रसों की प्रधानता या अप्रधानता निश्चित की जा सकती है।

दशरूपककार के अनुसार ये चित्तवृत्तियां चार प्रकार की हो सकती हैं – विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। शृङ्गार रस के अनुभव के समय विकास, वीर रस के अनुभव के समय विस्तार, बीभत्स रस की अनुभूति के समय क्षोभ और रौद्र रस की अनुभूति के समय विक्षेप की अवस्था होती है। अत: इन चार रसों को प्रधान समझना चाहिये। अन्य चार रस उन्हीं से उत्पन्न होते हैं। शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, बीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति होती है[४५]।

कुछ आचार्यों ने अपनी अपनी दृष्टि से किसी एक ही रस को प्रधान मान कर

अन्य रसों का उद्भव उसी से प्रतिपादित किया है। इस सम्बन्ध में चार आचार्यों के मतों का अवलोकन अधिक महत्त्वपूर्ण है - भवभूति, अभिनवगुप्त, भोजराज और नारायण। ये मत निम्न हैं -

(१) भवभूति के अनुसार एकमात्र करुण रस ही होता है। उसी के आश्रय से विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति होती है[४६]।

(२) अभिनवगुप्त ने शान्त रस को ही मूल रस माना था। इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुये उन्होंने 'अभिनवभारती' में इस प्रकार लिखा -

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भाव: प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपनीयते ।।

अभिनवगुप्त का अभिमत है कि रस का सम्बन्ध मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष से है। क्योंकि सभी प्रकार के काव्य का आस्वादन अलौकिक है और ब्रह्मास्वाद के सदृश है। अत: शान्त रस को ही सबसे प्रमुख रस मानना चाहिये।

(३) भोजराज का मत हैं कि शृङ्गार रस ही सब रसों में प्रधान है। वही सबका एकमात्र मूल है। कविता रस के कारण सरस बनती है। इस एक रस को शृङ्गार कहा जाता है। इसका रूप अभिमान और अहंकार जैसा होता है[४७]। 'शृङ्गारप्रकाश' में भोज ने शृङ्गार को एकमात्र रस मानने का हेतु यह दिया, क्योंकि रसत्व का आस्वाद शृङ्गार का ही होता है[४८]।

(४) विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में अपने प्रपितामह नारायण के मत को प्रदर्शित किया है कि चित्त में चमत्कार का उत्पन्न होना विस्मय का ही पर्याय है। अत: अदभुत रस ही सबसे प्रधान चमत्कारी है[४९]।

८. रसों का स्वरूप

मम्मट आदि आचार्यों ने शृङ्गार आदि रसों के स्वरूप का विवेचन न करके उनके केवल उदाहरण दिये हैं। परन्तु 'नाट्यशास्त्र', 'साहित्यदर्पण' आदि ग्रन्थों में उनके स्वरूप की भी व्याख्या की गई है। इस प्रकरण में पृथक्-पृथक् रसों के स्वरूप का परिचय देना आवश्यक है -

(१) शृङ्गार रस -

शृङ्गार रस की उत्पत्ति काम के उद्भेद से होती है। इसमें नायक-नायिका आदि आलम्बन विभाव; चन्द्रमा, उपवन, माला, वसन्त ऋतु आदि उद्दीपन विभाव; भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव; स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक अनुभाव तथा लज्जा, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे अभिव्यक्त रति रूप स्थायी भाव ही शृङ्गार रस है[५०]। रति के विकास की छ: अवस्थायें होती हैं -

प्रेम, मान. प्रणय, स्नेह, राग और अनुराग।

शृङ्गार रस के मुख्य दो भेद हैं - संयोग और विप्रलम्भ। संयोग शृङ्गार के दर्शन, स्पर्श, चुम्बन, परिरम्भण आदि के भेद से अनेक विभेद हो सकते हैं। इसलिये इसको एक ही प्रकार का मान लिया गया है। विप्रलम्भ शृङ्गार के पांच विभेद होते हैं - अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और मान। विप्रलम्भ शृङ्गार की दस काम-अवस्थायें होती हैं - अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जडता और मरण।

(२) हास्य रस -

हास्य रस की उत्पत्ति के लिये विकृत आकार, वाणी, वेश आदि को धारण करने वाला अभिनेता आलम्बन विभाव है। उसकी विकृत चेष्टा आदि[५१] उद्दीपन विभाव हैं। निद्रा, आलस्य, अवहित्था आदि व्यभिचारी भाव हैं[५१]। इनसे अभिव्यक्त हास स्थायी भाव ही हास्य रस दशा को प्राप्त होता है[५२]।

आत्मस्थ, परस्थ और द्वयधिष्ठान भेद से हास्य रस तीन प्रकार का होता है। उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति भेदों को मिला कर यह छः प्रकार का हो जाता है। उत्तम प्रकृति पात्रों में स्मित-हसित, मध्यम प्रकृति पात्रों में विहसित-अवहसित और नीच प्रकृति पात्रों में अपहसित-अतिहसित होते हैं। इस प्रकार हास्य के छः भेद होते हैं[५३]।

(३) करुण रस -

इष्ट का विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति करुण रस के आलम्बन विभाव हैं। प्रिय के गुणों का कथन उद्दीपन विभाव है। निःश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तम्भ, विलाप, विवर्णता आदि अनुभाव हैं। स्वप्न, अपस्मार, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं[५४]। इनसे निष्पन्न शोक रूप स्थायी भाव करुण रस रूप दशा को प्राप्त होता है।

(४) रौद्र रस -

शत्रु आदि रौद्र रस के आलम्बन विभाव हैं। शत्रुओं द्वारा किया गया अपकार उद्दीपन विभाव हैं। होठ काटना, कम्प, भ्रुकुटि चढाना, शस्त्र उठाना, डींगे मारना, भूमि पर प्रहार करना, प्रतिज्ञा करना आदि अनुभाव हैं। अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न क्रोध रूप स्थायी भाव रौद्र रस दशा को प्राप्त होता है[५५]।

(५) वीर रस -

वीर रस के आलम्बन विभाव विजेतव्य शत्रु आदि हैं। उनकी चेष्टायें उद्दीपन विभाव हैं। रोमाञ्च, युद्ध-सामग्री, सहायक आदि की खोज करना आदि अनुभाव हैं। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न उत्साह रूप स्थायी भाव वीर रस दशा को प्राप्त होता है। यह चार प्रकार का होता है - दानवीर, धर्मवीर, दयावीर और युद्धवीर[५६]।

(६) भयानक रस –

जिससे भय उत्पन्न हो,वह भयानक रस का आलम्बन विभाव है। उसके विकृत स्वर चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। अङ्गों का कांपना, स्वेद, रोमाञ्च, दिशाओं में देखना आदि अनुभाव हैं। चिन्ता, दैन्य, सम्भ्रम, सम्मोह, त्रास आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न भय नामक स्थायी भाव भयानक रूप रस दशा को प्राप्त होता है[५७]।

(७)बीभत्स रस –

सड़ा मांस, वमन आदि पदार्थ बीभत्स रस के आलम्बन विभाव हैं। इनमें कीड़े पड़ना, दुर्गन्ध आना आदि उद्दीपन विभाव हैं। वैराग्य के कारण जघन, स्तन आदि के प्रति घृणा करना, नाक सिकोड़ना, मुख सिकोड़ना, थूकना आदि अनुभाव हैं। आवेग, आर्ति, शंका आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न जुगुप्सा रूप स्थायी भाव बीभत्स रूप रस दशा को प्राप्त होता है[५८]।

(८) अद्भुत रस –

अलौकिक पदार्थ, देवता आदि अद्भुत रस के आलम्बन विभाव हैं। उनका दर्शन, गुणकीर्तन आदि उद्दीपन विभाव हैं। साधुवाद कहना, अश्रु, वेपथु, स्वेद, नेत्रविकास, वाणी का गद्गद होना आदि अनुभाव हैं। वितर्क, आवेग, हर्ष, धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न विस्मय नामक स्थायी भाव अद्भुत रूप रस दशा को प्राप्त होता है[५९]।

(९) शान्त रस –

मम्मट ने शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद कहा है। परन्तु विश्वनाथ आदि शान्त रस का स्थायी भाव शम को बताते हैं। संसार की अनित्यता तथा निस्सारता का बोध होना अथवा परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान शान्त रस का आलम्बन विभाव है। पुण्य आश्रम, भगवान् के लीला क्षेत्र, तीर्थ, रमणीय वन आदि उद्दीपन विभाव हैं। रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, जीवदया आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न शम रूप स्थायी भाव शान्त रस दशा को प्राप्त होता है[६०]। विश्वनाथ ने शान्त रस का स्वरूप निम्न प्रकार से निर्धारित किया था –

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ।।[६१]

जहां न तो दुःख हो, न सुख हो, न चिन्ता हो, न द्वेष हो , न राग हो, न कोई इच्छा रहे, उस अवस्था को मुनिश्रेष्ठ शान्त रस कहते हैं। यह सभी भावों में समप्रमाण रहता है।

(१०) वत्सल रस –

विश्वनाथ ने वत्सल रस का भी प्रतिपादन किया था और इसको मुनिसम्मत बताया था। परन्तु भरत के 'नाट्यशास्त्र' में वत्सल रस का उल्लेख नहीं है। मम्मट के

अनुसार पुत्र आदि के प्रति रति, भाव की कोटि में आती है।

विश्वनाथ के अनुसार पुत्र आदि वत्सल रस के आलम्बन विभाव हैं। उनकी चेष्टायें, गुण आदि उद्दीपन विभाव हैं। आलिंगन, स्पर्श, चुम्बन, दर्शन, रोमाञ्च, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव हैं। अनिष्ट की शंका, हर्ष, गर्व आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न वात्सल्य रूप स्थायी भाव वत्सल रूप रस दशा को प्राप्त होता है[६२]।

(११) भक्ति रस-

भक्तिवादी आचार्यों ने भक्ति को भी रस की कोटि में प्रतिपादित किया है। मम्मट आदि आचार्य भक्ति का अन्तर्भाव देवविषयक रतिभाव में करते हैं। रूपगोस्वामी ने भक्ति रस का स्वरूप निम्न प्रकार से बताया है -

भक्ति रस के आलम्बन विभाव भगवान् हैं। तुलसी, चन्दन आदि उद्दीपन विभाव हैं। नेत्रविकार, नृत्य, गीत अश्रुपात, रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं। निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे निष्पन्न भगवद्विषयक रति रूप स्थायी भाव भक्तिरूप रसदशा को प्राप्त होता है[६३]।

९. रसों के वर्ण तथा देवता

प्राचीन साहित्य में रसों के वर्णों और देवताओं का भी वर्णन किया गया है। विभिन्न रसों के विभिन्न वर्ण तथा देवता कहे गये हैं। संस्कृत साहित्य में विभिन्न वस्तुओं में तथा गुणों में विभिन्न वर्णों की कल्पना की गई थी। उसी के अनुसार रसों में यह वर्णों की कल्पना है। देवताओं के गुणों के अनुसार उनसे सम्बन्धित रसों में उन देवताओं के अधिष्ठातृत्व की कल्पना भी की गई है। रसों के वर्णों तथा देवताओं की कल्पना सबसे पहले भरत मुनि ने की थी। भरत ने क्योंकि आठ ही रसों का विवेचन किया था, इसलिये उन्होंने आठ ही रसों के वर्णों तथा देवताओं का वर्णन किया[६४]। विश्वनाथ ने शान्त[६४] और वत्सल[६५] रसों के वर्ण तथा देवता भी बताये। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न है[६६] -

संख्या	रस	वर्ण	देवता
१	शृङ्गार	श्याम	विष्णु
२	हास्य	श्वेत	प्रमथ
३	करुण	कपोत	यम
४	रौद्र	रक्त	रुद्र
५	वीर	गौर	इन्द्र
६	भयानक	कृष्ण	काल
७	बीभत्स	नील	महाकाल
८	अद्भुत	पीत	ब्रह्मा
९	शान्त	कुन्देन्दुशुभ्र	श्रीनारायण
१०	वत्सल	पद्मगर्भसदृश	लोकमातायें

१०. रसों का परस्पर विरोध और उसका परिहार

काव्य में जिन रसों की निष्पन्नता का वर्णन किया गया है, उनमें परस्पर विरोध की सम्भावना भी की गई है। कुछ रस परस्पर विरोधी होते हैं। कुछ नहीं होते। जैसे शृङ्गार रस का करुण, बीभत्स आदि रसों के साथ और वीर रस का भयानक रस के साथ विरोध समझा जाता है।

रसों की विरोधिता या अविरोधिता तीन प्रकार से हो सकती है -

(१) आलम्बन की एकता से अथवा

(२) आश्रय की एकता से अथवा

(३) निरन्तरता के कारण

वीर और शृङ्गार रस में आलम्बन की एकता से विरोध है। आलम्बन की एकता के द्वारा सम्भोग शृङ्गार का विरोध हास्य, रौद्र और बीभत्स के साथ होता है एवं विप्रलम्भ शृङ्गार का विरोध वीर, करुण, रौद्र और बीभत्स रसों के साथ होता है। आश्रय की एकता के कारण वीर और भयानक रसों में परस्पर विरोध होता है। शान्त और शृङ्गार रसों में निरन्तरता के कारण परस्पर विरोध होता है[६७]।

काव्यों में रसों के निबन्धन के सम्बन्ध में आचार्यों का अभिमत है कि काव्य में एक रस को अंगी (प्रधान) रूप से निबद्ध करना चाहिये तथा अन्य रस उसके अंग रूप में नियोजित किये जाने चाहियें। रसों की परस्पर विरोधिता को दृष्टि में रख कर काव्यों में उनके निबन्धन के लिये कुछ विशेष नियमों का प्रतिपादन किया गया है। उनको यहां संक्षेप से प्रस्तुत करना उपयोगी होगा -

(१) आलम्बन के ऐक्य से विरोधी रसों का निबन्धन नहीं करना चाहिये।

(२) आश्रय की एकता से रसों का परस्पर विरोध होने पर उन रसों का भिन्न भिन्न आश्रय से निबन्धन करना चाहिये[६८]।

(३) निरन्तरता के कारण रसों का परस्पर विरोध होने पर दोनों रसों के मध्य में किसी अविरोधी रस का नियोजन करना चाहिये[६९]।

(४) निम्न अवस्थाओं में विरोधी रसों में परस्पर विरोध भाव नहीं रहता[७०] -

(क) दो विरुद्ध रसों का स्मरणात्मक वर्णन हो।

(ख) दोनों विरुद्ध रस समभाव से विवक्षित हों, गुण-प्रधान भाव न हो।

(ग) दोनों विरोधी रस किसी अन्य रस का अंग बन गये हों।

रसों में परस्पर विरोध का और उस विरोध के परिहार का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रसंग का यहां संक्षेप से ही वर्णन है। विस्तार के लिये उस उस ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिये।

११. भाव आदि

काव्यों के रसात्मक होने से रसात्मक वाक्य को काव्य कहा गया था और रस को उसकी आत्मा माना गया। भाव आदि भी रसात्मक (आस्वाद्य) होने से रस की कोटि में ही आते हैं। उपचार से इनको भी रस कहा जाता है। अन्तर यह है कि विभाव आदि सामग्री से ये भाव इतने अधिक पुष्ट नहीं होते, जितने कि रस होते हैं। भाव आदि में निम्न भेदों का परिगणन किया जाता है -

(१) भाव (२) रसाभास (३) भावाभास (४) भावशान्ति (५) भावोदय (६)भावसन्धि और (७) भावशबलता[७१]। रस के प्रसंग में इनके स्वरूप को जानना चाहिये -

(१) भाव -

देवता आदि विषयक रति, प्रधान रूप से अभिव्यञ्जित व्यभिचारी भाव और उद्बुद्धमात्र स्थायी भाव, जो कि विभाव आदि से पूर्ण रूप से परिपुष्ट न हो, भाव कहलाते हैं[७२]। मम्मट ने पुत्रविषयक रति की अवस्था को भाव कहा है। परन्तु विश्वनाथ इसमें वत्सल रस मानते हैं।

(२) रसाभास -

अनुचित रूप से प्रवृत्त रस और भाव को क्रमंशः रसाभास और भावाभास कहते हैं[७३]। विश्वनाथ ने रस के अनौचित्य के निम्न हेतु बताये हैं[७४] -

(क) **शृङ्गार रस का अनौचित्य** - उपनायक विषयक रतिभाव, मुनि-गुरु आदि की पत्नी विषयक रतिभाव, अनेक नायक विषयक रतिभाव, अनुभयनिष्ठ रति-भाव, प्रतिनायकनिष्ठ रतिभाव, अधमपात्रगत रतिभाव, पशु-पक्षीनिष्ठ रतिभाव आदि।

(ख) **रौद्र रस का अनौचित्य** - गुरु आदि के प्रति क्रोध का प्रदर्शन।

(ग) **शान्त रस का अनौचित्य** - नीच व्यक्ति के अन्दर शम का अभिव्यञ्जन।

(घ) **हास्य रस का अनौचित्य** - गुरु आदि पूजनीय जनों को हास्य का अवलम्बन बनाना।

(ङ) **वीर रस का अनौचित्य** - ब्राह्मण आदि के वध के लिये उत्साह को प्रकट करना, नीच पात्र को वीर रस का आलम्बन बनाना आदि।

(च) **भयानक रस का अनौचित्य** - उत्तम पात्र को भयानक रस का आलम्बन बनाना आदि।

(३) भावाभास -

वेश्या आदि नायिकाओं द्वारा लज्जा का प्रदर्शन करना अथवा अनुचित स्थानों पर भावों का प्रदर्शन करना भावाभास है।

(४) भावशान्ति -

भाव की शान्ति होने पर भावशान्ति होती है। पहले से उदित भाव का चमत्कारपूर्ण ढंग से सहसा शान्त हो जाना ही भावशान्ति है[७५]।

(५) भावोदय -

जब एक भाव का शमन होकर दूसरे भाव का चमत्कारपूर्ण ढंग से उदय हो जाता है, तो वह भावोदय की अवस्था है।

(६) भावसन्धि -

जब एक भाव के उदय होने पर दूसरा भाव भी उदित हो जावे तथा किसी भी भाव की शान्ति न हो तथा दोनों भाव तुल्यबल हों तो यह भावसन्धि की अवस्था है।

(७) भावशबलता -

जब एक के बाद दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा, इस प्रकार क्रमशः भाव उदित होते जावें, तो यह अवस्था भावशबलता कहलाती है।

१२. रसों की सुखदुःखरूपता

रसों की अनुभूति या आस्वाद किस प्रकार का है, लौकिक रसों की तुलना में काव्य रसों की अनुभूति में कोई भिन्नता है या एकरूपता है, यह विषय प्राचीन काल से ही विवाद का विषय रहा है। अधिकांश आचार्यों ने रसों की अनुभूति को आनन्दमय प्रतिपादित किया था। परन्तु कुछ आचार्य कुछ रसों को सुखरूप तथा अन्य रसों को दुःखरूप मानते रहे। इनके मत नीचे दिये जाते है -

(१) रसों की केवल सुखरूपता -

मम्मट, धनञ्जय, धनिक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्य रस की अनुभूति को आनन्दमय सिद्ध करते रहे थे। विश्वनाथ ने रस की अनुभूति का स्वरूप बताया है कि सत्त्व गुण के उद्रेक से सहृदयों द्वारा अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदर, लोकोत्तर, चमत्कारप्राण यह रस अपने से अभिन्न रूप से आस्वादन किया जाता है[७६]। इस प्रकार इन आचार्यों ने रस को सर्वथा सुखरूप माना था। उनका यह भी अभिमत था कि करुण आदि रस भी काव्य में सुखात्मक ही होते हैं। इसके लिये उन्होंने सहृदयों के हृदयों को ही प्रमाण माना है। विश्वनाथ आदि आचार्यों का कथन था -

"यदि करुण आदि रसों की अनुभूति दुःखमय होती तो कोई भी व्यक्ति करुणरसप्रधान काव्यों के प्रति उन्मुख न होता तथा 'रामायण' आदि काव्य दुःख के हेतु होते[७७]।"

करुण आदि रसों में भी आनन्दमय अनुभूति का हेतु यह दिया गया है जो लौकिक हेतु कारण तथा सहकारी हैं, वे दुःखात्मक होने से दुःख के हेतु हो सकते हैं। परन्तु काव्यों में प्रस्तुत होकर वे लौकिक हेतु अलौकिक हो जाते हैं। ये अलौकिक हेतु जब करुण आदि रसों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, तो उनमें दुःखात्मकता नहीं रहती। इन सबसे होने वाली

अनुभूति सुखमय ही होती है। वनवास, सीताहरण-आदि कारण राम के लिये दुःख का कारण हो सकते हैं, परन्तु काव्य में ये कारण अलौकिकत्व को प्राप्त होकर विभाव बन कर सहृदयों के चित्तों में सत्त्व गुण का उद्रेक करते हैं। इस प्रकार लौकिक हर्ष, शोक आदि कारणों से हर्ष, शोक आदि उत्पन्न होते हैं, यह लौकिक नियम है। परन्तु काव्यों में इन विभाव आदियों से सुख ही उत्पन्न होता है।

रसों की सुखदुःखात्मकता का प्रश्न धनिक ने भी उठाया था। प्रश्न यह था -

"सुखात्मक वीर, शृङ्गार, हास्य आदि रसों में तो आनन्द की अनुभूति हो सकती है, परन्तु दुःखात्मक करुण आदि रसों में यह कैसे होगी ? करुण रस से युक्त काव्य के देखने या सुनने से दुःख का आविर्भाव होता है और अश्रुपात आदि होते हैं। यदि ये रस भी आनन्ददायक होते, तो ऐसा क्यों होता?" इस प्रश्न का उत्तर धनिक ने यह दिया है -

"यह ठीक है कि करुण रस के काव्य के श्रवण से रसिकों को दुःख होता है और वे रोते हैं। परन्तु लौकिक करुण आदि से काव्यगत करुण आदि रस भिन्न होते हैं। काव्यगत करुण आदि रस दुःखपरक होते हुये भी आनन्दात्मक होते हैं। उनसे सुख-दुःख मिश्रित आनन्द प्राप्त होता है। यह प्रक्रिया इस प्रकार है -

जैसे सुरत के समय स्त्रियों को दन्तक्षत, नखक्षत, प्रहार आदि से भी आनन्द की अनुभूति होती है, उसी प्रकार काव्यगत करुण रस के लौकिक करुण रस से भिन्न होने के कारण उसके प्रति रसिकों की प्रवृत्ति होती है। यदि काव्यगत करुण रस लौकिक करुण रस के समान ही दुःखात्मक होता तो उसके प्रति कोई भी प्रवृत्त नहीं होता। इस अवस्था में करुण रस प्रधान 'रामायण' आदि काव्यों का उच्छेद ही हो जाता। ऐसे वर्णनों को पढ कर सामाजिकों का अश्रुपात करना भी आनन्द की अनुभूति का विरोध नहीं है[७८]।"

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रस की अनुभूति को आनन्दरूप कहा है। यह अनुभूति स्वस्वरूपाकार होती है। यह आनन्द लौकिक सुखों से विलक्षण है, यह अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त न होकर स्वतः चैतन्यरूप है[७९]।

पण्डितराज जगन्नाथ ने करुण आदि रसों की आह्लादकता का प्रतिपादन सबल शब्दों में किया था। उनका कथन था कि करुण को रस स्वीकार करना ही यह सिद्ध करता है कि काव्य में निष्पन्न यह रस आह्लाद का हेतु है। सहृदयों के हृदय ही इस बात के प्रमाण हैं कि जिस प्रकार शृङ्गार रस प्रधान काव्य आह्लाद के हेतु होते हैं, उसी प्रकार करुण रसप्रधान काव्य भी आह्लाद के हेतु होते हैं। वस्तुतः लोकोत्तर काव्य-व्यापार आह्लाद का हेतु होता है। यदि करुण आदि रसों से दुःख का अनुभव होता तो उसकी ओर सहृदयों की प्रवृत्ति ही क्यों होती ? करुण आदि रसों की अनुभूति में जो अश्रुपात आदि होते हैं, वे दुःख के कारण नहीं हैं, अपितु आनन्दानुभव के कारण ही होते हैं। यह इसी प्रकार है, जैसे कि भगवान् के भक्त भगवान् के वर्णन को सुन कर अश्रुपात करते हैं। उनमें दुःख

का अनुभव किसी अवस्था में नहीं है। यह लोकोत्तर काव्य व्यापार की महिमा ही है कि उसमें प्रयोग किये जाते हुशे अरमणीय भी शोक आदि पदार्थ अलौकिक रमणीयता को उत्पन्न करते हैं। काव्य-व्यापारों द्वारा उत्पन्न की गई यह रमणीयता या आह्लाद विलक्षण रूप से रमणीय होता है। जो व्यक्ति करुण को रस नहीं मानता, उसको आह्लादक, विलक्षण एवं चमत्कारी नहीं मानता, उसको काव्य तथा कला के क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है।

काव्यगत करुण आदि रसों से आनन्द की ही अनुभूति क्यों होती है, इसका मुख्य हेतु साधारणीकरण व्यापार है। साधारणीकरण द्वारा विभाव आदि के विशेष अंश का परित्याग होने से उसका लौकिक व्यक्तिगत सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। व्यक्ति से आबद्ध भाव में अल्पता होने से दुःख की अनुभूति हो सकती है। परन्तु व्यक्तिगत सम्बन्ध से मुक्त होने पर उदात्तता के समावेश से आनन्दमात्र ही अवशिष्ट रहता है। इसके लिये मधुसूदनदत्त ने यह युक्ति दी है कि रत्यादि भाव जब बोध्यनिष्ठ, अर्थात् दुष्यन्त आदि पात्रगत होते हैं, तो सुख-दुःख के कारण बनते हैं। परन्तु जब वे बोद्धृनिष्ठ, अर्थात् सहृदयगत होते हैं, तो केवल सुख के ही हेतु होते हैं। अतः करुण आदि रसों के आनन्दरूपत्व का व्याघात नहीं होता[८०]।

इसी प्रकार से अधिकांश भारतीय आचार्यों ने सब रसों को अलौकिक आनन्दमय सिद्ध किया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के रचयिता भी रसों को आनन्दरूप प्रतिपादित करते हैं। इस सम्बन्ध में अरस्तू का "विरेचन सिद्धान्त" प्रसिद्ध है। अरस्तू का कथन है -

"त्रासदी में अतिशय उत्तेजना द्वारा मनोवेगों का शमन हो जाता है। अर्थात् विरेचन हो जाता है। इस विरेचन से करुण और त्रासदी के भावों का कटुत्व दूर होकर मन विशद होता है और मन को शान्ति मिलती है। इससे सहृदय प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।"

बुशर का कथन है कि शोक आदि भावों की कटुता उसी समय तक प्रतीत होती है, जब तक कि वे वैयक्तिक भौतिक सीमा में बंधे रहते हैं। स्व की सीमा के नष्ट हो जाने पर उनकी कटुता भी नष्ट हो जाती है और वे सुखद हो जाते हैं।

प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट, कलावादी समीक्षक रोजर फ्राई और क्लाइववेल ने कलागत अनुभूति को सर्वथा अलौकिक माना है। लौकिक भावों और काव्यगत भावों में सर्वथा अन्तर है। लौकिक भाव काव्यगत होकर विभावादि रूप हो जाते हैं। काव्यगत अनुभूति का लौकिक अनुभूति से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता और वे आनन्दरूप ही होते हैं।

प्रसिद्ध काव्यशास्त्री अभिनवगुप्त ने सामान्य रूप से रसों को आनन्दरूप माना था, परन्तु वे उनको उभयात्मक भी मानते हैं। 'अभिनवभारती' टीका में उन्होंने इस प्रकार का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है -

सभी रसों में उभयात्मक अनुभूति होती है। उनमें सुख और दुःख दोनों का समावेश रहा है। परन्तु किसी रस की अनुभूति में सुख एवं किसी रस की अनुभूति में दुःख की प्रध ाानता रहती है। शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्‌भुत रसों में सुख की प्रधानता के साथ दुःख का अनुबन्ध रहता है। इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का आंशिक उद्‌बोध रहता है। केवल शान्त रस को ही अभिनवगुप्त ने सर्वथा सुखात्मक माना है[८१]।

आधुनिक भारतीय समीक्षकों में डा०नगेन्द्र ने रसों की सुखदुःखात्मकता पर विशेष विचार किया है। वे सभी रसों में आनन्दात्मक अनुभूति की निष्पन्नता को प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है -

"आनन्दात्मक अनुभूति दो प्रकार की होती है - भौतिक और आध्यात्मिक। भौतिक अनुभूति ऐन्द्रियिक, रागात्मक तथा बौद्धिक तीन प्रकार की है। काव्यात्मक आस्वाद इन्हीं तीनों ऐन्द्रियिक, रागात्मक तथा बौद्धिक अनुभूतियों का मिश्रण है और काव्यात्मक अनुभूति इन्हीं तीनों के मध्य की वस्तु है। काव्यात्मक अनुभूतियों में एक ओर तो ऐन्द्रियिक अनुभूतियों की स्थूलता तथा कटुता नहीं रहती एवं दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूतियों की अरूपता भी नहीं होती। अतः ये अधिक परिष्कृत, सरस तथा आनन्ददायक होती हैं।

आनन्दवादी आचार्यों के विवेचनों का विश्लेषण करने पर काव्यगत रसों की अनुभूति की निम्न विशेषतायें परिलक्षित होती हैं -

(१) काव्य की रसरूप अनुभूति आनन्दमयी है। यह अलौकिक है और सतत आनन्द देने वाली है। सहृदय को शृङ्गार आदि रसों के साथ करुण, बीभत्स आदि रसों के प्रसंगों में भी आनन्द का अनुभव होता है।

(२) करुण आदि रसों में भी आनन्द के अनुभव होने का मुख्य हेतु यह है कि लौकिक कारण, कार्य और सहकारी उपादान काव्य में अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव हो जाते हैं। उनके व्यक्तिगत अंश का परित्याग होकर संकुचित सीमायें तिरोहित हो जाती हैं। उनमें उनकी कटुता या दुःखप्रदता नहीं रहती।

(३) काव्यगत रसों की अनुभूति सत्त्वप्रधान होती है। यह अन्य सब वेद्यों को तिरोहित कर देती है। वह ब्रह्मानन्द सहोदर होती है तथा अन्य सब अनुभूतियों से विलक्षण है।

(२) कुछ रसों का सुखरूप और अन्य का दुःखरूप होना -

यद्यपि अधिकांश आचार्यों ने रसों को केवल सुखरूप माना था, परन्तु कुछ आचार्य ऐसे भी हुये, जिन्होंने सभी रसों की अनुभूति को केवल आनन्दमय नहीं माना। इनमें नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रमुख हैं। उन्होंने रसों को सुखदःखात्मक बताया[८२]। उनका मन्तव्य है -

"कुछ रस सुखात्मक और कुछ दुःखात्मक हैं। इनमें शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त रस सुखात्मक हैं तथा करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स रस दुःखात्मक हैं"[८३]।"

सब रसों की सुखात्मकता का खण्डन करते हुये नाट्यदर्पणकार ने कहा -

"सभी रसों को सुखात्मक मानना प्रतीति के विरुद्ध है। मुख्य, अर्थात् वास्तविक लौकिक जगत् के सिंह, व्याघ्र आदि विभावों की दुःखात्मकता को तो रहने ही दें, काव्य में अभिनय से प्राप्त कृत्रिम विभावों से उत्पन्न भयानक, बीभत्स, करुण अथवा रौद्र रस भी रसों का आस्वादन करने वाले सहृदयों में कुछ अवर्णनीय क्लेश दशा को उत्पन्न कर देते हैं। इसीलिये सामाजिक भयानक आदि रसों से उद्विग्न होते हैं। परन्तु सुख के आस्वादन से उद्विग्नता नहीं होती। अतः सभी रसों को एकमात्र सुखरूप न मान कर कुछ को सुखात्मक और कुछ को दुःखात्मक मानना चाहिये।"

रसों के सुखदुःखात्मक होने का संकेत 'नाट्यदर्पण' से भी बहुत पहले काव्यशास्त्र में किया गया था। अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती टीका' में किसी प्राचीन आचार्य के मत का उल्लेख किया था, जिनका अभिमत था कि रसों की सामग्री के सुखदुःखात्मक होने से वे भी सुखदुःखात्मक ही हैं[८४]। रुद्रभट्ट ने 'रसकलिका' में भी रसों के सुखदुःखात्मक होने से उनको उभयजनक माना है[८५]। भोज ने 'शृङ्गारप्रकाश' में एक स्थान पर रसों को सुखदुःखात्मक कहा है[८६]।

वामन का कथन है -

"करुण रस से सम्भृत नाटकों में सहृदय को सुख और दुःख से मिश्रित अनुभूति होती है[८७]।"

प्रसिद्ध अद्वैतवादी आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भी सभी रसों को एक समान आनन्दात्मक नहीं माना। उनके अनुसार क्रोधप्रधान रौद्र रस में और शोकमूलक करुण रस में रज एवं तम का मिश्रण रहने से विशुद्ध आनन्द की सत्ता नहीं रहती। अतः सभी रसों में समान रूप से सुख का अनुभव नहीं होता[८८]।

परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सामाजिक को यदि कुछ रसों से दुःख की अनुभूति होती है, तो वह इनके प्रति किस कारण से प्रवृत्त होता है ? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि इसमें यथास्थित वस्तु को प्रदर्शित करने वाले कवि या अभिनेता के सामर्थ्य की कुशलता कारण है। वीरता के अभिमानी जन, प्रहार करने में कुशल तथा सिर काटने वाले शत्रु से भी विस्मित होते हैं। कवि या अभिनेता की कुशलता से उत्पन्न, सभी अंगों को आह्लादित करने वाले चमत्कार से ठगे गये बुद्धिमान् लोग भी दुःखात्मक करुण आदि रसों में परम आनन्द की रूपता को समझते हैं। इसके स्वाद के लालची होकर दर्शक गण भी इनके प्रति प्रवृत्त होते हैं।

कविगण तो सुखदुःखात्मक संसार के अनुरूप राम आदि के चरित का निबन्धन

करते हुये सुखदुःखात्मक रसों से युक्त काव्य की रचना करते ही हैं। जिस प्रकार पानक का माधुर्य, दुःखात्मक तीखे आस्वाद से और भी अधिक स्वादिष्ट लगता है, उसी प्रकार की स्थिति काव्य में भी होती है। अन्यथा सीता के हरण को, द्रौपदी के केशों को खींचने को, हरिश्चन्द्र के चाण्डाल का दास बनने को, रोहिताश्व के मरने को, लक्ष्मण के शक्ति लगने को, मालती के वध के उपक्रम को, सीता के वन को भेजने को तथा इसी प्रकार की नाटकीय घटनाओं को अभिनीत किया जाता हुआ देखने में सहृदयों को कौनसे सुख का अनुभव हो सकता है[८९] ?

नाट्यदर्पणकार ने तथा अन्य भी कुछ आचार्यों ने, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, रसों के सुखदुःखात्मक होने का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया था, वह भारतीय समालोचना जगत् में अधिक प्रचलित नहीं हुआ तथा अधिकांश आचार्य सभी रसों को सुखात्मक ही मानते रहे। आधुनिक भारतीय समालोचकों में भी कुछ समालोचक ऐसे हुये हैं, जिन्होंने कुछ रसों को दुःखप्रधान प्रतिपादित किया। इनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका अभिमत है -

"करुण प्रसंगों की योजना करते समय कवि का उद्देश्य यह होता है कि सहृदय भी करुणा के भाव का अनुभव करे। काव्य के दुःखात्मक प्रसंगों में भी यदि सहृदय को सुख की अनुभूति होने लगेगी, तो उसका काव्य की रचना का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायगा।"

आचार्य शुक्ल का कथन है कि कवि तो काव्य में लौकिक सत्य को ही प्रस्तुत करता है, परन्तु काव्य को पढ कर सामाजिक मुक्त दशा को प्राप्त करता है। काव्य को पढ कर पाठक अपने स्व की संकुचित अवस्था से ऊपर उठ कर काव्यगत वस्तु के साथ तदाकारता का अनुभव करता है। यही मुक्ति की दशा है और रस की अनुभूति है। इसमें दुःखात्मक प्रसंगों में पाठक निश्चय ही उन भावों का तदनुसार अनुभव करता है।

पाश्चात्य समालोचकों में आई०ए० रिचर्ड्स का अभिमत है कि काव्यगत अनुभूति सुखात्मक भी हो सकती है और दुःखात्मक भी। कवि की कुशलता इसी में है कि वह लोकगत अनुभूतियों को काव्य में समाविष्ट कर सके तथा पाठक को उसी प्रकार अनुभव करा सके।

(३) निष्कर्ष -

सभी रसों को सुखात्मक प्रतिपादित करने के पक्ष में जहां एक ओर प्रबल युक्तियां दी गई हैं, वहीं दूसरी ओर उनको सुखदुःखात्मक प्रतिपादित करने के पक्ष में दी गई युक्तियां भी कम प्रबल नहीं हैं। वस्तुतः इस सम्बन्ध में सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हो सकते हैं। यह तो निश्चय है कि यदि करुण आदि रस सर्वथा दुःखात्मक होते, तो सहृदयों की करुण रस प्रधान काव्यों के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती। उनमें सहृदयों को आकर्षित करने के गुण अवश्य हैं, जिनसे कि वे इन काव्यों की ओर प्रवृत्त होते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं -

(१) करुण आदि रसों के स्थायी भाव लौकिक अवस्था में दुःखों के कारण हो सकते हैं। काव्यगत रसों के स्थायी भावों के अलौकिक अवस्था में होने के कारण वे

दु:खात्मक नहीं होते[८९]।

(२) करुण, भयानक आदि रसों के स्थायी भावों से मनुष्यों को उसी समय तक दु:खात्मक अनुभूति होती है, जब तक कि उनका उनसे संकुचित सम्बन्ध बना रहता है। काव्य में विभाव आदि का साधारणीकरण हो जाने से संकुचित स्वसम्बन्ध तिरोहित होकर उदात्तता का भाव उत्पन्न होता है, जिससे कि उनकी दु:खरूपता तिरोहित हो जाती है।

(३) करुण आदि रसों से सुखात्मक या दु:खात्मक अनुभूति का होना सहृदय की मानसिक अवस्था पर भी निर्भर करता है। अनेक व्यक्ति करुण रस प्रधान काव्यों या नाटकों का श्रवण या प्रेक्षण करने में दु:ख का अनुभव करते हुये उनको देखना पसन्द नहीं करते। यदि वे उनको एक बार देख भी लेते हैं, तो पुन: उनकी ओर प्रवृत्त नहीं होते। परन्तु मानसिक या बौद्धिक दृष्टि से उद्बुद्ध सहृदय करुण रसप्रधान काव्यों में आनन्द की अनुभूति को प्राप्त करते हैं। अभिनवगुप्त ने सहृदय की परिभाषा इस प्रकार की है -

"काव्यों के अनुशीलन का अभ्यास करके मनरूपी दर्पण के स्वच्छ हो जाने पर जिन व्यक्तियों को वर्णनीय वस्तु में तन्मय होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, हृदय के संवाद को प्राप्त हो जाने वाले वे व्यक्ति सहृदय हैं[९०]।"

(४) अभिनेता की कुशलता का भी करुण रस प्रधान काव्यों की रसानुभूति पर प्रभाव पड़ता है। यदि सामाजिक काव्यगत चमत्कार का अनुभव करता है, तो वह उसकी ओर आकृष्ट होता है। कवि की प्रतिभा से लौकिक दु:खोत्पादक विभाव आदि काव्यों में प्रस्तुत किये जाकर अलौकिक होकर चमत्कार को उत्पन्न करते हैं, जिससे कि सहृदयों को आनन्द की अनुभूति होती है।

(५) रस की दार्शनिक पृष्ठभूमि में यह प्रतिपादित किया गया है कि विभाव आदि द्वारा स्थायी भाव के निष्पन्न हो जाने पर जब सहृदय को रस की अनुभूति होती है, उस समय रजस् और तमस् गुणों का तिरोभाव होकर सत्त्व गुण का उदय होता है। रजस् और तमस् गुण ही दु:ख के कारण होते हैं। सत्त्व गुण सुखात्मक ही होता है। अत: रस की अनुभूति सुखात्मक ही होती है।

(६) यह आवश्यक नहीं है कि लोक में जिन कारणों को दु:खात्मक समझा जाता है, वे सभी व्यक्तियों के लिये दु:खात्मक हों। एक तपस्वी व्यक्ति कठोर द्वन्द्वों में तपस्या करता हुआ आनन्द की अनुभूति को पाता है। इन द्वन्द्वों को साधारण मनुष्य दु:खात्मक समझ कर उनकी ओर प्रवृत्त नहीं होते। इसी प्रकार से एक सहृदय व्यक्ति, जिसका बौद्धिक धरातल सामान्य व्यक्ति से भिन्न है, करुण आदि रस प्रधान काव्यों में भी आनन्द का अनुभव करता है। कई समालोचक इस अनुभूति को आत्मपरितोष नाम देते हैं। परन्तु सहृदय के लिये वस्तुत: यह आनन्द का ही अनुभव है।

इस प्रकार काव्यगत सभी रसों को सुखात्मक ही मानना अधिक योग्य है।

१३. रसों के काव्य-आत्मत्व की समीक्षा

आचार्यों ने जिस रस को काव्य की आत्मा कहा है, उसके स्वरूप का तथा अनुभूति की प्रक्रिया का संक्षेप से निदर्शन कराया गया है। रस में आत्मत्व को प्रतिपादित करने के लिये रस के इस स्वरूप का विवेचन आवश्यक था। रस के सिद्धान्त का ऐतिहासिक विवेचन काव्य में उसके आत्मत्व को प्रतिपादित करता है।

भारतीय आस्तिक दर्शनों की पृष्ठभूमि में पञ्च भूतों से निर्मित शरीर में आत्मा को प्रधान माना गया है। यह आत्मा विशुद्ध, अजर, अमर, नित्य, आनन्दमय, चिन्मय, विज्ञानमय और ब्रह्मरूप है। इस आत्मा को उपनिषदों में रसरूप भी कहा गया है, जिसको प्राप्त करके प्राणी आनन्दमय हो जाता है[९१]। काव्य में रस का भी वही स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। शब्दार्थ शरीर रूप काव्य में रस ही एकमात्र प्रधान है तथा अन्य गुण,अलङ्कार आदि इसी को अलङ्कृत करते हैं।

काव्य के रस का विवेचन सबसे प्रथम भरत मुनि ने किया था। यद्यपि उन्होंने नाट्य की दृष्टि से रसों की विवेचना की थी, तथापि नाट्य और काव्य में बाह्य रूप को छोड़ कर कोई अन्तर नहीं है। अतः काव्यों में भी उन रसों की स्थिति निहित रहती है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्यों में रसों की विवेचना के लिये भरत के ही रस-सिद्धान्त को स्वीकार किया था। भरत मुनि का कहना है कि काव्य में रस के विना कोई भी अर्थ प्रवर्तित नहीं होता[९२]।

भरत के पश्चात् भी आचार्यों ने रस को ही काव्य का प्रधान तत्त्व प्रतिपादित किया था। काव्य में भावों का निबर्न्धन किया जाता है। "अग्निपुराण" का कथन है कि न तो भाव से हीन रस होता है और नाहीं रस से विहीन भाव होते हैं। भाव ही रसों को भावित करते हैं, अर्थात् अनुभव का विषय बनाते हैं[९३]। "अग्निपुराण" का सिद्धान्त यह भी है कि वचन-चातुर्य का चमत्कार होने पर भी रस ही काव्य का प्राण है[९४]।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने यद्यपि **"काव्यस्यात्मा"** ध्वनि कह कर ध्वनि को ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था[९५], तथापि वे रसध्वनि को ही सबसे प्रधान मानते थे। ध्वनि तीन प्रकार की है - वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि। इनमें रसध्वनि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता) को उन्होंने ध्वनि की भी आत्मा प्रतिपादित किया[९६]। आनन्दवर्धन ने रस को अभिव्यङ्ग्य ही मान कर उसका ध्वनि के रूप में प्रतिपादन किया था।

अन्य ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि को काव्य की आत्मा मान कर रस को सबसे प्रधान ध्वनि कहा। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने 'काव्यकौतुक' में रस का विवेचन किया था। इसके कतिपय अंशों को अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया है। भट्टतौत ने प्रतिपादित किया था-

"रस के आनन्दरूप होने से वह आत्मरूप है और रस का समुदाय ही नाट्य है। काव्य में भी जब रस का नाट्यायमान प्रयोग होता है, तभी वह आस्वादित होता है। अर्थात्, श्रव्य काव्य में भी वर्णित विषय के प्रत्यक्षवत् अवभासित होने पर ही सहृदय पाठक रस का आस्वादन करते हैं[९७]।

प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' पर लघुवृत्ति नाम की टीका लिखी थी। यद्यपि वे अलङ्कारवादी आचार्य थे, तथापि उन्होंने काव्य में रस को आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था। उनका मत था कि रस से युक्त काव्य ही जीवित रह सकता है, अतः रस ही काव्य की आत्मा है[९८]।

अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती' टीका में और 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन टीका' में रस का विशद विवेचन किया है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों के अभिमतों को भी उद्धृत किया है। उनका कथन है -

"काव्य में रस सदा व्यङ्ग्य होता है। वह काव्य के ध्वनि रूप व्यापार से ही अनुभूत होता है।, अतः इसको रसध्वनि कहते हैं। यह रसध्वनि ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा होती है[९९]। यद्यपि ध्वनि तीन प्रकार की होती है - वस्तु, अलङ्कार और रस। तथापि वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों का पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि क्योंकि वाच्यार्थ से उत्कृष्ट होती हैं, इसलिये सामान्यतः ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा गया है। वस्तुतः काव्य की आत्मा रसध्वनि है[१००]।

अभिनवगुप्त के पश्चात् भी आचार्यों ने काव्य में रस की प्रधानता प्रतिपादित की थी। भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गारप्रकाश' में रस का विवेचन किया है। उन्होंने शृङ्गार रस को ही एकमात्र अभिमान रूप मान कर उसके द्वारा काव्य की कमनीयता प्रतिपादित की थी[१०१]। यदि कवि शृङ्गारी है तो काव्य में जगत् रसमय होता है, यदि वह शृङ्गारी नहीं है तो काव्य नीरस हो जाता है[१०२]।

मम्मट ने व्यङ्ग्य अर्थ को वस्तु, अलङ्कार तथा रस, इस प्रकार तीन प्रकार का मानते हुये भी रस के प्राधान्य को स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है। यह रस रूप अर्थ ही काव्य में अंगी होता है, जिसके गुण नियत धर्म हैं[१०३]। रुय्यक के अनुसार रस आदि ही काव्य के प्राण हैं। ये अलङ्कार रूप नहीं हो सकते। अलङ्कार तो उपकारक होते हैं, परन्तु रस आदि प्रधान होने से उपकार्य हैं। अतः रस आदि प्रतीयमान होते हुये वाक्यार्थ होते हैं और वे ही काव्य का जीवन हैं। वाक्यार्थवित्ता सहृदय रस के इसी रूप को स्वीकार करते हैं[१०४]।

'व्यक्तिविवेक' के रचयिता महिमभट्ट भी रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं[१०५]। इनका ध्वनिवादियों से मतभेद केवल इसी बात में है कि वे रस को व्यञ्जना का नहीं, अपितु अनुमिति का विषय मानते हैं। राजशेखर ने यद्यपि रस के विवेचन की उपेक्षा की, तथापि उन्होंने उसी को काव्य की आत्मा माना[१०६]।

विश्वनाथ ने रस का विस्तृत विवेचन करके इसको काव्य में सबसे प्रधान प्रतिपादित किया है। उसका काव्य का लक्षण है

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"[१०७] ।

इससे रस का काव्य की आत्मा होना स्वयं सिद्ध होता है। 'अलङ्कारकौस्तुभ' ग्रन्थ में कवि कर्णपूर ने शब्दार्थशरीर काव्य में ध्वनि को प्राण तथा रस को आत्मा माना[१०८]। भूदेव ने वस्तु, अलङ्कार और रस, इस प्रकार के त्रिविध अर्थ को काव्य की आत्मा मान कर भी इनमें रस को ही काव्य की वास्तविक आत्मा प्रतिपादित किया। इसका हेतु यही है कि काव्य की प्रवृत्ति रस के लिये ही होती है। रसध्वनि के परम रमणीय होने के कारण रस ही काव्य की आत्मा है[१०९]।

केशवमिश्र ने काव्य में रस को ही आत्मस्थानीय माना है। उनका कथन है कि नीरस काव्य में अरसिक जन आनन्द को उसी प्रकार प्राप्त नहीं करते, जिस प्रकार उत्तम पका होने पर भी भोजन नमक के विना स्वादिष्ट नहीं होता[११०]।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रस के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण को स्वीकार किया था। उन्होंने उपनिषदों के **"रसो वै सः"** वचन को उद्धृत करके रत्यादि विषयक आवरण रहित आत्मचैतन्य को रस बतलाया। उनके अनुसार रस तथा चैतन्य में एकता है, अतः रत्यादि विशिष्ट आवरणरहित चैतन्य ही रस है और वह काव्य की आत्मा है।

रस की आनन्दात्मकता तथा प्रधानता के कारण काव्यशास्त्र की रचना के प्रारम्भ से आधुनिक समय तक प्रायः सभी आचार्यों ने उसको काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया है। न केवल काव्यशास्त्र के आचार्य ही रस के प्राधान्य को सिद्ध करते रहे हैं, अपितु कालिदास, भवभूति आदि महान् कवियों ने भी रस में ही सहृदय की तन्मयता को स्वीकार किया था। आनन्दवर्धन का कथन है -

"रस काव्य का सर्वोपरि तत्त्व है, अतः प्रबन्धकाव्य की रचना करते हुये कवि को रसपरतन्त्र होना चाहिये[१११]। "

सन्दर्भ–

१. रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः। काव्यमीमांसा पृ० ४- ५।।
२. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।। भरत नाट्यशास्त्र, अध्याय - ६।।
३. एक एव परमार्थतो रसः सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति।।
उपर्युक्त पर अभिनवभारती टीका।।
४. नाट्यात् समुदायरूपाद् रसाः।। यदि वा नाट्यमेव रसाः।।
रससमुदायो ही नाट्यम्। न नाट्य एव च रसाः काव्येऽपि।।
-नाट्यशास्त्र अ० ६ के "अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः" पर अभिनवभारती टीका।।
५. रसः स्वादे जले वीर्ये शृङ्गारादौ विषे जले।
बोले रागे गृहे धातौ तिक्तादौ पारदेऽपि च।। हैमकोष।।
६. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।। तैत्तिरीय उपनिषद् २.७।।
७. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। भरत नाट्यशास्त्र १.१७।।
८. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। रामायण १.२.१५।।
९. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। ध्वन्यालोक १.५।।
१०. शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा।। रामायण १.२.४०।।
११. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रसः।। साहित्यदर्पण ३.२।।
१२. काव्यप्रकाश ४.२७-२८।।
१३. साहित्यदर्पण ३.१।।
१४. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः।। दशरूपक ४.३७।।
१५. रसः स एव स्वाद्यत्वाद् रसिकस्यैव वर्तनात्।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात् काव्यस्याततपरत्वतः।। दशरूपक ४.३८।।
काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायीभावः स प्रतिनिर्दिश्यते। स च स्वाद्यतां निर्भरात्मतामापद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात्, नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य।।
उपर्युक्त दशरूपक ४.३६ कारिका पर धनिक की टीका।।
१६. विभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातार्थमित्यर्थान्तरम्।।
नाट्यशास्त्र अध्याय ६, पृ० ३४९।।
१७. रत्याद्युद्बोधकाः लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। साहित्यदर्पण ३.२९।।
१८. आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्।। साहित्यदर्पण ३.२९।।
१९. उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।
आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा।। साहित्यदर्पण ३.१३१।।

२०. अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः। दशरूपक ४.३।।

२१. उद्‌बुद्धैः कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।। साहित्यदर्पण ३.१३२।।

२२. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।। साहित्यदर्पण ३.१३५।।

२३. जृम्भा च नवमः सात्त्विको भाव इति प्रतिभाति। रसतरङ्गिणी पृ० ६६।।

२४. विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।। भरत - नाट्यशास्त्र सप्तम अध्याय।।

२५. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।। दशरूपक ४.८।।

२६. निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः।
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च।।
सुप्तः प्रबोधोऽमर्षश्चाऽप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समख्यातास्तु नामतः।। काव्यप्रकाश ४.३१-३४।।

२७. व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः ।। काव्यप्रकाश ४.३५।।

२८. शृङ्गारप्रकाश पृ० ११।।

२९. यतोऽष्टधा मनोवृत्तिः सभ्यानां नाट्यकर्मणि।
अष्टावेवाऽनुभूयन्ते तासूक्तास्तैः रसाः पृथक्।। भावप्रकाशन अ० २, पृ० ४६।।

३०. विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुरसंज्ञोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।। साहित्यदर्पण ३.१७४।।

३१. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवणाकरः।। दशरूपक ४.३४।।

३२. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।। काव्यप्रकाश ४.३०।।

३३. निर्वेदः स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।। काव्यप्रकाश ४.३५।।

३४. शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। दशरूपक ४.३५।।

३५. स्फुटं चमत्कारितया वत्सले च रसं विदुः।
स्थायी पुत्रलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्।। साहित्यदर्पण ३.२५।।

३६. रतिर्देवादिविषया............भावः प्रोक्तः।। काव्यप्रकाश ४.३५।।

३७. शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।। नाट्यशास्त्र ६.१५।।

३८. आलम्बनविभावो भगवान्, उद्दीपनविभावस्तुलसीचन्दनादिः, अनुभावो नेत्रविक्रियादिः, व्यभिचारिणो निर्वेदादयः, व्यक्तीभवद् भगवदाकाररूपो रत्याख्यः स्थायिभावः परमानन्दसाक्षात्कारात्मकः प्रादुर्भवति।।
भक्तिरसामृतसिन्धु पृ० १३।।

३९. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः।
भावः प्रोक्तः..................................।। काव्यप्रकाश ४.३५।।

४०. स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषाः।। काव्यानुशासन।।

४१. सरस्वतीकण्ठाभरण।। ४.१।।

४२. शृङ्गारवीरकरुणरौद्राद्भुतभयानकाः
बीभत्सहास्यश्रेयांसःशान्तोदात्तोद्धताः रसाः।। सरस्वतीकण्ठाभरण ५.१६४।।

४३. साहित्यदर्पण ३.२-३ की वृत्ति।।

४४. शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः।। नाट्यशास्त्र ६.३९।।

४५. स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकाशविस्तरक्षोभविशेषैः स चतुर्विधः।।
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि।
अतस्तज्जन्यता तेषामतं एवावधारणम्।। दशरूपक ४.४३-४५।।

४६. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्।। उत्तररामचरित ३.१४।।

४७. रसोऽभिमानोऽहङ्कारः शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।।सरस्वतीकण्ठाभरण ५.१।।

४८. शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।। शृङ्गारप्रकाश १.६।।

४९. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणः स्वयम्।। साहित्यदर्पण ३.२३ की वृत्ति से।।

५०. ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविकारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति।। नाट्यशास्त्र ६.४७।।

५१. निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्छाश्च सञ्चारिणः।। दशरूपक ४.७८।।

५३. विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः।। नाट्यशास्त्र ६.४९।।

५४. इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणो नु तम्।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ।।
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः।। दशरूपक ४.८१-८२।।

५५. क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभृकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः।
शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै-
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः।। दशरूपक ४.७४।।

५६. उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः ।
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः ।।
अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः।
सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः।।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्।। साहित्यदर्पण ३.२३२-२३४।

५७. विकृतस्वरसत्वादेर्भयभावो भयानकः।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैचित्त्यलक्षणः ।।
दैन्यसम्भ्रमसम्मोहत्रासादिस्तत्सहोदरः।। दशरूपक ४.८०।।

५८. बीभत्सः कृमिपूतिगन्धवमथुप्रायैर्जुप्सैकभू-
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणा शुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ।। दशरूपक ४.७३।।

५९. अतिलोकैः पदार्थैः स्वाद् विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः।
कर्मास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः।।
हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः।। दशरूपक ४.७८-७९।।

६०. शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःस्सारता तु या।।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ।।
रोमाञ्चाद्यनुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ।। साहित्यदर्पण ३.२४५-२४८।।

६१. साहित्यदर्पण ३.२४९ (वृत्ति)।।

६२. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्।।
उद्दीपनादि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्।।
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः।। साहित्यदर्पण ३.२५१-२५३।

६३. आलम्बनविभावो भगवान् उद्दीपनविभावः तुलसीचन्दनादिः, अनुभावो नेत्रविक्रियादिः, व्यभिचारिणो निर्वेदादयः, व्यक्तीभवद् भगवदाकारतारूपो रत्याख्यः स्थायिभावः परमानन्दसाक्षात्कारात्मकः प्रादुर्भवति।। भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० १३।।

६४. श्यामो भवेत्तु शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ।।
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चापि भयानकः ।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ।।
शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः ।
रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदैवतः ।।
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः ।। नाट्यशास्त्र ६.४२-४५ ।।

६५. कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।। साहित्यदर्पण ३.२४६ ।।

६६. पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः ।। साहित्यदर्पण ३.२५४ ।।

६७. इह खलु रसानां विरोधिताया अविरोधितायाश्च त्रिधा व्यवस्था। कयोश्चिदालम्बनैक्येन, कयोश्चिदाश्रयैक्येनन, कयोश्चिन्नैरन्तर्येणेति। तत्र वीरशृङ्गारयोरालम्बनैक्येन विरोधः। तथा हास्यरौद्रबीभत्सैः। वीरकरुणरौद्रादिभिर्विप्रलम्भस्य। आश्रयैक्येन च वीरभयानकयोः सम्भोगस्य। नैरन्तर्यविभावैक्याभ्यां शान्तशृङ्गारयोः ।। साहित्यदर्पण ७.३१ की वृत्ति ।।

६८. विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ।। ध्वन्यालोक ३.२५ ।।

६९. एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यो सुमेधसा ।। ध्वन्यालोक ३.२६ ।।

७०. स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमापन्नौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ।। काव्यप्रकाश ७.६५ ।।

७१. रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ।। साहित्यपर्दण ३.२६० ।।

७२. सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रस्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।। साहित्यदर्पण ३.२६१ ।।

७३. तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः। काव्यप्रकाश ४.३६ ।।

७४. उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथाऽनुभयनिष्ठायाम् ।।
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे ।।
शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये ।
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते यथा वीरे ।।
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र ।। साहित्यदर्पण ३.२६३-२६६ ।।

७५. भावस्य शान्तावुदये सन्धिमिश्रितयोः क्रमात्।
भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता मता ।। साहित्यदर्पण ३.२६७ ।।

७६. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।। साहित्यपर्दण ३.२-३ ।।

७७. करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता।। साहित्यदर्पण ३.४-५।।

७८. दशरूपक ४.४४-४५ पर धनिक टीका।।

७९. तत्तत्स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्। आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः अन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्।।
रसगंगाधर - प्रथम आनन, पृ० ८६-८७।।

८०. भक्तिरसामृतसिन्धु ३.५-६।।

८१. काव्यप्रकाश -विश्वेश्वरकृतटीका, पृ० १२१।।

८२. सुखदुःखात्मको रसः।। नाट्यदर्पण ३.६।।

८३. तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गारहास्यवीराद्भुतशान्ताः सुखात्मानः। अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुणरौद्रबीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः।।
नाट्यदर्पण ३.७ की वृत्ति।।

८४. येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तिमुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सुखदुःखस्वभावो रसः।
अभिनवभारती भाग १ पृष्ठ २७८ पर किन्हीं अज्ञात आचार्य का कथन।।

८५. करुणमयानामपि उपादेयत्वं सामाजिकानाम्। रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणेन उपपद्यते, अत एव तदुभयजनकत्वम्।। वी० राघवन् कृत 'नम्बर आफ रसाज' के पृष्ठ १५५ पर 'रसकालिका' मद्रास पाण्डुलिपि के पृष्ठ ५१-५२ से उद्धृत।।

८६. रसाः हि सुखदुःखरूपाः।। शृङ्गारप्रकाश २ य भाग पृ० ३९६ (मद्रास पाण्डुलिपि) से 'नम्बर आफ रसाज' के पृष्ठ ११५ पर उद्धृत।।

८७. करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथानुभवतः सिद्धस्तगैनौजःप्रसादयोः।। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३,१९।।

८८. द्रवीभावस्य च सत्त्वधर्मत्वात्, तं विना च स्थायिभावासम्भवात् सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंऽशमिश्रणात् तारतम्यवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु तुल्यसुखानुभवः।।
भक्तिरसायन पृ० २२।।

८९. नाट्यदर्पण ३.७ की वृत्ति ।।

९०. येषां काव्यानुशीलनवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते सहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।। ध्वन्यालोकलोचन टीका पृ० १३।।

९१. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽन्दी भवति।। तैत्तिरीय उपनिषद् ३.७।।

९२. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।। भरत-नाट्यशास्त्र ६.३३।।

९३. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति।। अग्निपुराण ३३९.१२।।

९४. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।। अग्निपुराण ३१९.१३।।

९५. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।। ध्वन्यालोक १.१।।

९६. रसाभाववतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।। ध्वन्यालोक २.३।।

९७. प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यम्। न नाट्य एव च रसा: काव्येऽपि नाट्यायमान एव रस:। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्याया:। तदाहु: काव्यकौतुके प्रयोगत्वमनापन्ने काव्येनास्वादसम्भव:।। भरत-नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती टीका- प्रथम भाग पृ० २९१।।

९८. रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यत:।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्।। काव्यालङ्कारसारसंग्रह लघुवृत्ति पृ० ८३।।

९९. स च काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति। स च रसध्वनेरेवेति स एव मुख्यतया आत्मा।।
ध्वन्यालोक-लोचनटीका पृ० १८।।

१००. तेन रस एव वस्तुत आत्मा। वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनि: काव्यस्यात्मेति समान्येनोक्तम्।। ध्वन्यालोक-लोचन टीका पृ० ३१।।

१०१. रसोऽभिमानोऽहङ्कार: शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।। सरस्वतीकण्ठाभरण ५.१।।

१०२. शृङ्गारी चेत्कवि: काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृङ्गारी नीरसं सर्वमेव तत्।। सरस्वतीकण्ठाभरण ५.३।।

१०३. ये रसस्याङ्गिनो धर्मा:।। काव्यप्रकाश ८.६६।।

१०४. रसादयस्तु जीवितभूता: नालङ्कारत्वेन वाच्या:। अलङ्काराणामुपकारकत्वाद् रसादीनां च प्राधान्येनोपकार्यत्वात्। तस्माद् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थीभूत: काव्यजीवितम् इति। एष एव च पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्तक:।। अलङ्कारसर्वस्व पृ० १०।।

१०५. काव्यस्यात्मनि अङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमति:।। व्यक्तिविवेक, पृ० २२।।

१०६. रस आत्मा।। काव्यमीमांसा पृ० ८-१४।।

१०७. साहित्यदर्पण १.३।।

१०८. शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसव आत्मा किल रस:।। अलङ्कारकौस्तुभ १.१।।

१०९. वस्त्वलङ्काररसादिरूपं व्यङ्ग्यं चात्मा, रसार्थमेव काव्यप्रवृते:, ध्वनिषु परमरमणीयत्वाच्च रसध्वने: तदात्मा रसस्ताविदभिधीयते।। रसविलास १.१ की वृत्ति।।

११०. साधुपाके विना स्वाद्यं भोजने निर्लवणं यथा।
तथैव नीरसं काव्यं स्यान्नो रसिकतुष्टये।। अलङ्कारशेखर-२।।

१११. कविना प्रबन्धमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्।।
ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति।।

....

तीसरा अध्याय

अलङ्कार सम्प्रदाय

१. अलङ्कारवाद का प्रारम्भ

रस-सम्प्रदाय के पश्चात् दूसरा स्थान अलङ्कार सम्प्रदाय का है। भरत मुनि ने **"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"** कह कर काव्य में रस की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। इस प्रकार उन्होंने काव्य में रस को अंगी रूप में प्रतिष्ठित करके उसका आत्मत्व सिद्ध किया था। किन्तु भरत ने सम्भवतः नाट्य और काव्य की अभिन्नता मान कर ही इस प्रकार के वचन कहे थे। उन्होंने अनेक स्थानों पर नाट्य के लिये काव्य पद का प्रयोग किया है। रसों का विवेचन भी सम्भवतः नाट्य की दृष्टि से ही है। रसों को नाट्य भी कहा गया है।

काव्यशास्त्र के रचयिताओं में भरत के पश्चात् समय के क्रम से भामह और उनके 'काव्यालङ्कार' का नाम आता है। भामह और उनके उत्तरवर्ती दण्डी आदि आचार्यों ने रस को नाट्य का ही मुख्य विषय मान कर अन्य काव्यों में अलङ्कारों को प्रधानता दी। उन्होंने काव्य में अलङ्कार को मुख्य अंगी प्रतिपादित करके रस आदि को उसके अंग रूप में, उपकारक के रूप में प्रतिपादित किया। भामह का कथन था कि जिस प्रकार सुन्दर होते हुये भी कामिनी का मुख विना आभूषणों के शोभायमान नहीं होता[१], उसी प्रकार सरस काव्य की शोभा भी अलङ्कारों से ही होती है। उन्होंने रस, भाव आदि का समावेश भी अलङ्कारों में करके काव्य में अलङ्कार का अंगित्व और रस का अंगत्व प्रतिपादित किया था।

भामह के पश्चात् काव्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्य काव्यों में अलङ्कार तत्त्व की प्रधानता को उस युग तक स्वीकार करते रहे, जब तक कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि तत्त्व की व्याख्या करके उस ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित नहीं कर दिया। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने चिन्तन की धारा को सब प्रकार से परिवर्तित किया था।

आनन्दवर्धन की इस विचारधारा की पुष्टि यद्यपि उत्तरवर्ती आचार्यों ने की थी, तथापि कुछ आचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों के महत्त्व को कम नहीं माना। यही कारण था कि मम्मट द्वारा काव्य के लक्षण में **"अनलङ्कृती पुनः क्वापि"** पदों के प्रयोग को देख कर 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव अति अप्रसन्न होकर कह उठे थे कि जो अलङ्कार से विहीन शब्द-अर्थ को काव्य स्वीकार कर सकता है, वह अग्नि को भी अनुष्ण क्यों नही मान लेता[२]।

अलङ्कारवादियों ने काव्य में अलङ्कार तत्त्व को प्रधानता दी। काव्य में सौन्दर्य तथा रमणीयता के जितने आधायक तत्त्व थे, उनको उन्होंने अलङ्कारों में परिगणित कर लिया था। दण्डी ने काव्य के शोभाकर धर्मों को अलङ्कार कहा[३]। वामन ने सौन्दर्य को अलङ्कार मान कर उसी के द्वारा काव्य की ग्राह्यता प्रतिपादित की[४]।

२. अलङ्कारों का विकास

"**अलम्**" पूर्वक "**कृ**" धातु के प्रयोग से "**अलङ्क्रियते अनेन**" अथवा "**अलङ्करोति**" व्युत्पत्ति करने पर करण या भाव अर्थ में "**घञ्**" प्रत्यय करने पर "**अलङ्कार**" पद निष्पन्न होता है।

"अलङ्कार" पद का अर्थ है - "जिस पदार्थ या तत्त्व के द्वारा कोई वस्तु सुशोभित की जावे, उसके सौन्दर्य में वृद्धि हो, वह पदार्थ या तत्त्व अलङ्कार कहलाता है। वे अलङ्कार जिस वस्तु को पहनाये जाते हैं, उसको अलङ्कृत करते हैं। जिस प्रकार भौतिक शरीर को कुण्डल आदि अलङ्कार अलङ्कृत करते हैं, उसी प्रकार शब्द-अर्थ रूप शरीर वाले काव्य को उपमा आदि अलङ्कार अलङ्कृत करते हैं।

काव्यगत अलङ्कारों का प्रयोग मानव जाति के प्रथम साहित्य 'ऋग्वेद' में हुआ है। 'ऋग्वेद' में "**अलम्**" पद के लिये "**अरम्**" रूप मिलता है। "**अरम्**" पद की निष्पत्ति "**ऋ**" धातु से होती है। इसका अर्थ है - "**गति**"। गति पद से शब्दबोध, मुक्ति, गमन, व्यापार आदि अर्थों का बोध होता है। 'ऋग्वेद' में "**अरङ्कृत**" और "**अरङ्कृति**" पदों का अनेक बार प्रयोग हुआ है। एक स्थान पर वशिष्ठ ऋषि इन्द्र से पूछते हैं - "**का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः**"[५]।

परन्तु 'ऋग्वेद' में "**अरङ्कृत**" का सौन्दर्यवाची अर्थ में प्रयोग काव्यशास्त्र के युग में प्रसिद्ध हुआ था। परन्तु अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों के प्रयोग अनेक मन्त्रों में हुए हैं।

'ऋग्वेद' के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों[६] और उपनिषदों[७] में अलङ्कार पद का प्रयोग सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में स्पष्ट शब्दों में किया गया। परन्तु इस समय तक भी इस पद का सम्बन्ध काव्यशास्त्र के साथ स्थापित नहीं हो सका था।

अलङ्कार पद का काव्यशास्त्रीय प्रयोग सबसे पहले यास्क के 'निरुक्त' में किया गया है। यास्क ने "**अलङ्कृत**" और "**अरङ्कृत**" पदों को पर्यायवाची माना'[८] और उपमा पद की निरुक्ति की[९]। यास्क की उपमा पद की व्याख्या निम्न है -

"**तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वा उपमिमीते अथापि कनीयसा ज्यायांसम्।**"[१०]

यास्क ने उपमा के अनेक भेदों - **कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा** और **अर्थोपमा** के स्थलों को प्रस्तुत किया है।

पाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' के अध्ययन से विदित होता है कि उनके समय में अलङ्कारों का शास्त्रीय विवेचन हो चुका होगा। उन्होंने **उपमा, सादृश्य, उपमान, सामान्य, सदृश, प्रतिरूप, उपमित** आदि शब्दों के प्रयोग अपने सूत्रों में किये हैं[११]। उन्होंने उपमा आदि के सम्बन्ध में प्रत्ययों का विधान भी किया है[१२]। पाणिनि के सूत्रों में उपमा के श्रौती तथा आर्थी भेदों के तथा रूपक आदि अलङ्कारों के संकेत भी विद्यमान हैं।

कात्यायन ने उपमावाचक **"इव"** शब्द के साथ नित्य समास करने का विधान किया था[१३]। पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों के **उपमा, उपमान, उपमित, सामान्य वचन** आदि पदों का निर्वचन प्रस्तुत किया था। उपमान पद का निर्वचन उन्होंने इस प्रकार किया -

"मानं हि नाम अनिर्ज्ञातज्ञानार्थम्, उप आदीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति, तत्समीपे यन्नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानम्"।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, निरुक्त, व्याकरण आदि शास्त्रों में अलङ्कारों के निर्वचन का संकेत होने पर भी उस युग के किसी ऐसे अलङ्कार ग्रन्थ की उपलब्धि नहीं होती, जिसमें अलङ्कारों की शास्त्रीय विवेचना की गई हो। सबसे प्रथम अलङ्कारों का शास्त्रीय विवेचन सूक्ष्म रूप में भरत के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है।

भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलङ्कारों का विवेचन किया था[१४]। उन्होंने नाट्य-लक्षणों के रूप में ३६ गुणों का भी निरूपण किया। इनमें हेतु, संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, गुणातिशय, अर्थापत्ति, लेश आदि गुण उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा अलङ्कारों के रूप में परिग्रहीत हुये। भरत के पश्चात् अलङ्कारों का उत्तरोत्तर विकास हुआ तथा भरत के ये चार अलङ्कार अप्पय दीक्षित के समय तक १२५ हो गये।

३. विविध आचार्यों की अलङ्कार की परिभाषायें तथा काव्य में उनका महत्त्व

यद्यपि सर्वप्रथम भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में अलङ्कार तत्त्व की समीक्षा की थी और काव्य में चार अलङ्कारों का प्रतिपादन किया था, तथापि भामह पहले आचार्य थे, जिन्होंने स्पष्ट रूप से अलङ्कार के स्वरूप का विवेचन किया था और उसको काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने भरत के रस आदि तत्त्वों को भी अलङ्कारों में परिगणित करके उनको रसवद् आदि अलङ्कार नाम दिया।

इस विषय में भामह का कथन है -

अलङ्कार काव्य का सबसे प्रमुख सौन्दर्य-आधायक तत्त्व है। जिस प्रकार कामिनी का मुख सुन्दर होते हुये भी आभूषण के विना शोभायमान नहीं होता,[१५] उसी प्रकार अलङ्कारों के विना काव्य की शोभा नहीं होती। भामह ने शब्द और अर्थ की वक्रता से युक्त उक्ति को अलङ्कार बताया था[१६] तथा वक्रोक्ति के अभाव में अलङ्कार के अभाव को प्रतिपादित

किया था[१७]। उनका मत था कि वक्रोक्ति के विना अलङ्कार नहीं होता तथा यह वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति अभिन्न हैं। श्ह अतिशयोक्ति लोकोत्तर होने से अति रमणीय होती है तथा इससे अलङ्कार निष्पन्न होता है[१८]।

आचार्य दण्डी ने काव्य के सभी शोभाकर धर्मों को अलङ्कार प्रतिपादित किया था। ये धर्म अनेक प्रकार के हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती[१९]। काव्य में शोभा के सम्पादक होने से उन्होंने रस आदि का ग्रहण भी रसवद् आदि अलङ्कारों के अन्तर्गत किया, जो कि तीन प्रकार के हैं[२०]। काव्य के शोभाकर धर्म होने के कारण उन्होंने काव्यगत **सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्त्यंग** आदि को भी अलङ्कार माना[२१]।

'अग्निपुराण' में भी अलङ्कार के लक्षण के सम्बन्ध में दण्डी का अनुसरण किया गया है[२२]। उसमें अर्थालङ्कार से रहित कविता को विधवा सरस्वती के समान बताया गया है[२३]।

वामन ने यद्यपि रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था, तथापि उन्होंने काव्य की उपादेयता को सौन्दर्य रूप अलङ्कार के कारण ही स्वीकार किया[२४]। उनके अनुसार काव्यात्मक सौन्दर्य ही अलङ्कार है। यद्यपि काव्य की शोभा गुणों के द्वारा होती है[२५], तथापि उस शोभा का अतिशय अलङ्कार ही करते हैं[२६]।

उद्भट ने भी काव्य में अलङ्कारों की प्रधानता का प्रतिपादन किया था। रस आदि को उन्होंने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित अलङ्कारों में समाविष्ट कर लिया था। तदनन्तर उन्होंने आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों में[२७] व्यङ्ग्य अर्थ को वाच्यार्थ का उपकारक प्रतिपादित किया। इस प्रकार उत्तरवर्ती ध्वनिवादियों के रस, वस्तु एवं अलङ्कार, इन त्रिविध व्यङ्ग्य अर्थों को उद्भट ने अलङ्कार का अंग सिद्ध किया था।

रुद्रट ने भी काव्य में अलङ्कारों का प्राधान्य स्वीकार किया। इसी तथ्य को प्रतिपादित करने के लिये उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' रखा[२८]। उन्होंने भी रस आदि को अलङ्कार ही माना।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने भी अलङ्कारों को काव्य में प्रधानता दी थी। काव्य की परिभाषा करते हुये उन्होंने अलङ्कार सहित उक्ति को ही काव्य माना था[२९]। उनका मन्तव्य था कि जो कथन अलङ्कृत होता है, उसमें ही काव्यत्व निहित रहता है, न कि काव्य का अलङ्कार से योग होता है[३०]। इस प्रकार वे अलङ्कार को ही काव्य की आत्मा मानते थे।

भोजराज ने काव्य के शोभाकरत्व धर्म को अलङ्कार सामान्य का लक्षण मान कर, उस शोभा के अभाव में अलङ्कार के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया। सभी प्रकार के अलङ्कारों को वक्रोक्ति के नाम से इसी कारण जाना जाता है, क्योंकि इनमें शोभाकरत्व होता है। रसों के शोभाकर होने के कारण भोज ने इनको भी अलङ्कार ही बताया।

भोज के अनुसार अलङ्कारों के तीन वर्ग हैं - वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति। उपमा आदि अलङ्कारों की प्रधानता होने पर वक्रोक्ति होती है, गुणों की प्रधानता होने पर स्वभावोक्ति होती है और रसों की प्रधानता होने पर रसोक्ति होती है[३१]।

ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा काव्य में अलङ्कारत्व के प्राधान्य पर प्रथम और प्रबल प्रहार आनन्दवर्धन ने किया था। उन्होंने कहा कि काव्य में अलङ्कारों का नियोजन रस आदि के अंग के रूप में होना चाहिये, अंगी के रूप में नहीं[३२]।

आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायी मम्मट आदि ध्वनि को काव्य की आत्मा मान कर गुण, रीति और अलङ्कार का विचार उसके अनुरूप करते हैं। अलङ्कारों को काव्य की शोभा का आधायक मान कर भी उन्होंने इनको काव्य के बहिरंग के रूप में सिद्ध किया था। काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभा को बढाने वाले इन अलङ्कारों का प्रयोग रसों के उपकारकों के रूप में ही किया जाना चाहिये। आनन्दवर्धन कहते हैं -

"जिस प्रकार कामिनी के शरीर को कुण्डल आदि अलङ्कार शोभित करते हैं, उसी प्रकार काव्यगत अलङ्कार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को शोभित करते हैं[३३]। इन अलङ्कारों का विनिवेशन रस की दृष्टि से ही किया जाना चाहिये, न कि उनके लिये पृथक् से प्रयत्न किया जावे[३४]। मम्मट[३५], राजशेखर[३६], हेमचन्द्र[३७], विश्वनाथ[३८], जगन्नाथ[३९], विश्वेश्वर[४०] आदि आचार्यों ने अलङ्कार के जो लक्षण किये हैं, वे इसी दृष्टिकोण को लिये हुये हैं।

भामह आदि प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्यों ने काव्य में अलङ्कार को अंगी मान कर उसका महत्त्व सबसे अधिक प्रतिपादित किया था। 'अलङ्कारसर्वस्व' के रचयिता रुय्यक ध्वनिवादी आचार्य हैं और उनका अलङ्कारों का विवेचन इसी दृष्टिकोण से हुआ है। उनका कथन है कि प्राचीन आचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों को प्रधान माना था[४१]। मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों को गुणों के बराबर भी महत्त्व नहीं दिया। काव्य में उन्होंने गुणों को रस का साक्षात् उपकारक मान कर अन्तरंग स्थान दिया था। काव्य में इनकी अचल स्थिति होती है[४२]।

काव्य में अलङ्कारों की स्थिति इनसे विपरीत होती है। वे अस्थिर धर्म हैं और काव्य में हो भी सकते हैं, तथा नहीं भी हो सकते[४३]। वे रस का उपकार कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते। इस प्रकार अलङ्कार काव्य में अस्थिर धर्म हैं और काव्य में उनकी स्थिति अनिवार्य नहीं है[४४]।

मम्मट द्वारा काव्य में गुण और अलङ्कार की इस स्थिति की विवेचना से और उनके काव्य के लक्षण में "अनलङ्कृती" पद की योजना से चिढ कर जयदेव ने यहां तक कह दिया कि जो काव्य को अनलङ्कृत कह सकता है, वह अग्नि को भी अनुष्ण क्यों नहीं मान लेता[४५]। परन्तु 'चन्द्रालोक' में ही ध्वनि, रस आदि का प्रतिपादन करके जयदेव ने अलङ्कार

की जो परिभाषा की है, वह मम्मट का ही अनुसरण करती है[४६]।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भरत के पश्चात् और आनन्दवर्धन के पूर्व काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य में अंगी के रूप में प्रतिष्ठित किया था। परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने उसको काव्य की शोभा का आधायक तत्त्व मान कर भी गौण स्थान दिया। उनका अभिमत था कि अलङ्कारों की रचना रस की अपेक्षा से होनी चाहिये। तदनन्तर काव्यों की समालोचना की पद्धति में प्राय: इसी सिद्धान्त को ही मान्यता दी जाती रही।

४ अलङ्कारों की संख्या

अलङ्कारों का सबसे प्राचीन विवेचन यद्यपि भरत के 'नाट्यशास्त्र' में हुआ था और उसमें चार अलङ्कार बताये गये थे - उपमा, रूपक, दीपक और यमक। तथापि अलङ्कारों का विस्तृत और वैज्ञानिक विश्लेषण भरत के भी कई शताब्दियों बाद हुआ। यह कार्य भामह ने अपने 'काव्यालङ्कार' में किया। इन्होंने ३८ अलङ्कारों की विवेचना की। भामह के अनन्तर दण्डी ने ३७ अलङ्कारों के स्वरूप का वर्णन किया था। दण्डी का कथन था -

"अलङ्कारों की सम्पूर्ण रूप से गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि वे अनेक प्रकार के होते हैं। काव्य के सभी शोभाकर धर्म अलङ्कार होते हैं।"

दण्डी के उत्तरवर्ती आचार्यों ने अलङ्कारों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि की। इनमें उद्भट, वामन, रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और जगन्नाथ प्रमुख हैं। इन्होंने अलङ्कारों की मौलिक रूप से उद्भावना और विवेचना की थी। इस समय तक अलङ्कारों की संख्या १२५ तक हो गई थी। कुछ अलङ्कारों के भेद-प्रभेद भी कल्पित कर लिये गये थे। अलङ्कारों की सबसे अधिक संख्या अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ में दी है। इस ग्रन्थ में इन्होंने १२३ अलङ्कारों का विवेचन किया है। कुछ प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रस्तुत अलङ्कारों की संख्या नीचे लिखी जा रही है -

(i) भामह -

भामह ने ३८ अलङ्कारों का विवेचन किया था। इनमें दो शब्दालङ्कार और छत्तीस अर्थालङ्कार हैं -

(क) शब्दालङ्कार - अनुप्रास और यमक।

(ख) अर्थालङ्कार - उपमा, उपमेयोपमा, रूपक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षा, उत्प्रेक्षावयव, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, स्वभावोक्ति, अपह्नुति, श्लेष, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, तुल्ययोगिता, विरोध, सन्देह, अनन्वय, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी:, संसृष्टि, भाविक, रसवद्, प्रेय और ऊर्जस्वि।

(ii) दण्डी -

दण्डी ने ३७ अलङ्कारों के स्वरूप का विवेचन किया था। इनमें दो शब्दालङ्कार और ३५ अर्थालङ्कार हैं -

(क) शब्दालङ्कार - यमक और चित्र।

(ख) अर्थालङ्कार - स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, क्रम, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, ब्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संसृष्टि और भाविक।

दण्डी ने भामह के ३२ अलङ्कारों को स्वीकार करके छः अलङ्कारों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने ५ नवीन अलङ्कारों की कल्पना की थी। ये अलङ्कार इस प्रकार हैं - आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश और क्रम।

(iii) उद्भट -

उद्भट ने अलङ्कारों की संख्या को कुछ और बढाया। उन्होंने ४१ अलङ्कार स्वीकार किये। इनमें ४ शब्दालङ्कार और ३७ अर्थालङ्कार हैं -

(क) शब्दालङ्कार - पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, छेकानुप्रास और लाटानुप्रास।

(ख) अर्थालङ्कार - उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, पर्यायोक्त, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, सन्देह, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, ब्याजस्तुति, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, काव्यलिङ्ग, दृष्टान्त, सहोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, संसृष्टि और संकर।

उद्भट ने प्राचीन आचार्यों के ३४ अलङ्कारों को स्वीकार किया था। उन्होंने ७ अलङ्कारों की स्वयं कल्पना की थी - पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, प्रतिवस्तूपमा, काव्यलिङ्ग, दृष्टान्त और संकर।

(iv) वामन -

वामन ने ३१ अलङ्कारों को स्वीकार किया था। इनमें २ शब्दालङ्कार और २९ अर्थालङ्कार हैं -

(क) शब्दालङ्कार - अनुप्रास और यमक।

(ख) अर्थालङ्कार - उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, विरोध, विभावना, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, वक्रोक्ति, ब्याजोक्ति, ब्याजस्तुति, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित और संसृष्टि।

इन ३१ अलङ्कारों में से २८ अलङ्कारों को वामन ने प्राचीन आचार्यों से ग्रहण किया था तथा ३ अलङ्कारों की स्वयं उद्भावना की थी।

(v) रुद्रट -

रुद्रट ने अलङ्कारों का विवेचन कुछ अधिक वैज्ञानिक तथा विशद रूप से किया। उन्होंने अलङ्कारों के पहले दो वर्ग किये - शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। पुनः अलङ्कारों को उन्होंने ४ वर्गों में विभक्त किया - वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। रुद्रट ने ६२ अलङ्कारों का निम्न प्रकार से विवेचन किया था -

(क) **शब्दालङ्कार** - वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र = ५।

(ख) **अर्थालङ्कार** -

(१) **वास्तव वर्ग** - सहोक्ति, समुच्चय, जाति (स्वभावोक्ति), यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली = २३।

(२) **औपम्य वर्ग** - उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण = २१।

(३) **अतिशय वर्ग** - पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु = १२।

(४) **श्लेष वर्ग** - श्लेष = १।

इन अलङ्कारों में कुछ की गणना एक से अधिक वर्ग में आ गई है। रुद्रट ने ३५ अलङ्कारों की स्वयं कल्पना की थी तथा शेष को प्राचीन आचार्यों से ग्रहण किया था। रुद्रट के स्वकल्पित अलङ्कार निम्न हैं -

समुच्चय (दो प्रकार का), भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर (दो प्रकार का), सार, मीलित, एकावली, मत, प्रतीप, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीक, पूर्व (दो प्रकार का), साम्य, स्मरण, विशेष, तद्गुण, पिहित, असंगति, व्याघात, अहेतु, अधिक, वक्रोक्ति, सहोक्ति और श्लेष।

(vi) भोजराज -

भोजराज ने अलङ्कारों का विभाजन तीन वर्गों में किया था - शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार। उन्होंने प्रत्येक वर्ग में २४ अलङ्कारों की गणना की थी और इस प्रकार ७२ अलङ्कार बताये -

(क) **शब्दालङ्कार** - जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य और अभिनीति = २४।

(ख) अर्थालङ्कार – जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, विरोध, उत्तर, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद (व्यतिरेक), समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव = २४।

(ग) उभयालङ्कार – उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समासोक्ति, समाधि, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक और संसृष्टि = २४।

भोज ने अलङ्कारों की कुल संख्या ७२ स्वीकार की। इनमें से २८ अलङ्कार भोज के स्वकल्पित हैं और ४४ अलङ्कार प्राचीन आचार्यों से ग्रहण किये गये हैं। भोज के स्वकल्पित अलङ्कार निम्न हैं –

जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, भव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति, सम्भव, वितर्क, प्रत्यक्ष, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव और समाधि।

(vii) मम्मट –

मम्मट ने ६८ अलङ्कारों की विवेचना की थी। इनमें से ६ शब्दालङ्कार और ६२ अर्थालङ्कार हैं –

(क) शब्दालङ्कार – वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास = ६।

(ख) अर्थालङ्कार – उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, निदर्शना, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, मालादीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, ब्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिंग, पर्यायोक्त, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, ब्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अंतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि और संकर = ६२।

मम्मट ने अलङ्कारों के विवेचन में प्रायः प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलङ्कारों को ही स्वीकार कर लिया था। उन्होंने केवल तीन नये अलङ्कारों की उद्भावना की थी – विनोक्ति, सम और अतद्गुण। मम्मट के अलङ्कारों के विवेचन पर दण्डी तथा रुद्रट का अधिक प्रभाव है तथा उनके ही अलङ्कारों को 'काव्यप्रकाश' में अपनाया गया है।

(viii) रुय्यक –

रुय्यक ने प्राचीन आलङ्कारिकों के अलङ्कार-विवेचन में अनेक कमियां पाईं, जिनको

दूर करने के लिये उन्होंने 'अलङ्कारसूत्र' लिख कर स्वयं उस पर 'अलङ्कार- सर्वस्व' नामक वृत्ति लिखी। उन्होंने अलङ्कारों का विशेष वर्गीकरण किया था और ७८ अलङ्कारों की गणना की थी। रुय्यक के वर्गीकरण के अनुसार उनके अलङ्कारों के नाम इस प्रकार हैं -

(अ) शुद्ध अलङ्कार -

१. शब्दालङ्कार -

(क) अर्थपुनरुक्ति - पुनरुक्तवदाभास,

(ख) व्यञ्जनपुनरुक्ति - छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास,

(ग) स्वरव्यञ्जनपुनरुक्ति - यमक,

(घ) शब्दार्थोभयपुनरुक्ति - लाटानुप्रास,

(ङ) स्थानविशेषणश्लिष्टवर्णनपुनरुक्ति - चित्र।

२. अर्थालङ्कार -

(क) सादृश्यविच्छित्ति - उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक और सहोक्ति।

(ख) विशेषणविच्छित्ति - समासोक्ति, परिकर और श्लेष।

(ग) गम्यतार्थविच्छित्ति - पर्यायोक्त, ब्याजस्तुति और आक्षेप।

(घ) विरोधविच्छित्ति - विरोध, विभावना, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, विचित्र, व्याघात, अधिक, विशेष और अन्योन्य।

(ङ) शृङ्खलाविच्छित्ति - कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

(च) न्यायविच्छित्ति - काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर।

(छ) गूढार्थपरताविच्छित्ति - सूक्ष्म, ब्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता।

(ब) मिश्र खण्ड -

(क) संसृष्टि - शब्दालङ्कारसंसृष्टि, अर्थालङ्कारसंसृष्टि, उभयालङ्कारसंसृष्टि।

(ख) संकर

इन ७८ अलङ्कारों में से ७१ अलङ्कारों का ग्रहण रुय्यक ने प्राचीन आचार्यों से किया था तथा निम्न सात अलङ्कारों की उद्भावना स्वयं की थी -

परिणाम, उल्लेख, विचित्र, विकल्प, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता।

(ix) विश्वनाथ -

कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के दशम परिच्छेद में ८३ अलङ्कारों का विवेचन किया है। रुद्रट या रुय्यक के समान इन्होंने अलङ्कारों के विशेष वर्गीकरण की ओर ध्यान नहीं दिया और अलङ्कारों के दो ही वर्ग प्रतिपादित किये - शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। विश्वनाथ ने ७ शब्दालङ्कार और ७५ अर्थालङ्कारों का विवेचन किया -

(क) शब्दालङ्कार – पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषायमक, श्लेष और चित्र।

(ख) अर्थालङ्कार – उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, निश्चय, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, पर्यायोक्त, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, अनुमान, हेतु, अनुकूल, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, विरोध, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, मालादीपक, एकावली, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, उत्तर, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तदगुण, अतदगुण, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता।

इन ७५ अलङ्कारों के अतिरिक्त विश्वनाथ ने संसृष्टि और संकर का भी विवेचन किया है।

मम्मट ने रसवद् आदि की गणना अलङ्कारों में नहीं की। उन्होंने इनको गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य माना। परन्तु विश्वनाथ का कथन है कि जब रस, भाव आदि गुणीभूत हो जाते हैं, तो वे अलङ्कार कहलाते हैं[४७]। इस सम्बन्ध में उन्होंने आनन्दवर्धन की यह उक्ति प्रस्तुत की-

"जब वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस आदि अंगभूत हों, तो वे उस काव्य में रसादि अलङ्कार होते हैं[४८]।"

(x) अप्पय दीक्षित -

अलङ्कारों की विवेचना करने वाले उत्तरवर्ती आचार्यों में अप्पय दीक्षित का प्रमुख स्थान है। अलङ्कारों के सम्बन्ध में उन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की - 'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानन्द'। 'चित्रमीमांसा' एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है तथा इसमें निम्न १२ अलङ्कारों का विवेचन हुआ है -

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

'कुवलयानन्द' की रचना का उपजीव्य ग्रन्थ जयदेव का 'चन्द्रालोक' है। इसमें १२३ अलङ्कारों का विवेचन है। इन अलङ्कारों में १०० अलङ्कार विशुद्ध अलङ्कार हैं, ७

रसवदादि अलङ्कार हैं, १० प्रमाणालङ्कार हैं और ६ मिश्र अलङ्कार हैं।

अप्पय दीक्षित ने शब्दालङ्कारों की विवेचना नहीं की थी। उनके अनुसार शब्दचित्र काव्य (शब्दालङ्कारप्रधान काव्य) नीरस होता है। इसलिये कविगण उसको विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखते। इनमें विशेष विचारणीय विषय भी नहीं है। अत: वे शब्दालङ्कारों को छोड़ कर केवल अर्थालङ्कारों की ही विवेचना कर रहे हैं[४९]।

अप्पय दीक्षित ने निम्न अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है -

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति , सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्तिदीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक,सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुताङ्कुर, पर्यायोक्त, ब्याजस्तुति, ब्याजनिन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, प्रौढोक्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अनुज्ञा, अवज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्‌गुण, पूर्वरूप, अतद्‌गुण, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेष, उत्तर, सूक्ष्म, पिहित, ब्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द. स्मृति, श्रुति, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, संसृष्टि, अंगांगिभावसंकर, समप्राधान्यसंकर, सन्देहसंकर, एकवाचकानुप्रवेशसंकर और संकरसंकर।

अर्थालङ्कारों की विवेचना में अप्पय दीक्षित ने सामान्यत: 'चन्द्रालोक' के अलङ्कारों को ग्रहण करके उनकी विवेचना की थी। परन्तु उन्होंने १७ नये अलङ्कारों की भी उद्‌भावना की। वे निम्न हैं -

प्रस्तुताङ्कुर, अल्प, कारकदीपक, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, विशेष, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध और विधि।

(xi) पण्डितराज जगन्नाथ -

पण्डितराज जगन्नाथ के अभिमत में अलङ्कारों की संख्या कितनी थी, इसको स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। 'रसगङ्गाधर' में उन्होंने उपमा से उत्तर अलङ्कार तक ७० अलङ्कारों का निरूपण किया है। इसके अनन्तर यह ग्रन्थ अकस्मात् ही खण्डित हो गया है। प्रतीत होता है कि पण्डितराज कुछ और अलङ्कारों का निरूपण करना चाहते थे। परन्तु या तो किसी कारण वे ग्रन्थ को पूरा नहीं कर सके, अथवा उत्तर अलङ्कार के बाद का ग्रन्थ भाग किसी कारण नष्ट हो गया।

अलङ्कारों की विवेचना में पण्डितराज ने 'चन्द्रालोक' की अनुक्रमणिका को आधार बनाया था। इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने भी १०० अलङ्कार माने होंगे। उपमा अलङ्कार से उत्तर अलङ्कार तक पण्डितराज ने निम्न ७० अलङ्कारों की विवेचना की है -

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम, उदाहरण, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, ब्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, सार, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, प्रौढोक्ति, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कार, लेश, तद्गुण, अतद्गुण, मीलित, सामान्य और उत्तर।

पण्डितराज ने प्राचीन अलङ्कारों का ही निरूपण किया था। किसी नये अलङ्कार की उद्भावना नहीं की।

५. अलङ्कारों का मूल तत्त्व

अलङ्कारों की विवेचना के प्रसंग में यह जानना आवश्यक है कि उनका मूल तत्त्व क्या है ? अलङ्कार को काव्यगत चारुत्व का हेतु अथवा चारुत्व के अतिशय का आध ायक कहा गया है। वस्तुतः उक्ति की विचित्रता ही अलङ्कार है। यह कवि की प्रतिभा से उत्पन्न होती है। यह उक्ति जब काव्यगत चमत्कार उत्पन्न करती है, तो वही अलङ्कार होता है। अलङ्कारों के मूल के विषय में आचार्यों ने निम्न मुख्य मत प्रतिपादित किये थे -

(i) अलङ्कारों का मूल वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति -

किसी कथन को लोकातिक्रान्तगोचर रूप से कहना, वक्र या अतिशय रूप से कहना ही अलङ्कार है। यह वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति ही अलङ्कार का मूल है।

भामह ने वक्रोक्ति को अलङ्कारों का मूल कहा था। यह वक्रोक्ति सब अलङ्कारों में रहती है। इससे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि इसके विना कोई अलङ्कार नहीं हो सकता। अतः कवि को इसके लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये[५०]। इसी प्रकार भामह ने एक अन्य स्थान पर अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का मूल कहा है। अतिशयोक्ति से युक्त वचनों के लोकोत्तर होने के कारण वे अति रमणीय होते हैं। उनसे ही अलङ्कार निष्पन्न होते हैं[५१]। सम्भवतः यहां भामह ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में अभेद माना है।

आचार्य दण्डी भी अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का मूल मानते हैं। उनके अनुसार अलङ्कारों की निष्पन्नता अतिशयोक्ति के आधार पर होती है। अलङ्कारों में अलङ्कारत्व का आधार अतिशयोक्ति ही है[५२]।

ध्वनिवादी आचार्यों ने भी अलङ्कारों की निष्पन्नता में वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को मूल माना है। आनन्दवर्धन का कथन है -

"जिस अलङ्कार में कवि की प्रतिभा के द्वारा अतिशयोक्ति रहती है, वहीं चारुत्व होता है। यह अतिशयोक्ति सभी अलङ्कारों के शरीर में रहती है। यह सर्वालङ्कार रूप है[५३]।"

अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की लोवन टीका में वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों में सामान्य माना है। उनका कथन है कि इस अतिशयोक्ति के द्वारा पुराना और सकलजनोपभुक्त अर्थ भी विचित्र रूप में प्रतीत होता है[५४]।

मम्मट ने सभी अलङ्कारों में अतिशयोक्ति को प्राणरूप माना था। उसके विना किसी अलङ्कार की स्थिति नहीं हो सकती[५५]। यह प्रतिपादित करके मम्मट ने भामह की **"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः०"** कारिका को उद्धृत किया।

इस प्रकार प्राचीन आचार्य काव्य में शोभाकर धर्म को वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति के रूप में मान कर उसी को अलङ्कार का मूल प्रतिपादित करते हैं।

(ii) अलङ्कारों का मूल उपमा -

अप्पय दीक्षित ने उपमा को सब अलङ्कारों का एकमात्र मूल कारण माना था। उनके अनुसार अकेली उपमारूपिणी नर्तकी ही विभिन्न अलङ्कारों की भूमिका को प्राप्त करके काव्यरूपी रंगमञ्च पर नृत्य करती हुई सहृदय जनों के हृदयों को आनन्दित करती है[५६]। राजशेखर ने उपमा को अलङ्कारों में शिरोमणि, काव्य सम्पत्ति का सर्वस्व और कविवंश की माता कहा था[५७]।

(iii) अलङ्कारों का मूल वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष -

रुद्रट का अभिमत था कि अलङ्कारों में केवल एक ही तत्त्व को मूल नहीं माना जा सकता। उनके अनुसार अलङ्कारों को चार वर्गों में विभक्त करना चाहिये तथा प्रत्येक वर्ग का आधार भिन्न है। कुछ अलङ्कारों का मूल आधार वास्तविकता है, कुछ का सादृश्य है, कुछ का आधार अतिशय है तथा कुछ का आधार श्लेष है[५८]। इन ही चार मूल आधारों पर रुद्रट ने अलङ्कारों को चार वर्गों में विभक्त किया था - वास्तव, सादृश्य, अतिशय और श्लेष।

६. अलङ्कारों का वर्गीकरण

प्रारम्भ में आचार्यों ने अलङ्कारों के वर्गीकरण की ओर ध्यान नहीं दिया था। भामह आदि आचार्यों ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर प्रतिपादित करके काव्य के चारुत्व के हेतुओं को अलङ्कार नाम दिया। सम्भवतः उन्होंने अलङ्कारों के दो ही वर्ग माने थे -

(१) शब्द को अलङ्कृत करने वाले शब्दालङ्कार

(२) अर्थ को अलङ्कृत करने वाले अर्थालङ्कार

अलङ्कारों के वर्गीकरण की ओर सबसे पहले रुद्रट ने ध्यान दिया। उसने कहा कि

अलङ्कारों के मूल में चार तत्त्व हैं - वास्तव, सादृश्य, अतिशय और श्लेष। अतः इस आध
ार पर अलङ्कारों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है[५१]। उन्होंने वास्तव वर्ग में
२३ अलङ्कारों को, सादृश्य वर्ग में २१ अलङ्कारों को, अतिशय वर्ग में १२ अलङ्कारों को और
श्लेष वर्ग में एक अलङ्कार को परिभाषित किया। इनके अतिरिक्त अलङ्कारों के मिश्रण से
भी दो प्रकार के संकर अलङ्कार हुये। रुद्रट ने यह वर्गीकरण केवल अर्थालङ्कारों का किया
था। शब्दालङ्कारों की विवेचना उन्होंने पृथक् से की।

रुय्यक ने अलङ्कारों का वर्गीकरण उनकी प्रकृति के अनुसार किया था। यह वर्गीकरण
अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक है। उन्होंने अलङ्कारों के प्रथम दो भेद किये - शुद्ध और मिश्र।
शुद्ध के दो भेद हैं - शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। शब्दालङ्कारों का मूल पुनरुक्ति है।
वर्णों और शब्दों की पुनरुक्ति पांच प्रकार की होती है। अतः शब्दालङ्कार पांच वर्गों में विभक्त
किये गये - अर्थपुनरुक्ति, व्यञ्जनपुनरुक्ति, स्वरव्यञ्जनसमुदायपुनरुक्ति, शब्दार्थोभयपुनरुक्ति
और स्थानविशेषोपश्लिष्टवर्णनपुनरुक्ति। रुय्यक ने ६ शब्दालङ्कारों को इन पांच वर्गों में
विभक्त किया।

अर्थालङ्कारों का विभाजन रुय्यक ने सात वर्गों में किया है। ये वर्ग सात मौलिक तत्त्वों
के आधार पर बनाये गये हैं। सात मौलिक तत्त्व निम्न हैं -

सादृश्य, विशेषण, गम्यतार्थ, विरोध, शृङ्खला, न्याय और गूढार्थपरता। इन सात
मौलिक तत्त्वों के आधार पर अलङ्कारों को सात वर्गों में रखा गया। इन सात वर्गों के और
भी अवान्तर भेद रुय्यक ने किये। इनका विस्तृत वर्णन आचार्य रुय्यक के प्रकरण में द्वितीय
खण्ड में विस्तार से किया गया है।

रुय्यक ने मिश्र अलङ्कारों में संसृष्टि और संकर की गणना की है।

विद्याधर ने 'एकावली' में अलङ्कारों का वर्गीकरण रुय्यक के ही आधार पर किया
था। यह अवश्य है कि उन्होंने एक-दो अलङ्कारों को रुय्यक से भिन्न किसी अन्य वर्ग में रख
दिया।

विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में अलङ्कारों के वर्गीकरण पर विशेष विचार
किया। इस वर्गीकरण में उन्होंने यद्यपि रस को ही आधार बनाया था, तथापि उसमें थोड़ा सा
परिवर्तन भी किया। उन्होंने अलङ्कारों के मूल तत्त्व ९ मान कर अर्थालङ्कारों को ९ वर्गों
में विभाजित किया -

(१) साधर्म्यमूल
(२) अध्यवसायमूल
(३) विरोधमूल
(४) वाक्यन्यायमूल

(५) लोकव्यवहारमूल
(६) गम्यार्थप्रतीतिमूल
(७) शृङ्खलावैचित्र्यमूल
(८) अपह्नवमूल
(९) विशेषणवैचित्र्यमूल

विद्यानाथ का अलङ्कारों का यह विभाजन और वर्गीकरण रुय्यक और विद्याधर को आधार बना कर किया जाने पर भी उनसे अनेक अंशों में भिन्न है।

यह आश्चर्य का विषय है कि उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने अलङ्कारों का विशद विवेचन करके भी उनके वर्गीकरण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उसका कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों का मूल मान लिया था। तदनन्तर मम्मट ने भी सभी अलङ्कारों में अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) को मूल तत्त्व स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सभी अलङ्कारों में एक ही मूल तत्त्व को स्वीकार करने के कारण इन आचार्यों ने रुद्रट और रुय्यक का अनुकरण न करके अलङ्कारों के वर्गीकरण की उपेक्षा की। अधिकांश आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभा का आधायक मान कर अलङ्कारों के दो ही वर्ग - शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार प्रतिपादित किये।

७. अलङ्कारों के काव्य-आत्मत्व की समीक्षा

भरत के अनेक शताब्दियों पश्चात् भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने काव्य में रस आदि के प्राधान्य की उपेक्षा करके अलङ्कार को काव्य का सर्वस्व प्रतिपादित किया था।

अलङ्कार सिद्धान्त के अनुसार स्थिति इस प्रकार है -

काव्य के संघटक पदार्थ दो हैं - शब्द और अर्थ। इन दोनों पदार्थों का अग्राम्यतापूर्ण, वक्रोक्तिपूर्ण, अतिशयोक्तिपूर्ण, निर्दोष और औचित्यपूर्ण साहित्य ही काव्य है। अलङ्कारों का प्रधान कार्य इस प्रकार है -

अलङ्कार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का उत्कर्ष करते हैं। वे चमत्कार का आधान करते हैं। इस सौन्दर्य का चमत्कार होने पर ही काव्य में काव्यत्व होता है। यदि काव्य में सौन्दर्य नहीं है, तो वह काव्य नहीं है। भामह का कथन है -

"अलङ्कारों के द्वारा सौन्दर्य का आधान होने पर ही शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य कहा जा सकता है। जिस प्रकार वनिता का मुख सुन्दर होते हुये भी विना आभूषणों के शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार अलङ्कार से विहीन काव्य सरस होते हुये भी रमणीय नहीं होता। इसका उदाहरण कपित्थ फल है, जो सरस होते हुये भी रमणीय नहीं है।

अलङ्कारवादियों पर व्यञ्जनावादियों ने अनेक आक्षेप किये हैं और उनको शब्दकोष

में क्रीडा करने वाला कहा है। उनके विषय में कहा गया है कि अलङ्कारवादी काव्य में भावात्मकता या सरसता का कोई मूल्य नहीं समझते। उनके लिये अलङ्कारों का चमत्कार होना ही पर्याप्त है और आवश्यक है। उनका यहीं पर विराम हो जाता है। इसके लिये भामह के कथन **"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्"**[६०] को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। काव्य के सरस होते हुये भी भामह अलङ्कारशून्यता को अरमणीयता का कारण मानते थे। उनके लिये काव्य में सरसता का कोई मूल्य नहीं था।

यदि सूक्ष्मता से विचार किया जावे तो ध्वनिवादियों का अलङ्कारवादियों पर इस प्रकार का आरोप लगाना उचित नहीं है। भामह ने अलङ्कार के लिये वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को अनिवार्य बताया था। इसके द्वारा वे यह प्रतिपादित करना चाहते थे कि काव्यत्व न केवल शब्द में रहता है और न क़ेवल अर्थ में, अपितु शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण एवं दोषरहित साहित्य में ही काव्यत्व निहित रहता है। दण्डी ने सभी शोभाकर धर्मों को अलङ्कार की संज्ञा दी थी। इससे उनका यह अभिप्राय नहीं था कि शब्द और अर्थ के अलङ्कर्ता अनुप्रास आदि और उपमा आदि ही अलङ्कार हैं, अपितु इन शोभाकर धर्मों के अन्तर्गत उन्होंने काव्य के सभी तत्त्वों, रस आदि का समावेश कर लिया था। दण्डी ने भरत के द्वारा कहे गये सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्त्यंग, लक्षण आदि को भी काव्य के शोभाकर धर्म होने से अलङ्कार मान लिया था[६१]।

दण्डी ने काव्य में सरसता को अनिवार्य तत्त्व बताया था। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया था कि अलङ्कार निश्चय पूर्वक रस के लिये होते हैं। किन्तु उनमें अग्राम्यता विशेष रूप से रस के भार को वहन करती है[६२]। इसका अभिप्राय निश्चय से यही है कि सरस काव्य में भी रमणीयता उसी अवस्था में होती है, जबकि उसमें अग्राम्यता, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति या औचित्य हो। भामह का **"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्"** कहने का भी यह अभिप्राय था कि काव्य में रस का निवेशन औचित्य से पूर्ण होना चाहिये। भामह ने दोषों के प्रकरण में जो विवेचन किया है, उसका स्पष्ट अर्थ है कि काव्य में रस सामग्री होने पर भी सदोषता काव्य को अरमणीय बना देती है।

अलङ्कारवादी आचार्यों द्वारा ध्वनिवादियों के व्यङ्ग्य या प्रतीयमान अर्थ का उतना वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हो सका था, तथापि अलङ्कारवादी आचार्य ध्वनिवादियों के तीनों प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ - वस्तु, अलङ्कार और रस से परिचित थे। उन्होंने इन तीनों का ही समावेश अलङ्कारों के अन्तर्गत कर लिया था। अलङ्कारवादियों के अनुसार क्योंकि सभी काव्य-शोभाकर धर्म अलङ्कार थे, अतः इन व्यङ्ग्य रस आदि को भी उन्होंने अलङ्कार मान लिया था। उनके अनुसार अनुप्रास, उपमा आदि ही अलङ्कार नहीं थे, अपितु ध्वनि, गुण, रस, रीति, नाट्य-वृत्ति आदि सभी धर्म काव्य के शोभाकर होने से अलङ्कार थे।

अलङ्कारवादियों ने अङ्गीभूत रस को रसवद् अलङ्कार, अङ्गीभूत भाव को प्रेय

अलङ्कार, अङ्गीभूत रसाभास और भावाभास को ऊर्जस्वि अलङ्कार तथा अङ्गीभूत भावशान्ति को समाहित अलङ्कार माना था। अङ्गीभूत भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को उन्होंने अलङ्कार मान कर ये ही नाम दे दिये।

अलङ्कारवादियों ने अंगभूत रस आदि का समावेश उदात्त अलङ्कार के अन्तर्गत कर लिया था। अलङ्कारवादी आचार्य भामह[६३], दण्डी[६४], उद्भट[६५], रुद्रट[६६] आदि स्पष्ट रूप से काव्य में रस की अनिवार्यता को प्रतिपादित करते हैं। वे रस की महत्ता से तो परिचित हैं, परन्तु उसको अलङ्कार का ही एक रूप मानते हैं।

अलङ्कारवादी आचार्यों ने ध्वनिवादियों की अलङ्कारध्वनि को स्पष्ट रूप से अलङ्कार ही माना। उसकी वस्तुध्वनि का भी अलङ्कारों में समावेश कर लिया गया था। वे प्रतीयमान वस्तुरूप अर्थ से तो निश्चित रूप से परिचित थे, परन्तु इस अर्थ को न तो उन्होंने ध्वनि कहा और नाहीं इसको काव्य की आत्मा माना। इस अर्थ का समावेश उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों के अन्तर्गत कर लिया था। समासोक्ति अलङ्कार के लक्षण में भामह ने स्पष्ट लिखा है - "यह अलङ्कार उस अवस्था में होता है, जब किसी वस्तु का वर्णन होने पर उसके समान विशेषण वाली अन्य वस्तु की प्रतीति होती है[६७]। इसी प्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार वहां है, जहां वाच्य-वाचक वृत्ति से भिन्न अन्य प्रकार से अर्थों को अभिहित किया जाता है[६८]।"

इन अलङ्कारों में प्रतीयमान अर्थ की सत्ता अलङ्कारवादी आचार्यों को निश्चित रूप से मान्य है।

काव्य में प्रतीयमान अर्थ को रुद्रट अनिवार्य रूप से स्वीकार करते थे। इसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये उन्होंने भाव नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना की थी। उन्होंने भाव अलङ्कार को दो प्रकार का कहा। प्रथम प्रकार के भाव अलङ्कार का उन्होंने जो उदाहरण दिया[६९], उसको मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया तथा दूसरे प्रकार के भाव अलङ्कार के उदाहरण को[७०] अभिनवगुप्त ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य बताया।

अलङ्कारवादी प्राचीन आचार्यों द्वारा ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि शब्दों का प्रयोग न करने पर भी वे प्रतीयमान अर्थ से भलीभांति परिचित थे, इस तथ्य का प्रतिपादन पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रबल शब्दों में किया है[७१]।

इस विवेचन से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि अलङ्कारवादी आचार्यों को प्रतीयमान अर्थ का सिद्धान्त विदित था और स्वीकृत था। परन्तु उन्होंने इसका समावेश अलङ्कारों में ही कर लिया था। इस प्रकार उन्होंने अलङ्कारों को काव्य का अनिवार्य तत्त्व, आत्मा प्रतिपादित किया था।

आनन्दवर्धन तथा उनके उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों के इस महत्त्व को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अलङ्कारों को न तो काव्य का अन्तरंग तत्त्व स्वीकार किया और नाहीं उसको अनिवार्य तत्त्व माना। इन आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य का बाह्य उत्कर्षक मानते हुये कनककुण्डल के समान प्रतिपादित किया। जिस प्रकार कनककुण्डल आदि बाह्य तत्त्व हैं और शरीर को सुशोभित करते हैं, उसी प्रकार की स्थिति काव्य में अलङ्कारों की है। ये काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को अलङ्कृत करते हैं।

ध्वनिवादी आचार्यों की धारणा सम्भवतः यह थी कि काव्य में अलङ्कारों की योजना सायास होती है और इनकी रमणीयता शब्द और अर्थ पर निर्भर है। परन्तु रसपूर्ण काव्य की रचना में सायास शब्दों की योजना अनिवार्य नहीं है। रस का आस्वादन भी शब्द एवं अभिधेय अर्थ पर निर्भर नहीं होता। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अलङ्कार काव्यनिष्ठ होते हैं, जबकि रस सहृदयनिष्ठ होता है। उनके अनुसार ये अलङ्कार अंगीभूत रस आदि के उत्कर्षक हो सकते हैं, परन्तु साक्षात् रूप से नहीं। काव्य में अलङ्कार रस आदि के उत्कर्षक अनिवार्य रूप से हों, ऐसा भी नहीं है।

आनन्दवर्धन ने रसनिष्ठ काव्य में अलङ्कारों की योजना के लिये विशेष नियमों का प्रतिपादन किया था। शृङ्गार रस के नियोजन में उन्होंने एकरूप अनुप्रास[७२] एवं यमक[७३] आदि के प्रयोग को रस का व्याघात करने वाला बताया। उनके अनुसार काव्य में अलङ्कारों का अलङ्कारत्व तभी होता है, जब कि वे रस, भाव आदि के अनुसार नियोजित किये जाते हैं। ध्वनि काव्य में अलङ्कार वही है, जो रस के अनुकूल निबन्धित किया गया हो तथा जिसके लिये पृथक् से प्रयत्न न किया गया हो[७४]। अर्थालङ्कारों के औचित्यपूर्ण निबन्धन के लिये आनन्दवर्धन ने निम्न नियमों का प्रतिपादन किया था[७५] -

(१) अङ्गीभूत रस के प्रति अलङ्कारों की विवक्षा अंगरूप से रहनी चाहिये।
(२) अलङ्कारों की विवक्षा अङ्गीरूप से कभी नहीं करनी चाहिये।
(३) अवसर पर इनका ग्रहण और त्याग करना चाहिये।
(४) आरम्भ से अन्त तक इनका निर्वाह करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये।
(५) आरम्भ से लेकर अन्त तक यदि इनका अनायास निर्वाह हो भी जावे, तो इनको अङ्गीभूत रस के अंग के रूप में तथा उत्कर्षक के रूप में ही रखना चाहिये।

भट्टलोल्लट का मत था कि काव्य में यमक आदि अलङ्कार रस के विरोधी होते हैं। इनका प्रयोग या तो कवि के अभिमान का सूचक है या भेड़चाल के समान है[७६]।

गुण और अलङ्कार के भेद का निरूपण करते हुये मम्मट ने अलङ्कारों को काव्य का बाह्य अंग प्रतिपादित किया था। ये अलङ्कार काव्य में रस का उपकार तो कर सकते हैं, परन्तु साक्षात् रूप से नहीं। वे रस का उपकार शब्द और अर्थ के माध्यम से करते हैं। रस से उनका विशेष सम्बन्ध नहीं है। यदि काव्य में रस है, तो वे उसका उपकार कर सकते हैं, और नहीं भी करते। काव्य में रस के न होने पर भी वे हो सकते हैं। इस अवस्था में वे उक्तिवैचित्र्यमात्र होते हैं[७७]। मम्मट के पश्चात् भी आचार्यों ने अलङ्कारों के सम्बन्ध में इसी मत को पुष्ट किया था।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भामह, दण्डी आदि प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्यों ने जिस अलङ्कार तत्त्व को काव्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य प्रतिपादित किया था, ध्वनिवादी आचार्यों ने उस अलङ्कार तत्त्व के महत्त्व को कम कर दिया। उन्होंने अलङ्कारों को काव्य का बाह्य सौन्दर्याधायक तत्त्व माना और उसकी अनिवार्यता का विरोध किया।

इतना होने पर भी ध्वनिवादी आचार्य अलङ्कारों के प्रति उदासीन नहीं रह सके। अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उन्होंने अलङ्कारों की विस्तृत विवेचना की। मम्मट का 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' और पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगङ्गाधर' इसके साक्षी हैं। इन ग्रन्थों में अलङ्कारों का सूक्ष्म तथा विशद विवेचन हुआ है। काव्य का लक्षण करते हुये मम्मट ने अलङ्कार को उसका अनिवार्य तत्त्व माना, यद्यपि उसको गौण स्थान दिया। काव्य के लक्षण में **"अनलङ्कृती पुनः क्वापि"** पद की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा -

"क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।।"

मम्मट के इस कथन से यह स्पष्ट है कि ध्वनिवादी आचार्य भी अलङ्कारों को काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में निश्चित रूप से स्वीकार करते थे, यद्यपि उन्होंने अलङ्कार को काव्य की आत्मा नहीं माना।

....

सन्दर्भ -

१. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।। भामह - काव्यालङ्कार २.१३।।

२. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।। चन्द्रालोक १.८।।

३ काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।। काव्यादर्श २.१।।

४ काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।। काव्यालङ्कारसूत्र १.१.१-२।।

५ ऋग्वेद ७.२९.३।।

६ अञ्जनाभ्यञ्जने प्रयच्छन्त्येव ह मानुषोऽलङ्कारः।। शतपथ ब्राह्मण १३.८.४.७.।।

७ वसनेन अलङ्कारेणेति संस्कुर्वन्ति।। छान्दोग्य उननिषद्।।

८ सोमा अरङ्कृता अलङ्कृताः।। निरुक्त १०.१.२।।

९ उपमा अतत् तत्सदृशम्।। वही ३.३.१४।।

१० निरुक्त ३.४.११-१८।।

११ उपमानानि सामान्यवचनैः ।। अष्टाध्यायी २.१.५५।।
उपमानादाचारे।। वही ३.१.१०।।
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे।। वही २.१.५६।।
तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्।। वही २.३.७२।।
यथा सादृश्ये।। वही २.१.७।।
सदृशप्रतिरूपयोश्च।। वही ६.२.११।।

१२. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः।। वही ५.१.११५।।
तत्र तस्येव।। वही ५.१.११६।।

१३. इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च।। अष्टाध्यायी २.४.७१ पर वार्तिक।।

१४. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः।। नाट्यशास्त्र १७.४३।।

१५. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानननम्।। भामह - काव्यालङ्कार १.१३।।

१६. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।। भामह - काव्यालङ्कार १.३६।।
वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते।। भामह - काव्यालङ्कार ५.८८।।

१७. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।। भामह - काव्यालङ्कार २.८५।।

१८. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा।। भामह - काव्यालङ्कार २.८१।।

१९. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।। काव्यादर्श २.१।।

२०. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।।
ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारं युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम्।। काव्यादर्श २.२७५।।

२१. यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः।। काव्यादर्श २.३६७।।

२२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्काररान् प्रचक्षते।। अग्निपुराण ४२.१७।।

२३. अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती ।। अग्निपुराण ३४३.१२।।

२४. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः ।। काव्यालङ्कारसूत्र १.१.२।।

२५. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।। काव्यालङ्कारसूत्र ३.१.१।।

२६. तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।। काव्यालङ्कारसूत्र ३.१.२।।

२७. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। काव्यालङ्कारसारसंग्रह ४.६।।

२८. काव्यालङ्कारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्ति।। रुद्रट - काव्यालङ्कार १.२।।

२९. अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता।। वक्रोक्तिजीवित १.६।।

३० तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता। अयमत्र परमार्थः। सालङ्कारस्य अलङ्कारसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। तेन अलङ्कृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः। न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग इति।। वक्रोक्तिजीवित १.६ की वृत्ति।।

३१. त्रिविधः खल्वलङ्कारवर्गः - वक्रोक्तिः, स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति। तत्रोपमाद्यलङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः, विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्तु रसोक्तिरिति।।
शृङ्गारप्रकाश पृ० ११।।

३२. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।। ध्वन्यालोक २.१९।।

३३ तमर्थवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।। ध्वन्यालोक २.७।।

३४. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः।। ध्वन्यालोक २.१७।।

३५. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। काव्यप्रकाश ६.६७।।

३६. अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति।। काव्यमीमांसा पृ १४।।

३७. अङ्गाश्रिता अलङ्काराः।। काव्यानुशासन पृ० १७।।

३८. शब्दार्थयोरस्थिरा धर्मा शोभातिशयशालिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ।। साहित्यदर्पण १०.१।।

३९. काव्यात्मानो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलङ्काराः।। रसगङ्गाधर पृ० २४८।।

४० रसादिभिन्नत्वे शब्दविशेषश्रवणोत्तरम्।
चमत्कारकरत्वं यदलङ्कारत्वमत्र तत्।।

४१ तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।। अलङ्कारसर्वस्व पृ० ७।।

४२ ये रसस्याऽङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहितवस्ते स्युरचलस्थितयो स्थितयो गुणाः।। काव्यप्रकाश ८. ६६।।

४३ उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। काव्यप्रकाश ८. ६७।।

४४ अलङ्कारा अस्थिरा अति नैषां गुणवदावश्यिकी स्थितिः।। साहित्यदर्पण १०. १ की वृत्ति।।

४५ अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।। चन्द्रालोक १. ८।।

४६ हारादिवदलङ्कारसन्निवेशो मनोहरः।। चन्द्रालोक ५. १।।

४७ रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा।। साहित्यदर्पण २. ५।।

४८ प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।। साहित्यदर्पण १०. ९५।।

४९ शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वात् नात्यन्तं तथाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलक्ष्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।। चित्रमीमांसा पृ० ५।।

५० सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।। भामह - काव्याङ्कार २. ८५।।

५१ निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा।। भामह - काव्यालङ्कार २. ८१।।

५२ अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।। काव्यादर्श २. २०।।

५३ तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात् तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कार-मात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालङ्काररूपेत्ययमेवा-र्थोऽवगन्तव्यः।। ध्वन्यालोक ३ २७ की वृत्ति से।।

५४ तेनातिशयोक्तिः सर्वालङ्कारसामान्यम्। तथा ह्यनयातिशयोक्त्यार्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते।। ध्वन्यालोक-लोचनटीका पृ० २३०।।

५५ सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनाऽवतिष्ठते। तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्।।
काव्यप्रकाश १०. १३६ की वृत्ति।।

५६. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।। चित्रमीमांसा पृ० ४०।।

५७. अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।। राजशेखर।।

५८. अर्थस्यालङ्कारा वास्तवौपम्यमतिशयश्लेषाः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः।। रुद्रट - काव्यालङ्कार ७.९।।

५९. वही ७.९।।

६०. भामह - काव्यालङ्कार १.१३।।

६१. काव्यादर्श २.३६७।।

६२. काव्यादर्श १.६२।।

६३. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसो यथा।
देवी समगमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता।। भामह - काव्यालङ्कार ३.६।।

६४. इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्।। काव्यादर्श २.२९२।।
मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।। काव्यादर्श १.५१।।

६५. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम्।। उद्भट - अलङ्कारसारसंग्रह - ४।।

६६. तस्मात् तत् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।। रुद्रट - काव्यालङ्कार १२.२।।

६७. यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः।। भामह - काव्यालङ्कार २.७९।।

६८. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। भामह - काव्यालङ्कार २.८।।

६९. ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति नितरां मलिना मुखच्छाया।। रुद्रट - काव्यालङ्कार ७.३८।।

७०. एकाकिनी किमबला तरुणी तथाह-
मस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे यदिह वासमियं वराकी
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ।। रुद्रट - काव्यालङ्कार ७.४०।।

७१. ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिशब्दाः न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलङ्कारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अपरश्च सर्वोऽपि ध्वनिप्रपञ्चः पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्तः। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाऽप्यपनिह्नोतुं शक्यते। ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः। न ह्येतावतानङ्गीकारो भवति।।
रसगङ्गाधर पृ० ४१४-४१५।।

७२. शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः।। ध्वन्यालोक २.१४।।

७३. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।। ध्वन्यालोक ३.४।।

७४. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः।। ध्वन्यालोक २.१६।।

७५. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
कालेन ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्।। ध्वन्यालोक २.१८।।

७६. यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽतिरसविरोधिनः। अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकाप्रवाहो वा।।
हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में उद्धृत।।

७७. यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः।। काव्यप्रकाश ८.६७ की वृत्ति।।

....

चौथा अध्याय

रीति सम्प्रदाय

१. रीति का प्रवर्तन

"रीतिरात्मा काव्यस्य" कह कर वामन ने सर्वप्रथम काव्य में रीति को प्रमुख स्थान दिया था और उसको काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था। यद्यपि काव्यशास्त्रीय जगत् में रीति तत्त्व की खोज वामन से बहुत पहले ही हो चुकी थी, तथापि वामन पहले आचार्य हुये, जिन्होंने रीति की स्पष्ट व्याख्या की और उसको काव्य का आत्मा माना। वामन ने रीति का गुणों के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित किया था। रीति का स्वरूप उन्होंने इस प्रकार कहा -

" विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। विशेषो गुणात्मा"।।[१]

अर्थात्, पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है और विशेष का अर्थ है, गुणों से युक्त होना। ये गुण काव्य की शोभा के सम्पादक नित्य धर्म हैं[२]। इस काव्य-शोभा के सम्पादित हुये विना काव्य की रचना नहीं हो सकती। इसके विना काव्य में शब्द और अर्थ का प्रयोग उपचार मात्र है।

२. रीति के उद्भव और विकास का क्रम-विवेचन

पदों की संघटना के विशिष्ट प्रकार को रीति कहा गया है। साहित्य में रीति पद का प्रयोग अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। रीति पद की रचना "रीङ् गतौ" धातु से होती है, जिसका अर्थ है - गमन या मार्ग। इस प्रकार रीति शब्द साहित्य के विभिन्न मार्गों का संकेत करता है।

'ऋग्वेद' में रीति पद का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। यहां इसका अर्थ है - गमन या मार्ग। यथा - **"महावरीतिः शवसा सरत् पृथक्"**[३], **"वातेर्वाजुर्या नद्येव रीतिः"**[४], **"तामस्य रीतिः परशोरिव"**[५] आदि स्थलों में रीति पद का प्रयोग इन अर्थों में दृष्टिगोचर होता है।

वर्तमान समय में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित उपलब्ध ग्रन्थों में वामन का 'काव्यालङ्कारसूत्र' ही प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें काव्यगत रीति की स्पष्ट व्याख्या की गई है। वामन से पहले भामह और दण्डी ने भी इस ओर संकेत किया था। परन्तु उन्होंने रीति पद का प्रयोग न करके मार्ग पद का प्रयोग किया। उनसे पूर्व भरत ने इनके लिये प्रवृत्ति पद का प्रयोग किया था। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में लिखा है -

"पहले सुवर्णनाभ नाम के आचार्य हुये थे, जिन्होंने रीतिविषयक ग्रन्थ की रचना की

थीं[६]।" परन्तु वर्तमान समय में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

काव्य में रीति या मार्ग के प्रयोग का आरम्भ पहले युग में भौगोलिक विशेषताओं के कारण प्रवर्तित हुआ था। प्राचीन आचार्यों का कथन है -

"विभिन्न प्रदेशों रहने वाले आचार्य अपने प्रदेश की शैली में काव्यों की रचना करते थे। यथा गौड प्रदेश में रहने वाले लेखक समासबहुल गौडी शैली में और विदर्भ प्रदेश में रहने वाले लेखक समासरहित वैदर्भी शैली में काव्यों की रचना किया करते थे। इस कारण ये शैलियां या मार्ग इन प्रदेशों के नाम से प्रसिद्ध हो गये[७]। पपरन्तु उत्तरवर्ती युग में ये शैलियां किसी विशेष देश से सम्बन्धित न रह कर कवि की निजी प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हो गईं।"

पदसंघटना के लिये सबसे पहले भरत ने प्रवृत्ति पद का प्रयोग किया था, जो कि विभिन्न प्रदेशों या भूभागों से सम्बन्धित थीं। भरत ने ही सर्वप्रथम काव्यगत गुणों का प्रतिपादन किया था। इनके आधार पर उत्तरवर्ती आचार्यों ने रीति के विशाल प्रासाद की रचना की।

रीति का प्रथम विशद निर्देश भामह ने किया। परन्तु उसने रीति पद का प्रयोग न करके मार्ग पद अपनाया। भामह के 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ का अध्ययन करने से विदित होता है कि उस युग में साहित्य रचना के दो मार्ग प्रतिष्ठित हो चुके थे - वैदर्भ और गौडीय। इनमें वैदर्भ मार्ग अधिक प्रशंसित था। तो भी गौडीय मार्ग की अपनी विशेषतायें थीं। भामह के समय में इन मार्गों का देशविशेष से सम्बन्ध नहीं रहा था। वामन ने इस बात का समर्थन किया है[८]।

भामह के पश्चात् दण्डी ने रीतियों का अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण किया। परन्तु उन्होंने भी इसके लिये मार्ग नाम का प्रयोग किया[९]। दण्डी ने लिखा -

"सूक्ष्म भेद के कारण काव्य-रचना के मार्ग अनन्त हैं। परन्तु मुख्य मार्ग दो ही हैं, जिनके भेदों की गणना नहीं जा सकती। प्रत्येक कवि का मार्ग भिन्न होता है[१०]। सरस्वती भी इन मार्गों की गणना नहीं कर सकती"। दण्डी के समय में इन मार्गों का भौगोलिक महत्त्व विद्यमान था।

दण्डी ने काव्य की रचना में इन मार्गों का सम्बन्ध गुणों के साथ स्थापित किया था। भरत ने जिन १० काव्य गुणों का निरूपण किया था, दण्डी ने उनको इन मार्गों के साथ सम्बन्धित किया। दण्डी के अनुसार १० गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं और गौड मार्ग में इनका विपर्यय देखा जाता है[११]।

रीति तत्त्व का सांगोपांग विवेचन वामन ने किया और इसको काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया। "**विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।**" इस प्रकार रीति का लक्षण देकर वामन ने पदों की संघटना में गुणों की विशेषता को निहित करके इस तत्त्व की व्याख्या की। वामन ने गुणों और रीति का नित्य सम्बन्ध स्थापित करके रस आदि का

भी इसमें समावेश कर दिया। वामन ने गुणों की संख्या २० कही थी। गुणों के नाम तो प्राचीन आचार्यों के ही रहे, परन्तु उनको १० शब्दगुण और १० अर्थगुण कह कर इनकी संख्या २० कर दी गई।

वामन से पूर्व काव्य की रचना के दो मार्ग कहे गये थे - वैदर्भ और गौडीय। परन्तु वामन ने एक तीसरे मार्ग पाञ्चाल का भी प्रतिपादन किया। इस प्रकार रीतियों की संख्या तीन हो गई - वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडी। इन रीतियों में भिन्नता गुणों के भेद तथा उनकी संख्या के अल्प तथा अधिक होने से होती है।

रीति के इतिहास में रुद्रट का प्रमुख स्थान है। वे पहले आचार्य हैं, जिन्होंने रीतियों को भौगोलिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त करके काव्य-व्यवहार की परम्परा में संयोजित किया। उन्होंने वामन की तीन रीतियों में एक अन्य रीति लाटी को भी जोड़ा। रुद्रट ने एक कार्य और भी किया कि रसों का भी रीतियों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और रसौचित्य के अनुसार रीतियों के संयोजन की व्यवस्था दी।

रुद्रट ने रीतियों का विभाजन समासों के आधार पर किया। उनके अनुसार समास से रहित रचना वैदर्भी रीति, दो-तीन पदों के समासों वाली रचना पाञ्चाली रीति और समासबहुल रचना गौडी रीति है[१२]।

रुद्रट ने यह भी प्रतिपादित किया था कि मधुर और सुकुमार रसों - शृङ्गार, प्रेय, करुण , हास्य और अद्भुत रसों का निवेशन वैदर्भी और पाञ्चाली रीति में किया जाता है। कठोर और ओजःप्रधान रसों - रौद्र आदि का निवेशन लाटी और गौडी रीति में किया जाना चाहिये[१३]।

रीतियों का विवेचन राजशेखर ने आलङ्कारिक रूप से किया तथा उनके साथ प्रवृत्तियों और वृत्तियों का सम्बन्ध भी स्थापित किया। राजशेखर का कथन था -

भारत की चारों दिशाओं में काव्यपुरुष ने भ्रमण किया। जिस दिशा में उसने जिस भाषा का प्रयोग किया, उसका अनुकरण करने पर वहां उस प्रकार की रीति प्रचलित हुई। इस प्रकार पूर्व में गौडी, पाञ्चाल में पाञ्चाली, अवन्ती में भी पाञ्चाली और दक्षिण में वैदर्भी रीति प्रचलित हुई। साहित्यवधू के अनुकरण में पूर्व देशों में भारती वृत्ति और औड्रमागधी प्रवृत्ति प्रचलित हुई। पाञ्चाल देश में सात्त्वती और आरभटी वृत्ति तथा पाञ्चालमध्यमा प्रवृत्ति ने जन्म लिया। अवन्ती में सात्त्वती और कैशिकी वृत्ति और आवन्ती प्रवृत्ति का प्रचलन हुआ। विदर्भ देश में कैशिकी वृत्ति तथा दाक्षिणात्या प्रवृत्ति प्रचलित हुई।

इन रीतियों, वृत्तियों और प्रवृत्तियों को निम्न तालिका के अनुसार प्रदर्शित किया जा सकता है -

देश	रीति	वृत्ति	प्रवृत्ति
गौड	गौडी	भारती	औड्रमागधी
पाञ्चाल	पाञ्चाली	सात्त्वती-आरभटी	पाञ्चालमध्यमा
अवन्ती	पाञ्चाली	सात्त्वती-कैशिकी	आवन्ती
विदर्भ	वैदर्भी	कैशिकी	दाक्षिणात्या

राजशेखर ने रीतियों का आधार वचनविन्यासक्रम को बताया। काव्यपुरुष द्वारा प्रचुरसमासयुक्त, अनुप्रासयुक्त तथा योगप्रवृत्तिपरम्परागर्भ वचन का उच्चारण करने पर गौडी रीति बनी। अल्पसमासयुक्त तथा उपचारगर्भवचन का उच्चारण करने पर पाञ्चाली रीति हुई। समासरहित, स्थानानुप्रासयुक्त तथा योगवृत्तिगर्भवचन का उच्चारण करने पर वैदर्भी की रचना हुई।

इससे सिद्ध है कि राजशेखर गौडी रीति में दीर्घ समास, पाञ्चाली रीति में अल्पसमास और वैदर्भी रीति में समासरहित पदविन्यास मानते थे। 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने यद्यपि तीन ही रीतियों की चर्चा की है, तथापि 'कर्पूरमञ्जरी' रूपक में उन्होंने मागधी रीति का भी प्रतिपादन किया है। इन सभी रीतियों में उन्होंने वैदर्भी रीति के प्रति अधिक आदर प्रकट किया है। राजशेखर ने काव्य में रीतियों को रस का परिस्रावक अनिवार्य तत्त्व माना है[१४]।

रीतियों के चिन्तन में भोज का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। भोज ने 'शृङ्गारप्रकाश' में पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी इन चार रीतियों की विवेचना की थी। परन्तु 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में उन्होंने दो अन्य रीतियों - आवन्तिका और मागधी की भी कल्पना की। इस प्रकार उन्होंने ६ रीतियों का प्रतिपादन किया। रीतियों की विवेचना में भोज ने राजशेखर का अनुकरण किया है। 'अग्निपुराण' में चार रीतियों का वर्णन है। इसमें या तो भोज का अनुकरण है या भोज ने 'अग्निपुराण' का अनुकरण किया है। सिंहभूपाल ने रीतियों की विवेचना करने में भोज का अनुकरण किया है। भोज ने गुण और समास दोनों को रीतियों का आधार माना था।

रीति के इतिहास में कुन्तक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुन्तक ने रीति पद का प्रयोग न करके मार्ग पद का प्रयोग किया था। उन्होंने वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौडी रीति को विचित्र मार्ग तथा पाञ्चाली रीति को मध्यम मार्ग नाम दिया।

कुन्तक के अनुसार इन मार्गों का भौगोलिक महत्त्व नहीं है। अपितु वे कवि के आन्तरिक गुणों एवं स्वभाव की बाह्य अभिव्यक्ति हैं। मार्ग का सम्बन्ध कवि-स्वभाव से है। कवि के स्वभाव अनन्त होने से मार्ग भी अनन्त हो सकते हैं। परन्तु इनको तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। कुन्तक ने कालिदास आदि को सुकुमार मार्ग का, मातृगुप्त आदि को मध्यम मार्ग का और बाणभट्ट, भवभूति आदि को विचित्र मार्ग का साधक बताया है।

कुन्तक ने इन मार्गों के साधारण और विशिष्ट धर्मों का प्रतिपादन भी किया है। सुकुमार मार्ग के चार विशिष्ट गुण हैं - माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। विचित्र मार्ग के भी ये ही चारों विशिष्ट गुण हैं। परन्तु इस मार्ग में ये गुण पहले मार्ग की अपेक्षा अतिशययुक्त हो जाते हैं। ये प्रयत्नसाध्य बाह्य शोभा के उत्पादक होते हैं। मध्यम मार्ग में ये चारों गुण होते हैं, जिनमें अन्य मार्गों की विशिष्टता होती है।

शारदातनय ने वचनविन्यासक्रम को रीति का आधार माना। उन्होंने प्राचीन चार रीतियों - वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडी और लाटी का वर्णन करके दो अन्य रीतियों - सौराष्ट्री और द्राविडी का भी प्रतिपादन किया[१५]। वे देश-विशेष के साथ रीतियों के सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।

'अलङ्कारसंग्रह' में अमृतानन्द योगी ने चार प्रकार की रीतियों का प्रतिपादन करके उनको स्पष्ट रूप से काव्य की आत्मा माना था[१६]। रीतियों के स्वरूप को निर्धारित करने में उन्होंने गुण, समास एवं वर्ण इन सबका उपयोग किया है।

रीतियों के प्रतिपादन में विद्यानाथ ने वामन का अनुकरण करके तीन मुख्य रीतियों - वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडी को प्रतिपादित किया था। तथापि इन तीन रीतियों के सम्मिश्रण से उन्होंने अन्य तीन रीतियों - आवन्तिका, लाटीया और मागधी की भी उद्भावना की[१७]।

रीतियों पर ध्वनिवादी आचार्यों ने भी विचार किया था। उन्होंने पदसंघटना की विशेषता को तो रीति कहा, परन्तु इसको काव्य का बाह्य तत्त्व ही माना। आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार पदों की रचना माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है[१८]।

मम्मट के अनुसार वर्णों का विशिष्ट विन्यासक्रम ही रीति है। वे रीति का समावेश वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार के अन्तर्गत ही कर लेते हैं। वृत्त्यनुप्रास तीन प्रकार का है - उपनागरिका, परुषा और कोमला। इनको ही कुछ विद्वान् वैदर्भी आदि रीतियां मान लेते हैं[१९]।

मम्मट के ही समान पण्डितराज जगन्नाथ ने उपनागरिका आदि वृत्तियों एवं वैदर्भी आदि रीतियों में अभेद माना था। परन्तु उन्होंने अन्य रीतियों की विवेचना न करके केवल वैदर्भी का ही वर्णन किया है और उसकी रचना में कवि को सावधान रहने के लिये कहा है[२०]।

ध्वनिवादी आचार्यों में विश्वनाथ ने रीतियों का विशेष वर्णन करते हुये कहा -

"अंगों की रचना के समान पदों की संघटना रीति है। यह रीति रस का उपकार करती है। ये रीतियां चार हैं - वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली औा लाटी[२१]।" विश्वनाथ ने रीतियों के प्रतिपादन में वर्ण-विन्यास और समास को मुख्य हेतु के रूप में प्रतिपादित किया था।

विश्वनाथ ने रीतियों का प्रतिपादन करते हुये ध्वनिवादी आचार्यों और रीतिवादी आचार्यों के मतों का समन्वय करने का प्रयास किया है। रीति को काव्य का बाह्य तत्त्व मानने के कारण ही मम्मट ने इसका रसाभिव्यञ्जक तत्त्व के रूप में निरूपण नहीं किया। परन्तु विश्वनाथ ने रीतियों को रस का उपकारक कहा। आगे चल कर पण्डितराज जगन्नाथ ने विश्वनाथ का विरोध किया और कहा कि वर्णरचना विशेष को माधुर्य आदि गुणों का व्यञ्जक तो माना जा सकता है, परन्तु रसों का नहीं[२२]।

रीति के उद्‌भव और विकास के इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रीति तत्त्वों का व्यवहार काव्य में वामन से पहले भी था, यद्यपि उसको मार्ग के नाम से जाना जाता था। वामन से पहले काव्य के व्यवहार के दो मार्ग - वैदर्भ और गौडीय प्रतिपादित किये गये थे। रीति तत्त्व की वैज्ञानिक व्याख्या सबसे पहले वामन ने की और उसको काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया। वामन ने तीन प्रकार की रीतियां बताई थीं।

वामन के पश्चात् रीति तत्त्व पर विचार तो बहुत हुआ, परन्तु परन्तु उसको काव्य की आत्मा कहने का साहस अमृतानन्द योगी के अतिरिक्त किसी ने नहीं किया। वामन ने रीति का आधार गुणों को बताया था, परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने वर्ण-विन्यास और समास को भी उसका आधार प्रतिपादित किया। रीतियों को पहले भौगोलिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया था, परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने कवि-स्वभाव को ही उसका मुख्य आधार माना।

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था और रस आदि का समावेश कान्ति नामक गुण में कर लिया था। परन्तु उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने वर्णविन्यासक्रम और पदसंघटना को रीति नाम देकर उसको अप्रत्यक्ष रूप से रस के उपकारक के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार वामन ने जिन रीतियों को काव्य में सबसे अधिक महत्त्व दिया था, ध्वनिवादी आचार्यों ने उसको गौण रूप में परिवर्तित कर दिया।

३. रीति का लक्षण और गुणों से उसका सम्बन्ध

वामन से पूर्ववर्ती भामह और दण्डी ने काव्य में अलङ्कारों को सबसे अधिक महत्त्व दिया था। परन्तु वामन ने अनुभव किया कि काव्य में अलङ्कारों से भी सूक्ष्म कोई तत्त्व है, जिसके विना काव्य की रचना सफल नहीं हो सकती। उन्होंने घोषित किया कि वह तत्त्व रीति है। यह रीति ही काव्य की आत्मा है[२३]। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ से निर्मित अवश्य है तथा उसका सौन्दर्य काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है। परन्तु जब तक पदों की संघटना या सन्निवेश में चमत्कार नहीं होगा, काव्य में काव्यत्व नहीं हो सकेगा। वामन के अनुसार पदों की यह संघटना ही रीति है। परन्तु यह संघटना गुणविशिष्ट होनी चाहिये। इसीलिये वामन ने रीति का लक्षण किया है -

"विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। विशेषो गुणात्मा"।

अर्थात्, पदों की विशिष्ट संघटना रीति है। यहां विशेष से अभिप्राय गुणयुक्त होना है। इस प्रकार वामन ने रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया तथा गुण को रीति की आत्मा माना[२४]।

इस कथन से यह स्पष्ट है कि रीतियों का सम्पादन गुणों द्वारा होता है। वामन ने २० गुणों का विवेचन किया था। वामन से पूर्व भरत ने १० काव्यगुण बताये थे। यद्यपि भामह ने तीन गुणों - माधुर्य, ओजः और प्रसाद का कथन किया था, तथापि दण्डी ने भरतोक्त १० गुणों का कथन करके उनकी परिभाषा की थी। वामन ने भरत के १० गुणों

को तो स्वीकार कर लिया, परन्तु प्रत्येक गुण के दो विभाग करके उनकी संख्या २० कर दी - दस शब्दगुण और दस अर्थगुण। परन्तु वामन के गुणों के लक्षण भरत और दण्डी से कुछ भिन्न हैं। जैसे कि भरत ने ओज: की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है -

समासवद्भिर्विविधैर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सा तु स्वरैरुदारैश्च तदोज: परिकीर्त्यते।। नाट्यशास्त्र १६.१९।।

दण्डी की ओज: की परिभाषा निम्न है -

ओज: समासभूयस्त्वम्।।

वामन ने ओज: का लक्षण निम्न लिखा है। -

शब्दगुण - गाढबन्धत्वमोज:।। काव्यालङ्कारसूत्र ३.१.५।।

अर्थगुण - अर्थस्य प्रौढिरोज:।। काव्यलङ्कारसूत्र ३.२.२१।।

वामन के अनुसार गुण निम्न हैं -

शब्दगुण - ओज:, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति।

अर्थगुण - ओज:, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति।

वामन ने गुणों का सम्बन्ध साक्षात् रूप से रीतियों से स्थापित किया था। उन्होंने जो तीन रीतियां - वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडी प्रतिपादित की थीं। इनमें से वैदर्भी रीति में समस्त गुण समाविष्ट होते हैं। गौडी रीति में विशेषत: ओज: और कान्ति गुण आते हैं तथा पाञ्चाली रीति में विशेष रूप से माधुर्य और सुकुमारता का समावेश होता है[२५]। वामन से पूर्व रीति या मार्ग का सम्बन्ध भौगोलिक रूप से प्रतिपादित किया गया था। वामन ने इसको स्वीकार तो किया, परन्तु इसके साथ ही रीतियों को देश-विशेष से ही न बांध कर काव्य के व्यवहार के रूप में भी प्रतिपादित किया[२६]।

वामन के इस रीति-लक्षण को प्राय: सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया था तथा गुणों के साथ रीतियों का साक्षात् सम्बन्ध माना था। परन्तु रुद्रट ने समास का सम्बन्ध भी रीतियों के साथ स्थापित किया। ध्वनिवादी आचार्यों ने वर्णविन्यास को भी रीतियों के साथ स्थापित कर लिया।

४. रीतियों की संख्या

वामन से पूर्व भामह और दण्डी ने वैदर्भ और गौड दो मार्गों का प्रतिपादन किया था। दण्डी ने कवि के व्यवहार को मार्ग बता कर यद्यपि उनकी अनन्तता कही थी, तथापि उन मार्गों को वैदर्भ और गौड इन दो भागों में विभक्त किया[२७]। वामन ने रीतियों की संख्या तीन - वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली प्रतिपादित की और उनकी वैज्ञानिक व्याख्या की। रुद्रट ने इस संख्या में एक की और वृद्धि की। उसने इनमें एक लाटी रीति को जोड़ कर चार रीतियां प्रतिपादित कीं।

काव्यशास्त्र में आचार्यों ने रीतियों की संख्या तीन या चार प्रतिपादित की थी। वामन, राजशेखर, कुन्तक, आनन्दवर्धन, उद्भट, मम्मट, हेमचन्द्र, विद्याधर, सिंहभूपाल, जगन्नाथ आदि आचार्य रीतियों की संख्या तीन ही मानते हैं, जबकि रुद्रट, वाग्भट प्रथम, अमृतानन्द योगी, जयदेव, विश्वनाथ आदि आचार्य रीतियों की संख्या चार प्रतिपादित करते हैं।

कुछ आचार्यों ने रीतियों की संख्या इससे भी अधिक बताई है। भोज ने वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी रीति में आवन्तिका और मागधी को जोड़ कर रीतियों की संख्या ६ कर दी। नरेन्द्रप्रभ सूरि रीतियों की संख्या १२ बताते हैं। शारदातनय ने रीतियों के प्रसिद्ध चार भेदों में सौराष्ट्री और द्राविडी को जोड़ कर यह संख्या ६ की थी। कुछ प्राचीन आचार्य १०५ रीतियों से परिचित थे, परन्तु उन्होंने उनका विवेचन नहीं किया।

विद्याधर ने रीतियों की संख्या तो तीन ही मानी थी - वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली, परन्तु उन्होंने इन तीन रीतियों के सम्मिश्रण से तीन अन्य रीतियों - आवन्तिका, लाटीया और मागधी का भी प्रतिपादन किया था।

५. रीतियों के नियामक तत्त्व

रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक वामन ने रीति के नियामक तत्त्वों की व्याख्या नहीं की थी। परन्तु ध्वनि के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन ने पदसंघटनारूप रीति के लिये चार नियामक तत्त्वों की व्याख्या की थी। उनके अनुसार रसौचित्य, वक्त्रौचित्य, वाच्यौचित्य और विषयौचित्य द्वारा पदसंघटना का नियमन किया जाना चाहिये। 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में इस विषय की विशद व्याख्या की गई है। मम्मट ने संघटना आदि को गुणपरतन्त्र मानते हुये भी वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के औचित्य से इसका नियमन प्रतिपादित किया था[२८]।

६. रीति का काव्य के अन्य प्रमुख तत्त्वों से सम्बन्ध

पदसंघटनारूप रीति का रस, अलङ्कार, वृत्ति औा प्रवृत्ति से सीधा सम्बन्ध है। इस प्रकरण में इनका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

(१) रीति और रस -

वामन की दृष्टि में काव्य में सबसे अधिक महत्त्व रीति का है। वे काव्य में रस को उतना अधिक महत्त्व नहीं देते, जितना कि रसवादी आचार्य देते हैं। रीतियों के उपादान गुणों में एक कान्ति नामक गुण है। वामन ने काव्यगत रसों का समावेश इस कान्ति नामक गुण में कर लिया था। इस प्रकार वामन को काव्य में रसों की स्थिति रीति के अंग रूप में ही अभीष्ट थी, अंगी के रूप में नहीं। वामन ने कान्ति नामक गुण को गौडी रीति का आधार माना। काव्यों में तीनों रीतियों में वैदर्भी रीति को श्रेष्ठ माना गया है तथा वैदर्भी की अपेक्षा गौडी रीति निकृष्ट है। इससे भी सिद्ध होता है कि वामन ने काव्य में रस को रीतियों के अंग रूप में प्रतिपादित करके उनको नगण्य महत्त्व दिया था। परन्तु उनका यह

मत लोक-व्यवहार के विरुद्ध है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को, विशेष रूप से रसध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किश था। उनके मत में रस अंगी है और रीतियों की स्थिति अंगों की स्थिति के समान है। इसलिये आनन्दवर्धन ने पदों की संघटना में रसौचित्य को नियामक तत्त्व प्रतिपादित किया था[२९]।

(२) रीति और अलङ्कार -

"विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।", कह कर वामन ने रीति में गुण को अनिवार्य माना था। वामन के अनुसार काव्य में गुण ही सौन्दर्य के प्रतिपादक हैं। अलङ्कार तो काव्य की शोभा का अतिशय करने वाले हैं। इस प्रकार वामन गुणविशिष्ट रीति को अंगी[३०] तथा अलङ्कारों को उनका उत्कर्ष करने वाला अंग मानते हैं।

दण्डी ने काव्य के शोभाकर धर्मों को अलङ्कार कहा था। इस प्रकर दण्डी के **"काव्यशोभाकरान् धर्मानङ्कारान् प्रचक्षते"**, इस अलङ्कार-लक्षण में और वामन के **"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः"**, इस गुण-लक्षण में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार दण्डी के अलङ्कार काव्य में शोभा का सम्पादन करते हैं, उसी प्रकार वामन के गुण काव्य की शोभा को सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार वामन ने अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों को काव्य में अधिक महत्त्व दिया और अलङ्कारों को उनका उत्कर्षक अंग बना दिया। वामन के मत में रीति काव्य की आत्मा है, अन्तस्तत्त्व है एवं अलङ्कार बाह्य तत्त्व हो गये हैं। इस प्रकार वामन के अनुसार अलङ्कार काव्य की आत्मा रीति के अंगरूप होते हैं।

(३) रीति और वृत्ति -

रीति और वृत्ति के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करने के लिये वृत्ति के स्वरूप को समझना आवश्यक है। काव्य में दो प्रकार की वृत्तियां कही गई हैं - अर्थवृत्तियां और शब्दवृत्तियां। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में बताया है कि कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती चार प्रकार की वृत्तियां हैं, जो कि सभी काव्यों की मातायें हैं। इनके द्वारा ही दस रूपकों का अभिनय किया जाता है[३१]। आचार्यों ने इन वृत्तियों को अर्थवृत्ति कहा है।

इन अर्थवृत्तियों के अतिरिक्त काव्य में शब्दवृत्तियां होती हैं, जिनका सम्बन्ध पदों की संघटना से होता है। ये शब्दवृत्तियां तीन हैं - उपनागरिका, परुषा और कोमला। इन शब्दवृत्तियों को रस के अनुकूल संयोजित किया जाता है। वर्णों के क्रम द्वारा इनका नियोजन होना चाहिये। मम्मट ने अनुप्रास के दो भेदों - छेक और वृत्ति के निरूपण के प्रसंग में कहा है - नियत वर्णगत रसविषयक व्यापार वृत्ति कहलाते हैं[३२]।

'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्धन ने भी दो प्रकार की वृत्तियां कही हैं। रस आदि के अनुगुण रूप से शब्द और अर्थ का जो औचित्य से युक्त व्यवहार है, वे कैशिकी आदि वृत्तियां हैं तथा वाच्य-वाचक व्यापार उपनागरिका आदि वृत्तियां हैं[३३]।

वृत्तियों के सम्बन्ध में किये गये इस विवेचन से स्पष्ट है कि कैशिकी आदि

अर्थवृत्तियों से रीतियों का सम्बन्ध नहीं के बराबर है। यदि कुछ सम्बन्ध है भी तो अप्रत्यक्ष रूप से है। उपनागरिका आदि वृत्तियों और रीतियों में आचार्यों ने अभेद का प्रतिपादन किया है। मम्मट ने स्पष्ट रूप से उपनागरिका आदि वृत्तियों तथा वैदर्भी आदि रीतियों को एक माना है। परन्तु कुछ आचार्य वृत्ति को रीति का एक अंग मानते हैं। इसका हेतु यह है कि वृत्ति का सम्बन्ध केवल वर्णों की योजना से है, जबकि रीति का सम्बन्ध वर्णों और पदों दोनों की योजना से रहता है।

(४) रीति और प्रवृत्ति –

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में चार प्रकार की प्रवृत्तियों का वर्णन किया है – आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और औड्रमागधी[३४]।

इन प्रवृत्तियों का विचार भरत द्वारा विभिन्न प्रान्तों के वेश, भाषा, आचार और वार्ता के आधार पर किया गया है[३५]। उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रवृत्ति के निरूपण में भरत के इस मत का समर्थन किया था। देश आदि के आधार पर राजशेखर, सिंहभूपाल[३६] आदि ने इन्हीं चार प्रकार की प्रवृत्तियों का निरूपण किया था।

प्रवृत्ति और रीति के सम्बन्ध पर विचार करते हुये यह ध्यान रखना योग्य है कि प्रवृत्ति का सम्बन्ध नियत रूप से विभिन्न देशों के वेश, भाषा, आचार, व्यवहार सभी से है, जबकि रीति का सम्बन्ध केवल वचन-विन्यास से है। अतः रीति का क्षेत्र प्रवृत्ति की अपेक्षा बहुत सीमित है। इसके अतिरिक्त आचार्यों ने प्रवृत्ति को काव्य का बाह्य तत्त्व और रीति को आन्तरिक तत्त्व प्रतिपादित किया था। रीति काव्य के स्वभाव के साथ सम्बन्ध रखती है और प्रवृत्ति भूगोल से[३७]।

(५) रीति और शैली –

शैली शब्द अंग्रेजी के स्टाइल पद का हिन्दी अनुवाद है। प्राचीन भारतीय साहित्य में भी शैली पद का प्रयोग हुआ था, परन्तु भिन्न अर्थ में। इसका प्रयोग व्याख्यान-पद्धति के प्रसंग में हुआ था[३८]। साहित्यिक अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में यह प्रयोग प्राचीन काल में नहीं किया गया। आधुनिक समय में समालोचना के लिये शैली को रीति का समानार्थक कह दिया जाता है। परन्तु शैली और रीति में कुछ भेद है। ये दोनों एक नहीं हैं। अभिव्यक्ति की पद्धति को या गुण को शैली कहते हैं[३९]। शैली में वस्तुतत्त्व और व्यक्तितत्त्व ये दो मूल तत्त्व होते हैं। शैली का वस्तुतत्त्व, जो कि शब्दों के विन्यास आदि से सम्बन्धित है, रीति हो सकता है। परन्तु व्यक्तितत्त्व रीति से भिन्न है। पाश्चात्य आलोचकों ने शैली (स्टाइल) के व्यक्तितत्त्व को प्रधानता दी है[४०]। परन्तु भारतीय रीति वस्तु (विषय) प्रधान होने से व्यक्तितत्त्व को पूर्णतः प्रकट नहीं करती। अतः शैली को रीति से पूर्णतया अभिन्न नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत रीति को शैली के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

६. रीतियों की परस्पर श्रेष्ठता

वामन ने गौडी, वैदर्भी और पाञ्चाली , इन तीन रीतियों को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया था। इन तीनों रीतियों में भी उसने वैदर्भी रीति को अधिक सहृदयाह्लादक कहा था। इसका हेतु उसने दिया कि वैदर्भी रीति गुणों के स्फुटत्व एवं समग्र गुणयुक्त होने से सबसे श्रेष्ठ है। वैदर्भी रीति में एक ऐसा सहृदयाह्लादक अलौकिक पाक उदित होता है, जिसको पाकर शब्दसौन्दर्य चमकने लगता है।

वामन से पूर्व तथा वामन के पश्चात् भी प्रायः सभी आलोचकों ने वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता सम्पादित की थी। केवल कुन्तक ही ऐसे आचार्य हुये, जिन्होंने इनमें उत्तम, मध्यम या अधम भाव स्वीकार नहीं किया[४१]।

वामन से पहले दण्डी ने वैदर्भ तथा गौड, इन दोनों मार्गों में वैदर्भ मार्ग को उत्तम तथा गौड मार्ग को निकृष्ट बताया था। उसका हेतु उन्होंने यह दिया, क्योंकि वैदर्भ मार्ग में दसों गुण विद्यमान रहते हैं[४२]।

वामन के पश्चात् भी अधिकांश समालोचकों और कवियों ने वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। राजशेखर ने वैदर्भी रीति को सबसे श्रेष्ठ बताया था, क्योंकि विदर्भ देश के वत्सगुल्म नगर में कामदेव का क्रीडावास है एवं सरस्वती के पुत्र काव्यपुरुष ने यहां काव्यवधू से विवाह किया था[४३]। यह वैदर्भी वाणी श्रोत्रलेह्य मधुरिम मधु को प्रवाहित करती है[४४]।

कालिदास को काव्य-रचना के लिये उतना महान् यश इसी कारण प्राप्त हुआ था, क्योंकि उन्होंने वैदर्भी रीति में काव्य की रचना की थी। दण्डी ने कालिदास के वैदर्भ मार्ग की निम्न शब्दों में प्रशंसा की थी -

लिप्ताः मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विष्टया गिरा।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्।।

परिमलगुप्त ने वैदर्भ मार्ग को खड्ग की धारा के समान बताया था, जो कि प्राचीन कवियों - कालिदास, भर्तृमिण्ठ आदि द्वारा प्रदर्शित किया गया था[४५]।

धनपाल ने 'तिलकमञ्जरी' में वैदर्भी रीति के प्रति अधिक पक्षपात अभिव्यक्त किया है[४६]। बिह्लण ने भी वैदर्भी रीति की प्रचुर प्रशंसा की थी। यह रीति कानों में अमृत बरसाती है, सरस्वती के विलासों की जन्मभूमि है और किन्हीं भाग्यशाली कवियों को ही प्राप्त होती है[४७]।

श्रीहर्ष ने वैदर्भी रीति की अत्यधिक प्रशंसा की थी। उनकी नायिका दमयन्ती भी वैदर्भी ही थी। वह वैदर्भी धन्य थी, जिसने अपने उदार गुणों से नैषध (काव्य तथा काव्य का नायक नल) को भी आकृष्ट कर लिया था[४८]।

वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुये नीलकण्ठ दीक्षित ने यहां तक कहा है -

"यह वैदर्भी रीति आस्वाद्य पदार्थों में प्रथम है, इस पर आरोहण करना कवियों के

कौशल की पराकाष्ठा है, यह सरस्वती का नि:श्वास है और इसमें शृङ्गार आदि नवों रस अत्यन्त स्वादिष्ट लगते हैं। पाञ्चाली रीति तो कवियों की निरी परम्परा है। यदि कवि की वाणी में वैदर्भी है तो स्वर्ग और मोक्ष का आनन्द भी तुच्छ ही है[४९]।"

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि संस्कृत के केवल समालोचकों ने ही नहीं, अपितु कवियों ने भी वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी।

७. रीति के काव्य-आत्मत्व की समीक्षा

अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्यों की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य के मूल रूप का अधिक उत्तम रूप से विश्लेषण किया था। इन आचार्यों ने रीति का सम्बन्ध कवि-स्वभाव के साथ संयुक्त करके कहा था -

"कवि अपने स्वभाव के अनुसार विषय के अनुरूप पदों की योजना जिस रूप में करता है, वही रीति है।" इस प्रकार काव्य के तत्त्व की समीक्षा को अधिक सूक्ष्मता और वैज्ञानिकता से करने में वे आचार्य अलङ्कारवादी आचार्यों की अपेक्षा अधिक सफल हुये थे।

भामह और दण्डी ने काव्यगत रीति को मार्ग नाम देकर दो मार्गों - वैदर्भ और गौड का निर्देश किया था। वामन ने एक तीसरे मार्ग पाञ्चाल को जोड़ कर तीन रीतियों को काव्य की आत्मा माना। यद्यपि वामन के पश्चात् और ध्वनि युग के आरम्भ में रीति को काव्य की आत्मा के रूप में महत्त्व प्राप्त नहीं रह गया था, तथापि वामन के टीकाकार तिप्पभूपाल एवं 'अलङ्कारसंग्रह' के रचयिता अमृतानन्द योगी ने काव्य-समीक्षा में रीति को महत्त्व दिलाने का प्रयत्न किया।

दण्डी ने काव्य की शोभा के आधायक सभी तत्त्वों को अलङ्कार कहा था[५०]। इस प्रकार उनके मत में गुण भी अलङ्कारों के अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु वामन ने गुणों और अलङ्कारों में पार्थक्य को स्पष्ट किया। उन्होंने काव्य की शोभा को करने वाले तत्त्वों को गुण कहा तथा उस शोभा के अतिशय को आपादित करने वाले तत्त्वों को अलङ्कार नाम दिया[५१]। इस प्रकार गुणों और अलङ्कारों के भेद को प्रदर्शित करके वामन ने अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्त्व दिया। गुण काव्य में नियत रूप से रहते हैं और उनके विना काव्य में शोभा उत्पन्न नहीं हो सकती[५२]।

काव्य की शोभा का एकमात्र आधायक धर्म गुण हैं। जिस प्रकार यौवन से रहित अंगना के शरीर में अलङ्कार शोभा का आधान नहीं कर सकते, उसी प्रकार गुणों से रहित काव्य भी केवल अलङ्कारों की योजना से रुचिकर तथा आकर्षक नहीं बन सकता[५३]। इस प्रकार वामन ने गुणों को काव्य का अन्तरंग साधन प्रतिपादित किया और वे ध्वनिवादी आचार्यों के अधिक समीप पहुंच सके थे। ध्वनिवादी भी गुणों को काव्य का नित्यधर्म मानते हैं।

वामन की पदरचनारूप रीति की विशिष्टता पदगत तथा पदार्थगत सौन्दर्य से अनुप्राणित है। शब्दगत और अर्थगत गुण इसके आधारतत्त्व हैं। ये गुण वस्तुतः काव्य की

शैलियां ही हैं। इनके आधार पर कवि काव्य की रचना करता है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इस ध्वनि को काव्य की मूल आत्मा प्रतिपादित किया था। वामन ने काव्य में रस के महत्त्व को तो स्वीकार किया था, परन्तु उन्होंने इसका समावेश कान्ति नामक अर्थगुण में किया। कान्ति का अर्थ है - दीप्तरसत्व। शृङ्गार आदि रस जहां उद्दीप्त होते हैं, वहां कान्ति नामक गुण होता है। रसों का अन्तर्भाव गुणों में ही करके वामन ने भामह और दण्डी के समान रसवद् आदि अलङ्कारों का विधान नहीं किया। इस प्रकार रसों का गुणों में अन्तर्निवेश करके वामन ने काव्य में रस की महत्ता स्वीकार की थी।

वामन के अनन्तर न तो अलङ्कारवादी आचार्यों ने और नाहीं ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा माना। रीति की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुये भी उन्होंने उसको काव्य के बहिरंग के रूप में सिद्ध किया।

रीति का प्रतिपादन पहले तो भौगोलिक आधार पर हुआ था, तदनन्तर समास के आधार पर उसका प्रतिपादन किया गया। इस अभिधान में रुद्रट प्रमुख थे। रुद्रट ने लिखा है -

"असमासा रचना में वैदर्भी, दो या तीन पदों के समास वाली रचना में पाञ्चाली तथा समासबहुला रचना में गौडी रीति होती है।" उन्होंने एक और चौथी रीति लाटी का भी प्रतिपादन किया था। इसमें ५-७ पदों का समास होता है[५४]।

रीतियों की संख्या के विषय में भी एक मत नहीं रहा। पहले भामह और दण्डी ने वैदर्भ और गौड इन दो मार्गों का प्रतिपादन किया था। इसके पश्चात् वामन ने पाञ्चाली को जोड़ कर तीन रीतियों का प्रतिपादन किया। रुद्रट ने उनमें लाटी रीति को और जोड़ दिया। राजशेखर ने वैदर्भी,गौडी और पाञ्चाली के साथ मागधी नाम की चौथी रीति बताई। भोजराज ने छः रीतियों को बताते हुये वामन की तीन रीतियों में लाटी, आवन्तिका और मागधी का समावेश किया था। शारदातनय के अनुसार प्राचीन आचार्यों ने १०५ रीतियों की चर्चा की थी।

ध्वनिवादी आचार्यों में भी रीतियों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद रहा। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि ने तो रीतियों की संख्या तीन ही - वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली बताई थी, परन्तु विश्वनाथ ने इनमें लाटी को भी जोड़ कर रीतियों की संख्या चार कर दी।

परन्तु अधिकांश आचार्यों ने रीतियों की संख्या तीन ही स्वीकार की थी। इसके अनेक हेतु हो सकते हैं। कवि-स्वभाव के अनुसार रीतियां तीन ही हो सकती हैं। कोमल स्वभाव से वैदर्भी, कठोर स्वभाव से गौडी और मध्यम स्वभाव से पाञ्चाली रीति होती है। पदसंघटना या समास के आधार पर भी रीतियां तीन ही हो सकती हैं। असमासा या अल्पसमासा के आधार पर वैदर्भी, मध्यमसमासा के आधार पर पाञ्चाली और समासबहुला के आधार पर गौड़ी रीति हो सकती है। इस प्रकार रीतियों की संख्या तीन ही माननी चाहिये। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार की रीतियों को प्रतिपादित करना बुद्धि का व्यायाम ही है।

दण्डी का कथन है -

"कवियों के स्वभाव के अनन्त होने से कविता के मार्ग भी अनन्त हो सकते हैं तथा उनकी गणना नहीं की जा सकती[५५]।"

ध्वनितत्त्व की स्थापना हो जाने पर काव्य में रीति को वह महत्त्व तथा स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त नहीं रहा, जिसका प्रतिपादन वामन ने किया था। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना था और इसका नियमन करने वाला कोई अन्य तत्त्व काव्य में नहीं था। रीति ही काव्य के अन्य तत्त्वों की नियामक थी। परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति को काव्य का बहिरंग तत्त्व प्रतिपादित करके रस को उसका मुख्य नियामक माना। रस के अतिरिक्त वक्ता, वाच्य एवं विषय के औचित्य भी रीति के नियामक तत्त्व समझे गये। इस प्रकार रस, वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य से नियमित करके आनन्दवर्धन ने रीति को परतन्त्र बना दिया।

रीति की यह परतन्त्रता सर्वथा समुचित थी। काव्यों में सबसे अधिक महत्त्व रस और ध्वनि का है। उनके रहने पर ही सहृदय काव्य में आह्लाद का अनुभव करता है। काव्य की रचना उसी के निमित्त से की जाती है। पदसंघटनारूप रीति, जो कि उक्तिविशेषमात्र है, रस आदि के उत्कर्ष का कारण हो सकती है, स्वयं में काव्य की आत्मा नहीं हो सकती।

आनन्दवर्धन ने काव्य में रीति के महत्त्व को तो स्वीकार किया था, परन्तु केवल साधन के रूप में ही, साध्य के रूप में नहीं। रीति काव्य के आत्मरूप रस के उत्कर्ष का साधन है, स्वयं में साध्य नहीं है। इसलिये आनन्दवर्धन ने कहा -

"रीतिवादियों ने अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस काव्य तत्त्व की व्याख्या करने में असमर्थ होकर रीतियों का प्रवर्तन किया था[५६]।"

मम्मट ने काव्य में रीतियों को और भी कम महत्त्व प्रदान किया था। उन्होंने वामन के मत का अनेक स्थानों पर प्रबल खण्डन किया। पहले तो उन्होंने वामनोक्त २० गुणों पर आक्षेप किया। वामन के १० अर्थगुणों को उन्होंने गुण ही नहीं माना। पुन: उनके १० शब्दगुणों का खण्डन करके तीन ही गुणों के अस्तित्व को स्वीकार किया। इसके पश्चात् वर्णसंघटना को माधुर्य आदि गुणों का अभिव्यञ्जक प्रतिपादित किया।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में रीतियों के महत्त्व को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया। उनका मत था कि यदि रीतियों का अस्तित्व है भी, तो उनका समावेश वृत्त्यनुप्रास नामक अलङ्कार में हो जाता है। वृत्त्यनुप्रास तीन प्रकार का होता है - उपनागरिका, परुषा और कोमला। उनको ही वामन वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीति कह देते हैं[५७]।

रीतियों को इस प्रकार काव्य का बहिरंग साधन मानने तथा विशेष महत्त्व का न मानने के कारण ही आनन्दवर्धन और मम्मट ने उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझी होगी।

परन्तु रीतियों को काव्य का बहिरंग मानते हुये भी विश्वनाथ ने इनके महत्त्व का

अनुभव किया। उन्होंने 'साहित्यदर्पण' का पूरा नवां परिच्छेद रीतियों के स्वरूप का प्रदर्शन करने के लिये रखा। परन्तु विश्वनाथ ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया, अपितु इसको रसों के उपकारक के रूप में प्रतिपादित किया। विश्वनाथ के अनुसार पदसंघटना रूप रीति की स्थिति काव्य के रसों के उपकारक के रूप में रहती है[५८]। परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ इससे एक और पग आगे बढ कर कहते हैं -

"वर्णरचनारूप रीतियां माधुर्य आदि गुणों की अभिव्यञ्जक कही जा सकती हैं, न कि वे रसों की अभिव्यञ्जक हैं[५९]।"

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्य में रीति का महत्त्व तो निश्चित रूप से है, परन्तु वह साधन के रूप में है, न कि साध्य के रूप में। कवि का काव्यत्व तो उसमें निहित सहृदयाह्लादकत्व में होता है, जो कि रसादि ध्वनि में है। पदों की संघटनारूप रीतियां इन रसादि तत्त्वों का उन्मीलन करती हैं और उनका उपकार करती हैं। साधनरूप इन रीतियों को काव्य का सर्वस्व, आत्मरूप मान लेना उचित नहीं है। इनका महत्त्व काव्य के अंगी रूप में न होकर अंग रूप में ही है।

रीति को काव्य का बहिरंग साधन मान कर भी काव्य की समालोचना में वामन के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। अलङ्कारवादियों की अपेक्षा वामन काव्य के आत्मत्व के अधिक निकट पहुंच गये थे। वामन ने रीतियों का भव्य प्रासाद गुणों के आधार पर निर्मित किया था। काव्य की शोभा के आधायक गुण, रस के अनिवार्य धर्म हैं। रस का अस्तित्व काव्य में स्थिर रूप से होने पर वे उपस्थित रस का नियत रूप से उपकार करते हैं। विना गुणों के काव्य में काव्यत्व नहीं रह सकता। अतः रीति को काव्य की आत्मा न मानने पर भी काव्य में उसका महत्त्व असन्दिग्ध है।

....

सन्दर्भ -

१. काव्यालङ्कारसूत्र १.२.७-८।।
२. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।। काव्यालङ्कारसूत्र ३.१.१।।
३. ऋग्वेद २.२७ १४।।
४. ऋग्वेद २.३९.५।।
५. ऋग्वेद ५.४८.४।।
६. रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः।। काव्यमीमांसा पृ० ३।।
७. विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या।। काव्यालङ्कारसूत्र १.२.१।।
८. न पुनः देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।। ऊपर के सूत्र पर वामन की वृत्ति।।

९. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।। काव्यादर्श १. ४०।।

१०. इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणम्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः।। काव्यादर्श १. १०१।।

११. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।। काव्यादर्श १. ४१-४२।।

१२. वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव। रुद्रट काव्यालङ्कार २. ६।।
पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ।।
द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति लाटीया।। रुद्रट काव्यालङ्कार २. ४-५।।

१३. इह वैदर्भी रीतिः पाञ्चाली वा विचार्य करणीया।
मधुरा ललिते कविना कार्ये वृत्ति तु शृङ्गारे।। रुद्रट काव्यालङ्कार १४. ३७।।
वैदर्भी पाञ्चाली प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयगौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्।। रुद्रट काव्यालङ्कार १५. २०।।

१४ सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तत्र विना येन परिस्रवति वाङ्मधु।। काव्यमीमांसा।।

१५. बुद्ध्यारम्भानुभावेषु रीतिः प्रथममुच्यते।
रीतिर्वचनविन्यासक्रमः सापि चतुर्विधा।।
तत्र वैदर्भपाञ्चाललाटगौडविभागतः।
सौराष्ट्री द्राविडी चेति रीतिद्वयमुदाहृतम्।। भावप्रकाशन पृ० ११।।

१६. रीतिरात्मात्र काव्यस्य कथ्यते सा चतुर्विधा। अलङ्कारसंग्रह ५. १०।।

१७. एतासामेव साङ्कर्याद् भवन्त्यावन्तिकादयः।
पार्थक्येन ततोऽस्माभिर्नाभ्यधीयन्त ताः पुनः।। एकावली ५. १३।।

१८. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् ....।। ध्वन्यालोक ३. ६।।

१९. केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः। काव्यप्रकाश ९. ८१।।

२०. अस्याश्च निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम्, अन्यथा तु परिपाकभंगः स्यात्।
रसगङ्गाधर पृ० ११७।।

२१. पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।।
वैदर्भी चात्र गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा।। साहित्यदर्पण ९.१-२।।

२२. वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वम्। गौरवान्मानाभावाच्च।। रसगङ्गाधर प्रथम आनन।।

२३. रीतिरात्मा काव्यस्य।। काव्यालङ्कारसूत्र १.२.२६।।

२४. काव्यालङ्कारसूत्र १.२.७-८।।

२५. काव्यालङ्कारसूत्र १.२.११-१२।।

२६. विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या। विदर्भगौडपाञ्चालेषु देशेषु तत्रस्थैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वाद् देशसमाख्या न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।।
काव्यालङ्कारसूत्र १.२.१० तथा उसकी वृत्ति।।

२७. काव्यादर्श १.१०१।।

२८. वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते।। काव्यप्रकाश ८.७७।।

२९. रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदतः।। ध्वन्यालोक ३.९।।

३०. काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।। काव्यालङ्कारसूत्र ३.१.१३।।

३१. सर्वेषामेव काव्यानां मातृकाः वृत्तयः स्मृताः।
आभ्यो विनिःसृता ह्येतद् दशरूपं प्रयोगतः।। नाट्यशास्त्र २०.४।।

३२. वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।। काव्यप्रकाश ९.७९ की वृत्ति।।

३३. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः मताः।। ध्वन्यालोक ३.३३।।
तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो व्यवहारस्ता एता कैशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः।। ऊपर की कारिका पर वृत्ति।।

३४. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली औड्रमागधी।। नाट्यशास्त्र १४.३६।।

३५. प्रवृत्तिरिति कस्मात्? उच्यते - पृथिव्यां नानादेशवेशभाषावार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।
नाट्यशास्त्र अ० १४ पृ० १६५।।

३६. तत्तद्देशोचिता भाषा क्रियाः येषां प्रवृत्तयः। रसार्णवसुधाकर १.२९।।

३७. हिन्दी साहित्य कोष (ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी) प्रथम संस्करण पृ० ७७३।।

३८. प्रायेण आचार्याणामियं शैली यत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति।।
मनुस्मृति १.४ पर कुल्लूक भट्ट की टीका।।

३९ Style is term of literary criticism viewed as specified by some and as generic by others, use to name or describe it, the manner of quality of an expression. डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर (१९६० ई०) पृ० ३५७।।

४० The choice of words, the turn of phrases, the structure of sentences, their peculiar rythm and Cadens - these are all curiously instinct with individuality of the writer.... this is enough to show that, style, I am using the word in its broadest sense is fundamentally a personal quality.

डब्लू. एच. हडसनः एन इन्ट्रोडक्शन टु दी स्टडी आफ लिटरेचर पृ० २७।।

४१. न च रीतीनामुत्तममध्यमाधमभेदेन त्रैविध्यं व्यवस्थापयितुं न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्यासम्भवात् मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति। परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्ततामवलम्बते, तैरेवानभ्युपगमात्। वक्रोक्तिजीवित पृ० ४६।।

४२ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः।। काव्यादर्श १. ४२।।

४३. तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सुल्मं नाम नगरम्। अत्र सारस्वतेयस्तां गन्धर्ववत् परिणिनाय।। काव्यमीमांसा पृ० १०।।

४४. वाग्वैदर्भी मधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम्।। बालरामायण ३. १४।।

४५. तत्त्वस्पृशस्ते कवयः पुराणाः श्रीभर्तृमेण्ठप्रमुखाः जयन्ति।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः।। नवसाहसाङ्कचरित २. ५।।

४६. वैदर्भीमिव रीतीनामधिकमुद्भासमानाम्।। तिलकमञ्जरी पृ० १३०।।

४७. अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्।। विक्रमांकदेवचरित १. ६।।

४८. धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।। नैषधीयचरित ३. ११६।।

४९. आदिः स्वादुषु या परा कवयतां काष्ठा यदारोहणे
या ते निःश्वसितं नवापि च रसा यत्र स्यदन्तेतराम्।
पाञ्चालीति परम्परापरिचितो वादः कवीनां परं
वैदर्भी यदि सैव वाचि किमितः स्वर्गेऽपवर्गेऽपि वा।। नलचरितनाटक ३. १८।।

५०. काव्यादर्श २. १।।

५१. काव्यालङ्कारसूत्र ३. १. १-२।।

५२. पूर्वे नित्याः। पूर्वे गुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।।

काव्यालङ्कारसूत्र ३.१.२ एवं उसकी वृत्ति।।

५३. यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते।।

काव्यालङ्कारसूत्र ३.१.२ की वृत्ति।।

५४. रुद्रट काव्यालङ्कार १.६ और २.४-५।।

५५. तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः।। काव्यादर्श १.१०१।।

५६. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोचितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।। ध्वन्यालोक ३.४७।।

५७. केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः।। काव्यप्रकाश ९.८१।।

५८. पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् ....।। साहित्यदर्पण ९.१।।

५९. वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्मानाभावाच्च।

रसगङ्गाधर प्रथम आनन।।

....

पांचवां अध्याय

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

१. वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रवर्तन

वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित करने वाले आचार्य कुन्तक ने काव्य की समालोचना पद्धति में एक नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया था। प्राचीन आचार्यों के मार्ग से कुछ भिन्न मार्ग का अवलम्बन करते हुये उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का प्राणभूत तत्त्व प्रतिपादित किया। आचार्य कुन्तक का कथन था -

"साहित्य की रचना के दो प्रकार के मार्ग होते हैं। एक मार्ग तो शास्त्र आदि की रचना का है, जिसमें लेखक प्रचलित शब्दों को सामान्य व्यवहार के अर्थों में प्रयुक्त करता है। दूसरा मार्ग काव्य की रचना का है। इसमें कवि सामान्य व्यवहार में प्रचलित शब्द-अर्थ से भिन्न मार्ग का अवलम्बन करता है। शास्त्र एवं लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द-अर्थ से भिन्न मार्ग का अवलम्बन ही काव्य में विचित्रता उत्पन्न करके सौन्दर्य का आधान करता है। यह विचित्रता वक्रोक्ति कहलाती है।[१] यह वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है। इसके विना काव्य में काव्यत्व नहीं हो सकता।"

२. वक्रोक्ति का ऐतिहासिक क्रम से विकास

काव्य साहित्य में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। वक्रोक्ति शब्द की रचना दो पदों - "वक्र + उक्ति" से होती है। इसका अभिप्राय है कि सामान्य लोक-व्यवहार की अपेक्षा शब्द के अर्थ को कुछ टेढे रूप में, भिन्न रूप में कहना। प्राचीन कवियों ने इस शब्द का प्रयोग वाक्छल, परिहासकथन, वचन-विदग्धता, क्रीडालाप आदि अर्थों में किया था। कालिदास, बाणभट्ट, अमरुक आदि के काव्यों में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग इन अर्थों में दृष्टिगोचर होता है।

वक्रोक्ति शब्द का काव्यशास्त्रीय प्रयोग सबसे पहले भामह ने किया था। भामह का कथन था -

"काव्य का सौन्दर्य आधायक तत्त्व अलङ्कार है और किसी भी अलङ्कार का अस्तित्व वक्रोक्ति के विना नहीं हो सकता।[२] वक्रोक्ति से रहित वाक्य में काव्यत्व नहीं होता,

यह वार्तामात्र होता है।[३]" हेतु, सूक्ष्म और लेश को भामह ने इसीलिये अलङ्कार नहीं माना, क्योंकिइसमें वक्रोक्ति नहीं है।[४] भामह ने वक्रोक्ति का स्पष्ट लक्षण नहीं किया था। भामह के विवेचन से वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति पद पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। अतिशयोक्ति का लक्षण उन्होंने दिया है -

"लोकातिक्रान्तगोचरं वचनम्"।

अर्थात्, सामान्य लोक के वचन का अतिक्रमण करने वाला वचन अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति है। लोचनकार ने इसी अतिशयोक्ति को अलङ्कारों के जीवित के रूप में कहा था। इस प्रकार भामह की दृष्टि में काव्य में अतिशयोक्ति का आधिपत्य रहता है तथा उसकी अभिव्यक्ति तीन रूपों में होती है - स्वभावोक्ति, उपमा आदि अलङ्कार और रसोक्ति।

दण्डी ने भी वक्रोक्ति को सब अलङ्कारों का मूल माना था। परन्तु उनका वक्रोक्ति का प्रतिपादन वामन से कुछ भिन्न है। दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया - स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति।[५] पदार्थों के अनेक अवस्था वाले रूप को स्वाभाविक रूप से वर्णन करने को दण्डी ने स्वभावोक्ति या जाति अलङ्कार माना था तथा उसको प्रथम अलङ्कार कहा।[६] दण्डी ने कहा -

"वक्रोक्ति किसी अलङ्कारविशेष का नाम नहीं है, प्रत्युत उपमा आदि सभी अलङ्कारों को वक्रोक्ति के रूप में देखना चाहिये।[७] इस वक्रोक्ति की शोभा श्लेष से बढती है।[८]" दण्डी ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्यायवाची मान कर अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों का मूल कहा था।[९]

भामह और दण्डी ने वक्रोक्ति को अलङ्कारसामान्य के रूप में अति व्यापक स्वीकार किया था। परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति के क्षेत्र को अत्यन्त सीमित कर दिया। इन्होंने वक्रोक्ति को एक अलङ्कारविशेष ही माना।

वामन के अनुसार वक्रोक्ति एक अर्थालङ्कार है, जिसका लक्षण है - "सादृश्य के आधार पर होने वाली लक्षणा वक्रोक्ति है।[१०]" वामन का वक्रोक्ति का यह लक्षण प्राचीन परम्परा से भिन्न है तथा दण्डी के समाधि नामक गुण में अन्तर्भूत होता है।

वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार प्रतिपादित किया था। परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसकी गणना शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत की। रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति शब्दालङ्कार है, जो वाक्छल पर आश्रित है। श्लेष और काकु के अनुसार इसके दो भेद होते हैं।[११] 'अग्निपुराण' में भी वक्रोक्ति को काकु तथा श्लेष भेद से दो प्रकार का अलङ्कार माना गया था।[१२]

इन अलङ्कारवादी आचार्यों के अनन्तर ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को कुछ अधिक व्यापक रूप प्रदान किया था। आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को एक

मानते हुये इसको काव्य-सौन्दर्य का अभिव्यञ्जक माना था। उनके अनुसार सभी अलङ्कार अतिशयोक्तिगर्भित होते हैं। महाकवियों द्वारा विरचित यह अतिशयोक्ति काव्य में अनिर्वचनीय शोभा का पोषण करती है।[१३] इस कथन के अनुसार आनन्दवर्धन ने भामह के **"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः"** वचन को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया। अभिनवगुप्त ने भी लोचन टीका में आनन्दवर्धन के दृष्टिकोण का समर्थन किया। उसने वक्रोवित और अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों में सामान्य बताया।[१४]

वक्रोक्ति के सम्बन्ध में मम्मट का दृष्टिकोण भी आनन्दवर्धन के ही समान था। यद्यपि उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार मान कर इसके श्लेष तथा काकु विशेषण से दो भेद किये थे[१५],तथापि विशेष अलङ्कार के विवेचन में उन्होंने वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को सब अलङ्कारों का प्राण प्रतिपादित किया[१६] तथा उसके पश्चात् भामह के **"सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति०"** वाक्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया।

अन्य आलङ्कारिकों की तुलना में भोज ने वक्रोक्ति को और अधिक व्यापक रूप प्रदान किया। उन्होंने कहा -

"साहित्य दो भागों में विभक्त है - वचन और काव्य। शास्त्र और लोक में जो अवक्र वचन हैं, वे वचन हैं। अर्थवाद आदि में जो वक्रता है, वह काव्य है।"[१७] भोज के अनुसार अतिशय वक्रता से युक्त काव्य-वचन में जो अभिप्राय होता है, उसी को ध्वनि कहते हैं। अलङ्कारों में वक्रोक्तिमूलता का अनुसरण करना चाहिये, क्योंकि सभी अलङ्कार वक्रोक्ति शब्दवाच्य होते हैं।

वक्रोक्ति के व्यापक रूप को प्रतिपादित करते हुये भी भोज ने वामन और दण्डी की तुलना में इसको कम व्यापक बताया है। भामह ने स्वभावोक्ति और रसवदादि अलङ्कारों सहित सभी अलङ्कारों का समावेश रसोक्ति में कर दिया था। दण्डी ने यद्यपि रसोक्ति से स्वभावोक्ति का मार्ग अलग कर दिया था, तथापि रसवदादि अलङ्कार इसमें सम्मिलित रहे थे। परन्तु भोज ने रसादि को भी वक्रोक्ति से पृथक् करके काव्य वाङ्मय को तीन वर्गों में विभक्त किया - **"स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति"**।[१८]

इस प्रकार भोज की वक्रोक्ति में स्वभावोक्ति और रसोक्ति से भिन्न सभी अलङ्कारों का समावेश हो जाता है।

कुन्तक और भोज समकालीन थे, परन्तु काव्य का समीक्षण इन दोनों ने स्वतन्त्र रूप से ही किया था। भोज ने अपनी रचनाओं में वक्रोक्ति की व्याख्या बहुत विस्तार से की थी तथा इसको काव्य में बहुत महत्त्व दिया था। परन्तु इनकी रचनाओं में अन्य विषयों का प्रतिपादन इतना अधिक था कि उनमें वक्रोक्ति का विचार और विश्लेषण पृष्ठभूमि में चला गया।

कुन्तक ने वक्रोक्ति पर विशद रूप से विचार किया और वक्रोक्ति का प्रतिपादन करने के लिये 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ की रचना की। इनके ग्रन्थ का मुख्य विषय वक्रोक्ति

ही है। अतः वक्रोक्ति के विषय में कुन्तक को ही सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। वक्रोक्ति की विशद समीक्षा करके कुन्तक ने इसको काव्य के प्राण के रूप में प्रतिष्ठित किया।

कुन्तक के उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्य में वक्रोक्ति को अधिक महत्त्व नहीं दिया और इसका काव्यशास्त्र में समावेश एक शब्दालङ्कार के रूप में होने लगा। विशेष अलङ्कार का विवेचन करते हुये मम्मट ने वक्रोक्ति को यद्यपि सभी अलङ्कारों का प्राण कहा था, तथापि 'काव्यप्रकाश' के नवें उल्लास में इसका वर्णन एक अलङ्कार के रूप में ही किया गया है।

मम्मट के पश्चात् प्रायः सभी आचार्यों ने - हेमचन्द्र, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, वाग्भट, विश्वनाथ, केशवमिश्र आदि ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार ही माना। रुय्यक, अमृतानन्द योगी आदि ने वक्रोक्ति की गणना अर्थालङ्कारों में की थी।

वक्रोक्ति को काव्य के प्राण के रूप में प्रतिपादित करके कुन्तक ने काव्य की समालोचना के क्षेत्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। उन्होंने काव्य के सौन्दर्य के आधायक सभी तत्त्वों को वक्रोक्ति में समाविष्ट कर लिया। परन्तु कुन्तक का यह अभिमत उनके पश्चात् अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका। काव्यशास्त्र के इतिहास में केवल वे ही एक ऐसे आचार्य हुये, जिन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता दी।

३. कुन्तक का काव्य-लक्षण और उनके द्वारा वक्रोक्ति के स्वरूप का निर्धारण

अन्य अलङ्कार ग्रन्थों के होते हुये भी नवीन ग्रन्थ की रचना करने का कुन्तक का उद्देश्य यह था कि वे लोकोत्तरचमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिये प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा अपूर्व काव्यालङ्कार का वर्णन कर सकें।[१९] इसी उद्देश्य को मन में रख कर कुन्तक ने काव्य के लक्षण को भी प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया था। कुन्तक का काव्य का लक्षण है -

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थिते काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।। वक्रोक्तिजीवित १.७।।

इसका अर्थ है -

"काव्य के मर्म को जानने वाले सहृदयों को आह्लादित करने वाले वक्र कवि व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिल कर काव्य कहलाते हैं।"

कुन्तक का अभिमत था - "शब्द और अर्थ के साहित्य से काव्य का शरीर निष्पन्न होता है। परन्तु इस शब्द और अर्थ में दो विशेषतायें होनी चाहियें -

(१) कवि की उक्ति प्रसिद्ध वचन-व्यापार से भिन्न वक्रता से युक्त होती है।

(२) वह उक्ति सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ होती है।

इस प्रकार कुन्तक ने अनिवार्य रूप से काव्य को वक्रोक्ति से युक्त माना था।

काव्य में वक्रोक्ति का स्वरूप क्या है, इसकी समुचित व्याख्या कुन्तक ने की थी। उनका वक्रोक्ति का लक्षण है -

"**वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।।**" वक्रोक्तिजीवित १.१।।

इसकी व्याख्या कुन्तक ने निम्न शब्दों में की थी -

"**वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्य-भङ्गीभणितिः? वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः,तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।**

कुन्तक के कथन का अभिप्राय है -

"वैदग्ध्यभङ्गीभणिति ही वक्रोक्ति है। प्रसिद्ध कथन से विलक्षण प्रकार का कथन ही वक्रोक्ति है। यह कथन वैदग्ध्य की भङ्गिमा से युक्त होता है। वैदग्ध्य का अभिप्राय है - विदग्ध का भाव, निपुण कवि के काव्य-रचना रूप कर्म का कौशल, उसकी भङ्गी, अर्थात् विच्छित्ति = चमत्कार। उसके द्वारा कथन वक्रोक्ति है। यह प्रकार विचित्र अभिधा या उक्ति ही वक्रोक्ति है।" विचित्रोक्ति या वक्रोक्ति की तीन प्रकार से व्याख्या कुन्तक ने तीन स्थानों पर की है -

(१) शास्त्र आदि के प्रसिद्ध शब्द-अर्थ के प्रयोग से भिन्न प्रयोग।[२०]

(२) लोक आदि में प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न शब्द-अर्थ का प्रयोग।[२१]

(३) लोक में प्रसिद्ध शब्द-अर्थ के व्यवहार के मार्ग को अतिक्रान्त करने वाला शब्द-अर्थ का प्रयोग।[२२]

इन सभी व्याख्याओं का अभिप्राय यह है कि वर्णन की शैली दो प्रकार की है। एक तो लोक, शास्त्र आदि के सामान्य अर्थ में होती है और दूसरी उससे भिन्न लोकोत्तर चमत्कारकारी होती है। लोकोत्तर चमत्कारकारी वर्णन शैली ही विचित्रोक्ति या वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति जिस वर्णन में होती है, वही काव्य होता है।

कुन्तक द्वारा की गई वक्रोक्ति की इस परिभाषा का उत्तरवर्ती आचार्यों ने समर्थन किया था। 'व्यक्तिविवेक' के लेखक महिमभट्ट का कथन है -

"शास्त्र आदि के प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग करके चमत्कार की सिद्धि के लिये उसी अर्थ को जब दूसरे प्रकार से कहा जाता है, उसी को वक्रोक्ति कहते हैं"।[२३] ध्वनिवादी आचार्यों ने भी काव्य को लोकोत्तर वर्णना में निपुण कविकर्म कहा है।[२४]

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति में दो विशेषतायें अनिवार्य रूप से रहती हैं -

(क) प्रसिद्ध कथन की शैली से भिन्न लोकोत्तर शब्द-अर्थ का प्रयोग।

(ख) सहृदयहृदयाह्लादकारित्व।

४. वक्रोक्ति के भेद-प्रभेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेदों और प्रभेदों का विस्तृत एवं वैज्ञानिक रूप से विवेचन किया है। उन्होंने प्रतिपादित किया था कि काव्य के सभी तत्त्वों का सन्निवेश वक्रोक्ति के अन्तर्गत हो जाता है। कुन्तक के अनुसार वक्रता के मुख्य ६ भेद होते हैं[२५] -

(i) वर्णविन्यासवक्रता, (ii) पदपूर्वार्द्धवक्रता, (iii) प्रत्ययवक्रता, (iv) वाक्यवक्रता, (v) प्रकरणवक्रता और (vi) प्रबन्धवक्रता।

(i) वर्णविन्यासवक्रता -

वर्णविन्यासवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने व्यञ्जन वर्णों के सौन्दर्य के प्रकारों का विवेचन किया है। रचना में एक, दो या दो से अधिक व्यञ्जन वर्णों का स्वल्प अन्तर से पुनः उपनिबन्धन वर्णविन्यासवक्रता है। अनुप्रास एवं यमक अलङ्कारों का, तीनों वृत्तियों का और रीतियों का अन्तर्भाव इसी वक्रता में हो जाता है।

(ii) पदपूर्वार्द्धवक्रता -

शब्द की रचना धातु या प्रातिपदिक रूप पद एवं प्रत्यय के संयोग से होती है। इनमें पहले को पदपूर्वार्द्ध या प्रकृति कहते हैं। दूसरे को परार्द्ध या प्रत्यय कहते हैं। प्रकृति या पूर्वार्द्ध का विन्यास-वैचित्र्य पदपूर्वार्द्धवक्रता या प्रकृतिवक्रता है। कुन्तक ने इसके ९ भेद किये हैं -

(क) रूढिवैचित्र्यवक्रता, (ख) पर्यायवक्रता, (ग) उपचारवक्रता, (घ) विशेषणवक्रता, (ङ) संवृतिवक्रता, (च) वृत्तिवक्रता, (छ) भाववैचित्र्यवक्रता, (ज) लिङ्गवैचित्र्यवक्रता, और (झ) क्रियावैचित्र्यवक्रता।

इनमें रूढिवैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने ध्वनिवादियों की अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का और उपचारवक्रता के अन्तर्गत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का समावेश कर दिया है।

(iii) प्रत्ययवक्रता -

प्रत्ययवक्रता को पदपरार्द्धवक्रता भी कहते हैं। पद के उत्तरार्द्ध में स्थित सुप्, तिङ् आदि प्रत्ययों के विन्यास के सौन्दर्य का इसमें अन्तर्भाव होता है। इसके प्रमुख भेद ६ हैं -

(क) कालवैचित्र्यवक्रता, (ख) कारकवक्रता, (ग) वचनवक्रता, (घ) पुरुषवक्रता, (ङ) उपग्रहवक्रता और (च) प्रत्ययवक्रता।

(iv) वाक्यवक्रता -

पदसमूह या वाक्यविन्यास के सौन्दर्य का नाम वाक्यवक्रता है। इसको वस्तुवक्रता भी कहा गया है। कुन्तक ने इसके दो रूप कहे हैं - सहज और आहार्य। अपने से पूर्ववर्ती सभी आलङ्कारिकों द्वारा निर्दिष्ट उपमा आदि अलङ्कारों का अन्तर्भाव इस वक्रता के अन्तर्गत करने

का प्रयत्न कुन्तक ने किया है। इसी के अन्तर्गत रसवद् आदि अलङ्कार आ जाते हैं।

(v) प्रकरणवक्रता -

प्रबन्ध के एक देश को प्रकरण कहा जाता है। प्रकरणों के परस्पर सहयोग से प्रबन्ध की उत्कृष्टता होती है। प्रकरण के लोकोत्तर विन्यास से प्रकरणवक्रता का सम्पादन होता है। प्रकरण में यह वक्रता ९ प्रकार से पाई जा सकती है -

(क) पात्रों के चरित्र के वैशिष्ट्य से।

(ख) नवीन प्रसंग का उत्पादन करके।

(ग) प्रकरण को प्रधान कार्य प्रबन्ध के प्रति उपकारक के रूप में रखने से।

(घ) भावपूर्ण स्थल का विस्तार करने से।

(ङ) रोचक बाह्य वर्णनों - प्रकृति-चित्रण आदि के विस्तार से।

(च) प्रधान रस के उत्कर्षक प्रकरण की कल्पना से।

(छ) प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिये नूतन प्रसंगों की अवधारणा करने से।

(ज) गर्भाङ्क के विधान से।

(झ) प्रकरणों में पूर्वापर अन्विति के क्रम में मुख आदि सन्धियों का विधान करने से।

(vi) प्रबन्धवक्रता -

सम्पूर्ण प्रबन्ध की दृष्टि से विन्यास के सौन्दर्य को प्रबन्धवक्रता कहा जाता है। कुन्तक ने इसके ६ भेदों का वर्णन किया है -

(क) मूलरसपरिवर्तनवक्रता, (ख) समापनवक्रता, (ग) कथाविच्छेदवक्रता, (घ) आनुषङ्गिकवक्रता, (ङ) नामकरणवक्रता और (च) तुल्यकथावक्रता।

इन ६ प्रकार की वक्रताओं की कुन्तक ने विस्तृत व्याख्या की थी। इसके साथ उसका यह भी कहना है कि वक्रताओं के अन्य भी प्रकार हो सकते हैं। जिस प्रकार प्रतिभाओं के अनन्त प्रकार हैं, उसी प्रकार वक्रताओं के भी अनन्त प्रकार हैं। इनमें से वक्रताओं के मुख्य भेदों का निदर्शन कर दिया गया है। शेष की कल्पना सहृदयों को स्वयं कर लेनी चाहिये[२६]।

५. वक्रोक्ति का काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ सम्बन्ध

(vii) वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति -

अलङ्कार ग्रन्थों में स्वभावोक्ति अलङ्कार के स्वरूप का भी वर्णन किया गया है। स्वभावोक्ति का समावेश वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरूप वक्रोक्ति में हो सकता है या नहीं, यह विवाद का विषय है। वर्ण्य वस्तु के स्वभाव, रूप आदि का यथावत् वर्णन करना स्वभावोक्ति है। परन्तु सामान्य मार्ग से विलक्षणता के साथ कथन करना वक्रोक्ति है।

स्वभावोक्ति अलङ्कार का सबसे पहला उल्लेख भामह के 'काव्यालङ्कार' में मिलता है। परन्तु भामह ने स्वभावोक्ति अलङ्कार को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार नहीं किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने अन्य आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है -

"कुछ आचार्य स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानते हैं। वस्तु के यथावत् स्वभाव का वर्णन कर देना स्वभावोक्ति है[२७]।"

वक्रोक्ति में भामह ने लोकातिक्रान्तगोचरता मान कर इसको अलङ्कारों का मूल माना था। स्वभावोक्ति का जो उदाहरण भामह ने दिया, उनके ही अनुसार यह वार्तामात्र है।

दण्डी ने स्वभावोक्ति को स्पष्ट रूप से अलङ्कार स्वीकार करके उसको आद्य अलङ्कार कहा। उनके अनुसार विविध पदार्थों के यथावत् रूप को प्रकट करना स्वभावोक्ति या जाति अलङ्कार है[२८]। परन्तु दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के अन्तर्गत नहीं माना। उन्होंने समस्त वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति, इन दो वर्गों में विभक्त करके वक्रोक्ति से स्वभावोक्ति को पृथक् रखा था।

उद्‌भट ने लीला विशेष वर्णन को स्वभावोक्ति मान कर उसमें पदार्थ के यथावत् वर्णन को स्वीकार किया था। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' की टीका में प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि स्वभावोक्ति में पदार्थ के असाधारण रूप का कथन होने से इसमें अलङ्कारत्व होता है[२९]।

वामन ने स्वभावोक्ति को अलङ्कार नहीं माना। उसके अनुसार वस्तु के यथावत् वर्णन का, उसकी स्पष्टता के कथन का अन्तर्भाव अर्थव्यक्ति नामक गुण में ही हो जाता है[३०]।

भोज ने स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानते हुये भी उसका अन्तर्भाव वक्रोक्ति में नहीं किया था। भोज के अनुसार काव्य के तीन मार्ग हैं - स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति[३१]।

रुद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में वास्तव वर्ग के २३ अलङ्कारों में जाति (स्वभावोक्ति) की गणना की है। पदार्थ का जैसा संस्थान, अवस्थान, क्रिया आदि होते हैं, उनका उसी प्रकार वर्णन करना जाति अलंकार है[३२]। इसकी टीका करते हुये नमिसाधु का कथन है - जाति में एक ऐसा सजीव वर्णन रहता है कि वह पाठक और श्रोता के हृदय में विशेष अनुभूति के अनुभव को उत्पन्न करता है[३३]।

वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति के सम्बन्ध पर कुन्तक ने विशेष विचार किया था। कुन्तक स्वभावोक्ति को अलङ्कार नहीं मानते। स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानने वालों के मत का उन्होंने खण्डन किया है। कुन्तक का मत है -

स्वभाव का वर्णन होने से ही स्वभावोक्ति कही जा सकती है। यह तो काव्य का शरीर

है, जो कि अलङ्कार्य है। यदि स्वभावोक्ति को ही अलङ्कार मान लिया जावेगा, तो उस स्वभाव वर्णन से अतिरिक्त काव्य की शरीर-स्थानीय अन्य कौनसी वस्तु होगी, जिसको अलङ्कार्यतया विभूषित किया जा सकेगा[३४]। अत: स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना असंगत ही है।

परन्तु महिमभट्ट ने कुन्तक के मत का प्रबल शब्दों में खण्डन किया और स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का प्रतिपादन किया। महिमभट्ट का मत है कि वस्तु का कथन दो प्रकार से होता है - सामान्य और विशिष्ट। पहला कथन जनसाधारण का और दूसरा कथन प्रतिभासम्पन्न कवियों का है। वस्तु का जो विशिष्ट रूप है, वह कवि-प्रतिभा के द्वारा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है और वह अलङ्कार बन जाता है[३५]। अत: स्वभावोक्ति में लोकोत्तरता होने से यह अलङ्कार ही है।

महिमभट्ट के अनन्तर मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र आदि सभी आचार्यों ने स्वभावोक्ति को अलङ्कार के रूप में स्वीकार कर लिया।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वभावोक्ति में लोकोत्तरता तथा सहृदया-ह्लादकता निहित होने से अधिकांश आचार्यों ने इसको अलङ्कार के रूप में स्वीकार कर लिया था। परन्तु कुन्तक इसको अलङ्कार न मान कर अलङ्कार्य ही मानते हैं।

(ii) वक्रोक्ति और रस -

कुन्तक यद्यपि चमत्कारवादी आचार्य हैं और विचित्र अभिधा रूप वक्रोक्ति को काव्य का जीवित मानते हैं, तथापि उन्होंने काव्य में रस को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। काव्य के प्रयोजन, लक्षण, गुण आदि में उन्होंने रस का प्रतिपादन किया था।

कुन्तक का कथन है -

काव्य के मर्म को जानने वाले सहृदयों के अन्त:करण में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को तिरस्कृत करने वाला काव्यामृत रस चमत्कार का विस्तार करता है[३६]। काव्य का सुकुमार मार्ग रस आदि के परम तत्त्व को जानने वाले सहृदय के मन के अनुकूल होने से रमणीय होता है[३७]।

काव्य के विभिन्न अंगों के प्रतिपादन तथा वक्रताओं के निरूपण में कुन्तक ने रस को महत्त्व दिया है। प्रबन्धवक्रता के प्रकरण में उनका कहना है कि कवि की वाणी निरन्तर रसों को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों पर अवलम्बित रहती है न कि कथामात्र पर[३८]।

काव्य की वस्तु के विवेचन में भी कुन्तक ने रस को महत्त्व दिया है। वर्ण्यमान वस्तु दो प्रकार की होती है - स्वभावप्रधान और रसप्रधान। इनमें रसप्रधान वस्तु उत्कृष्ट है। काव्य में चेतन और अचेतन वस्तुओं के वर्णन में चेतन ही प्रधान है, क्योंकि इसी में रति आदि भाव अक्लिष्ट रूप से पुष्ट होकर रसता को प्राप्त होते हैं[३९]।

अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य में रस की उपस्थिति को रसवद् अलङ्कार मान कर इसको गौण स्थान दिया था। परन्तु कुन्तक ने ध्वनिवादी आचार्यों के समान रस

को अलङ्कार्य माना। रस को अलङ्कार इसलिये नहीं माना जा सकता,क्यों वहां रस से भिन्न किसी वस्तु की अलङ्कार के रूप में प्रतीति नहीं होती[४०]। परन्तु रस तत्त्व के विधान से कोई भी अलङ्कार यदि रस के समान ही सहृदयों को आनन्दित करे तो वहां रसवद् अलङ्कार माना जा सकता है और वह सभी अलङ्कारों का जीवित एवं काव्य का एकमात्र सार है[४१]।

ध्वनिवादियों के समान कुन्तक भी रस को व्यङ्ग्य ही मानते हैं। उद्भट के अनुसार रस वाच्य ही होता है। वह कहीं स्वशब्द से, कहीं शृङ्गार-हास्य आदि शब्दों से, कहीं स्थायी भाव से, कहीं सञ्चारी भाव से, कहीं विभावों से और कहीं अभिनय से वाच्य होता है[४२]। परन्तु कुन्तक ने रस को प्रतीयमान ही माना। इस सम्बन्ध में उनका कथन है -

"यदि शृङ्गार आदि शब्दों से ही रस का उद्रेक हो सकता है, तो घृत, अपूप आदि शब्दों के उच्चारण से ही श्रोताओं को उनके आस्वादन का अनुभव हो जायेगा।"

काव्य में रस को सबसे अधिक महत्त्व देकर भी और उसको परम तत्त्व मान कर भी कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित क्यों माना, रस को क्यों नहीं माना, यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि काव्य में रस की निष्पत्ति वक्रता के विना नहीं रह सकती, अपितु रस के विना काव्य में वक्रता रह सकती है। अतः रस के वक्रोक्ति के आधीन होने के कारण कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित कहा था।

(iii) वक्रोक्ति और अलङ्कार -

सामान्य रूप से वक्रोक्ति और अलङ्कार एक ही प्रतीत होते हैं और वक्रोक्ति सिद्धान्त को अलङ्कार सिद्धान्त का ही रूपान्तर समझा जा सकता है। वक्रोक्ति का लक्षण करते हुये कुन्तक ने शब्द-अर्थ को अलङ्कार्य मान कर वैदग्ध्यभङ्गीभणिति रूप वक्रोक्ति को उनका अलङ्कार रूप माना[४३]।

वक्रोक्ति और अलङ्कार में अनेक समानतायें हैं। दोनों में काव्य-सौन्दर्य वस्तुगत है, जो कि कवि के कौशल पर आश्रित है। वह सौन्दर्य चमत्कार के आश्रित रहता है। अलङ्कार सम्प्रदाय में अलङ्कार का चमत्कार है तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वक्रोक्ति का। दोनों ही उक्ति-वैचित्र्य हैं। दोनों अभिधाप्रधान हैं तथा इनमें रस आदि को कथन का ही एक प्रकार समझा जाता है।

अलङ्कार सिद्धान्त और वक्रोक्ति सिद्धान्त में इतनी समानता होने पर भी दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। वक्रोक्ति का क्षेत्र अलङ्कार से कहीं अधिक व्यापक है। वक्रता के अनेक रूप यदि अलङ्कार रूप हैं, तो अनेक रूप अलङ्कार के विषय नहीं हैं। वक्रोक्ति सिद्धान्त में रस को परम तत्त्व मान कर रसवत् को अलङ्कार्य कहा गया है, जबकि अलङ्कार-सिद्धान्त में रसवत् एक सामान्य अलङ्कार ही है।

अलङ्कार सिद्धान्त में स्वभावोक्ति एक सामान्य अलङ्कार है, जबकि वक्रोक्ति

सिद्धान्त में यह उत्कृष्ट अलङ्कार्य रूप है। अलङ्कार का चमत्कार काव्य के बाह्य सौन्दर्य को प्रतिभासित करता है, परन्तु वक्रोक्ति काव्य के सूक्ष्म तत्त्वों का उन्मीलन करती है। इस प्रकार वक्रोक्ति का सिद्धान्त अलङ्कार सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक व्यापक और पूर्ण है।

(iv) वक्रोक्ति, रीति और गुण -

वक्रोक्तिकार कुन्तक ने रीति के विषय पर भी सूक्ष्म विचार किया था। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना। परन्तु कुन्तक ने कहा -

"रीति भी वक्रता का एक भेद है।" रीति के लिये कुन्तक ने मार्ग पद का प्रयोग किया था। उसने वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौडी रीति को विचित्र मार्ग और पाञ्चाली रीति को मध्यम मार्ग नाम दिया। कुन्तक से पूर्व रीति का आधार प्रायः भौगोलिक समझा जाता था, परन्तु कुन्तक ने इस आधार को नितान्त अवैज्ञानिक कह कर तीनों मार्गों का आधार कवि स्वभाव को प्रतिपादित किया। कवि स्वभावों के अनन्त होने पर भी उन्होंने इनको तीन वर्गों में विभाजित किया।

वामन ने रीतियों का आधार गुणों को बताया था। उनके अनुसार गुणों की संख्या २० है, जिनके आधार पर विभिन्न रीतियों का सम्पादन होता है। कुन्तक ने भी कवि स्वभाव को मार्ग (रीति) का आधार प्रतिपादित करके उनके साथ गुणों के सम्बन्ध की विवेचना की थी। कुन्तक ने कहा कि गुण दो प्रकार के होते हैं - सामान्य और विशेष।

सामान्य गुण दो हैं - (१) औचित्य और (२) सौभाग्य।

विशेष गुण चार हैं - (१) माधुर्य, (२) प्रसाद, (३) लावण्य और (४)आभिजात्य।

सामान्य गुणों का सम्बन्ध प्रत्येक मार्ग से रहता है, जबकि विशेष गुण प्रत्येक मार्ग के भिन्न भिन्न होते हैं।

वामन ने रीतियों का तारतम्य प्रतिपादित किया था। उनके अनुसार समग्र गुणों से युक्त वैदर्भी रीति श्रेष्ठ है एवं गौडी रीति निकृष्ट है। परन्तु कुन्तक रीतियों या मार्गों की परस्पर श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार सभी मार्ग समान रूप से ग्राह्य होते हैं।

वक्रोक्ति का क्षेत्र रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। रीति का क्षेत्र केवल पदों की संघटना तक है, जो कि वक्रोक्ति के वर्णवक्रता, प्रकृतिवक्रता, प्रत्ययवक्रता तथा वाक्यवक्रता तक पूरा हो जाता है। वक्रोक्ति का क्षेत्र इससे अधिक व्यापक है। इसमें प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता रसनिष्पत्ति का संकेत करते हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त रीति सिद्धान्त की अपेक्षा रस के अधिक समीप है।

(v) वक्रोक्ति और औचित्य -

आचार्य कुन्तक ने काव्य में औचित्य को भी बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया था। काव्य के लक्षण से लेकर प्रबन्धवक्रता तक उन्होंने औचित्य को वक्रता का प्राण माना है[४४]।

उनकी वक्रता कहीं कहीं तो औचित्य रूप ही हो गई है[४५]। कुन्तक का मत है -

"सौभाग्य के साथ औचित्य भी काव्य में सर्वसाधारण गुण है। यह काव्य के सभी मार्गों में अनिवार्य रूप से रहता है। औचित्य का किञ्चिन्मात्र भी अभाव होने पर सहृदय के आह्लाद में विघ्न उत्पन्न होता है[४६]।" कुन्तक का मत है कि जिस प्रकार काव्य के प्रत्येक अंग में - पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलङ्कार, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन आदि में वक्रता निहित रहती है, उसी प्रकार औचित्य को भी विद्यमान रहना चाहिये।

इस कथन से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति को जहां कुन्तक काव्य की आत्मा मानते हैं वहीं औचित्य को वे काव्य के प्राणतत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

औचित्य को इतना अधिक महत्त्व देने पर भी कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित क्यों कहा ? यह तो स्पष्ट है कि काव्य का मूल आधार औचित्य को मान कर भी कुन्तक औचित्य और वक्रोक्ति को एक नहीं मानते। इनको वे भिन्न भिन्न तत्त्व प्रतिपादित करते हैं। इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि कुन्तक की वक्रोक्ति और क्षेमेन्द्र का औचित्य एक ही तत्त्व नहीं हैं। औचित्य को वक्रोक्ति का अनिवार्य तत्त्व मान कर कुन्तक ने प्रतिपादित किया था -

"वक्रोक्ति वस्तुनिष्ठ है तथा यह काव्य के अंगों से अधिक सम्बद्ध है। परन्तु औचित्य का सम्बन्ध कवि के विवेक से अधिक है तथा रस के साथ भी इसका अधिक सम्बन्ध है।"

(vi) वक्रोक्ति और ध्वनि -

वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्तक, आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त से निश्चित रूप से परिचित थे। अपने ग्रन्थ में उन्होंने ध्वनिकार के नाम का और उनके सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। कुन्तक की ध्वनिकार के प्रति श्रद्धा थी तथा उन्होंने ध्वनिकार के स्वरचित पद्यों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ध्वनिकार के मङ्गल श्लोक **"स्वेच्छाकेसरिण:"** को कुन्तक ने क्रियावैचित्र्यवक्रता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

कुन्तक की वक्रोक्ति और ध्वनिकार की ध्वनि में एक ओर जहां कुछ समानता परिलक्षित होती है, वहीं दूसरी ओर विषमता भी प्रचुर है। दोनों में ही लोक में प्रसिद्ध शब्द-अर्थ का अतिक्रमण होता है, वैचित्र्य अभिधेय है और वैचित्र्य के प्रतिपादन के लिये कवि की अलौकिक प्रतिभा अनिवार्य हेतु मानी गई है। परन्तु कुन्तक वक्रोक्ति को अभिधा व्यापार मानते हैं, जो कि विचित्र अभिधा रूप वृत्ति से वाच्य होती है।

ध्वनिकार ने वाचक शब्द और वाच्य अर्थ से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को काव्य में रमणीयत्व का प्रतिपादक माना था। उसके अनुसार ध्वनिकाव्य वहां होता है, जहां वाच्य अर्थ अपने आप को और वाचक शब्द स्वयं को और अपने अर्थ को गौण बना कर

वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं[४७]।
परन्तु कुन्तक के वाचक शब्द ने व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ को भी अपने
अन्तर्गत कर लिया है। कुन्तक का कथन है कि द्योत्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थों के प्रत्येय
होने से उपचार से भी वे वाच्य हैं तथा द्योतक और व्यञ्जक शब्द भी वाचक हैं[४८]। इस
प्रकार कुन्तक आनन्दवर्धन के व्यङ्ग्य-व्यञ्जक का समावेश वाच्य-वाचक के अन्तर्गत कर
लेते हैं।

कुन्तक और ध्वनिकार के काव्य-सौन्दर्य की समीक्षा के विषय में अनेक समानतायें
परिलक्षित होती हैं। जिस प्रकार ध्वनिकार ने सुप्, तिङ्, वचन, कृत्, तद्धित, समास,
उपसर्ग, निपात, काल आदि को ध्वनि का अभिव्यञ्जक माना है[४९], उसी प्रकार कुन्तक ने
वर्णवक्रता से लेकर प्रबन्धवक्रता तक सभी में वक्रता सम्पादित की है।

कुन्तक ने अनेक विशिष्ट भेदों को वक्रोक्ति के विशिष्ट प्रकारों के अन्तर्गत समेट
लिया था। पदपूर्वार्द्धवक्रता के रूढिवैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत लक्षणामूल अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य
ध्वनि समाविष्ट की गई है। पर्यायवक्रता में शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूप ध्वनि का समावेश
है। इस तथ्य को कुन्तक ने स्वयं स्वीकार किया है[५०]।

उपचारवक्रता के अन्तर्गत ध्वनिकार की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का समावेश
हुआ है। इसका कुन्तक ने वही उदाहरण दिया है, जो ध्वनिकार ने दिया था[५१]। उत्तरवर्ती
रुय्यक आदि आचार्यों ने भी उपचारवक्रता आदि में ध्वनि के सभी भेदों का समावेश स्वीकार
किया था[५२]। इसी प्रकार कुन्तक की वस्तुवक्रता में वस्तुध्वनि का, वाच्यवक्रता में अलङ्कारध्वनि
का और प्रबन्धवक्रता में प्रबन्धध्वनि का समावेश हो जाता है।

कुन्तक ने प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। उनका
कथन है कि काव्य में विचित्र मार्ग में वाच्य-वाचक वृत्ति से अतिरिक्त वाक्यार्थ की
प्रतीयमानता भी विद्यमान रहती है[५३]।

अलङ्कारों में भी कुन्तक ने प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया था। कुन्तक के
अनुसार अलङ्कारों के दो रूप हैं - वाच्य और प्रतीयमान। प्रतीयमान अलङ्कार वाच्य
न होकर व्यङ्ग्य द्वारा प्रस्तुत होते हैं। रूपक, व्यतिरेक, निदर्शना, दीपक, उपमा आदि
अलङ्कार वाच्य होने के साथ-साथ प्रतीयमान भी होते हैं।

ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धान्तों में इतना साम्य होने पर भी कुन्तक को ध्वनिविरोधी
आचार्यों में गिना जाता है। इसका मुख्य कारण यही है कि ध्वनिकार ने जिस ध्वनि तत्त्व को
व्यञ्जना वृत्ति से प्रतिपादित करके प्रतीयमान माना था, कुन्तक ने उसको विचित्र अभिधा वृत्ति
से अभिधेय प्रतिपादित किया।

६. वक्रोक्ति के काव्य-आत्मत्व की समीक्षा

वक्रोक्ति के सिद्धान्त की स्थापना करके कुन्तक ने काव्य की समालोचना का एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया था। कुन्तक के समय तक भारतीय समालोचना शास्त्र के प्रवाह में रस सम्प्रदाय, अलङ्कार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय का क्रमशः प्रतिपादन हो चुका था। आनन्दवर्धन ने अपने से पूर्व तक के सभी सिद्धान्तों का सम्यक् अध्ययन करके ध्वनि के साम्राज्य की स्थापना की थी। उन्होंने ध्वनि पर होने वाले सभी आक्षेपों का उत्तर देकर ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था। कुन्तक ने आनन्दवर्धन के तर्कों और प्रमाणों का और उनसे भी पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का सांगोपांग अध्ययन करके प्राचीन साहित्य से वक्रोक्ति को खोज निकाला और इसको काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया।

कुन्तक ने सबसे पहले अलङ्कारवादियों के मत का खण्डन किया। उन्होंने कहा कि शब्द और अर्थ में अलङ्कार के योग से काव्यत्व नहीं होता, अपितु अलङ्कृत शब्द और अर्थ ही काव्य होते हैं। इस प्रकार काव्य में अलङ्कारों का पृथक् विवेचन काल्पनिक है। रसवद् अलङ्कार को अलङ्कार न मान कर कुन्तक ने अलङ्कारवादियों पर दूसरा प्रहार किया। कुन्तक के अनुसार सभी अलङ्कारों का समावेश वक्रोक्ति में हो जाता है।

कुन्तक ने रस सिद्धान्त पर भी आक्षेप किया और रस को काव्य की आत्मा नहीं माना। यद्यपि उन्होंने काव्य में रस की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया और रस को अलङ्कार्य कहा था, तथापि रस को वक्रोक्ति द्वारा सम्पादित माना और कहा - "काव्य में रस वक्रोक्ति के अधीन रहता है"।

कुन्तक ने रीति का समावेश भी वक्रोक्ति के अन्दर कर लिया था। वामन की वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियों को उन्होंने सुकुमार, विचित्र और मध्यम नाम दिया और इनका सम्बन्ध कवि के स्वभाव के साथ स्थापित किया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि काव्य में सभी रीतियों का समान महत्त्व है तथा इनमें परस्पर श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना उचित नहीं है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रीतियों का समावेश कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त में हो गया।

कुन्तक का सबसे महान् प्रयास यह था कि उन्होंने ध्वनि का समावेश भी वक्रोक्ति के अन्दर करने का साहस किया था। वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों में ध्वनि के विभिन्न भेदों का समावेश हो जाता है, यह कुन्तक की मान्यता थी। अतः जब कि ध्वनि की अपेक्षा वक्रोक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक है, तो वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानना उन्होंने अधिक उपयुक्त समझा।

वक्रोक्ति को काव्य का जीवित प्रतिपादित करके भी कुन्तक की दृष्टि रस, ध्वनि और औचित्य की ओर से पराङ्मुख नहीं थी। इन तीनों तत्त्वों को उन्होंने काव्य का अन्तरंग माना। औचित्य की आवश्यकता, रस की आह्लादकता तथा ध्वनि की महनीयता का उन्होंने

स्थान स्थान पर प्रतिपादन किया है। रस और औचित्य को तो उन्होंने वक्रोक्ति का भी प्राण माना है।

रस, ध्वनि और औचित्य को इतना अधिक महत्त्व देते हुये भी कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा क्यों माना, यह प्रश्न विचारणीय है। कुन्तक का मत है -

"रस, ध्वनि और औचित्य ,इन तीनों तत्त्वों की अपेक्षा भी वक्रोक्ति तत्त्व का क्षेत्र अधिक विस्तृत था। वैदग्ध्यभंगीभणिति रूप वक्रोक्ति इन तीनों को आत्मसात् कर लेती है एवं काव्य में इनका प्रतिपादन वक्रोक्ति के द्वारा ही हो सकता है। रस, ध्वनि और औचित्य ये तीनों वक्रोक्ति के आवश्यक अंग तो हैं, परन्तु अनिवार्य नहीं हैं। ये वक्रोक्ति के सौन्दर्य की वृद्धि अवश्य करते हैं, परन्तु इनके विना भी काव्य में काव्यत्व रह सकता है। परन्तु वक्रोक्ति से रहित काव्य में काव्यत्व न होकर वह केवल वार्तामात्र होता है।"
इसीलिये कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया।

काव्यों की समालोचना करने वाले आचार्यों को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें प्रथम वे हैं, जो काव्य के शरीर को अधिक महत्त्व देते हैं तथा शब्द-अर्थ के सौन्दर्य में ही काव्य का काव्यत्व मानते हैं। अलङ्कारवादियों और रीतिवादियों को इसी वर्ग में रखा जा सकता है। इनको अभिधावादी भी कहा जाता है।

दूसरे आचार्य वे हैं, जो काव्य के बाह्य रूप को अधिक महत्त्व न देकर अन्तरंग पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं। रस और ध्वनि सिद्धान्त इसके प्रतिपादक हैं। वे व्यञ्जनावादी आचार्य हैं। आनन्दवर्धन ने अपने से पूर्ववर्ती अलङ्कारवादी और रीतिवादी आचार्यों के पक्ष का खण्डन करके काव्य में व्यञ्जना को अधिक महत्त्व दिया था तथा काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का सम्पादन किया था। उन्होंने सिद्ध किया कि काव्य में प्रतीयमान अर्थ की रमणीयता होने पर ही वह काव्य श्रेष्ठ हो सकता है और वही ध्वनि है।

कुन्तक अभिधावादी आचार्य थे। उनका अभिमत था -

"आनन्दवर्धन जिस प्रतीयमान अर्थ के प्रतिपादन के लिये व्यञ्जना वृत्ति को अनिवार्य मानते हैं, उसकी प्रतीति अभिधा द्वारा ही हो सकती है। परन्तु यह अभिधा वह अभिधा नहीं है, जिसका प्रचलन लोक-व्यवहार में होता है। यह लोक-व्यवहार से भिन्न विचित्र अभिधा है।"

वक्रोक्ति के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का विचार है -

"वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जन्म प्रत्युत्तर के रूप में हुआ था। काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियों का यह अन्तिम विफल विद्रोह था। काव्य के जिन सौन्दर्य-भेदों की आनन्दवर्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी, उन सभी की कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना सी प्रतीत होती है[५४]।"

वक्रोक्ति का सांगोपांग विवेचन करने के बाद भी कुन्तक का यह सिद्धान्त अधिक समय तक जीवित नहीं रह सका। कुन्तक के द्वारा ही इसका जन्म हुआ और कुन्तक के साथ ही यह समाप्त हो गया। कुन्तक के पश्चात् प्रसिद्ध ध्वनिवादी समालोचकों ने वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार विशेष के रूप में प्रतिपादित करके इसकी महनीयता समाप्त कर दी। इसके पश्चात् वक्रोक्ति को काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में एक शब्दालङ्कार के रूप में तुच्छ सा स्थान प्राप्त होता रहा।

कुन्तक के उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में वक्रोक्ति तो कथन का एक प्रकार मात्र है, यद्यपि यह लोकोत्तर और विलक्षण है। इसका सम्बन्ध केवल काव्य के बाह्य शरीर शब्द और अर्थ से है। इसलिये वक्रोक्ति की पहुंच काव्य के शरीर तक ही है, आत्मा तक नहीं। कुन्तक ने वक्रताओं जो भेद-प्रभेद किये हैं, उनमें ध्वनि [illegible] ही प्रकाशित हो रहा है। यदि कुन्तक की वक्रता ध्वनि का नामान्तर ही है, तो इसका भिन्न रूप में प्रतिपादन करने की आवश्यकता ही क्या है ?

ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा वक्रोक्ति सिद्धान्त को अमान्य कर देने पर भी काव्य की समालोचना के इतिहास में कुन्तक का महत्त्व कम नहीं हो जाता। कुन्तक ने काव्य के शरीर और आत्मा को अलग अलग न मान कर उनको वक्रता के अन्तर्गत समेट लिया तथा वर्ण से प्रबन्ध तक की रचना वक्रता के अन्दर समाविष्ट हो गई।

कुन्तक के विवेचन में विलक्षण वैज्ञानिकता है, जिससे कि वे महामान्य समालोचकों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। कुन्तक यद्यपि अभिधावादी आचार्य थे, तथापि उनकी यह अभिधा सामान्य कोटि की नहीं है। यह अभिधा विचित्र रूप होकर लक्षणा और व्यञ्जना को भी अपने अन्दर समेटे हुये है। अतः कुन्तक को केवल देहवादी आचार्य मान लेना समुचित नहीं है। कुन्तक के इस महत्त्व को न समझ कर ही उत्तरवर्ती आचार्य उनके प्रतिपादन का मूल्यांकन नहीं कर सके।

'वक्रोक्तिजीवित' में कुन्तक ने वक्रोक्ति तत्त्व का जिस प्रकार प्रतिपादन किया है, वह वस्तुतः महनीय है, स्तुत्य है और विचारणीय है।

सन्दर्भ -

१. विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।। वक्रोक्तिजीवित १.१० की वृत्ति।।

२. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।। भामह काव्यालङ्कार २.८५

३. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ।। वही २.८७ ।।

४. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मताः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।। वही २.८६ ।।

५. द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।। काव्यादर्श २.३६३ ।।

६. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ।। वही २.७ ।।

७. वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलङ्कारा उच्यन्ते ।
काव्यादर्श २.८ पर हृदयङ्गमा टीका ।।

८. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।। काव्यादर्श २.३६३ ।।

९. अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।। वही २.२२० ।।

१०. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः ।। काव्यालङ्कारसूत्र ४.३.८ ।।

११. रुद्रट - काव्यालङ्कार २.१४ तथा २.१६ ।।

१२. अग्निपुराण ३४२.३२-३३ ।।

१३. यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया । कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति ।। ध्वन्यालोक ३.३७ की वृत्ति ।।

१४. शब्दस्य कि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेणावस्थानं इत्ययमेवासौ अलङ्कारस्यालङ्कारान्तरभावः । लोकोत्तरेण चैवातिशयः । तेन चातिशयोक्तिः सर्वालङ्कारसामान्यम् ।। ध्वन्यालोक - लोचनटीका पृ० २०८ ।।

१५. यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ।। काव्यप्रकाश ९.७८ ।।

१६. सर्वत्र एवंविधविषये वक्रोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते । तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात् ।।
काव्यप्रकाश १०.१३६ की वृत्ति ।।

१७. यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ।। शृङ्गारप्रकाश ९.६० ।।

१८. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।। सरस्वतीकण्ठाभरण ५.९ ।।

१९. लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।। वक्रोक्तिजीवित १.२ ।।

२०. शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि ।। वही १.७ की वृत्ति ।।

२१. प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि ।। वही १.८ की वृत्ति ।।

२२. अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि।। वही पृ० १९५।।

२३. प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये।
अन्यथैवोच्यते योऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता।। व्यक्तिविवेक १.६६।।

२४. लोकोत्तरवर्णनानिपुणकर्म।। काव्यप्रकाश १.२ की वृत्ति।।

२५. कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशालिनः।।
वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्द्धवक्रता।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रितः।।
वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो विद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।।
वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धेऽप्यस्ति यादृशः।
उच्यते सहजाहार्यः सौकुमार्यमनोहरः।। वक्रोक्तिजीवित १.१८-२१।।

२६. एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः। शिष्टाश्च सहस्रशः सम्भवन्तीति महाकविप्रवाहे स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयाः। वक्रोक्तिजीवित १.१९ की वृत्ति।।

२७. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा।। भामह - काव्यालङ्कार २.९३।।

२८. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा।। काव्यादर्श २.८।।

२९. तस्याश्च अलङ्कारत्वमसाधारणपदार्थस्वरूपध्वननात्।।
काव्यालङ्कारसारसंग्रह ३.५ की लघुवृत्ति टीका।।

३०. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।। काव्यालङ्कारसूत्र ३.२.१४।।

३१. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।। सरस्वतीकण्ठाभरण ५.९।।

३२. संस्थानावस्थानक्रियादि यद् यादृशं भवति। लोके चिरप्रसिद्धं तत् कथमनन्यथा जातिः।। रुद्रट - काव्यालङ्कार ७.३०।।

३३. जातिस्तु अनुभवं जनयति। यत्र परस्य स्वरूपे वर्ण्यमानमेव अनुभवमिवैति इति स्थितम्।। वही ७.३० पर नमिसाधु की टीका।

३४. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यकृतां तेषां किमन्यदवतिष्ठते।।
स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते।।
शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुते परम्।
आत्मनैवात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यवरोहति।। वक्रोक्तिजीवित १.११-१३।।

३५. विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् सत्यस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्।।
अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालङ्कारतया मता।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः।। व्यक्तिविवेक २.१२०-१२१।।

३६. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।। वक्रोक्तिजीवित १.५।।

३७. रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः।। वही १.२६।।

३८. निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः।। वही ४.११।।

३९. मुखमक्लिष्टरत्यादिपरिपोषमनोहरम्।। वही ३.७।।
अक्लिष्टः कदर्थनाविरहितः प्रत्यग्रतानमनोहरो यो रत्यादिः स्थायिभावः, तस्य परिपोषः शृङ्गारप्रभृतिरसत्वापादनम्, स्थाय्येव रसो भवेदिति न्यायात्, तेन मनोहरः हृदयहारी।। उपर्युक्त पर वृत्ति।।

४०. अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि।। वक्रोक्तिजीवित ३.११।।

४१. यथा स रसवन्नाम सर्वालङ्कारजीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते।। वही ३.१४।।

४२. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिभावाभिनयास्पदम्।। उद्भट- काव्यालङ्कारसारसंग्रह ४.४।।

४३. उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।। वक्रोक्तिजीवित १.१०।।

४४ तत्र पदस्य तावदौचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः।। वही १.५० की वृत्ति।।

४५. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन चोच्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्।। वही १.५३।।

४६. उचिताभिधानजीवितत्वात् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदामाह्लादकारित्वहानिः।। वही १.५७ की वृत्ति।

४७. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्वन्यालोक १.१३।।

४८. तस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचाराद् (द्योतकव्यञ्जकौ) अपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यञ्जकयोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्याद् उपचाराद् वाच्यत्वमेव।।
वक्रोक्तिजीवित १.८ की वृत्ति।।

४९. सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्।। ध्वन्यालोक ३.१६।।

५०. एष एव शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपस्य व्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः।।
वक्रोक्तिजीवित २.१२ की वृत्ति।।

५१. गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः।।

५२. उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृत एव।। अलङ्कारसर्वस्व।।

५३. प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्।। वक्रोक्तिजीवित १.४०।।

५४. डा० राकेश गुप्त - साहित्यानुशीलन (१९७२) पृ० २०३ से उद्धृत।।

....

छठा अध्याय

औचित्य सम्प्रदाय

१. औचित्य सम्प्रदाय का प्रवर्तन

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इस तथ्य की ओर सदा दृष्टि रखी है कि विभिन्न तत्त्वों का संयोजन औचित्य से युक्त होने पर ही काव्य में सौन्दर्य का आधायक होता है। जिस प्रकार लोक में औचित्य से युक्त व्यवहार एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा में वृद्धि करता है तथा व्यवहार के अनौचित्य से वही व्यक्ति अनादर और हास्यास्पदता का भागी होता है, उसी प्रकार काव्य में रस, अलङ्कार, गुण, रीति आदि तत्त्व उसी अवस्था में चमत्कार और रमणीयता के आधायक होते हैं, जबकि उनका विनियोजन औचित्यपूर्ण हो। औचित्य के अभाव में कवि उपहास और निन्दा का पात्र होता है। काव्य में औचित्य के इस महत्त्व को दृष्टि में रख कर क्षेमेन्द्र ने कहा था -

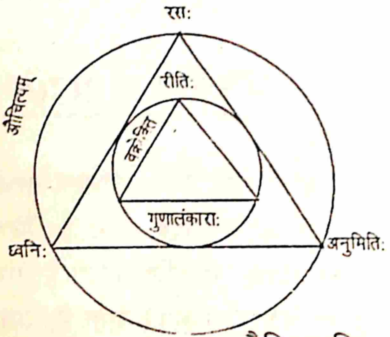
"अलङ्कार तो अलङ्कार ही हैं और गुण गुण ही हैं, परन्तु रससिद्ध काव्य का अविनाशी जीवित तो औचित्य ही है[१]। अलङ्कार तभी अलङ्कार होते हैं, जबकि वे औचित्य से च्युत नहीं होते[२]।"

आचार्य क्षेमेन्द्र का अभिमत है कि औचित्य काव्य के प्रत्येक अंग में होना चाहिये। काव्य में जिस स्थान पर औचित्य का अभाव होता है, वहीं रस का भंग होकर अरुचि उत्पन्न होती है। सौन्दर्य की भावना इसी औचित्य पर आधारित है। यदि कोई सुन्दरी तरुणी गले में मेखला पहन ले, नितम्बों पर हार धारण कर ले, हाथों में नूपुर पहन ले और चरणों में केयूर डाल ले तो कौन उसका उपहास नहीं करेगा? इसी प्रकार यदि कोई वीर पुरुष विनम्र शरणागत पर तो वीरता दिखावे तथा उद्दण्ड शत्रु पर करुणा को प्रदर्शित करे तो कौन व्यक्ति उसका उपहास नहीं करेगा? यही स्थिति काव्य में है, जिसमें औचित्य के अभाव में न तो अलङ्कार और नाहीं गुण रमणीयता तथा रोचकता के सम्पादक होते हैं[३]। केवल अलङ्कार और गुण ही नहीं, अपितु रस भी काव्य में रमणीयता को उत्पन्न तभी करता है, जब उसका विन्यास औचित्य से पूर्ण होता है।

काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य के व्याप्त होने के कारण ही क्षेमेन्द्र ने इस तत्त्व को काव्य की आत्मा कहा था।औचित्य को काव्य का जीवित कहने का रहस्य यही है कि

रस में रसत्व, अलङ्कार में अलङ्कारत्व, गुण में गुणत्व और रीति में रीतित्व तभी होते हैं, जबकि इनका संविधान औचित्यपूर्ण होता है। औचित्य के अभाव में ये तत्त्व विरसता ही उत्पन्न करेंगे और उस काव्य में काव्यत्व नहीं होगा।

औचित्य काव्य के प्रत्येक अंग में व्याप्त रहता है, इस सम्बन्ध में किसी आचार्य ने अपना विमत प्रकट नहीं किया है। औचित्य की व्यापकता का प्रदर्शन महामहोपाध्याय कुप्पू स्वामी शास्त्री ने निम्न ग्राफ द्वारा प्रकट किया है[४] -



औचितीमनुधावन्ति
सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालङ्काररीतीनां
नयाश्चानृतुवाङ्मयाः।।

२. औचित्य सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास

काव्य की आत्मा के रूप में औचित्य तत्त्व की प्रतिष्ठा यद्यपि क्षेमेन्द्र ने ही की थी, तथापि इस तत्त्व के महत्त्व और प्रतिष्ठा से प्राचीन आचार्य भी परिचित थे। औचित्य सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास को समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि काव्य में इस तत्त्व की अनिवार्यता के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों ने अपने अभिमत किस प्रकार प्रकट किये थे।

काव्य में औचित्य की अनिवार्यता का प्रतिपादन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी आचार्यों ने किया था। 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरत का मन्तव्य था -

"नाटक के अभिनय में लोक में सिद्ध धर्मों का ही ग्रहण करना चाहिये[५]। क्योंकि प्रकृतियों के शील अनेक प्रकार के होते हैं और वे नाट्य में प्रतिष्ठित होते हैं, अतः नाटक में उनका प्रयोग प्रामाण्य से करना ही उचित है[६]।"

'नाट्यशास्त्र' में यद्यपि औचित्य पद का व्यवहार नहीं किया गया है, तथापि नाटक के अभिनय के लिये जो निर्देश भरत मुनि ने दिये हैं, उनमें औचित्य का क्रियात्मक महत्त्व दृढता से प्रतिपादित किया गया है। भरत का कथन है -

"नाटक के पात्रों की वेशभूषा उनके देश और आयु के अनुकूल होनी चाहिये। जो वेश देश और आयु के अनुकूल नहीं है, वह शोभा का आधायक नहीं हो सकता, जैसे कि वक्ष और मणिबन्ध पर मेखला को पहनना उपहास का कारण होता है[७]। अभिनय में वेशभूषा आयु के अनुरूप होनी चाहिये, गति और क्रियायें वेश के अनुरूप होनी चाहियें, संवाद आदि गति के अनुसार होने चाहियें और अभिनय को संवाद आदि के अनुरूप होना चाहिये[८]।"

भरत के इस प्रकार के सूत्रों में औचित्य पद का प्रयोग न होने पर भी औचित्य की उद्‌भावना निश्चित रूप से है। इसी को ग्रहण करके उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्य में औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की थी।

भामह का कथन था -

“काव्य में औचित्य सबसे बड़ा गुण है। सबसे बड़ा दोष अनौचित्य है।”

दोषों का विचार करते हुये भामह लिखते हैं -

“दुष्ट उक्ति भी सन्निवेश की विशेषता से उसी प्रकार शोभाजनक हो जाती है, जिस प्रकार मालाओं के मध्य गूंथा गया नील पलाश शोभाजनक होता है[९]। जिस प्रकार कामिनी के नयन में लगाया गया काला काजल उसके सौन्दर्य की वृद्धि करता है, उसी प्रकार असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से शोभा का आधान करती है[१०]। पुनरुक्त को यद्यपि दोष माना जाता है, तथापि भय, शोक, असूया, हर्ष और विस्मय के भावों की अभिव्यक्ति में वह दोष नहीं होता[११]। कालिदास के ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ में **“न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्”** पद्य में पुनरुक्ति से सौन्दर्य में वृद्धि ही हुई है।”

गुण और दोष के विधान में औचित्य और अनौचित्य की कारणता को दण्डी ने भी प्रतिपादित किया था। उनका कथन है -

“समुदायार्थशून्य वाक्य में तो अपार्थ दोष होता है, परन्तु उन्मत्तों, मत्तों और बालकों के आलाप में यह दोष नहीं रहता[१२]। परस्पर विरुद्ध अर्थ को प्रकट करने वाले वाक्य में अर्थदोष होता है, परन्तु किसी वस्तु के प्रति अत्यधिक आसक्ति के प्रसंग में वह गुण हो जाता है[१३]।” देश, काल, कला, लोक, न्याय तथा आगम से विरुद्ध कथन को काव्य में दण्डी ने विशेष दोष बताया था। परन्तु विशेष परिस्थितियों में कविकौशल के कारण वह विरोध भी गुण हो जाता है[१४]।”

भामह और दण्डी के कथन का तात्पर्य यही है कि गुण स्वयं में गुण नहीं है।और दोष भी स्वयं में दोष नहीं हैं। परन्तु औचित्य का विधान होने पर गुणों को गुण समझना चाहिये तथा अनौचित्य होने पर ही दोषों में दोषत्व होता है। मुनिचन्द्र का कथन है -

“एक औचित्य के होने पर ही गुणों का समूह होता है। उस औचित्य के होने पर ही गुणों का समूह रहता है तथा उस औचित्य के न होने पर वही गुणसमूह विषतुल्य बन जाता है[१५]।”

अलङ्कारवादी आचार्य काव्य की रचना में औचित्य को विशेष महत्त्व देते हैं। अनुप्रास अलङ्कार के प्रयोग का आधार उन्होंने औचित्य को स्वीकार किया था[१६]। यमक अलङ्कार के प्रयोग में भी उन्होंने औचित्य को महत्त्व दिया। यमक अलङ्कार का प्रयोग वही कवि कर सकता है, जो औचित्य का पारखी होता है[१७]।

रुद्रट ने दोषों की विवेचना करते हुये बताया -

"अनौचित्य के कारण ही दोष होते हैं। देश, कुल, जाति, विद्या, धन, आयु, स्थान और पात्रों के व्यवहार, आकार, वेश और वचनों में अनौचित्य का होना ही ग्राम्यत्व दोष है[१८]। परन्तु विशिष्ट अवस्थाओं में इस ग्राम्यत्व दोष का अपहार हो जाता है और वह गुणों की कोटि में आ जाता है[१९]।"

आनन्दवर्धन ने काव्य में औचित्य को बहुत अधिक महत्त्व दिया था। अलङ्कार, गुण, रीति, रस आदि आदि सभी तत्त्वों के नियोजन में औचित्य की अनिवार्यता को उन्होंने प्रतिपादित किया। क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन के विवेचन से ही औचित्य सिद्धान्त की प्रेरणा ग्रहण की थी और अपने 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थ में इस सिद्धान्त को पल्लवित किया था।

काव्य में अलङ्कारों का निवेश औचित्य की दृष्टि से ही होना चाहिये। काव्य में रस ही प्रधान अलङ्कार्य है। रस आदि के तात्पर्य से विनियोजित अलङ्कार ही अलङ्कारत्व को सिद्ध करते हैं[२०]। अलङ्कारों के उचित सन्निवेश के महत्त्व का आनन्दवर्धन ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया था[२१]। उन्होंने उन नियमों को बनाया, जिनके आधार पर अलङ्कारों का विनियोजन किया जाना चाहिये[२२]।

आनन्दवर्धन ने अलङ्कारों के साथ ही गुण, रीति, वृत्ति, संघटना, प्रबन्ध और रस के औचित्य का भी प्रतिपादन किया था। आनन्दवर्धन की दृष्टि में गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रस से है। गुण रस के धर्म हैं। ऐसी अवस्था में वर्णों तथा शब्दों का विनियोजन इस प्रकार करना चाहिये, जिससे कि प्रकृत गुण तथा रस के साथ उनका सामञ्जस्य हो सके।

वृत्ति के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने कहा -

"रस आदि के अनुकूल शब्द और वर्ण का जो औचित्यपूर्ण व्यवहार है, वह ही दो प्रकार की वृत्ति है[२३]। ये वृत्तियां या रीतियां यदि अनुचित प्रकार से नियोजित होती हैं, तो रसभंग का कारण होती हैं[२४]। रीतियों का नियमन रस, वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य से होता है। तीन प्रकार की संरचना, जो कि माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर स्थित होती हुई रसों को अभिव्यक्त करती है, उसका नियमन भी वक्ता तथा वाच्य के औचित्य द्वारा किया जाता है[२५]।

आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध के लिये भी औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की थी। प्रबन्ध में कथानक दो प्रकार का होता है - वृत्त और उत्प्रेक्षित। दोनों में ही औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है। कवि को चाहिये कि इस कथानक को स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के औचित्य से सुन्दर बना दे। यदि कथानक में रस के प्रतिकूल स्थिति आ जावे, तो उसको छोड़ कर रस के अनुकूल कथा की नवीन कल्पना कर ले[२६]।

काव्य में रस और ध्वनि के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण आनन्दवर्धन ने रस के औचित्य की विशेष रूप से व्यञ्जना की थी। अलङ्कार, गुण, रीति, संघटना और प्रबन्ध इन सभी का नियोजन रस के औचित्य की दृष्टि से किया जाता है। वही रचना शोभा से युक्त होती है, जिसमें कि रस के निबन्धन के योग्य औचित्य होता है[२७]। रस के अनुकूल शब्द और अर्थ का विनियोजन ही महाकवि का मुख्य कर्म होता है[२८]।

आनन्दवर्धन ने एक ओर जहां अलङ्कार, गुण, रीति आदि के विनियोजन को रस के औचित्य की दृष्टि से करने का विधान किया था, वहीं दूसरी ओर रस के विनियोजन के लिये भी उन्होंने औचित्य का विधान किया था। उन्होंने कहा कि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं है तथा प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण करना ही रस का परम रहस्य है[२९]।"

आनन्दवर्धन के पश्चात् अभिनवगुप्त ने भी औचित्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला था। उनका मत था -

"अलङ्कार्य रस को उचित रूप से सुशोभित करने वाले अलङ्कारों का ही काव्य में औचित्य होता है। अचेतन शव को कनक-कुण्डल आदि आभूषण सुशोभित नहीं कर सकते। संन्यासी के शरीर पर स्वर्णाभूषण हास्यास्पदता को प्राप्त होते हैं[३०]।"

रस-ध्वनि के साथ औचित्य का नित्य सम्बन्ध है, इसका अभिनवगुप्त ने स्पष्ट निर्देश किया था[३१]। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित इस औचित्य को ही काव्य का जीवित मान कर इस सिद्धान्त को जिस प्रकार पल्लवित किया, उसको आगे प्रदर्शित किया जावेगा।

भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृङ्गारप्रकाश' में, इन दोनों ही ग्रन्थों में औचित्य की आवश्यकता प्रतिपादित की थी। भोज ने औचित्य सिद्धान्त का यद्यपि स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन नहीं किया था, तथापि गौण रूप से उसकी आवश्यकता बताई थी। इनके ग्रन्थों में गुण, दोष और अलङ्कारों के प्रसंग में इनके निर्धारण के लिये स्थान स्थान पर औचित्य को आधार माना गया है। काव्य एवं नाटक में वक्ता के अनुरूप पदों का व्यवहार न करना ही **"अपद"** दोष है[३२]। रस का अनौचित्य ही **"विरस"** दोष है[३३]। देशविरोध, कालविरोध, लोकविरोध, अनुमानविरोध आदि अनेक दोष **"विरुद्ध"** नामक दोष के भेद हैं तथा ये अनौचित्य पर आधारित हैं।

भोज ने **"भाविक"** नामक गुण का प्रतिपादन किया था। यह गुण औचित्य पर

आधारित है। भोज का कथन है -

"विषय, वक्ता, काल और देश के आधार पर ही कवि को भाषा का प्रयोग करना चाहिये। यज्ञों के अवसरों पर संस्कृत भाषा का प्रयोग ही न्याय्य है, स्त्रियों के लिये प्राकृत भाषा का प्रयोग होना चाहिये, कुलीन जनों के लिये संकीर्ण भाषा का प्रयोग अनुचित है और मूर्ख मनुष्यों को समझाने के लिये संस्कृत भाषा का प्रयोग हास्यास्पद होता है[३४]। इस प्रकार विषय आदि के औचित्य से भी भाषा के प्रयोग का विधान भोज ने किया था।

काव्य में किस स्थान पर गद्य का प्रयोग हो, कहां पद्य का प्रयोग हो और कहां मिश्र का प्रयोग हो, इसका विधान भी भोज ने औचित्य के आधार पर किया था[३५]। दोषों के परिहार का प्रतिपादन भी भोज ने औचित्य के आधार पर किया[३६]। प्रबन्ध काव्यों में रस, अलङ्कार आदि का विनियोग भी औचित्य के आधार पर होना चाहिये, भोज का यह अभिमत था[३७]।

कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' में वक्रोक्ति को काव्य का जीवित प्रतिपादित करते हुये भी औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की थी। कुन्तक ने सभी रचनाओं में दो गुणों - औचित्य और सौभाग्य की स्थिति अनिवार्य मानी थी। औचित्य गुण का लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया -

"वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट वर्णन, यथानुरूप कथन ही औचित्य नामक गुण है। इससे स्वभाव के महत्त्व का पोषण किया जाता है[३८]। वक्ता या श्रोता के अत्यन्त रमणीय स्वभाव द्वारा वाच्य वस्तु को सर्वथा आच्छादित कर दिया जाना भी औचित्य है[३९]।

विविध प्रकार की वक्रताओं का प्रतिपादन करते हुये कुन्तक ने इनका आधार वक्रता को माना है। वर्णवक्रता में वृत्त्यौचित्य, रीत्यौचित्य, अलङ्कारौचित्य आदि की आवश्यकता का वे प्रतिपादन करते हैं[४०]। इसी प्रकार प्रत्ययवक्रता, लिंगवक्रता आदि में उन्होंने औचित्य की आवश्यकता मानी है[४१]।

अपनी वक्रताओं का प्रतिपादन करते हुये कुन्तक ने कहा था कि रस, वस्तु आदि में अनौचित्य का त्याग करके औचित्य का सम्पादन करना चाहिये। उनके अनेक स्थलों पर औचित्य और वक्रता में कोई अन्तर नहीं रह जाता। काव्य में शब्द और अर्थ की विशिष्टता को कुन्तक ने शब्दपारमर्थ्य और अर्थपारमर्थ्य नाम दिया। वही पदौचित्य और अर्थौचित्य है। इसी में प्रकृत्यौचित्य का भी समावेश होता है।

विविध काव्य-सिद्धान्तों की चर्चा करते हुये महिमभट्ट ने औचित्य को काव्य के लिये अनिवार्य माना था। उनका कहना है -

"काव्य के स्वरूप का निरूपण यथार्थ से सिद्ध होने से औचित्य का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है। विभाव आदि का निबन्धन करना ही कवि का व्यापार है, अन्य नहीं। रस की अभिव्यक्ति शास्त्रों के अनुसार निबद्ध विभाव आदि द्वारा होती है, अन्य प्रकार से नहीं

होती। अतः काव्य की आत्मा रस है और उसमें अनौचित्य का स्पर्श कैसे हो सकता है। इसलिये उस अनौचित्य के निराकरण के लिये पण्डित लोग काव्य के जो भिन्न भिन्न लक्षण करते हैं, वह सर्वथा व्यर्थ हैं[४२]।

इस प्रकार महिमभट्ट ने रस के अनौचित्य को काव्य का सर्वातिशायी दोष माना है[४३]। यह दोष काव्य में दो प्रकार से होता है - अन्तरंग और बहिरंग। शब्दविषयक दोष बहिरंग है और अर्थविषयक दोष अन्तरंग होता है[४४]। इन अन्तरंग और बहिरंग दोषों द्वारा महिमभट्ट ने विविध काव्य-दोषों की कल्पना की थी।

'दशरूपक' में धनञ्जय ने औचित्य की आवश्यकता का संकेत किया है। उनका कथन है कि नाटक में नायक या रस के के प्रति जो विरुद्ध हो, उसका या तो परित्याग कर देना चाहिये या उसकी अन्य प्रकार से कल्पना करनी चाहिये[४५]।

उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने भी काव्य में औचित्य को बहुत महत्त्व दिया था। उनके मत में काव्य में उत्कर्ष के आधान के लिये रस, गुण, रीति आदि के विनियोजन में औचित्य का ध्यान रखना अति आवश्यक है। काव्य में सभी तत्त्वों का समावेश रस के औचित्य की दृष्टि से ही किया जाता है। रस आदि का औचित्यपूर्ण विधान ही कवित्व का प्रथम सोपान है। रस-दोषों का विवेचन करते हुये मम्मट का कथन है -

"रस-दोष तभी होते हैं, जबकि रस के संविधान में अनौचित्य होता है। औचित्य ही रस का परम रहस्यरूप तत्त्व है"। परन्तु इन ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में औचित्य को अनिवार्य मान कर भी उसका प्रतिपादन रस के अंग रूप में ही किया है।

३. औचित्य का आत्मा के रूप में प्रतिपादन

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के सिद्धान्त की स्थापना करके इस तत्त्व को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था। क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य थे, जिन्होंने ध्वनि की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन की कृति 'ध्वन्यालोक' पर लोचन टीका लिखी थी। अतः क्षेमेन्द्र पर 'ध्वन्यालोक' का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक और अवश्यंभावी था। 'ध्वन्यालोक' में आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस औचित्य को काव्य तथा रस की दृष्टि से अनिवार्य बताया था, आगे बढ कर क्षेमेन्द्र ने उस औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया।

औचित्य की प्रतिष्ठा क्षेमेन्द्र ने भगवान् विष्णु के माध्यम से की थी। विष्णु ही परम औचित्य के प्रतिष्ठापक हैं[४६]। काव्यगत औचित्य का विचार करने के लिये ही क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' नामक ग्रन्थ की रचना की[४७]।

४. क्षेमेन्द्रकृत औचित्य का लक्षण

क्षेमेन्द्र ने औचित्य का लक्षण निम्न प्रकार से किया है -

"जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसको आचार्य उचित कहते हैं। उचित का जो

भाव है, वह औचित्य कहलाता है[४८]।" यह औचित्य काव्य में ही नहीं सर्वत्र व्याप्त है। काव्यगत औचित्य की विशेषतायें इस प्रकार हैं -

(१) वह काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है।

(२) वह काव्य में आस्वाद्यता लाता है।

(३) वह काव्य का जीवितभूत है।

क्षेमेन्द्र का मन्तव्य है कि औचित्य ही काव्य का प्राणरूप है। उसके विना उसमें अलङ्कारों और गुणों का विनियोजन सर्वथा व्यर्थ है[४९]। अलङ्कार तो अलङ्कार ही हैं और वे बाह्य उपकरण हैं। गुण यद्यपि अन्तरंग तत्त्व हैं, तथापि वे गुण ही हैं और प्राणों के प्रतिष्ठाता नहीं हैं। परन्तु रसों से निविष्ट काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है[५०]। अलङ्कारों का अलङ्कारत्व तभी होता है, जबकि उनका विन्यास उचित स्थान पर होता है। गुणों का गुणत्व भी तभी होता है, ज़बकि वे औचित्य की सीमा से बाहर नहीं जाते[५१]। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का प्राण तत्त्व मान कर उसकी विवेचना की थी।

५. औचित्य के भेद

काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य निहित रहता है। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र ने औचित्य के भेदों के सम्बन्ध में लिखा है -

"औचित्य के भेद अनन्त होते हैं और उनकी गणना नहीं हो सकती"।

तथापि क्षेमेन्द्र ने औचित्य के भेदों की गणना की है और उनके उदाहरण भी दिये हैं। शेष के लिये उनका कथन है कि उनकी कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिये[५२]। क्षेमेद्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' में औचित्य के २७ भेदों का गणना की है[५३] -

(१) पद, (२) वाक्य, (३)प्रबन्ध, (४) गुण, (५)अलङ्कार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिंग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१९) सत्त्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सारसंग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम और (२७) आशिष्।

इस प्रकार काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य के व्याप्त रहने से औचित्य के अनेक भेद हो सकते हैं। क्षेमेन्द्र ने मुख्य २७ भेदों का कथन करके कह दिया कि अन्य भेदों की कल्पना विचारक को स्वयं कर लेनी चाहिये।

६. औचित्य का काव्य के अन्य तत्त्वों से सम्बन्ध

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य के सभी तत्त्वों में व्याप्त मान कर उसका काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादन किया था। अन्य आचार्यों ने रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति अथवा ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया था। अतः इन तत्त्वों का औचित्य के साथ सम्बन्ध निर्धारण के योग्य हो सकता है।

(i) औचित्य और रस -

क्षेमेन्द्र ने काव्य में रस को सर्वाधिक उत्कर्ष का आधायक माना था। उन्होंने औचित्य को रससिद्ध काव्य का भी जीवित सिद्ध किया। इस प्रकार उनकी दृष्टि में औचित्य व्यापक और रस व्याप्य है। औचित्य से युक्त रस ही सहृदयों के चित्त को आह्लादित करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार मधुमास ही अशोक वृक्ष को अंकुरित करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार औचित्य से रुचिर रस सम्पूर्ण अन्तःकरण में व्याप्त होकर सहृदय के मन को अंकुरित करता है[५४]।

ध्वनिवादी आचार्यों ने भी औचित्य और रस के सम्बन्ध में गहन विचार किया था। उन्होंने रस के भंग का एकमात्र कारण अनौचित्य को बताया तथा औचित्य के विधान को रस का परम रहस्य प्रतिपादित किया। काव्य में रसगत औचित्य का प्रतिपादन न करने से अनेक प्रकार के रसदोष उत्पन्न होते हैं। अतः काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य का इस प्रकार विधान करना चाहिये कि रस की निष्पत्ति तथा रमणीयता में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो।

(ii) औचित्य और अलङ्कार -

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों के विनियोजन में भी औचित्य को परम आवश्यक बताया था। काव्यों में अलङ्कारों में औचित्य का विस्तृत निर्देश आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में किया है[५५]। इसका आशय यही है कि काव्य में अलङ्कारों की योजना रस के अंग के रूप में करनी चाहिये, अंगी के रूप में नहीं। क्षेमेन्द्र का कथन है -

"अलङ्कारों में अलङ्कारत्व तभी होता है, जबकि उनके नियोजन में औचित्य का ध्यान रखा जाता है। अर्थगत औचित्य से सम्भृत अलङ्कारों से सूक्ति उसी प्रकार शोभित होती है, जिस प्रकार पीन पयोधर पर स्थित हार से मृगनयनी युवती सुन्दर लगती है[५६]।"

अलङ्कारों के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का यह दृढ मत है कि वे उचित स्थान पर निविष्ट होकर काव्य की शोभा को बढाते हैं। यदि वे उचित स्थान पर नियोजित नहीं हैं, तो उनको अलङ्कार नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के रूप में उन्होंने लौकिक अलङ्कारों को लिया है। जिस प्रकार कण्ठ में मेखला, नितम्बों पर हार, हाथों में नूपुर और पैरों में केयूर धारण करने पर उन अंगों की शोभा नहीं बढती, क्योंकि वहां धारण करना अनौचित्य से पूर्ण होता है, उसी प्रकार औचित्य के विना काव्यगत अलङ्कार भी काव्य में शोभा की वृद्धि के आधायक नहीं होते[५७]।"

(iii) औचित्य और रीति -

वामन ने रीति का लक्षण किया था -

"विशिष्टा पदसंघटना रीतिः"।

इस रीति को वामन ने काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया। क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ

'औचित्यविचारचर्चा' में रीतियों के सम्बन्ध में विचार नहीं किया और नाहीं औचित्य के भेदों में रीति नामक भेद की गणना की। इसके दो कारण हो सकते हैं -

(१) रीति के पदसंघटनारूप होने के कारण उन्होंने रीति-औचित्य का अन्तर्भाव पदौचित्य में कर लिया होगा।

(२) **"अन्येषु काव्याङ्गेष्वनयैव०"** कथन के अनुसार उन्होंने रीति के औचित्य-अनौचित्य के विचार को स्वयं पाठकों के पर्यविक्षण के लिये छोड़ दिया होगा।

उक्त कथन का सारांश यही है कि क्षेमेन्द्र ने काव्य में रीति को अलग से महत्त्व नहीं दिया।

रीति के औचित्य के साथ सम्बन्ध का प्रतिपादन आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में किया है। उन्होंने रीति के नियामक तत्त्वों की व्याख्या की है। आनन्दवर्धन के अनुसार रीति का औचित्य प्रधान रूप से रस के औचित्य द्वारा होता है। तदनन्तर गौण रूप से वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य भी रीति का नियमन करते हैं।

इस विवेचन का अभिप्राय यही है कि काव्य में पदों की संघटना रस के अनुकूल होनी चाहिये। कोमल शृङ्गार आदि रसों में कोमलकान्त पदावली और कठोर रौद्र आदि रसों में कठोर पदावली की संघटना का ही औचित्य होता है। यहां वक्ता का अभिप्राय है - कवि या कविनिबद्ध पात्र। पदों की संघटना वक्ता के औचित्य से करनी चाहिये।

उदाहरण के लिये 'महाभारत' के पात्र भीम द्वारा कोमल पदावली का प्रयोग अनौचित्य से पूर्ण है। वाच्य से अभिप्राय काव्य के प्रतिपाद्य विषय से है। सुकुमार वर्ण्य विषय के लिये कोमलकान्त पदावली तथा कठोर वर्ण्य विषय के लिये कठोर पदावली ही उचित होती है। विषय से तात्पर्य काव्य की विविध विधाओं से है। ये विधायें हो सकती हैं - मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कुलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, खण्डकाव्य, महाकाव्य, रूपक, परिकथा, सकलकथा, खण्डकथा, कथा, आख्यायिका आदि। इन विधाओं में पदावली का प्रयोग उनके अनुरूप होना चाहिये। इनमें पदावली किस प्रकार की होनी चाहिये, इसका विस्तृत निर्देश 'ध्वन्यालोक' में है[५८]।

पदसंघटना रूप रीति के लिये औचित्य का विधान करके आनन्दवर्धन ने उपनागरिका आदि शब्दवृत्तियों और कैशिकी आदि अर्थवृत्तियों के लिये भी औचित्य की व्यवस्था की थी[५९]। इन वृत्तियों में औचित्य का विधान न होने से रसभंग होता है।

(iv) औचित्य और वक्रोक्ति -

कुन्तक ने यद्यपि वक्रोक्ति को काव्य का जीवित प्रतिपादित किया था, तथापि उन्होंने औचित्य की उपेक्षा नहीं की। औचित्य को उन्होंने वक्रता का जीवित माना। वक्रता में औचित्य के होने पर वह काव्य का जीवित हो सकती है। कुन्तक के अनुसार सुकुमार, विचित्र

तथा मध्यम इन तीनों ही मार्गों में औचित्य का गुण होना अनिवार्य है ।वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट प्रकार से पोषण करना ही वक्रता का परम रहस्य है। इसका जीवित उचिताभिधान है। वाक्य के एक देश में भी औचित्य के न होने पर सहृदयों के आह्लाद को हानि होती है[६०]।

जिस प्रकार काव्य के विभिन्न अंगों - गुण, अलङ्कार, रीति, वृत्ति और रस के साथ औचित्य का सम्बन्ध है, उसी प्रकार वक्रोक्ति के साथ भी औचित्य का सम्बन्ध है। कुन्तक ने विभिन्न प्रकार की वक्रताओं में औचित्य की आवश्यकता प्रतिपादित की थी। पदवक्रता के सम्बन्ध में वे कहते हैं -

"पदस्य तावदौचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभाव:"।

कुन्तक का कथन है कि प्रबन्ध के एक देश में, प्रकरण में वक्रता के औचित्य के न होने पर सारा काव्य उसी प्रकार दूषित हो जाता है, जिस प्रकार वस्त्र के एक स्थान पर जल जाने पर सम्पूर्ण वस्त्र दूषित हो जाता है। इस प्रकार कुन्तक ने औचित्य को वक्रता के जीवित के रूप में स्वीकार किया था।

कुन्तक की पद, वाक्य, प्रबन्ध आदि सभी प्रकार की वक्रताओं में औचित्य को अनिवार्य समझा गया था। इस कारण अनेक स्थानों पर औचित्य और वक्रता में अभेद प्रतीत होता है। कुन्तक की पदवक्रता, लिंगवक्रता, कालवक्रता आदि में तथा क्षेमेन्द्र के पदौचित्य, लिंगौचित्य, कालौचित्य आदि में सर्वथा एकरूपता प्रतीत होती है। परन्तु इस साम्य के प्रतीत होने पर भी वक्रोक्ति और औचित्य एक नहीं हैं। कुन्तक के ही अनुसार औचित्य को विविध वक्रताओं का आधार माना गया है। इस प्रकार वक्रता की सिद्धि में औचित्य एक साधन है। परन्तु काव्य में रससिद्धि ही मुख्य प्रतिपाद्य होने से वक्रोक्ति और औचित्य दोनों ही उसके साधन के रूप में उपस्थित होते हैं।

(v) औचित्य और ध्वनि -

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था। परन्तु क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का जीवित कहा। वस्तुत: औचित्य का महत्त्व रसादि ध्वनि की दृष्टि से है। उसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। रसादि ध्वनि यदि काव्य की आत्मा है, तो औचित्य उसका जीवन है। जिस प्रकार आत्मा के विना जीवन नहीं हो सकता, उसी प्रकार रसादि ध्वनि के अभाव में औचित्य की सत्ता भी असम्भव है।

क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' को ही अपनी रचना का आधार बनाया होगा। इस तथ्य का उल्लेख यद्यपि उन्होंने स्वयं नहीं किया, तथापि औचित्य सिद्धान्त के प्रतिपादन में इस तथ्य की अभिव्यञ्जना स्थान स्थान पर होती है। रस आदि के निबन्धन में आनन्दवर्धन ने औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की थी और औचित्य को रस का परम रहस्य माना था[६१]। आनन्दवर्धन ने यह भी प्रतिपादित किया था कि पद, अर्थ, संघटना आदि सभी का प्रतिपादन रस के औचित्य की दृष्टि से होना चाहिये। क्षेमेन्द्र ने इसी औचित्य

को काव्य का प्राणभूत मान कर अपने सिद्धान्त के प्रासाद की रचना की थी।

औचित्य तत्त्व के प्रतिपादन में क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन का अनुकरण किया था। आनन्दवर्धन ने लिखा है -

"सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत्, तद्धित, निपात आदि के द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि रूप अर्थ अभिव्यक्त होता है[६२]। इसी प्रकार पद, वाक्य और प्रबन्ध भी रसादि रूप अर्थ के अभिव्यञ्जक होते हैं।"

क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन की इस उक्ति के अनुकरण में पद, वाक्य, प्रबन्ध, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, उपसर्ग, निपात, काल, देश आदि के औचित्य के भेद से काव्य में चमत्कार को स्वीकार किया था।

अनेक स्थलों पर आनन्दवर्धन की ध्वनि और क्षेमेन्द्र के औचित्य में एकरूपता स्पष्ट है। उदाहरण के लिये 'रत्नावली' का पद्य - "**कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्०**" है। यहां आनन्दवर्धन ने "कृशाङ्गी" पद को विप्रलम्भ शृङ्गार का अभिव्यञ्जक माना है। क्षेमेन्द्र के अनुसार यह पद सागरिका की परम विरह दशा की सूचना देकर परम औचित्य को पुष्ट करता है।

ध्वनि और औचित्य में परस्पर समन्वय का विचार करने पर भी औचित्य से ही काव्य की रमणीयता की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिये, 'कुमारसम्भव' के "**द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः**"[६३] वाक्य में "**कपालिनः**" पद पर औचित्य की दृष्टि से यदि विचार किया जावे, तो इस पद का प्रयोग ही यहां सर्वथा उचित है। यहां शिव के प्रति पार्वती के विराग को कवि उत्पन्न करना चाहता है, जो कि बीभत्स रस के अभिव्यञ्जक "**कपालिनः**" पद से ही उत्पन्न हो सकता है। यदि कवि यहां "**कपालिनः**" पद के स्थान पर किसी अन्य पद का, "**पिनाकिनः**" पद का प्रयोग करता, तो इससे वीर रस की निष्पत्ति होती और यह वर्ण्य विषय के अनुकूल नहीं होता। अतः प्रकृत विषय के अनुकूल होने से यहां "**कपालिनः**" पद का प्रयोग ही औचित्यपूर्ण है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में रसादि ध्वनि तथा औचित्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी ध्वनि अंगी रूप से व्यवस्थित होती है। औचित्य को ध्वनि का अनिवार्य गुण मानने पर भी वह ध्वनि का साधक ही सिद्ध होता है और ध्वनि के अंग रूप में व्यवस्थित रहता है।

७. औचित्य के काव्य-आत्मत्व की समीक्षा

क्षेमेन्द्र ने लोक-मर्यादा के आधार पर काव्य की आत्मा (जीवित) औचित्य को प्रतिपादित किया था। जिस प्रकार लोक के व्यवहार में मर्यादा के पालन और सुव्यवस्था की रचना के लिये औचित्य का निर्वाह करना परम आवश्यक होता है, उसी प्रकार काव्य की मर्यादा को बनाये रखने और उसमें सौन्दर्य के चमत्कार को लाने के लिये औचित्य का पालन

करना भी परम अनिवार्य है। क्योंकि इस एक औचित्य के अभाव में काव्य के सभी गुण निरर्थक हो जाते हैं। आचार्यों ने काव्य में औचित्य को गुणों की राशि बताया है। इस औचित्य के न होने पर गुणों का पूरा समूह विष के तुल्य उद्वेजक हो जाता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र का यह मन्तव्य है कि औचित्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है तथा इसी क्रम में काव्य के प्रत्येक अंग में भी यह व्याप्त है। अतः इसको ही काव्य का जीवित मानना चाहिये। लोक-व्यवहार में औचित्य का पालन न करने वाला व्यक्ति उपहास का पात्र होता है। इसी प्रकार काव्य में औचित्य का पालन न होने पर वह काव्य भी उपहास का पात्र होता है। जिस प्रकार रमणी के वक्ष पर मोतियों की माला उसके सौन्दर्य में वृद्धि करती है, परन्तु वही माला पैरों में डाल देने पर उपहसनीय हो जाती है, उसी प्रकार काव्य में अलङ्कार उसके उत्कर्षक तो होते हैं, परन्तु वे उचित स्थान पर विनियोजित किये जाने पर ही उत्कर्ष करते हैं। विप्रलम्भ शृङ्गार में यमक अलङ्कार का विनियोजन निश्चय ही उसका अपकर्षक है।

मनुष्य के लिये शौर्य, औदार्य, कारुण्य आदि गुण बहुत अच्छे हैं, परन्तु औचित्य की मर्यादा में रह कर ही। प्रणत शत्रु के प्रति शौर्य प्रदर्शित करना तथा आक्रमण करते हुये आततायी के प्रति कारुण्य का भाव दिखाना निश्चय से गुण न रह कर अवगुण हो जाते हैं। इसी प्रकार रौद्र आदि कठोर रसों में माधुर्य गुण को निहित करना तथा शृङ्गार आदि कोमल रसों की अभिव्यक्ति में ओज गुण का विनिवेश करना काव्य के अपकर्ष के हेतु होते हैं। इसी कारण क्षेमेन्द्र को यह कहना पड़ा -

"अलङ्कारों में अलङ्कारत्व तभी होता है, जब कि उनका विन्यास उचित स्थान पर होता है। गुणों में गुणत्व भी तभी होता है, जबकि वे औचित्य से च्युत नहीं होते[६४]।"

रसों के विनियोजन में औचित्य का विधान परम आवश्यक है। जिस प्रकार लोक में मधुर, अम्ल, तिक्त आदि रस पाचक द्वारा भोज्य पदार्थों में उचित रूप से नियोजित किये जाकर भोजन की रसनीयता में वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार काव्य में रसों का नियोजन उचित रूप से किया जाकर ही उसमें रमणीयता और आह्लादकता की सृष्टि करता है। शृङ्गार रस को सभी रसों का राजा कहा जाता है। परन्तु असमय में इसका विनियोग भी विरसता को उत्पन्न करने वाला है। उदाहरण के लिये 'वेणीसंहार' नाटक का दुर्योधन का प्रेम-प्रसंग है। दुर्योधन के पक्ष के अनेक वीर मारे जा चुके हैं। इस समय दुर्योधन द्वारा भानुमती के प्रति प्रेम का प्रदर्शन निश्चय ही अनुचित है। यह शृङ्गार रस का अपकर्षक है।

किसी रस की पुनः पुनः अभिव्यक्ति भी औचित्य की सीमा को लांघ लेने पर विरसता का कारण बन जाती है। 'कुमारसम्भव' महाकाव्य में कामदेव की पत्नी रति के शोक रूप स्थायी भाव को पुनः पुनः उद्दीप्त करने को समलोचकों ने निश्चय ही रसदोष माना था[६५]। उपभुक्त रस के पुनः पुनः परिपोष को आनन्दवर्धन ने भी अनुचित ही कहा है[६६]।

आनन्दवर्धन ने औचित्य को रस का परम रहस्य कहा था और अनौचित्य को रसभंग का एकमात्र हेतु प्रतिपादित किया था[६७]। इसी आधार पर क्षेमेन्द्र ने भी रससम्भृत काव्य में औचित्य को उसका आत्मा या जीवित सिद्ध किया,[६८] तो इसमें अनौचित्य ही क्या है।

इस प्रकार काव्य की आत्मा के रूप में औचित्य का संविधान तो क्षेमेन्द्र ने अवश्य किया, परन्तु इसीसे औचित्य का काव्य-आत्मत्व सिद्ध नहीं हो जाता। औचित्य यद्यपि काव्य का अनिवार्य तत्त्व है, तथापि वह काव्य की आत्मा नहीं है। इसके विना काव्य में काव्यत्व नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं है। इसके लिये यह निरीक्षण करना होगा कि काव्य के उत्कर्ष के लिये औचित्य साधन है या साध्य है। यदि औचित्य साध्य है तो उसी अवस्था में उसको काव्य की आत्मा माना जा सकता है। परन्तु वह साध्य नहीं है। अतः काव्य की आत्मा भी नहीं है। अपितु वह काव्य के साध्य आत्म तत्त्व के उत्कर्ष का साधन मात्र है। कवि काव्य की रचना रस आदि की आनन्दात्मक अनुभूति के लिये करता है, औचित्य के लिये नहीं। रस आदि का औचित्य उसके उत्कर्ष का कारण अवश्य है, परन्तु वह औचित्य ही कवि का साध्य या उद्देश्य नहीं है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि रसानुभूति के लिये ही औचित्य की अनिवार्यता होती है, औचित्य के लिये रस आदि की नहीं। अतः काव्य में औचित्य की अपेक्षा रस आदि की प्रधानता होती है।

गुण, अलङ्कार आदि के औचित्य के लिये भी यही स्थिति है। गुण, अलङ्कार आदि की योजना औचित्य के लिये नहीं है, अपितु औचित्य ही इनके उत्कर्ष के लिये साधन के रूप में रहता है। इस प्रकार काव्य में औचित्य का अस्तित्व साधन के रूप में निहित होता है, वह साध्य नहीं है। इसलिये काव्य में रसध्वनि, अलङ्कार, गुण आदि की तुलना में औचित्य को आत्मा स्वीकार करना उचित नहीं है।

क्षेमेन्द्र के कथन कि रससिद्ध काव्य का जीवित औचित्य है, विचारणीय है -

आचार्यों ने काव्य के अनेक भेद किये हैं - उत्तम, मध्यम और अधम। अधम काव्य में, जो कि चित्रकाव्य है, रस को महत्त्व नहीं दिया गया तथा वह रससिद्ध नहीं है। ध्वनिकाव्य में भी रसध्वनि को ही रससिद्ध कहा जायेगा। इस प्रकार काव्य के अनेक भेदों के रससिद्ध न होने से उनमें औचित्य की क्या व्यवस्था होगी? उन काव्यों में औचित्य को काव्य का जीवित कह सकेंगे या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर क्षेमेन्द्र ने नहीं दिया। औचित्य को रससिद्ध काव्य का जीवित प्रतिपादित करते हुये क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस प्रकार उचित रूप में धातुवादसिद्ध (पारद रस से सिद्ध) ओषधि का प्रयोग शरीर में जीवन को स्थिर रखता है, उसी प्रकार शृङ्गार आदि रसों से सिद्ध काव्य में औचित्य उसके जीवन को स्थिर रखता है[६९]।

क्षेमेन्द्र का यह कथन स्वयं सिद्ध करता है कि काव्य का जीवित कोई अन्य तत्त्व है तथा औचित्य उस जीवित को स्थिर रखने वाला तत्त्व है। जिस प्रकार पारद रस से सिद्ध

ओषधि जीवित नहीं है, अपितु जीवन को स्थिर रखने वाली अन्य वस्तु है, उसी प्रकार काव्य का जीवन तो रस आदि ध्वनि है और औचित्य उसको स्थिर रखने वाला तत्त्व है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्य में औचित्य का महत्त्व अनिवार्य रूप से है, परन्तु उसको काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता। औचित्य को सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में मान्यता दी थी और अपनी अपनी दृष्टि से उसका विवेचन किया था। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के इस महत्त्व को अनुभव करके उसको काव्य के जीवित के रूप में प्रतिपादित किया।

परन्तु क्षेमेन्द्र काव्य के बाह्य क्षेत्र तक ही अपने को सीमित रखे रहे। काव्य के अन्तरंग तत्त्व रसध्वनि को पहचानते हुये भी वे उसके महत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सके। वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है। वही साध्य है। रस का साधन होने से औचित्य उसका अंगभूत ही है।

सन्दर्भ -

१. अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।। औचित्यविचारचर्चा - ५।।

२. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।। वही - ६।।

३. कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपूरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणः।। वही - ६ की व्याख्या से।।

४. हाइवेज एण्ड बाइवेज आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत पृ० २७।।

५. लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते।। भरत - नाट्यशास्त्र २६.११३।।

६. नानाशीलाः प्रकृतयः शीलं नाट्ये प्रतिष्ठितम्।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः।। भरत नाट्यशास्त्र २६.११९।।

७. अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।। भरत नाट्यशास्त्र २३.६९।।

८. वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेशः वेशानुरूपस्तु गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।। वही १४.६८।।

९. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।। भामह - कव्यालङ्कार ।।

१०. किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्।। वही १.५५।।

११. भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः।। वही ४.१४।।

१२. समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति।। काव्यादर्श ३.१२८।।

१३. अस्ति काचिदवस्था सा साभिषंगस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थाऽपि भारती।। वही ३.१३३।।

१४. विरोधः सकलोऽप्येषः कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीर्थीं विगाहते।। वही ३.१७९।।

१५. औचित्यमेकमेकत्र गुणानां राशिरेकतः।
विषायते गुणग्रामः औचित्यपरिवर्जितः।। धर्मबिन्दुटीका पृ० २९।।

१६. एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थाम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्याः मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः।।
रुद्रट - काव्यालङ्कार २.३२।।

१७. इति यमकविशेषं सम्यगालोचयद्भिः
सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं
तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना।। वही ३.५९।।

१८. ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेशवचनानाम्।
देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेषु ।। वही ११.९।।

१९. अर्थविशेषवशाद्वा सभ्येऽपि तथा क्वचिद् विभक्तेर्वा।
अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं भवति।। वही ६.२३ ।।

२०. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्।। ध्वन्यालोक ३.६।।

२१. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः।।
ध्वन्यालोक २.१६।।

२२. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्।।
विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन पर्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्।। वही २.१७-१९।।

२३ रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः।। वही ३.३३।।

२४. यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानां उपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यं तदपि रसभंगहेतुः।। वही ३.३३ की वृत्ति।।

२५. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।। वही ३.६।।

२६. विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य च।।
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्यान्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ।। वही ३.१०-११।।

२७. रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत्।। वही ३.९।।

२८. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतन्मुख्यं कर्म महाकवेः।। वही ३.३२।।

२९. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।। वही ३.१४ की वृत्ति।।

३०. तथाहि अचेतनं शवशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कट-कादियुक्तं हास्यावहं भवति अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्।। वही ३.१४ की वृत्ति।।

३१. उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षया इदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इति भावः।। ध्वन्यालोक २.६ पर लोचनटीका।।

३२. विभिन्नप्रकृतिस्थादिपदयुक्त्यपरं विदुः।। सरस्वतीकण्ठाभरण १.२४।।

३३. वही १.४५।।

३४. न म्लेच्छितव्यं यज्ञादौ स्त्रीषु नाप्राकृतं वदेत्।
संकीर्णं नाभिजातेषु नाप्रबुद्धेषु संस्कृतम्।। सरस्वतीकण्ठाभरण २.८।।

३५. गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यं यत् सा गतिः स्मृता।
अर्थौचित्यादिभिः सापि वागलङ्कार इष्यते।। वही १.१८।।

३६. विरोधः सकलोऽप्येषः कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते।। वही १.५६।।

३७. वाक्यवच्च प्रबन्धेषु रसालङ्कारसंकरान्।
निवेशयन्त्यनौचित्यपरिहारेण सूरयः।। वही ५.१२६।।

३८. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण यदौचित्यं उचिताख्यानजीवितम्।। वक्रोक्तिजीवित १.५३।।

३९. यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते।। वही १.५४।।

४०. इत्यौचित्यमनोहारिरसानां परिपोषणम्।। वही १.३५।।

४१. वक्रोक्तिजीवित २.१०, २१, २२, २३, २५, २६, ३१।।

४२. व्यक्तिविवेक पृ० १२६।।

४३. एतस्य (अनौचित्यस्य) विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्।।
व्यक्तिविवेक पृ० १५२।।

४४. व्यक्तिविवेक पृ० १४९-१५१।।

४५. यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।। दशरूपक ३.२।।

४६. अच्युताय नमस्तस्मै परमौचित्यकारिणे।। औचित्यविचारचर्चा - १।।

४७. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्बणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।। वही - ३।।

४८. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।। वही - ७।।

४९. काव्यस्यायमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्बुधैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।। वही - ४।।

५०. अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।। वही - ५।।

५१. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।
औचित्यादच्युताः नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः।। वही - ६।।

५२. अन्येषु काव्याङ्गेष्वनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्। तदुदाहरणान्यानन्त्यान्न प्रदर्शितानी-त्यलमतिप्रसंगेन।। वही - ३९।।

५३. पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे।
क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे।।
उपसर्गे निपाते च काले वेशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।। वही - ८-१०।।

५४. कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः।। वही - १६।।

५५. ध्वन्यालोक २.२९-२०।।

५६. अर्थौचित्यवता सूक्तिरलङ्कारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा।। औचित्यविचारचर्चा - १५।।

५७. वही - ६।।

५८. ध्वन्यालोक ३.६-९ तथा उसकी वृत्ति।।

५९. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्मृताः।। ध्वन्यालोक ३.३३।।

६०. स्वभावस्याञ्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम्। उचिताभिधानजीवितत्वाद् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदामाह्लादकारित्वहानिः।। वक्रोक्तिजीवित १.५७ की वृत्ति।।

६१. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।। ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति।।

६२. सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्-तद्धित-समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्।। ध्वन्यालोक ३.१६।।

६३. कुमारसम्भव ५.७१।।

६४. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।
औचित्यादच्युताः नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः।। औचित्यविचारचर्चा - ६।।

६५. दीप्तिः पुनः पुनः। दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे।।
काव्यप्रकाश ७.६१ की वृत्ति।।

६६. परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय ....।। ध्वन्यालोक ३.१९।।

६७. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबद्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।। ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति।।

६८. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।। औचित्यविचारचर्चा - ५.।।

६९. रसेन शृङ्गारादिना सिद्धस्य काव्यस्यात्मा धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः।।
औचित्यविचारचर्चा - ५ की वृत्ति।।

सातवां अध्याय

ध्वनि सम्प्रदाय

काव्यशास्त्र के इतिहास के क्रम में रस ,अलङ्कार और रीति सम्प्रदायों का विवेचन करने के अनन्तर ध्वनि सम्प्रदाय का निरूपण करना अधिक उचित था। वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदायों का निरूपण ध्वनि सम्प्रदाय के अनन्तर करना चाहिये था। तथापि वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदायों को ध्वनि सम्प्रदाय से पहले तथा ध्वनि सम्प्रदाय का सबसे अन्त में निरूपण इस कारण किया गया, क्योंकि काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि को ही अन्तिम रूप से प्रतिपादित किया गया। काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों ने अन्य तत्त्वों की अपेक्षा काव्य में ध्वनि को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया।

१. ध्वनि सिद्धान्त का आरम्भ

आचार्य आनन्दवर्धन ने यह प्रतिपादित किया था कि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। इस प्रकार उन्होंने काव्य की समालोचना के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात किया था। आनन्दवर्धन का कथन था -

"उनसे पूर्व ही ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित कर दिया गया था। परन्तु कुछ आचार्य उस मत का खण्डन करते हैं। वे ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं करते। क्योंकि ध्वनि ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है, अतः उसका प्रतिपादन करने के लिये वे ध्वनि के स्वरूप का कथन कर रहे हैं[१]।"

आनन्दवर्धन ने बताया कि काव्य में मुख्य रूप से दो प्रकार के अर्थ होते हैं - वाच्य और प्रतीयमान। इन दोनों अर्थों में जब प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य काव्य में चमत्कारी रूप में अभिव्यक्त होता है, तभी वह काव्य ध्वनिकाव्य कहलाता है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन से पूर्व काव्यशास्त्र के क्षेत्र में रस, अलङ्कार और रीति इन तीन सिद्धान्तों का आविष्कार हो चुका था। विभिन्न आचार्यों ने काव्य के इन तीन तत्त्वों में से किसी एक को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था। परन्तु आनन्दवर्धन ने समर्थ युक्तियों द्वारा यह प्रतिपादित किया कि ये सभी तत्त्व काव्य के अंगभूत

हैं। केवल ध्वनि को ही सर्वव्यापक होने के कारण काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

ध्वनि का मूल प्रतीयमान अर्थ है, जो कि महाकवियों की वाणी में कुछ और ही अनिर्वचनीय वस्तु के रूप में काव्य में विभिन्न अंगों - गुण, अलङ्कार आदि से भिन्न होकर शोभायमान होता है[२]। यही अर्थ सहृदयों के हृदयों को आनन्दित करने वाला होता है। यही अर्थ काव्य की आत्मा है। यह अर्थ आदि कवि वाल्मीकि की वाणी में काव्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ था, जबकि उनका क्रौञ्च युगल के वियोग से उत्पन्न शोक श्लोक के रूप में परिणत हो गया था[३]।

ध्वनिकार ने पुन: कहा -

प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का हो सकता है - रस, अलङ्कार और वस्तु[४]। इसी आधार पर ध्वनिकार ने ध्वनि के भी तीन भेद किये - रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि। इन तीनों में भी ध्वनिकार ने रसध्वनि को सबसे अधिक महत्त्व दिया। महाकवियों की रचनाओं से विभिन्न उदाहरणों को प्रस्तुत करके ध्वनिकार ने इस प्रतीयमान अर्थ के द्वारा काव्य के चारुत्व का प्रतिपादन किया था।

ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुये भी और उसको काव्य में सबसे अधिक महत्त्व प्रदान करते हुये भी ध्वनिकार ने गुण, रीति, अलङ्कार, वृत्ति आदि तत्त्वों की उपेक्षा नहीं की। काव्य में उनका भी उचित स्थान निर्धारित किया गया। परन्तु ध्वनिकार का मत था कि ये सभी तत्त्व काव्य में ध्वनि के उत्कर्षक के रूप में रहते हैं। उन्होंने काव्य में ध्वनि को केन्द्र बिन्दु के रूप में माना और गुण, अलङ्कार आदि का विधान इनके उपकारक के रूप में किया।

२. ध्वनि की प्राचीनता और उसका ऐतिहासिक विकास

आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वनिकार के नाम से स्मरण किया जाता है। उनको ध्वनि के प्रतिष्ठाता का प्रतिष्ठित पद प्राप्त है। परन्तु प्राचीन प्रमाणों से यह भी पुष्ट होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी समालोचकों ने ध्वनि को काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में स्वीकार कर लिया था।

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के प्रारम्भ में ही इस तथ्य का उद्घाटन कर दिया था कि विद्वज्जन ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित कर चुके हैं[५]। इस कथन में "बुधै:" पद के बहुवचन से यह स्पष्ट है कि यह प्रतिपादन किसी एक विद्वान् ने नहीं किया था, अपितु अनेक विद्वानों ने किया था। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या में कहा कि यह प्रतिपादन परम्परा से चला आ रहा था, यद्यपि किसी पुस्तक विशेष में इसको नहीं लिखा गया था[६]।

'ध्वन्यालोक' की अनेक कारिकाओं तथा वृत्तियों से भी ध्वनि की यह प्राचीनता विदित होती है। एक स्थान पर ध्वनिकार लिखते हैं -

यदि ध्वनि का लक्षण पहले आचार्यों ने कर दिया था, तो इससे हमारे पक्ष की ही सिद्धि होती है[७]। ध्वनिकार का यह भी कथन है कि भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में काव्य के निबन्धन को रस आदि की योजना के तात्पर्य से कहा था[८]। यह रसध्वनि ही है, जो कि काव्य के निर्माण की कला की आत्मा है। ध्वनिकार का यह भी कथन है कि रीतिवादी आचार्यों को भी इस ध्वनिरूप आत्मा का आभास था, परन्तु वे इस ध्वनि रूप तत्त्व की समुचित रूप से व्याख्या नहीं कर सके और उन्होंने रीतियों को प्रवर्तित कर दिया[९]।

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में लिखा है कि ध्वनि से केवल समालोचक ही परिचित हों, ऐसा नहीं है। महान् कवि व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि भी इससे परिचित थे। इनकी कृतियों में ध्वनि तत्त्व सर्वत्र विद्यमान है, यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने पहले उसका उन्मीलन नहीं किया था[१०]।

ध्वनि के आधार प्रतीयमान अर्थ से प्राचीन अलङ्कारवादी भी परिचित थे। जिन भामह आदि आचार्यों ने अलङ्कारों को ही काव्य की शोभा का आधायक तत्त्व माना था, उन्होंने भी अनेक अलङ्कारों में - पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि में प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को स्वीकार किया था। इसी आधार पर अलङ्कारवादियों ने ध्वनि को अलङ्कारों में अन्तर्भावित करने का प्रयत्न किया था। परन्तु इससे वे मुख्य समस्या का समाधान नहीं कर पाये[११]। उद्भट ने भी रस आदि ध्वनियों को रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि आदि अलङ्कारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था।

काव्य-समीक्षकों में ध्वनि की चर्चा आनन्दवर्धन से पूर्व भी प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चुकी थी, यह तथ्य इस बात से सिद्ध होता है कि ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ में ध्वनिविरोधी मतों का उल्लेख करके उनका खण्डन किया है। 'ध्वन्यालोक' की पहली कारिका में ही ध्वनिविरोधी तीन मतों - अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी का एवं इनके विभिन्न पक्षों का ध्वनिकार ने उल्लेख करके प्रबल युक्तियों से उनका खण्डन किया है।

ध्वनिविरोधियों के खण्डन के प्रसंग में ध्वनिकार ने किसी प्रबल ध्वनिविरोधी का एक श्लोक उद्धृत किया है[१२]। अभिनवगुप्त के अनुसार उसका नाम मनोरथ था[१३]। प्राचीन साहित्य के अनुसार मनोरथ का समय निश्चित है। 'राजतरंगिणी' के श्लोक ४.४९७ के अनुसार मनोरथ को राजा जयापीड का मन्त्री बताया गया है। इसके पश्चात् श्लोक ४.६७१ में बताया गया है कि मनोरथ ने जयापीड के उत्तराधिकारी ललितादित्य का उसकी कामोन्मत्तता के कारण परित्याग कर दिया था। अतः मनोरथ का समय ८०० ई० के लगभग रहा होगा।

मनोरथ के श्लोक में ध्वनि का विरोध होने और ध्वनिविरोधियों का उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन से काफी पहले ही ध्वनि के सिद्धान्त की चर्चा होने लगी थी।

यद्यपि यह निश्चित सा है कि ध्वनि के सिद्धान्त का प्रवर्तन आनन्दवर्धन से पूर्व ही हो गया था, तथापि यह भी यथार्थ है कि इस सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप देने और निस्सन्दिग्धता से प्रतिपादित करने का कार्य आनन्दवर्धन ने ही किया था। ध्वनिकार ने पहले तो कारिकाओं में ध्वनि का संक्षिप्त परिचय दिया और इसके पश्चात् वृत्ति और उदाहरणों द्वारा इसके स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की। ध्वनिकार के लेखन से यह भी स्पष्ट है कि ध्वनि के मार्ग का निर्माण उन्होंने स्वयं नहीं किया था, अपितु दिखाया भर था[१४]। उन्होंने ध्वनि के तत्त्व की व्याख्या भर की थी[१५]। परन्तु उनकी यह व्याख्या इतनी स्पष्ट और युक्तिसंगत है कि आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार एवं ध्वन्याचार्य का पद पाप्त हुआ।

आनन्दवर्धन ने यद्यपि ध्वनि का सुस्पष्ट एवं निस्सन्दिग्ध प्रतिपादन कर दिया था, तथापि उत्तरवर्ती कुछ समालोचकों ने ध्वनि के सिद्धान्त के खण्डन का प्रयास किया था। इनमें भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट प्रमुख थे। भट्टनायक ने व्यञ्जना वृत्ति को ही स्वीकार नहीं किया, कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना और महिमभट्ट ने व्यञ्जनावादियों के व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति को अनुमान से सिद्ध करने का प्रयास किया। ध्वनि का विरोध करने के लिये इन आचार्यों ने जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया था, उनका खण्डन अभिनवगुप्त और मम्मट ने किया।

क्षेमेन्द्र ने भी काव्य में ध्वनि की अपेक्षा औचित्य को अधिक महत्त्व दिया था। परन्तु उसका मत भी अधिक प्रचलित नहीं हो सका। आचार्य मम्मट की प्रबल युक्तियों ने ध्वनि के विरोधी आचार्यों की युक्तियों का जो प्रबल खण्डन किया, उसने ध्वनिविरोधियों को पूर्ण रूप से परास्त कर दिया। इसके बाद ध्वनि का सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया। मम्मट के पश्चात् सभी प्रमुख आचार्यों ने - रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने निस्सन्दिग्ध रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया था।

३. ध्वनि की मूल प्रेरणा

ध्वनिवादियों को ध्वनि के सिद्धान्त की मूल प्रेरणा वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से प्राप्त हुई थी। ध्वनि के लक्षण[१६] में **"सूरिभिः कथितः"** पदों की व्याख्या करते हुये आनन्दवर्धन ने कहा -

"यह ध्वनि सिद्धान्त यों ही आकस्मिक रूप से प्रवर्तित नहीं हो गया है, परन्तु विद्वानों ने इस उक्ति को प्रारम्भ किया था। सबसे प्रधान विद्वान् वैयाकरण हैं। वे सुनाई देने वाले पदों में ध्वनि संज्ञा का व्यवहार करते हैं। वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले काव्यार्थतत्त्ववित् समीक्षकों ने उनके ही अनुसार वाच्यवाचकसंमिश्र (व्यङ्ग्य अर्थ),

व्यञ्जना व्यापार (शब्दात्मा) और काव्य इन सबको ध्वनि कहा[१७]।

ध्वनिवादियों को ध्वनि की प्रेरणा वैयाकरणों से मिली, इस कथन की पुष्टि मम्मट ने भी की थी। 'काव्यप्रकाश' में "बुधैः कथितः" पदों की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा है -

"बुधैः" से तात्पर्य वैयाकरणों से है। वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोटरूप व्यङ्ग्य को अभिव्यञ्जित करने वाले शब्द को ध्वनि कहा था। तदनन्तर उनके मत का अनुसरण करने वाले साहित्यशास्त्रियों ने भी वाच्य अर्थ को अतिशयित करने वाले व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जक शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहा[१८]।

व्याकरण को सभी शास्त्रों का मूल माना जाता रहा है। भर्तृहरि के अनुसार व्याकरण सभी शास्त्रों का दीपक है[१९]। विद्वानों ने व्याकरण को प्रथम वेदांग कहा है। व्याकरण के विना शब्दों के तत्त्वों का ज्ञान नहीं हो सकता। इन वैयाकरणों ने सुनाई देने वाले शब्दों को ध्वनि माना था तथा ध्वनिवादियों ने शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहा।

ध्वनि का आधार स्फोटवाद है। स्फोट का अर्थ है - "स्फुटयति अर्थः अस्मादिति स्फोटः"। इससे अर्थ स्फुटित होता है, अतः यह स्फोट है। स्फोटवाद के अनुसार शब्द नित्य होता है। वैयाकरण शब्द को नित्य, अखण्ड और एक मानते हैं[२०]।

पतञ्जलि का कथन है कि शब्दों का ग्रहण बुद्धि के द्वारा होता है। यह श्रोत्र द्वारा ग्राह्य है और आकाश इसका स्थान है[२१]। हमारे कर्ण देश में जो आकाश है, उसी में शब्द की प्राप्ति होती है। शब्द की रचना वर्णों से होती है और वे वर्ण क्रमशः कर्ण के आकाश में पहुंचते हुये बुद्धि द्वारा ग्राह्य होते हैं। परन्तु प्रथम वर्ण के पहुंचने के पश्चात् द्वितीय वर्ण के पहुंचने पर प्रथम वर्ण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार शब्द के उच्चारण करने पर अन्तिम वर्ण ही अवशिष्ट रहता है। इस अन्तिम वर्ण से अर्थ की प्रतीति कैसे हो, यह प्रश्न उपस्थित होता है।

यदि यह कहा जावे कि अन्तिम वर्ण के द्वारा ही अर्थ की प्रतीति होती है, तो इससे पूर्व के वर्णों की व्यर्थता सिद्ध होगी। यदि यह कहा जावे कि सभी वर्णों का समुदाय अर्थ की प्रतीति कराता है, तो शब्द का उच्चारण करने पर अन्तिम वर्ण की ही उपस्थिति है। तो शब्द से अर्थ का ज्ञान कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर वैयाकरणों ने इस प्रकार दिया -

"अन्तिम वर्ण का अनुभव पूर्व वर्णों के संस्कार के साथ मिल कर सम्पूर्ण शब्द को उपस्थित करके अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है।"

पतञ्जलि के अनुसार यह शब्द स्फोट है और ध्वनि इसका गुण है।

स्फोट और ध्वनि के स्वरूप को भर्तृहरि ने और अधिक स्पष्ट किया था। उन्होंने कहा -

"जो इन्द्रियों (जिह्वा आदि) के संयोग और वियोग से उत्पन्न होता है, वह शब्द स्फोट है और इस स्फोट रूप शब्द से उत्पन्न शब्द को ध्वनि कहते हैं[२२]।"

इसका और अधिक स्पष्टीकरण भर्तृहरि ने इस प्रकार किया -

"अनिर्वचनीय और व्यक्त रूप स्फोट के ग्रहण करने के अनुकूल प्रत्ययों से ध्वनि के द्वारा स्फोट रूप शब्द के प्रकाशित हो जाने पर उसके स्वरूप का अवधारण किया जाता है[२३]।"

इस प्रकार वैयाकरण स्फोट के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले शब्द को ध्वनि कहते हैं। स्फोट व्यङ्ग्य है और ध्वनि व्यञ्जक है। वैयाकरणों के अनुकरण में ध्वनिवादी काव्यशास्त्रवित् आचार्य शब्द और अर्थ इन दोनों के व्यञ्जक होने के कारण शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहते हैं। इन आचार्यों ने प्रसिद्ध अभिधा एवं लक्षणा नामक व्यापार से भिन्न प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यञ्जक व्यञ्जना व्यापार को भी ध्वनि कहा। क्योंकि ये सभी तत्त्व काव्य में समुदाय रूप से रहते हैं, अतः काव्य को भी ध्वनि कहा गया।

४. ध्वनि पद का अर्थ

ध्वनि पद की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की जा सकती है -

(१) ध्वनति इति ध्वनिः।

(२) ध्वन्यते इति ध्वनिः।

(३) ध्वननं ध्वनिः।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करने वाले वाचक शब्द और वाच्य अर्थ ध्वनि कहलाते हैं। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है। तीसरी व्युत्पत्ति के अनुसार व्यञ्जना व्यापार ध्वनि है। ये चारों प्रकार की ध्वनियां क्योंकि काव्य में रहती हैं, अतः काव्य को भी ध्वनि कहा जाता है। आनन्दवर्धन ने इन पांचों को ध्वनि कहा है[२४]। इन पांचों ध्वनियों की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है -

"इसलिये वाच्य अर्थ भी ध्वनि है और वाचक शब्द भी ध्वनि है, क्योंकि दोनों का व्यञ्जकत्व ध्वनन व्यापार करता है। विभाव, अनुभाव आदि के संवलन से जो सम्मिश्रित होता है, वह व्यङ्ग्य अर्थ भी ध्वनि है, क्योंकि वह ध्वनित किया जाता है। ध्वनन शब्द, अर्थात् शब्द का व्यापार भी ध्वनि है, जो कि अभिधा आदि के स्वरूप वाला नहीं है, अपितु आत्मभूत है। काव्य नाम वाला पदार्थ भी ध्वनि है, क्योंकि उसमें ध्वनि के पूर्वोक्त चारों प्रकार निहित रहते हैं[२५]।"

इस प्रकार शब्द, अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और काव्य इन पांचों को ध्वनि की संज्ञा दी गई है। आचार्य विश्वेश्वर ने इन पांचों में ध्वनित्व का प्रदर्शन इस प्रकार किया है [२६]-

(१) **ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः।** जो ध्वनित करे या करावे, वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।

(२) **ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः।** जो ध्वनित करे या करावे, वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।

(३) **ध्वन्यते इति ध्वनिः।** जो ध्वनित किया जावे, वह व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है। इसमें रस, अलङ्कार और वस्तु ये तीनों प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ आ जाते हैं।

(४) **ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः।** जिसके द्वारा ध्वनित किया जाता है, वह तत्त्व ध्वनि है। इसमें शब्द-अर्थ के व्यापार व्यञ्जना शक्ति का बोध होता है।

(५) **ध्वन्यते अस्मिन् इति ध्वनिः।** जिसमें वस्तु, अलङ्कार, रस आदि ध्वनियां विद्यमान रहती हैं, वह काव्य ध्वनि है।

५. ध्वनि काव्य का लक्षण

आनन्दवर्धन ने ध्वनि काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है -

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्वन्या० १.१३।।

यत्रार्थो वाच्यविशेषः, वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

अर्थात्, जहां वाच्य अर्थ अपने आपको और वाचक शब्द अपने को एवं अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीयमान एवं वाच्य अर्थ के अतिशय के आधार पर ध्वनि का लक्षण किया जाना चाहिये। काव्य में दो प्रकार के सहृदय श्लाघ्य अर्थ होते हैं - वाच्य और प्रतीयमान[२७]। यदि वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अतिशयित होता है, तो वह काव्य ध्वनि कहलाता है। यदि वह अतिशयित नहीं है, तो उस काव्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं[२८]।

वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ के अतिशयित होने का अभिप्राय यही है कि जहां वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ में चमत्कार का चारुत्व अधिक होता है[२९]। वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में प्रधानता या अतिशयता उनके चारुत्व के अतिशय के आधार पर होती है।

चारुत्व के अतिशय के आधार पर ध्वनिकार ने काव्य के दो भेद किये थे - ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा -

जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा नहीं है, अपितु शब्दालङ्कारों या अर्थालङ्कारों का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये ही कवि काव्य की रचना करता है, वह

चित्रकाव्य होता है। अनन्दवर्धन सम्भवतः चित्रकाव्य को काव्य का पद देना नहीं चाहते थे। उन्होंने इसको काव्य की अनुकृति मात्र माना था। उनका अभिमत था कि चित्रकाव्य वस्तुतः काव्य नहीं है। ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों को ही काव्य कहा जा सकता है[30]।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि काव्य का जो लक्षण किया था, उसको उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने स्वीकार कर लिया। मम्मटकृत ध्वनिकाव्य का लक्षण निम्न है -

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। काव्यप्रकाश १.४।।

जब वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ अतिशयित होता है, तो वह उत्तम काव्य कहलाता है। इसको ही विद्वान् ध्वनिकाव्य कहते हैं। इस कारिका की मम्मट ने ही इस प्रकार व्याख्या की -

"न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।"

वाच्य अर्थ को तिरस्कृत करने वाले व्यङ्ग्य अर्थ को व्यञ्जित करने में समर्थ शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहा जाता है।

प्रतीयमान अर्थ के अतिशय के आधार पर ही मम्मट ने काव्य के तीन भेद किये थे। जहां वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ का अतिशय है, वह ध्वनि या उत्तम काव्य है। जहां यह अतिशय नहीं है, वहां गुणीभूतव्यङ्ग्य या मध्यम काव्य है[31]। जहां प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा नहीं है, शब्दालङ्कारों या अर्थालङ्कारों के चमत्कार का प्रदर्शन करना ही कवि को विवक्षित है, वहां चित्रकाव्य होता है और वह अधम काव्य है[32]। यह चित्रकाव्य दो प्रकार का होता है - शब्दचित्र और वाच्यचित्र।

ध्वनिकाव्य का लक्षण करने में विश्वनाथ ने भी आनन्दवर्धन का अनुकरण किया था और प्रतीयमान अर्थ के अतिशय को इसका आधार बनाया था। उनका प्रतिपादन था -

"जहां वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का अतिशय होता है, वही ध्वनि काव्य है और वह उत्तम काव्य होता है[33]। परन्तु जहां वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का अतिशय नहीं होता, वह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है[34] और वह मध्यम काव्य है।"

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी ध्वनि काव्य का लक्षण करने में प्राचीन आचार्यों का अनुकरण किया था और प्रतीयमान अर्थ के अतिशय को इसका आधार बनाया था। उन्होंने कहा -

जहां शब्द और अर्थ अपने आपको गुणीभूत करके व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वह उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य है। जहां व्यङ्ग्य अर्थ अप्रधान ही रह कर चमत्कार उत्पन्न करता है, वह गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम का उत्तम काव्य है। जहां व्यङ्ग्य अर्थ के चमत्कार का समानाधिकरण न होकर वाच्य अलङ्कार चमत्कृति का हेतु है, वह तीसरा अर्थचित्र नाम

का मध्यम काव्य है। जहां अर्थ के चमत्कार से उपकृत शब्दालङ्कार का चमत्कार होता है, वहां चौथा शब्दचित्र नाम का अधम काव्य होता है[३५]।

वाच्य एवं व्यङ्ग्य अर्थ के अतिशय के भेद से आनन्दवर्धन ने ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों की पृथक्ता प्रतिपादित की थी। परन्तु इसके साथ उन्होंने यह भी कहा कि जब रस आदि के तात्पर्य से काव्य का निबन्धन किया जाता है, तो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में भेद नहीं रह जाता। अत: रस आदि के तात्पर्य की दृष्टि से गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य भी ध्वनिरूपता को प्राप्त करता है[३६]।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मुख्य रूप से तीन भेद किये थे - वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि। आनन्दवर्धन की दृष्टि में काव्य के ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य भेदों की स्थिति वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि में ही हो सकती है। जहां रसध्वनि है, अर्थात् जहां काव्य की रचना रस आदि के तात्पर्य से की जा रही है, वहां सदा ध्वनिकाव्य ही होता है।

ऊपर के विवेचन से ध्वनि काव्य का रूप सुस्पष्ट हो गया है। जिस काव्य में वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का अतिशय होता है, वह ध्वनि काव्य होता है। यह अतिशय चारुत्व के उत्कर्ष की विवक्षा के आधार पर होता है। जो काव्य रस आदि के तात्पर्य से निबन्धित होता है, वह सदा ध्वनि काव्य ही होता है।

६. ध्वनि काव्य के भेद

पारमार्थिक रूप से यद्यपि ध्वनि एक ही है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से आचार्यों ने ध्वनिकाव्य के अनेक भेद कर दिये हैं। ध्वनिकाव्य के प्रारम्भिक भेद दो हैं - अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) और विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल)। अविवक्षितवाच्य ध्वनि में वाच्य अर्थ बाधित रहता है, उसकी विवक्षा नहीं रहती। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में वाच्य अर्थ बाधित तो नहीं होता, परन्तु वह व्यङ्ग्यपरक रहता है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं - अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो भेद हैं - असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों के क्रम का बोध नहीं होता। यह रस, भाव आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। इसके अनन्त भेद हो सकते हैं, जिससे इसको एक ही मान लिया गया है।

संलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं - शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और उभयशक्त्युद्भव।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेद कहे गये हैं - अलङ्काररूप और वस्तुरूप।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १२ भेद हैं। इसको पहले तीन वर्गों में विभक्त किया जा

सकता है - स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। इन तीनों में प्रत्येक के क्रमशः दो-दो भेद हैं वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ और अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ। इस प्रकार इस ध्वनि के ६ भेद हो जाते हैं। अब इनमें से प्रत्येक के पुनः दो-दो भेद होते हैं - वस्तुरूपव्यङ्ग्य अर्थ और अलङ्काररूपव्यङ्ग्य अर्थ। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि १२ प्रकार की हो जाती है।

उभयशक्त्युद्भव ध्वनि एक ही प्रकार की होती है।

मम्मट ने ध्वनि के १८ मुख्य भेद 'काव्यप्रकाश' में प्रदर्शित किये हैं, जो कि निम्न प्रकार से हैं -

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के भेद	= १
असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद	= २
शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद	= २
अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद	= १२
उभयशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद	= १
कुल योग	= १८

ध्वनि के इन भेदों को एक चार्ट के रूप में प्रकट किया जा सकता है। यह चार्ट आगे दिया गया है।

७. ध्वनिविरोधी आचार्य

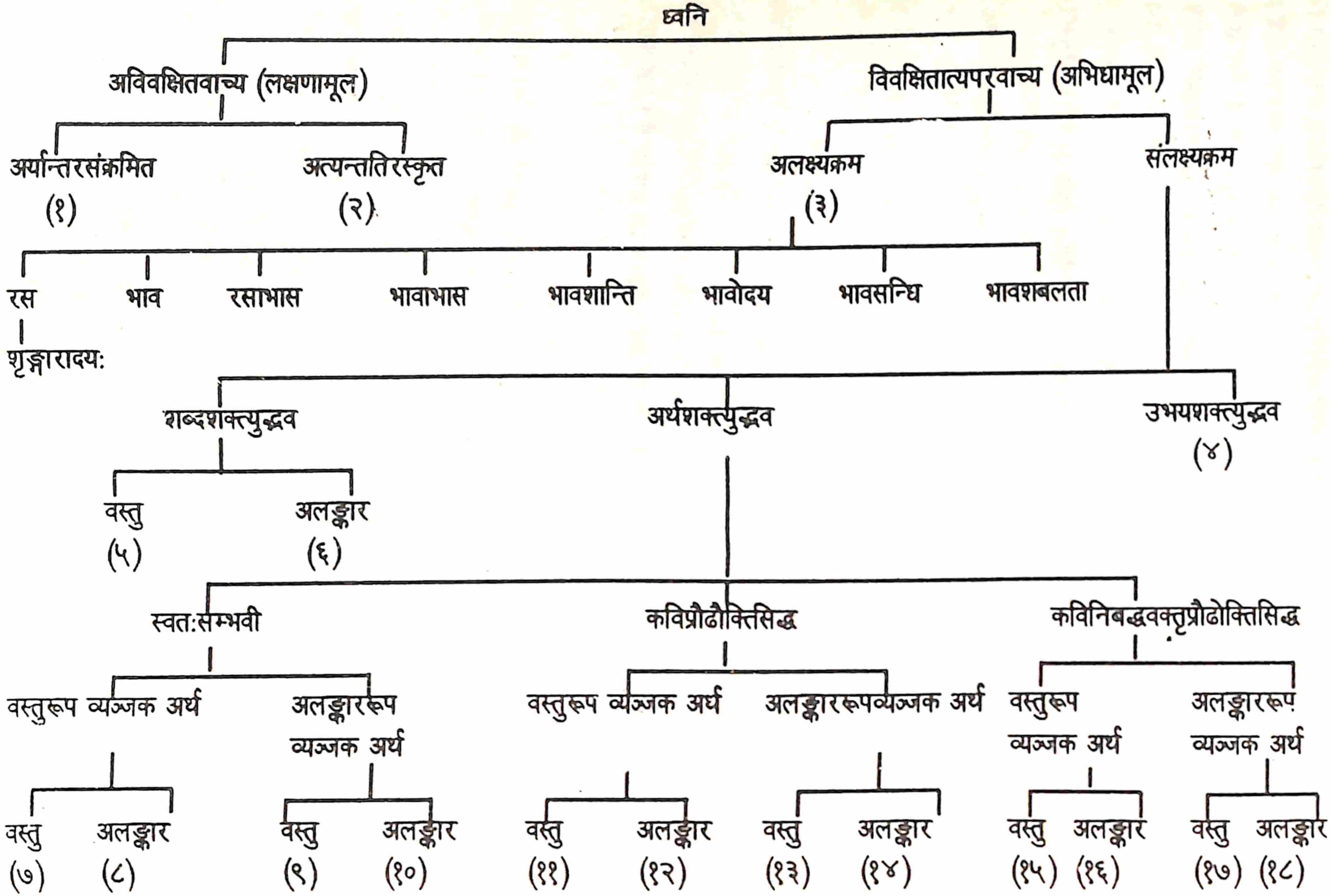
आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना सर्वथा निर्भ्रान्त रूप में की थी। परन्तु इस सिद्धान्त का विरोध आनन्दवर्धन से पहले भी होता रहा और बाद में भी हुआ। अपने से पूर्ववर्ती ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का समाधान तो आनन्दवर्धन ने ही कर दिया था, परन्तु आनन्दवर्धन के पश्चात् होने वाले ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का समाधान मुख्य रूप से अभिनवगुप्त और मम्मट ने किया। उनके पश्चात् यह ध्वनि सिद्धान्त सर्वमान्य रूप से प्रतिष्ठित हो गया। ध्वनि की विवेचना के प्रसंग में ध्वनिविरोधी आचार्यों की युक्तियों तथा उन युक्तियों के समाधान पर संक्षेप से दृष्टिपात करना उपयोगी होगा।

ध्वनि का विरोध करने वाले आचार्यों के मतों को तीन मुख्य वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

(i) पहले ध्वनिविरोधी वे हैं, जिनका प्रतिपादन आनन्दवर्धन से पूर्व हुआ था।

(ii) दूसरे ध्वनिविरोधी वे हैं, जो आनन्दवर्धन के पश्चात् हुये थे।

(iii) तीसरे ध्वनिविरोधी वे हैं, जिनका उल्लेख जयरथ ने 'अलङ्कारसर्वस्व' की टीका में किया था।


ध्वनि
अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल)
विवक्षितात्यपरवाच्य (अभिधामूल)
अर्थान्तरसंक्रमित (१)
अत्यन्ततिरस्कृत (२)
अलक्ष्यक्रम (३)
संलक्ष्यक्रम
रस
शृङ्गारादय:
भाव
रसाभास
भावाभास
भावशान्ति
भावोदय
भावसन्धि
भावशबलता
शब्दशक्त्युद्भव
अर्थशक्त्युद्भव
उभयशक्त्युद्भव (४)
वस्तु (५)
अलङ्कार (६)
स्वत:सम्भवी
कविप्रौढोक्तिसिद्ध
कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध
वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ
अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ
वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ
अलङ्काररूपव्यञ्जक अर्थ
वस्तुरूप व्यञ्जक अर्थ
अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थ
वस्तु (७)
अलङ्कार (८)
वस्तु (९)
अलङ्कार (१०)
वस्तु (११)
अलङ्कार (१२)
वस्तु (१३)
अलङ्कार (१४)
वस्तु (१५)
अलङ्कार (१६)
वस्तु (१७)
अलङ्कार (१८)

इन सबका वर्णन क्रमशः नीचे किया जा रहा है।

(i) आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती ध्वनिविरोधी –

'ध्वन्यालोक' की पहली कारिका में और उसकी वृत्ति में आनन्दवर्धन ने ध्वनिविरोधियों के तीन मतों को और उनकी युक्तियों को प्रस्तुत किया है[३७]। ये तीन मत हैं – अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी। इन तीनों मतों का सारांश निम्न प्रकार से है –

(क) अभाववादी –

अभाववादी आचार्य ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। उनके मत में काव्य में ध्वनि का अस्तित्व है ही नहीं। ये आचार्य मुख्य रूप से वे हैं, जो अलङ्कार को ही काव्य में प्रधान समझते हैं। ध्वनिकार ने इन आचार्यों के तीन पक्षों को प्रस्तुत किया था –

(अ) पहले अभाववादियों का पक्ष है कि काव्य के शरीर की रचना शब्द और अर्थ से होती है। इसलिये इनके सौन्दर्य के आधायक तत्त्व ही काव्य की आत्मा हो सकते हैं। शब्द के सौन्दर्य का आधान अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार और अर्थ के सौन्दर्य का आधान उपमा आदि अर्थालङ्कार करते हैं। ये अलङ्कार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित किये जा चुके हैं। वर्णों और संघटना के सौन्दर्य को प्रतिपादित करने वाले माधुर्य आदि गुण भी कहे जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त उपनागरिका आदि वृत्तियों और वैदर्भी आदि रीतियों का भी कथन हो चुका है। काव्य में सौन्दर्य का आधान ये ही तत्त्व करते हैं। इनसे भिन्न ध्वनि नाम का कोई अन्य तत्त्व काव्य के चारुत्व का हेतु नहीं है।

(ब) दूसरे अभाववादियों ने परम्परा का आश्रय लिया है। उनका कथन है कि सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्य की रचना करते हैं। काव्य की रचना और सौन्दर्य का मार्ग प्राचीन परम्परा से प्रसिद्ध रहा है। इस मार्ग से भिन्न अन्य किसी मार्ग से काव्य का चारुत्व सम्भव नहीं है। ध्वनि की कल्पना तो अभी ही ध्वनिवादियों ने की है। परन्तु काव्य के चारुत्व का हेतु यदि ध्वनि को ही स्वीकार करें, तो विद्वान् जन उसको स्वीकार नहीं करेंगे।

(स) तीसरे अभाववादियों का कथन है कि ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ काव्य के चारुत्व का हेतु नहीं है। यदि कोई है भी तो उसका अन्तर्भाव पहले कहे गये अलङ्कार आदि चारुत्व के हेतुओं में किया जा चुका है। इन अलङ्कारों में से किसी एक का नाम ध्वनि रख देने से कोई विशेष बात सिद्ध नहीं हो जायेगी। प्राचीन अलङ्कारवादियों ने वाणी के अनन्त भेद होने से अनेक प्रकार के अलङ्कारों को प्रदर्शित किया था। यदि उन्होंने किसी अलङ्कार विशेष का नाम न भी रखा हो

और ध्वनिवादी उसको ध्वनि नाम दे दें तो यह कोई विशेष बात नहीं होगी।

अभाववादियों के इन तीनों मतों का सारांश यही है कि कि वे अभिधा या वाच्यार्थ में ही ध्वनि का अन्तर्भाव मान लेते हैं। इनके अनुसार सब अर्थों की प्रतीति अभिधा से हो जाती है। अर्थात् शब्द से प्रतीत होने वाले सभी अर्थ वाच्य हैं।

(ख) भक्तिवादी -

भक्तिवादी आचार्यों का अभिमत है कि ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में हो जाता है। इनके अनुसार व्यञ्जनावादियों के व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा हो जाती है। यह व्यङ्ग्य अर्थ वस्तुतः भाक्त या गुणवृत्ति है। इस सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने कहा है -

"इन आचार्यों ने यद्यपि ध्वनि पद का उच्चारण करके उसके लिये भाक्त या गुणवृत्ति पद का व्यवहार नहीं किया, तथापि उन्होंने काव्य में लक्षणा व्यापार के व्यवहार का प्रदर्शन करके ध्वनि के मार्ग का कुछ स्पर्श अवश्य किया। इस प्रकार लक्षणा के व्यवहार का प्रदर्शन करके उन्होंने व्यञ्जनावादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा प्रतिपादित की थी।"

(ग) अलक्षणीयतावादी -

अलक्षणीयतावादी आचार्यों का अभिमत है कि ध्वनि के तत्त्व की व्याख्या वाणी से नहीं की जा सकती। वह सहृदयों के हृदयों द्वारा केवल संवेद्य है। अतः ध्वनि की परिभाषा करना उचित नहीं है।

आनन्दवर्धन ने इन ध्वनिविरोधी पक्षों की युक्तियों का सम्यक् प्रकार से खण्डन करके ध्वनि की स्थापना की थी। परन्तु ध्वनि का यह विरोध अभी शान्त नहीं हुआ। आनन्दवर्धन के पश्चात् भी अनेक आचार्यों ने ध्वनि का विरोध करके अपने पक्षों की स्थापना की थी।

(ii) आनन्दवर्धन के उत्तरवर्ती ध्वनिविरोधी -

आनन्दवर्धन से उत्तरवर्ती जिन आचार्यों ने ध्वनि का विरोध करके नये पक्षों का प्रतिपादन किया था, उनमें चार आचार्य प्रमुख हैं - भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र। इनके मतों का सारांश नीचे दिया जा रहा है -

(क) भट्टनायक -

भट्टनायक का समय आनन्दवर्धन के बाद का और अभिनवगुप्त के पहले का रहा था। इनके ग्रन्थ का नाम 'हृदयदर्पण' या 'सहृदयदर्पण' था। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसका उल्लेख अन्य ग्रन्थों में मिल जाता है। भट्टनायक के पक्ष का खण्डन अभिनवगुप्त ने किया था। अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टनायक ने ध्वनि का खण्डन किया था[३८]। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का कथन है कि 'हृदयदर्पण' में ध्वनि का खण्डन किया गया है[३९]।

भट्टनायक ने व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं किया था। वे रस के आस्वादन को
तो स्वीकार करते थे, परन्तु इसके लिये व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता को स्वीकार नहीं
करते थे। काव्य में उन्होंने केवल अभिधा वृत्ति को ही आवश्यक माना था। रस के
आस्वादन के लिये उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व नामक शक्तियों की उद्भावना की।
भावकत्व शक्ति के द्वारा काव्य के पात्रों का साधारणीकरण होता है तथा भोजकत्व शक्ति
द्वारा सामाजिक रस का आस्वादन करता है।

भट्टनायक के उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने रस के आस्वादन के लिये साधारणीकरण
के सिद्धान्त को तो स्वीकार कर लिया, परन्तु भावकत्व और भोजकत्व शक्तियों का खण्डन
किया। उन्होंने व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा रस की प्रतीयमानता को स्वीकार करके रस की
आस्वाद्यमानता स्वीकार की। परन्तु भट्टनायक ने भोजकत्व व्यापार द्वारा रस का भोग होना
ही स्वीकार किया था।

(ख) महिमभट्ट -

महिमभट्ट ने ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा प्रतिपादित
करने का प्रयास किया था। इसके लिये उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना
की[४०]। वे ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं।

प्राचीन वर्णनों से प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी आचार्यों ने ध्वनि का
अन्तर्भाव अनुमान में करने का प्रयास किया होगा। 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में यद्यपि
अनुमितिवादियों का उल्लेख नहीं है, तथापि तीसरे उद्योत में आनन्दवर्धन ने अनुमितिवादियों
का खण्डन किया है[४१]।

महिमभट्ट अभिधावादी थे और ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ को उन्होंने अनुमेय
सिद्ध किया था। उन्होंने व्यङ्ग्य-व्यञ्जक के स्थान पर लिंग-लिंगीभाव का समर्थन किया
और आनन्दवर्धन के ध्वनि के उदाहरणों में प्रतीयमान अर्थ को अनुमान द्वारा सिद्ध करने
का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में "भम धम्मिअ वीसत्थो०" उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है।

महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन द्वारा की गई ध्वनि की परिभाषा **"यत्रार्थः शब्दो वा०"**
का भी खण्डन किया और इसकी कठोर आलोचना की[४२]।

महिमभट्ट की विद्या, विद्वत्ता, प्रतिभा और बुद्धि की प्रौढता यद्यपि स्पष्ट है, तथापि
समाज में उनको अधिक आदर नहीं मिला। अपने पक्ष को प्रतिपादित करने में वे अकेले
ही रह गये। 'व्यक्तिविवेक' के टीकाकार रुय्यक ने स्वयं अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' ग्रन्थ में
व्यक्तिविवेकार का खण्डन किया था[४३] और उनका उपहास किया था[४४]।

महिमभट्ट को जो मान्यता नहीं मिली तथा समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, उसके तीन
कारण विष्णुपद भट्टाचार्य ने लिखे हैं[४५]-

(१) महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन जैसे प्रतिष्ठित समालोचक और कवि की आलोचना की थी।

(२) महिमभट्ट की भाषा अत्यधिक कठोर और कठिन थी।

(३) महिमभट्ट को कोई उत्तम व्याख्याकार नहीं मिला। यदि उनको अभिनवगुप्त जैसा कोई व्याख्याकार मिल जाता तो स्थिति इससे भिन्न होती।

(ग) कुन्तक -

ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने के विरोध में कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। परन्तु कुन्तक का उद्देश्य ध्वनि का विरोध करना उतना नहीं था, जितना कि वक्रोक्ति की स्थापना करना। कुन्तक ने वक्रोक्ति को शब्द और अर्थ से भिन्न महनीय पदार्थ नहीं माना जैसे कि ध्वनिवादी आचार्य रस और अलङ्कार ध्वनि को मानते हैं। यह वक्रोक्ति शब्द और अर्थ में व्याप्त रहती है तथा काव्य की प्राणभूत है।

कुन्तक ने ध्वनिकार के ध्वनि के प्रभेदों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया था। उन्होंने काव्य में रस की महत्ता को तो अवश्य स्वीकार किया, परन्तु रस को वक्रता से भिन्न नहीं माना। रस को वक्रोक्ति में सम्मिलित करके कुन्तक ने उसको अलङ्कार मान लिया। कुन्तक के अनुसार काव्य में रस भी उसी प्रकार चमत्कार उत्पन्न करते हैं, जैसे अन्य अलङ्कार करते हैं।

कुन्तक ने आनन्दवर्धन की लक्षणामूल ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित भेद को पदपूर्वार्द्धवक्रता के रूढिवैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत समाविष्ट किया था और अत्यन्ततिरस्कृत भेद को उपचारवक्रता में समाविष्ट किया[४६]।

कुन्तक ने व्यञ्जना व्यापार की स्वतन्त्र सत्ता और प्रतीयमान अर्थ की विद्यमानता को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार वाचक शब्द और वाच्य अर्थ ही काव्य में प्रसिद्ध होते हैं और ये परमार्थरूप से काव्य का निर्माण करते हैं। व्यङ्ग्य अर्थ भी वस्तुतः वाच्य होता है[४७]।

(घ) क्षेमेन्द्र -

क्षेमेन्द्र को वास्तविक रूप में ध्वनिविरोधी नहीं कहा जा सकता। परन्तु इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा न मान कर औचित्य को उसकी आत्मा प्रतिपादित किया। अतः ध्वनिविरोधियों में इनकी गणना की जाती है।

काव्य के समीक्षकों में क्षेमेन्द्र का प्रमुख स्थान है। ये अभिनवगुप्त के शिष्य थे। इन्होंने औचित्य को काव्य का प्राण तथा रसजीवितभूत कहा था।

औचित्य का प्रतिपादन सबसे पहले क्षेमेन्द्र ने किया हो, ऐसा नहीं है। इसका प्रतिपादन ध्वनिवादी आचार्यों ने - आनन्दवर्धन, मम्मट आदि ने भी किया था। रस की

सम्यक् अभिव्यञ्जना के लिये विभाव, अनुभाव और स्थायी भावों के कथन में औचित्य का ध्यान रखना चाहिये। औचित्य के अभाव में रसभंग दोष उत्पन्न होता है[४८]।

क्षेमेन्द्र की मुख्य विशेषता यह रही कि उसने काव्य के सौन्दर्य के आधायक सभी तत्त्वों - गुण, अलङ्कार, रस आदि का समावेश औचित्य में ही कर लिया था। उन्होंने औचित्य को काव्य का जीवितसर्वस्व माना। औचित्य की परिभाषा क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार की थी -

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।। औचित्यविचारचर्चा - ७।।

क्षेमेन्द्र का कथन था -

जिस प्रकार भौतिक अलङ्कार उचित अंगों में पहने जाकर ही शरीर के सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं और अनुचित अंगों में पहने जाकर कुरूपता को ही उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार काव्यगत गुण और अलङ्कार उसी अवस्था में काव्य की शोभा के आधायक होते हैं, जब कि वे उचित रूप से नियोजित किये गये हों[४९]।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने काव्य में ध्वनि की अपेक्षा औचित्य को अधिक महत्त्व दिया था और उसको काव्य का जीवित माना था।

(iii) जयरथ द्वारा प्रदर्शित ध्वनिविरोधी मत -

रुय्यककृत 'अलङ्कारसर्वस्व' की टीका में जयरथ ने ध्वनि के विरोधी १२ मतों का प्रदर्शन किया है। ध्वनि सिद्धान्त पर समय-समय जो आक्षेप किये जाते होंगे, उनको किसी विद्वान् ने संकलित करके कारिकाओं के रूप में निबद्ध कर लिया होगा। जयरथ ने उन कारिकाओं को संकलित करके अपनी टीका में प्रस्तुत किया। वे कारिकायें इस प्रकार हैं -

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिति द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित् तन्त्रं समासोक्त्याद्यलङ्कृतिः।।
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः।।

ध्वनि के सम्बन्ध की ये १२ विप्रतिपत्तियां कही जाती हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार से है -

(१) तात्पर्या शक्ति -

तात्पर्या शक्ति मानने वाले अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का यह अभिमत है।

(२) अभिधा -

यह अभिमत तात्पर्या वृत्ति न मानने वाले अन्विताभिधानवादी मीमांसक आचार्यों का है।

(३-४) लक्षणा -

तीसरा और चौथा मत लक्षणावादियों का है। लक्षणा दो प्रकार की है - जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था। लक्षणावादी इन लक्षणा व्यापारों द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति प्रतिपादित करते हैं।

(५-६) द्विधा अनुमिति -

अनुमान के दो भेद हैं - स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। शंकुक, महिमभट्ट आदि आचार्यों ने इन दो प्रकार के अनुमानों द्वारा ही ध्वनि को अनुमेय प्रतिपादित किया था। इनके अनुसार विविध प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ अनुमेय ही हैं।

(७) अर्थापत्ति -

यह मत उन ध्वनिविरोधी मीमांसकों का है, जो अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ को प्रतिपादित करते हैं। यह अर्थापत्ति दो प्रकार की है - श्रुतार्थापत्ति और दृष्टार्थापत्ति।

(८) तन्त्र -

अनेक अर्थों को जतलाने की इच्छा से एक ही पद का उच्चारण करना तन्त्र कहलाता है[५०]। तन्त्रवादियों के मत में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के बोध की इच्छा से तन्त्र का प्रयोग करने से व्यङ्ग्य अर्थ का बोध हो जाता है।

(९) समासोक्ति आदि अलङ्कार -

ये प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्य हैं, जो समासोक्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, अन्योक्ति, भाव, व्यतिरेक आदि अलङ्कारों में व्यङ्ग्य अर्थ का अन्तर्भाव मानते हैं। इनका खण्डन स्वयं आनन्दवर्धन ने किया था।

(१०) रसकार्यता -

यह मत भट्टलोल्लट आदि प्राचीन अलङ्कारवादियों का है। इनके मत में रस कार्य है, जिसकी उत्पत्ति होती है। रस प्रतीयमान नहीं हैं। इनका खण्डन भी आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में किया था।

(११) भोग -

भट्टनायक ने रस को भोज्य माना था। उन्होंने रस की उत्पत्ति, अनुमिति और अभिव्यक्ति के सिद्धान्त का खण्डन किया था । भट्टनायक का मत था कि अभिधा से विभाव आदि वाच्य होते हैं। तदनन्तर भावकत्व व्यापार द्वारा इनका साधारणीकरण होता है। इसके पश्चात् भोजकत्व व्यापार द्वारा रस का भोग होता है। अभिनवगुप्त ने इनके मत का खण्डन किया है।

(१२) व्यापारान्तरबाधन –

यह मत किसका है, इस विषय में मतभेद है। डा० राघवन् के अनुसार यह मत वक्रोक्तिवादियों का है, क्योंकि वक्रोक्ति व्यापार ध्वनि को अपने अन्तर्गत कर लेता है। परन्तु महामहोपाध्याय कुप्पू स्वामी के अनुसार यह मत अलक्षणीयतावादियों का है। वे कहते हैं कि वक्रोक्ति तो अलङ्कारों में सम्मिलित है। पुनः कुन्तक ने भी ध्वनि को स्वीकार अवश्य किया है, यद्यपि उसका समावेश वे वक्रोक्ति में कर लेते हैं और ध्वनि को वे काव्य की आत्मा नहीं मानते।

ध्वनिविरोधी मतों के इन विभिन्न पक्षों का उत्तर आनन्दवर्धन और उनके उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने दिया था। ध्वनिविरोधियों की युक्तियों को देख कर उनके खण्डन का भी विवरण संक्षेप से देना उचित है।

८. ध्वनिविरोधी मतों की युक्तियां और उनका खण्डन

ऊपर जिन ध्वनिविरोधी मतों या पक्षों का उल्लेख किया गया है, सम्यक् प्रकार से विवेचन करने पर उनको छः वर्गों में विभक्त किया जा सकता है –

(१) प्राचीन अलङ्कारवादी आचार्य अलङ्कारों में ही ध्वनि का समावेश कर लेते हैं। वे अलङ्कार आदि के मार्ग से भिन्न अन्य किसी चारुत्व के मार्ग को स्वीकार नहीं करते।

(२) ध्वनि अलक्षणीय है और इसका लक्षण नहीं किया जा सकता।

(३) कुछ अलङ्कारवादी आचार्य ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से ही मानते हैं तथा इस अर्थ को वे वाच्य ही मानते हैं।

(४) कुछ विद्वान् ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा प्रतिपादित करते हैं।

(५) अन्य आचार्यों के अनुसार प्रतीयमान अर्थ होता तो है, परन्तु उसकी प्रतीति अभिधा से हो जाती है। इसलिये व्यञ्जना वृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है।

(६) अन्य आचार्य ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुमान से करते हैं।

इन सभी पक्षों की विशद आलोचना 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रन्थों में की गई है। इस सबका सारसंक्षेप यहां प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। ध्वनि का विरोध करने वाले आचार्यों की युक्तियों का खण्डन करने के लिये निम्न दस प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं –

(१) पहला प्रमाण –

अलङ्कारवादियों का यह कहना कि शब्दार्थगत चारुत्व हेतु अनुप्रास एवं उपमा आदि अलङ्कारों तथा गुण, रीति, वृत्ति आदि से भिन्न ध्वनि का कोई अलग मार्ग नहीं है, उचित नहीं है। अलङ्कार आदि का विषय अलग है और ध्वनि का विषय अलग है।

अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार केवल शब्द और अर्थ को ही अलङ्कृत करते हैं। परन्तु ध्वनि का स्थान इनसे अलग है।

अलङ्कारवादियों का यह कथन भी समुचित नहीं है कि अलङ्कार के प्रसिद्ध मार्ग को छोड़ कर अन्य मार्ग का अवलम्बन करने से काव्यत्व की हानि होगी। क्योंकि ध्वनि का मार्ग केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं हुआ। उत्तम काव्यों की परीक्षा करने पर उनमें ध्वनि ही सहृदयाह्लादक तत्त्व सिद्ध होता है। ध्वनि से रहित काव्य को केवल चित्रकाव्य ही कहा जा सकता है।

अलङ्कारवादियों का यह कथन भी कि ध्वनि चारुत्व का हेतु है और अलङ्कार भी चारुत्व के हेतु हैं, अत: ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कारों में ही हो जायेगा,उचित नहीं है। अलङ्कार केवल वाच्य और वाचक का आश्रय लेकर ही रहते हैं, परन्तु ध्वनि का आश्रय व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव है। अलङ्कार अंगरूप हैं और ध्वनि अंगीरूप है। अलङ्कार स्वल्पविषय हैं और ध्वनि महाविषय है। इसलिये ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कारों में नहीं हो सकता।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि ध्वनि का मार्ग अलङ्कार आदि के मार्ग से भिन्न है। ध्वनि तत्त्व सहृदयहृदयाह्लादक है और उसका समावेश अलङ्कार आदि में नहीं किया जा सकता।

(२) दूसरा प्रमाण -

ध्वनि अलक्षणीय भी नहीं है। ध्वनि के सामान्य तथा विशेष लक्षण उत्तम प्रकार से प्रतिपादित किये गये हैं। अत: इसको अलक्षणीय नहीं कहा जा सकता।

(३) तीसरा प्रमाण -

ध्वनि अभिधेय नहीं हो सकती। ध्वनि के मुख्य रूप से दो भेद हैं - अविवक्षिताच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। इनमें अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणामूल है और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अभिधामूल है। यदि प्रतीयमान अर्थ को वाच्य मान भी लें, तो इसमें अविवक्षितवाच्य ध्वनि का समावेश नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि अभिधा के विफल हो जाने पर ही लक्षणा द्वारा लक्ष्य अर्थ का बोध होकर तदनन्तर प्रतीयमान अर्थ का बोध होता है। अत: ध्वनि को अभिधा व्यापार का विषय नहीं बनाया जा सकता। इसको लक्षणा के अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में अभिधा के विफल न होने से लक्षणा के प्रयोग का अवसर ही उपस्थित नहीं होता।

(४) चौथा प्रमाण -

वाच्य और प्रतीयमान अर्थ एक नहीं होते। अत: प्रतीयमान अर्थ अभिधा का विषय नहीं हो सकता। वाच्य और प्रतीयमान अर्थों में बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति,

काल, आश्रय, विषय आदि हेतुओं के भेद के कारण भिन्नता होती ही है[५१]। इन हेतुओं की विवेचना निम्न प्रकार से है -

(क) बोद्धा -

बोद्धा के भेद से वाच्य और प्रतीयमान अर्थ भिन्न होते हैं। वाच्य अर्थ का बोध शब्द और अर्थ का अनुशासन करने वाले कोष, व्याकरण आदि से ही हो सकता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति काव्य के मर्म को जानने वाले सहृदयों को ही होती है[५२]।

(ख) स्वरूप -

वाच्य और प्रतीयमान अर्थों में स्वरूप का भी भेद होता है। वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर भी कहीं प्रतीयमान अर्थ निषेधरूप हो सकता है। वाच्य अर्थ के निषेध रूप होने पर भी प्रतीयमान अर्थ कहीं विधिरूप हो सकता है। कहीं वाच्य अर्थ के विधि अथवा निषेधरूप होने पर भी प्रतीयमान अर्थ अनुभयरूप हो सकता है। कहीं वाच्य अर्थ के संशयात्मक होने पर भी प्रतीयमान अर्थ निश्चयात्मक हो सकता है।

(ग) संख्या -

वाच्य और प्रतीयमान अर्थों में संख्या की दृष्टि से भी भेद हो सकता है। वाच्य अर्थ सभी श्रोताओं के लिये एकरूप होता है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ विभिन्न श्रोताओं के लिये अलग-अलग हो सकता है। वाच्य अर्थ के साक्षात् संकेतित होने से इसका स्वरूप तथा स्वभाव नियत होता है। परन्तु प्रकरण आदि के कारण व्यङ्ग्य अर्थ अनियत रूप तथा अनियत स्वभाव का होता है।

(घ) निमित्त -

वाच्य अर्थ का बोध शब्द-ज्ञान से तथा प्रकरण आदि की सहायता से हो जाता है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति विशिष्ट प्रतिभा की निर्मलता से होती है।

(ङ) कार्य -

वाच्य अर्थ का कार्य वस्तु का केवल ज्ञानमात्र कराना है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ से आनन्दरूप चमत्कार का आस्वादन होता है।

(च) प्रतीति -

वाच्य अर्थ की प्रतीति शब्दबोधमात्र है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति शब्दमय होने के साथ चमत्कारमय भी होती है।

(छ) काल -

वाच्य अर्थ का बोध पहले होता है और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति उसके पश्चात् होती है। यह कालभेद अवश्य विद्यमान रहता है, चाहे वह काव्य संलक्ष्यक्रम हो या

अलक्ष्यक्रम हो। अलक्ष्यक्रम काव्य में यह कालभेद होने पर भी लक्षित नहीं होता।

(ज) आश्रय –

वाच्य अर्थ का आश्रय शब्द या पद होता है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का आश्रय शब्द, शब्द का अर्थ, शब्द का एक अंश, वर्ण, संरचना आदि सभी हो सकते हैं।

(झ) विषय –

वाच्य अर्थ का विषय नियत होता है। यह बोध्य व्यक्ति के लिये ही होता है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का विषय नियत भी हो सकता है, अनियत भी और सम्बद्ध भी हो सकता है।

इस प्रकार इन हेतुओं की भिन्नता के कारण वाच्य और प्रतीयमान अर्थ एक नहीं हो सकते और ध्वनि का समावेश अभिधा में नहीं हो सकता।

(५) पांचवां प्रमाण –

अभिधा केवल अन्वित अर्थ का ही बोध कराती है, अनन्वित का नहीं। परन्तु प्रतीयमान अर्थ अनन्वित भी हो सकता है। जैसे **"रुचिं कुरु"** पद में अन्वित वाच्य अर्थ सर्वथा दोषरहित है, परन्तु पदों के मध्य में **"चिंकु"** वर्णों से अनन्वित दोषयुक्त अश्लील अर्थ की प्रतीति हो जाती है। यह प्रतीति अभिधा से सम्भव नहीं है।

(६) छठा प्रमाण –

संयोग आदि द्वारा अभिधा का नियन्त्रण हो जाने से अनेकार्थक शब्दों से अभिधा द्वारा एक ही वाच्य अर्थ का बोध होता है। परन्तु अनेक बार इनसे दूसरे अर्थ की प्रतीति भी हो जाती है। यह दूसरा अर्थ सदा व्यङ्ग्य होता है। भर्तृहरि ने संयोग आदि की गणना इस प्रकार की है -

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्याऽन्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

इन हेतुओं का स्वरूप निम्न प्रकार से है -

(क) संयोग –

संयोग का अर्थ है – प्रसिद्ध सम्बन्ध। यथा – हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं – विष्णु, यम, इन्द्र, शुक, कपि, सिंह आदि। परन्तु **"सशंखचक्रः हरिः"** में हरि पद का अर्थ विष्णु ही होगा, क्योंकि शंख और चक्र का सम्बन्ध लोक में विष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है।

(ख) विप्रयोग –

विप्रयोग का अभिप्राय है – प्रसिद्ध सम्बन्ध का अभाव। **"अशंखचक्रः हरिः"** कहने

पर हरि पद का अर्थ विष्णु ही होगा। शंख और चक्र से विप्रयोग (सम्बन्ध का अभाव) विष्णु से ही हो सकता है।

(ग) साहचर्य -

साहचर्य का अभिप्राय है - सदा साथ रहना। राम पद के अनेक अर्थ हैं - बलराम, परशुराम, दशरथपुत्र राम, सुन्दर आदि। लक्ष्मण पद के भी अनेक अर्थ हैं - दुर्योधनपुत्र लक्ष्मण, दशरथपुत्र लक्ष्मण, सारस आदि। परन्तु **"रामलक्ष्मणौ"** पद का उच्चारण करने पर इन पदों से दशरथपुत्र राम और लक्ष्मण अर्थ का ही बोध होता है, क्योंकि लोक में इन्हीं का साहचर्य सम्बन्ध प्रसिद्ध है।

(घ) विरोधिता -

विरोधिता का अर्थ है - प्रसिद्ध वैर सम्बन्ध। राम पद के अनेक अर्थ हैं। अर्जुन पद के भी अनेक अर्थ हैं - कार्तवीर्य अर्जुन, पाण्डुपुत्र अर्जुन, वृक्षविशेष आदि। **"रामार्जुनगतिस्तयोः"** कहने पर इन पदों के अनेकार्थक होने पर भी इन दोनों पदों का वाच्य अर्थ परशुराम और कार्तवीर्य अर्जुन ही होगा, क्योंकि लोक में इन दोनों का ही वैर सम्बन्ध प्रसिद्ध है।

(ङ) अर्थ -

अर्थ पद का अभिप्राय है - ऐसा फल, जो अन्यथा प्राप्त न हो सके। स्थाणु पद के अनेक अर्थ हैं - ठूंठ, शंकु, शिव आदि। **"स्थाणुं भज भवच्छिदे"** वाक्य में स्थाणु पद का अर्थ शिव ही होगा, क्योंकि शिव की उपासना करने से ही भवच्छेद रूप फल की प्राप्ति हो सकती है।

(च) प्रकरण -

प्रकरण का अभिप्राय है - वक्ता-श्रोता की बुद्धि में किसी बात का स्थिर रहना। देव पद के अनेक अर्थ होते हैं - राजा, मेघ, देवता आदि। **"सर्वं जानाति देवः"** वाक्य में देव पद का वाच्य अर्थ राजा होगा, क्योंकि प्रकरण के अनुसार सम्मुख विद्यमान राजा ही वक्ता और श्रोता की बुद्धि में स्थित है।

(छ) लिंग -

लिंग का अभिप्राय है - असाधारण धर्म। मकरध्वज पद के अनेक अर्थ हैं - कामदेव, समुद्र आदि। **"कुपितो मकरध्वजः"** वाक्य में मकरध्वज पद का वाच्य अर्थ कामदेव ही होगा, क्योंकि किसी युवक के प्रति कामदेव का कुपित होना ही उसका असाधारण धर्म हो सकता है।

(ज) अन्य शब्द की सन्निधि -

अनेकार्थक शब्द के साथ किसी नियत अर्थ का वाचन करने वाले शब्द का समीप होना। देव पद के अनेक अर्थ होते हैं। **"देवस्य पुरारातेः"** वाक्य में पुराराति

(शिव) पद के सामीप्य के कारण देव पद का वाच्य अर्थ भी शिव ही होगा।

(झ) सामर्थ्य -

सामर्थ्य का अभिप्राय है - समर्थता या योग्यता। मधु पद के अनेक अर्थ होते हैं - वसन्त, पुष्परस, शहद, मद्य आदि। **"मधुना मत्तः कोकिलः"** वाक्य में मधु पद का अर्थ वसन्त ऋतु ही होगा, क्योंकि वसन्त ऋतु ही कोकिल को उन्मत्त करने में समर्थ है।

(ञ) औचिती -'

औचित्य या योग्यता । मुख पद अनेकार्थक होता है - अनुकूलता, प्रारम्भ, मुख आदि। **"पातु वो दयितामुखम्"** वाक्य में मुख पद का वाच्य अर्थ अनुकूलता ही होगा, क्योंकि दयिता की अनुकूलता से ही प्रिय की रक्षा सम्भव है।

(ट) देश -

देश का अभिप्राय है - स्थानविशेष। परमेश्वर पद के अनेक अर्थ होते हैं - राजा, विष्णु, शिव, परमात्मा आदि। **"भाति अत्र परमेश्वरः"** वाक्य में परमेश्वर पद का वाच्य अर्थ राजा ही होगा, क्योंकि अत्र पद से राजधानी का द्योतन होता है और राजधानी में राजा ही शोभायमान होता है।

(ठ) काल -

काल का अभिप्राय है - समयविशेष। चित्रभानु पद के अनेक अर्थ हैं - अग्नि, सूर्य आदि। **"चित्रभानुः विभाति"** वाक्य को यदि दिन में कहा जावे तो चित्रभानु पद का अर्थ सूर्य होगा। रात्रि में कहने पर इसका अर्थ अग्नि होगा।

(ड) व्यक्ति -

व्यक्ति का अभिप्राय है - पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। मित्र पद के अनेक अर्थ हैं - सूर्य, सुहृद् आदि। **"मित्रं भाति"** वाक्य में मित्र पद का वाच्य अर्थ सुहृद् होगा, क्योंकि सुहृद् अर्थ में यह नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है। **"मित्रो भाति"** वाक्य में मित्र पद का अर्थ सूर्य होगा, क्योंकि सूर्य अर्थ में यह पद पुल्लिंग में प्रयुक्त होता है।

(ढ) स्वर -

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। स्वर द्वारा केवल वेद में ही अनेकार्थक शब्दों की वाचकता नियन्त्रित होती है। इन स्वरों की विशेषता वेद में ही देखी जाती है। **"इन्द्रशत्रुः"** पद को आद्युदात्त पढा जाने पर यहां बहुब्रीहि समास होगा और इसका अर्थ होगा - **"इन्द्रः शातयिता यस्य सः"**। यदि इसको अन्तोदात्त पढा जायेगा तो यहां षष्ठी तत्पुरुष समान होगा और इसका अर्थ होगा - **"इन्द्रस्य शत्रुः"**।

(ण) आदि –

आदि से अभिनय आदि का ग्रहण किया जाता है। अभिनय द्वारा भी वाचकता का नियन्त्रण होता है।

इस प्रकार प्रकरण आदि द्वारा अभिधा के किसी विशेष अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर भी अनेकार्थक शब्दों से उन अर्थों की प्रतीति हो जाती है, जो नियन्त्रित नहीं हुये थे। अतः वे अर्थ वाच्य नहीं होंगे। उन अर्थों की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होती है, क्योंकि व्यञ्जना का नियन्त्रण नहीं होता। इसलिये व्यञ्जना या व्यङ्ग्य अर्थ का समावेश अभिधा या वाच्य अर्थ में नहीं हो सकता।

(७) सातवां प्रमाण –

व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती, इसलिये ध्वनि का समावेश लक्षणा में नहीं हो सकता। प्रयोजनवती लक्षणा में लक्षणा द्वारा पहले लक्ष्य अर्थ का बोध होकर पुनः व्यञ्जना द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है। यह व्यङ्ग्य अर्थ ही प्रयोजन रूप होता है।

उदाहरण के लिये **"गंगायां घोषः"** वाक्य है। इस वाक्य में **"गंगा"** पद का वाच्य अर्थ **"गंगा का प्रवाह"** बाधित हो जाता है, क्योंकि गंगा के प्रवाह में घोष की स्थिति नहीं हो सकती। अतः यहां लक्षणा द्वारा **"गंगा"** पद का अर्थ **"गंगातट"** करते हैं। इस वाक्य में **"गंगातटे"** पद का प्रयोग न करके **"गंगायाम्"** पद का प्रयोग कर लक्षणा द्वारा अर्थ करने का विशेष प्रयोजन है। वह प्रयोजन यह है कि घोष में शीतलत्व, पावनत्व आदि धर्मों की प्रतीति हो सके। इस वाक्य में **"गंगायाम्"** पद का **"गंगातट पर"** अर्थ लक्षणा द्वारा विदित होता है और शीतलत्व, पावनत्व आदि धर्मों की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होती है। अतः ऐसे स्थलों में लक्षणा का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि लक्ष्य अर्थ के बोधित होने के पश्चात् प्रयोजन की प्रतीति हो सके और यह प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार द्वारा होती है[५३]।

यहां प्रयोजन की प्रतीति अभिधा द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि **"गंगा"** पद शीतलत्व आदि धर्मों को साक्षात् संकेतित नहीं करता। यहां इन प्रयोजनों की प्रतीति लक्षणा द्वारा भी नहीं होती, क्योंकि लक्षणा के लिये मुख्यार्थबाध आदि तीन हेतुओं की अपेक्षा होती है, जो कि यहां नहीं हैं[५४]। यदि किसी प्रकार प्रयोजनों को लक्ष्य अर्थ मान भी लिया जावे, तो उसके लिये पुनः अन्य प्रयोजन की कल्पना करनी होगी और इस प्रयोजन को लक्ष्य अर्थ मानने के लिये पुनः किसी और प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार यहां अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा[५५]। लक्षणा द्वारा प्रयोजन से विशिष्ट अर्थ भी बोधित नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान का फल और ज्ञान का विषय भिन्न होते हैं[५६]। जिस प्रकार ज्ञान का विषय घट है तथा उसमें उत्पन्न ज्ञातता या संवित्ति उस ज्ञान का फल है तथा ये दोनों भिन्न-भिन्न

होते हैं, उसी प्रकार लक्षणा का विषय लक्ष्य अर्थ है और प्रयोजन इसके फल हैं। ये लक्ष्य अर्थ और प्रयोजन अलग-अलग होते हैं। अत: प्रयोजन से विशिष्ट लक्ष्य अर्थ का बोध लक्षणा द्वारा नहीं हो सकेगा।

इसलिये ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं किया जा सकता।

(८) आठवां प्रमाण -

लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ एक नहीं हो सकते। इनमें निम्न प्रकार से भेद होते हैं-

(क) व्यङ्ग्य अर्थ के समान लक्ष्य अर्थ यद्यपि अनेक प्रकार का हो सकता है, तथापि लक्ष्य अर्थ सदा वाच्य अर्थ से सम्बद्ध होता है। यह कभी भी वाच्य अर्थ से असम्बद्ध या अनियत सम्बन्ध नहीं होता। व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ से नियत सम्बन्ध भी हो सकता है, अनियत सम्बन्ध भी हो सकता है और सम्बद्ध सम्बन्ध भी हो सकता है।

(ख) मुख्यार्थबाध होने पर लक्षणा के प्रयोग की अवस्था में लक्ष्य अर्थ का बोध होता है। व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति मुख्यार्थबाध के न होने तथा लक्षणा के अभाव में भी होती है।

(ग) लक्षणा व्यापार में प्रयोजन की प्रतीति के लिये एक अन्य व्यापार व्यञ्जना का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु व्यञ्जना व्यापार में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार की आवश्यकता नहीं है।

(घ) जिस प्रकार अभिधा साक्षात् संकेत पर निर्भर करती है, उसी प्रकार लक्षणा को मुख्यार्थबाध आदि तीन हेतुओं की अपेक्षा होती है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराने के लिये व्यञ्जना को किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं है।

(ङ) लक्षणा का व्यापार व्यञ्जना के व्यापार से भिन्न है। लक्षणा में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लक्ष्य अर्थ के अनन्तर होती है। परन्तु व्यञ्जना व्यापार में यह सर्वत्र आवश्यक नही है। अभिधा के आश्रय से भी, विना लक्षणा व्यापार के भी व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। लक्षणा और अभिधा इन दोनों के विना भी, अवाचक वर्णों से भी व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। वर्णों के विना भी, केवल चक्षु आदि के संकेत से भी व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है।

इस प्रकार लक्षणा व्यापार और लक्ष्य अर्थ क्रमश: व्यञ्जना व्यापार और व्यङ्ग्य अर्थ से सर्वथा भिन्न होने के कारण ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं किया जा सकता।

(९) नवां प्रमाण -

रस आदि का अनुभव अभिधा या लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिये व्यञ्जना व्यापार को मानना ही होगा। अभिधा और लक्षणा से उन्हीं वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है, जो प्रत्यक्ष आदि द्वारा पूर्वसिद्ध हों। परन्तु रसरूप वस्तु अनुभव से पहले विद्यमान नहीं होती, अत: उनमें पूर्वसिद्धता नहीं हो सकती। इसलिये उसका अनुभव अभिधा या लक्षणा

से नहीं हो सकेगा। लक्षणा द्वारा भी लक्ष्य अर्थ का बोध तभी हो सकता है, जबकि मुख्यार्थबाध आदि हेतु विद्यमान हों। रस की प्रतीति में मुख्यार्थबाध के न होने से लक्षणा का प्रयोग नहीं हो सकेगा[५७]। अतः अभिधा या लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

(१०) दसवां प्रमाण -

व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा भी नहीं हो सकती, अतः व्यङ्ग्य अर्थ अनुमेय नहीं है। महिमभट्ट ने ध्वनिवादियों के व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति को अनुमान द्वारा प्रतिपादित करने के लिये 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी[५८]। उन्होंने कहा था कि ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिये जिस व्यञ्जकता सामग्री को स्वीकार किया था, वही सामग्री अन्ततोगत्वा अनुमिति के पक्षमें सिद्ध होती है[५९]।

महिमभट्ट ने ध्वनिकार के **"भम धम्मिअ वीसत्थो०"** उदाहरण में निषेध रूप अर्थ का प्रतिपादन अनुमान के द्वारा किया था। इसमें **"गोदावरीतीरे"** को पक्ष, **"भीरुभ्रमण का निषेध"** को साध्य तथा **"भय के कारणभूत सिंह की उपलब्धि"** को उन्होंने हेतु बनाया। **"भय के कारणभूत सिंह की उपलब्धि"** हेतु से **"गोदावरीतीर"** पक्ष में **"भीरु के भ्रमण का निषेध"** रूप साध्य की सिद्धि अनुमिति द्वारा होती है।

परन्तु महिमभट्ट का यह मत स्वयं खण्डित हो जाता है। वही हेतु अपने साध्य का अनुमान करा सकता है, जो ऐकान्तिक हो, अविरुद्ध हो, नियत हो और सिद्ध हो। **"भय के कारणभूत सिंह की उपलब्धि"** रूप हेतु में सभी दोष विद्यमान हैं।

भीरु व्यक्ति भी गुरु या स्वामी के आदेश से भय का कारण होने पर भी भय के स्थान पर भ्रमण कर सकता है। अतः यह हेतु अनैकान्तिक है। कुत्ते के स्पर्श से डरता हुआ भी वीरता के कारण सिंह से नहीं डरता। अतः यह हेतु विरुद्ध है। गोदावरी के तट पर सिंह की उपस्थिति किसी प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः यह हेतु अनियत है। सिंह की उपस्थिति एक पुंश्चली के वचन से सिद्ध होती है और उसके वचन की कोई प्रामाणिकता नहीं है। अतः यह हेतु असिद्ध भी है।

इस प्रकार सभी दोषों से युक्त होने के कारण इस हेतु से धार्मिक के गोदावरी के तीर पर अभ्रमण रूप अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा अनुमित नहीं हो सकती। इसके लिये व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार करना ही होगा।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का कथन है -

"व्यञ्जना वृत्ति से प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्य अर्थ रस आदि की प्रतीति कराने में अनुमान समर्थ नही होता। रस के अनुमेय होने में अनुमितिवादियों ने जो हेतु दिये हैं, वे हेतु नहीं हैं, अपितु हेत्वाभास हैं। रस को स्मृति का विषय भी नहीं कहा जा सकता। स्मृति

तो पूर्व अनुभव का संस्काररूप प्रबोध है, जबकि रस साक्षात्स्वरूप होते हैं[६०]।"

प्रतीयमान अर्थ को अनुमान में अन्तर्भावित करने का पहला प्रयत्न महिमभट्ट का ही नहीं था। आनन्दवर्धन से पूर्व भी या उनके समय में ही यह प्रश्न उठा होगा कि प्रतीयमान अर्थ अनुमेय हो सकता है। ध्वनिकार ने 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में इस प्रश्न को उठा कर इसका समाधान किया है। ३३वीं कारिका की वृत्ति में इसका विवेचन इस प्रकार है -

"यहां व्यञ्जकत्व को अस्वीकार करने का अवसर है। शब्दों का जो व्यञ्जकत्व है, वह भी गमकत्व है और वह लिंगत्व है। अतः व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति लिंगी की प्रतीति है। अतः यहां शब्द और अर्थ में लिंग-लिंगी भाव है। व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव नहीं है। क्योंकि ध्वनिकार के द्वारा वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा से व्यञ्जकत्व प्रतिपादित किया गया हैं और वहां वक्ता का अभिप्राय अनुमेय ही होता है।"

इसका उत्तर ध्वनिकार देते हैं -

"यदि ऐसा है भी तो हमारा क्या बिगड़ गया? अभिधा और लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार है, यह हमने स्वीकार किया है। उसको चाहे व्यञ्जकत्व कह लो या लिंगत्व कह लो। प्रसिद्ध अभिधा और लक्षणा से विलक्षण वह शब्द-व्यापार है। अतः हमारा और आपका इस विषय में विवाद नहीं है।"

परन्तु यह उत्तर तो वास्तविक नहीं हुआ। वास्तविक उत्तर ध्वनिकार इस प्रकार देते हैं -

"यह बात तथ्य नहीं है कि सभी स्थानों पर व्यञ्जकत्व लिंगत्व ही हो और व्यङ्ग्य की प्रतीति लिंग की प्रतीति हो। हमने जो यह कहा कि वक्ता का अभिप्राय ही व्यङ्ग्य की प्रतीति है तथा हमारे उस कथन का अनुवाद कर दिया गया तो इस विषय में स्थिति इस प्रकार है -

शब्दों के विषय दो प्रकार के होते हैं - अनुमेय और प्रतिपाद्य। यह अनुमेय विवक्षा रूप है और यह विवक्षा दो प्रकार की होती है - शब्द के स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा और शब्द से अर्थ के प्रकाशन की इच्छा। इनमें पहली विवक्षा शब्द के व्यवहार (शाब्दबोध) की अंग नहीं है। प्राणित्वमात्र की प्रतिपत्ति ही उसका फल है। दूसरी विवक्षा शब्दविशेष (वाचक आदि शब्द) के अवधारण से व्यवसित (समाप्त) एवं व्यवहित होने पर शब्दबोध के व्यवहार का अंग होती है। शब्दों के ये दोनों विषय अनुमेय होते हैं।

प्रतिपाद्य विषय है - प्रयोक्ता की अर्थ-प्रतिपादन की इच्छा का विषयीभूत अर्थ। वह दो प्रकार का होता है - वाच्य औा व्यङ्ग्य। प्रयोक्ता कभी तो अपने वाचक शब्द से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और कभी किसी प्रयोजन विशेष के कारण अपने शब्द से अनभिधेय रूप से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है। शब्दों का यह दोनों प्रकार का

प्रतिपाद्य विषय अनुमेय रूप से स्वतः प्रकाशित नहीं होता, अपितु कृत्रिम संकेत आदि रूप से और अकृत्रिम अभिधा-व्यञ्जनारूप से प्रकाशित होता है। शब्दों के द्वारा इस अर्थ का विवक्षा-विषयत्व तो अनुमेय रूप से प्रतीत हो सकता है, परन्तु इस अर्थ का स्वरूप अनुमेय रूप से प्रतीत नहीं होगा।

यदि अर्थ के विषय में शब्दों का व्यापार अनुमान रूप से हो, तो शब्दों के अर्थ करने से सम्यक्, मिथ्या आदि प्रतीति के विवाद प्रवर्तित न हों। जिस प्रकार धूम से अग्नि के अनुमान में वे प्रवर्तित नहीं होते। परन्तु क्योंकि ये विवाद उत्पन्न होते हैं, अतः शब्दों के अर्थ सदा अनुमेय नहीं होते।

व्यङ्ग्य अर्थ का क्योंकि वाच्य अर्थ के सामर्थ्य से आक्षेप होता है, अतः उसका वाच्य अर्थ के समान ही शब्द से भी सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध साक्षात् रूप से या असाक्षात् रूप से (परम्परा से) हो सकता है। व्यञ्जकत्व का आश्रय वाच्य-वाचक भाव होता है, इस तथ्य को पहले ही कहा जा चुका है। जब वह सम्बन्ध साक्षात् रूप से है, तब अर्थ अनुमेय हो सकता है। परन्तु जब सम्बन्धान्तर हो, तो यह व्यङ्ग्य ही होगा।

व्यञ्जकत्व को लिंगरूप नहीं कह सकते, क्योंकि आलोक आदि टीकाओं में इसको अन्य प्रकार से प्रमाणित किया गया है। इसलिये प्रतिपाद्य विषय और शब्दों का वाच्य अर्थ के समान ही लिंगरूप से सम्बन्ध नहीं है। लिंगी रूप से जो सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है, वह वाच्य रूप से प्रतीत नहीं होता, अपितु उपाधि रूप से प्रतीत होता है। यदि प्रतिपाद्य विषय का शब्दों के साथ लिंग-लिंगी सम्बन्ध माना जावे, जो इसमें अनेक विप्रतिपत्तियां उत्पन्न होंगी और लौकिक क्रियायें बाधित होंगी।

जिस प्रकार वाच्य अर्थ को किन्हीं अन्य प्रमाणों से सिद्ध करने पर यह अन्य प्रमाणों का विषय हो जायगा और शब्द-व्यापार का प्रमाण नहीं होगा, उसी प्रकार की स्थिति व्यङ्ग्य अर्थ के सम्बन्ध में भी होगी।

काव्यों में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होने पर उसके सत्य और असत्य की परीक्षा असत्य प्रमाणों से नहीं की जाती। अतः लिंगी की प्रतीति ही सब स्थानों पर व्यङ्ग्य की प्रतीति है, ऐसा कहना उचित नहीं है।

शब्दों की व्यञ्जकता अनुमेय रूप व्यङ्ग्य का विषय है, यह बात ध्वनि के व्यवहार की प्रयोजक नहीं है। इसके अतिरिक्त शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को औपत्तिक (नित्य) मानने वाले मीमांसकों को भी शब्दों के व्यञ्जकत्व रूप व्यापार को स्वीकार करना चाहिये। यह व्यञ्जकत्व कभी लिंगी रूप से और कभी अन्य रूप से (अभिव्यक्ति रूप से) वाचक और अवाचक सभी शब्दों का होता है। इसे हमको स्वीकार करना चाहिये।"

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में प्रतीयमान अर्थ के अनुमेय होने का खण्डन किया था। आनन्दवर्धन के पश्चात् महिमभट्ट ने ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत लाने

का प्रयास किया था। उसका खण्डन मम्मट आदि आचार्यों ने किया। इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यङ्ग्य-प्रतीति सर्वत्र अनुमेय नहीं हो सकती और इस कारण ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमिति में भी नहीं किया जा सकता।

आनन्दवर्धन ने काव्य की समालोचना के लिये जिस मार्ग का प्रतिपादन किया था, उसका समर्थन उत्तरवर्ती आचार्यों ने किया था। यह मार्ग काव्यों की समालोचना के लिये अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया। यद्यपि आनन्दवर्धन से पूर्व और पश्चात् भी ध्वनिविरोधियों ने विभिन्न युक्तियों के द्वारा ध्वनि के मार्ग का खण्डन किया था, परन्तु पहले तो आनन्दवर्धन ने और उनके बाद उनके अनुयायियों ने ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का समाधान किया और ध्वनि के मार्ग की निर्विवाद रूप से स्थापना की।

९. ध्वनि तथा काव्य के अन्य तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को महाविषय और अंगी मान कर इसको काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था। परन्तु अन्य कुछ आचार्यों ने काव्य के अन्य तत्त्वों - रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य को काव्य की आत्मा बताया। इन तत्त्वों पर पहले विचार किया जा चुका है। तथापि इन तत्त्वों के साथ ध्वनि के सम्बन्ध पर पुनः विचार करना उपयोगी होगा।

(i) ध्वनि और रस -

ध्वनि के भेदों का निदर्शन करते हुये आनन्दवर्धन ने ध्वनि के पहले दो भेद किये - अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के पुनः दो भेद किये - संलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। इन सभी प्रकार की ध्वनियों में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि नामक भेद में रस आदि पर विचार किया गया है। यह ही रसध्वनि है। इसका अभिप्राय है -

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के अनेक भेदों में रसध्वनि का भी परिगणन किया था। इस प्रकार ध्वनिकार ने काव्य में रस तत्त्व की अपेक्षा ध्वनि तत्त्व को अधिक महत्त्वपूर्ण माना था। उनके मत में ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। यह ध्वनि रस की अपेक्षा अधिक व्यापक है। आनन्दवर्धन ने , क्योंकि रस को काव्य की आत्मा नहीं माना, इसलिये ध्वनि के साथ रस का सम्बन्ध विचारणीय हो जाता है।

ध्वनि के अनेक भेद-प्रभेद होने पर भी इसके तीन मुख्य भेद किये जा सकते हैं - वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि। इन तीनों में से वस्तु और अलङ्कार तो वाच्य भी हो सकते हैं, परन्तु रस कभी वाच्य नहीं होता। वह सदा विभाव आदि के द्वारा अभिव्यञ्जित होता है। रस की वाच्यता को काव्य-दोष ही कहा गया है। अतः सहृदयों को रस की प्रतीति ध्वनित ही होती है। रस की प्रतीति या अभिव्यक्ति सदा ध्वनि के आश्रय से

रहती है। इस प्रकार काव्य में रस का महत्त्व सबसे अधिक होने पर भी, उसके ध्वनि के आश्रय में रहने के कारण आनन्दवर्धन ने रस को काव्य की आत्मा न कह कर ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया।

ध्वनि के तीन रूप - वस्तु, अलङ्कार और रस होने पर भी रसध्वनि को सर्वश्रेष्ठ तथा काव्य की विशिष्ट आत्मा स्वीकार किया गया था। आनन्दवर्धन और उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी इस तथ्य का प्रतिपादन किया था। आनन्दवर्धन ने रस के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये निर्देश किया था -

"अलङ्कारों की योजना रस के अनुरूप होनी चाहिये[६१]। यह रसरूप अर्थ ही काव्य का सारभूत है[६२]।"

'ध्वन्यालोक' की व्याख्या करते हुये अभिनवगुप्त ने स्थान-स्थान पर यह प्रतिपादित किया है कि ध्वनि के अनेक भेद होने पर भी रसध्वनि को ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा समझना चाहिये[६३]।

मम्मट ने इन तीनों प्रकारों की ध्वनियों में रसध्वनि को ही सबसे प्रधान प्रतिपादित किया था। काव्यगत गुणों का लक्षण करते हुये उन्होंने काव्य में रस को अंगीभूत आत्मरूप माना था[६४]। रस के स्वरूप का विवेचन करते हुये मम्मट ने इसको अलौकिक चमत्कारकारी[६५] तथा लोकोत्तर[६६] प्रतिपादित किया था।

पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है कि यद्यपि ध्वनि पांच प्रकार की होती है, तथापि रस के परम रमणीय होने के कारण रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है[६७]।

'साहित्यसार' ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है - **"रसो वै स:"**। इस श्रुति के अनुसार रस को प्राप्त करके ही प्राणी परम आनन्द को प्राप्त करता है। अत: रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है, इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिये[६८]।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि ध्वनि के अनेकविध होने पर भी रसध्वनि को ही सबसे प्रधान और श्रेष्ठ समझना चाहिये। तथापि रस के ध्वन्यात्मक होने तथा रस की अपेक्षा ध्वनि के अधिक व्यापक होने के कारण रस को काव्य की आत्मा न कह कर ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहा गया।

(ii) ध्वनि और अलङ्कार -

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था। इसके अनन्तर काव्य के अन्य अंगों - गुण, रीति, अलङ्कार आदि का निरूपण ध्वनि के अंग के रूप में किया जाने लगा। अब काव्य में अलङ्कार की स्थिति दो प्रकार की मानी गई - वाच्य और व्यङ्ग्य। आनन्दवर्धन का कहना है -

"जब अलङ्कार वाच्य न होकर व्यङ्ग्य होता है, तो अलङ्कारध्वनि होती है[६९]। इस

अवस्था में काव्य उत्तम कोटि का होकर रस आदि के समकक्ष होता है। यह अलङ्कारध्वनि काव्य में प्रधान हो जाती है।"

ध्वनिवादी आचार्यों का मत है कि अलङ्कारध्वनि वस्तुतः अलङ्कार नहीं है, अपितु अलङ्कार्य है। ब्राह्मणश्रमणन्याय से इसको अलङ्कार कह दिया जाता है।

काव्य में अलङ्कारों की दूसरी स्थिति वाच्य है। जब अलङ्कार वाच्य होते हैं, तो वे स्वयं मुख्य न होकर रस आदि के उत्कर्षक होकर चारुत्व के हेतु होते हैं। जिस प्रकार आत्मा से रहित शव को कनक-कुण्डल आदि अलङ्कार अलङ्कृत नहीं करते, उसी प्रकार रसरहित काव्य में ये वाच्य अलङ्कार चारुत्व के हेतु नहीं हो सकते। रस आदि की अपेक्षा से आयोजित किये जाकर ही अलङ्कार काव्य के चारुत्व में वृद्धि करते हैं। इसी कारण आनन्दवर्धन ने ध्वनि के आत्मरूप शृङ्गार में यमक आदि अलङ्कारों के निबन्धन का निषेध किया था[७०]। उनका मन्तव्य था कि काव्य में अलङ्कारों की योजना रस को प्रधान मान कर करनी चाहिये। इनका निबन्धन प्रधान रूप से कभी नहीं करना चाहिये[७१]।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि ध्वनिवादी आचार्यों के मत में काव्यगत अलङ्कारों की स्थिति दो प्रकार की हो सकती है - व्यङ्ग्य और वाच्य। जब अलङ्कार व्यङ्ग्य होते हैं तो यह अलङ्कारध्वनि है। परन्तु जब अलङ्कार वाच्य होते हैं, तो इनका नियोजन रस के अंगरूप में ही करना चाहिये।

(iii) ध्वनि और रीति -

वामन ने गुणविशिष्ट पदसंघटनारूप रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया था। आनन्दवर्धन ने इस पदसंघटना को तीन प्रकार का बताया था - असमासा, अल्पसमासा और दीर्घसमासा[७२]। यह पदसंघटना माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है[७३]।

ध्वनिवादी आचार्यों ने वामन की इस पदसंघटनारूप रीति का नियमन रस की दृष्टि से किया था तथा इसको रस आदि का उपकार करने वाली बताया। जिस प्रकार शरीर का सुन्दर संघटन आत्मा का उपकार करता है, उसी प्रकार पदों का सुन्दर संघटन काव्य की आत्मा रसध्वनि का उपकार करता है।

अलङ्कारों की अपेक्षा रीतियों का रस के साथ सम्बन्ध अधिक स्थिर है। इसका कारण यह है कि रीति गुणों के आश्रित होती है और गुणों का रस आदि के साथ नित्य नियत सम्बन्ध रहता है। इसी कारण रुद्रट आदि अलङ्कारवादियों ने भी विशेष रसों के साथ विशेष रीतियों का सम्बन्ध निर्धारित किया था[७४]।

रीतियों के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन का कथन था -

"रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य यद्यपि ध्वनि तत्त्व के अधिक समीप पहुंच गये थे, तथापि इसका कोई स्पष्ट चित्र उनके सामने नहीं था। केवल अस्पष्ट सी

धुंधली छाया उनको प्रतीत हुई थी। इसलिये वे आचार्य ध्वनि की व्याख्या नहीं कर सके थे। उन्होंने उसको रीति के रूप में प्रतिपादित कर दिया था[७५]।"

वस्तुतः रीति का क्षेत्र बहुत सीमित है और ध्वनि का व्यापक है। इसलिये रीति में ध्वनि का समावेश न होकर ध्वनि में रीति का समावेश होता है। यह सत्य है कि रीतियों का सम्बन्ध काव्य के अन्तरंगभूत गुणों के साथ जोड़ने के कारण रीतिवादी आचार्य अलङ्कारवादी आचार्यों की अपेक्षा ध्वनि के अधिक समीप पहुंच गये थे।

(iv) ध्वनि और वक्रोक्ति –

वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्तक आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त से निश्चित रूप से परिचित थे। उन्होंने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया था। कुन्तक ने ध्वनिकार के अनेक उदाहरणों को वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया था।

कुन्तक अभिधावादी आचार्य थे। उनकी यह अभिधा विचित्र ही अभिधा थी। यह अभिधा वृत्ति लक्षणा और व्यञ्जना को भी आत्मसात् कर लेती है। ध्वनिवादी आचार्य जहां रस आदि की अभिव्यक्ति को व्यञ्जना से प्रतिपाद्य मानते हैं, कुन्तक उसको इस विचित्र अभिधा से प्रतिपादित करते हैं। कुन्तक ने यद्यपि ध्वनि की स्थिति को स्वीकार किया है, तथापि उसको अभिधेय मानने के कारण वे ध्वनिविरोधी कहलाते हैं।

कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ध्वनि का विरोध नहीं किया था, अपितु उसको वक्रोक्ति के अन्तर्गत सिद्ध करने का प्रयास किया था। कुन्तक ने प्रतीयमान अर्थ को भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया था। विचित्र मार्ग के वर्णन में उन्होंने लिखा –

"यहां वाच्य-वाचक वृत्ति से भिन्न किसी वाक्यार्थ की प्रतीयमानता (व्यङ्ग्यरूपता) की रचना की जाती है[७६]।"

कुन्तक ने अलङ्कारों में भी प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया है। अलङ्कारों में प्रतीयमानता व्यङ्ग्य के द्वारा ही होती है[७७]। रूपक, व्यतिरेक, निदर्शना, दीपक, उपमा आदि अलङ्कार वाच्य होने के साथ ही प्रतीयमान भी होते हैं।

कुन्तक के प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि अभिधा से वाच्य अर्थ का बोध हो जाने पर भी विभिन्न वक्रताओं की प्रतीति के लिये उन्होंने जो विचित्र अभिधा को माना है, वह एक प्रकार से व्यञ्जना वृत्ति को ही स्वीकार करना है।

इस प्रकार वक्रोक्ति का प्रतिपादन करते हुये कुन्तक ध्वनि का विरोध करके भी उसका विरोध नहीं कर सके। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वक्रोक्ति को स्वीकार तो किया, किन्तु केवल एक विशेष अलङ्कार के रूप में। उन्होंने भामह के अनुकरण में वक्रोक्ति को अलङ्कारों का मूल भी मान लिया था[७८]।

(v) ध्वनि और औचित्य -

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया था। उन्होंने औचित्य का यह सिद्धान्त मूल रूप से आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' से ही ग्रहण किया था।

रस आदि के निबन्धन में आनन्दवर्धन ने औचित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की थी। उनका मन्तव्य था - महाकवि का मुख्य कार्य यही है कि रस आदि के विषय के अनुसार वह वाच्य और वाचक का औचित्य रूप से निबन्धन करे[७९]। अनौचित्य को उन्होंने रसभंग का एकमात्र कारण माना था और औचित्य को रस का परम रहस्य[८०]।

क्षेमेन्द्र ने इसी औचित्य को काव्य का प्राणभूत मान कर अपने औचित्य के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी। क्षेमेन्द्र ने रस में तो औचित्य का विधान किया ही था, काव्य के अन्य अंगों - गुण, संघटना, वृत्ति, अलङ्कार, प्रबन्ध आदि में भी औचित्य का विधान किया था।

आनन्दवर्धन ने औचित्य के महत्त्व को प्रतिपादित करके भी उसको काव्य की आत्मा नहीं माना। उन्होंने इसको काव्य के आत्मरूप ध्वनि के सहायक का स्थान दिया। इसका अभिप्राय यह है कि आनन्दवर्धन की दृष्टि में औचित्य का महत्त्व स्वयं की दृष्टि से नहीं है, अपितु रसध्वनि की दृष्टि से है। नीरस काव्यों में औचित्य का क्या महत्त्व हो सकता है? अभिनवगुप्त का यह कथन ठीक ही है कि उचित शब्द से रसविषयक औचित्य को ग्रहण किया जाता है। इसलिये औचित्य को रसध्वनि का जीवित कहा गया है। रसध्वनि के अभाव में यह औचित्य किसके प्रति होगा[८१]?

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में औचित्य रसध्वनि के अंगरूप में रहता है। यह औचित्य यद्यपि रसध्वनि का अनिवार्य गुण है, तथापि यह उसका सहायक ही है। इसलिये काव्य में औचित्य को आत्मस्थानीय न मान कर ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करना सर्वथा उचित है।

१०. ध्वनि के काव्य-आत्मत्व की समीक्षा

काव्यशास्त्र में ध्वनि के सिद्धान्त का प्रारम्भ वैयाकरणों के स्फोटवाद से अनुप्राणित होकर विकसित हुआ था। काव्य में ध्वनि ही प्रधानतम तत्त्व है, इस विचार का उदय आनन्दवर्धन से पहले ही यद्यपि हो चुका था, तथापि समालोचना जगत् में इसको पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई थी।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के विरोधी आचार्यों की युक्तियों का खण्डन करके ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने ध्वनि के विभिन्न अंगों का विस्तार से प्रतिपादन किया। आनन्दवर्धन के पश्चात् कुछ ध्वनिविरोधी आचार्यों ने ध्वनि के सिद्धान्त का खण्डन करके अन्य सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था, परन्तु अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने इन ध्वनिविरोधियों की युक्तियों का प्रबलता से खण्डन किया। इन्होंने

ध्वनि सिद्धान्त की दृढता से प्रस्थापना करके ध्वनि को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया।

ध्वनि को काव्य की आत्मा का पद प्राप्त होने पर काव्य के सभी अंग - गुण, अलङ्कार, रीति, औचित्य आदि ध्वनि के अंग के रूप में प्रतिपादित हो गये। यहां तक कि उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, पद, समास, वाक्य, प्रबन्ध आदि का समावेश भी ध्वनि के अधिकार क्षेत्र में हो गया। रस को भी ध्वनि का अंग मान लिया गया। अब ध्वनि के तीन मुख्य भेद माने गये - वस्तु, अलङ्कार और रस। रस के अभाव में वस्तु और अलङ्कार में ध्वनि तत्त्व को मानने से उनमें भी काव्यत्व की मान्यता रही।

रसवादियों का कथन था कि रस के अभाव में वस्तु और अलङ्कार में काव्यत्व को मानना उचित नहीं है। रस के विना वे उक्तिमात्र होते हैं। परन्तु रस की मुख्य रूप से विवक्षा न होने पर भी उक्ति के सौन्दर्य के कारण वस्तु आदि में भी काव्यत्व होता ही है। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने से इस वस्तु और अलङ्कार के सौन्दर्य को भी काव्यत्व प्राप्त हो जाता है। यदि केवल रस को ही काव्य की आत्मा माना जावे, तो काव्य का बहुत बड़ा अंश काव्यत्व से वंचित हो जाता है। यह बात भी समालोचकों को इष्ट नहीं होगी। ध्वनि को काव्य की आत्मा मान कर और वस्तु, अलङ्कार तथा रस इन तीनों का इसमें समावेश करके आनन्दवर्धन ने वस्तु और अलङ्कार के सौन्दर्य को भी काव्यत्व की सीमा में समाविष्ट कर लिया।

यह सत्य है कि काव्य का अधिक सौन्दर्य रसध्वनि के कारण होता है। **"काव्यस्यात्मा स एवार्थः"** कह कर आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को अधिक महत्त्व दिया था। परन्तु केवल रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा उन्होंने इसलिये नहीं कहा कि इससे अन्य रसापेक्षारहित काव्यों में अकाव्यत्व न प्रतिपादित किया जाने लगे। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि वाच्य अर्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं तथा उनमें काव्यत्व निश्चित रूप से है, इसीलिये आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया।

काव्य में रस के साथ वस्तु और अलङ्कार का सौन्दर्य भी निहित रहता ही है। इसलिये आनन्दवर्धन की दृष्टि में वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि ये सभी काव्य की आत्मा हैं। यह ठीक है कि काव्य में वस्तु एवं अलङ्कार ध्वनियों की अपेक्षा रसध्वनि की रमणीयता अधिक है, तथापि रस का समावेश ध्वनि के अन्तर्गत हो जाने से वह भी काव्य की आत्मा रहता ही है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने रसध्वनि के प्रति अधिक आग्रह और आसक्ति रखते हुये भी सिद्धान्त रूप में ध्वनिमात्र को जो काव्य की आत्मा माना, उसका कारण यही है कि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि भी काव्य में काव्यत्व की सिद्धि करती हैं। अतः त्रिविध ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना अधिक उचित है।

....

सन्दर्भ -

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।। ध्वन्यालोक १.१।।

२. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्वन्यालोक १.४।।

३. काव्यस्यात्मा स एवाऽर्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। ध्वन्यालोक १.५।।

४. स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, अलङ्काररसादयश्च इत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते।।
ध्वन्यालोक १.४ की वृत्ति।।

५. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यग् आ समन्तात् म्नातः प्रकटितः।।
ध्वन्यालोक १.१ की वृत्ति।।

६. बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधानं स्यात्, न तु भूयसा तदुक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरुक्तं विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः।।
ध्वन्यालोक १.१ पर लोचनटीका।।

७. लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः।। ध्वन्यालोक १.१९।।

८. एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव।। ध्वन्यालोक ३.३७ की वृत्ति।

९. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।। ध्वन्यालोक ३.४७।।

१०. तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम्, अतिरमणीयम्, अणीयसीभिरपि चिरन्तन-काव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानाम् आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।।
ध्वन्यालोक १.१ की वृत्ति।।

११. ध्वन्यालोक १.१३ की वृत्ति और उस पर अभिनवगुप्त की टीका।।

१२. तथा चान्येन कृत एवाऽत्र श्लोकः -
यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालङ्कृति
व्युत्पन्नैः रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः।। ध्वप्यालोक १.१ की वृत्ति।।

१३. अन्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना।।
ऊपर के अंश पर अभिनवगुप्त की टीका।।

१४. इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो
यस्माद् वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्।। ध्वन्यालोक ४.१७ की वृत्ति।।

१५. सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः।। ध्वन्यालोक ४.१७ की वृत्ति।।

१६. ध्वन्यालोक १.१३।।

१७. सूरिभिः कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।। ध्वन्यालोक १ १४ की वृत्ति।।

१८. इदमिति काव्यम्। बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।
ध्वन्यालोक १. ४ की वृत्ति।।

१९. (क) प्रथमं छन्दसामंगं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः। वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड - ११।।
(ख) तत्त्वावबोधः शब्दानां नाऽस्ति व्याकरणादृते।। वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड - १३।।

२०. नित्याश्च शब्दाः।। महाभाष्य द्वितीय आह्निक।।

२१. श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्ज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्।।
महाभाष्य द्वितीय आह्निक।।

२२. य: संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजायते।
स स्फोटः शब्दजाशब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः।। वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड - ८३।।

२३. प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुग्रहणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते।। वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड - १०२।।

२४. वाचकवाच्यसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।।
ध्वन्यालोक १.१३ की वृत्ति।।

२५. तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति - व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधारूपः, अपित्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्।। ध्वन्यालोक १.१३ की वृत्ति की लोचन टीका।।

२६ आचार्य विश्वेश्वरकृत ध्वन्यालोक की टीका की भूमिका पृ० ३।।

२७. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। ध्वन्यालोक १. ३।।

२८. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
तत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्।। ध्वन्यालोक ३. ३५।।

२९. चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।। ध्वन्यालोक १.१३ की वृत्ति।।

३०. ततोन्यद् रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारोह्यसौ।।
ध्वन्यालोक ३.४३ की वृत्ति।।

३१. अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्। काव्यप्रकाश १.५।।

३२. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।। काव्यप्रकाश १.५।।

३३. वाच्यादतिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।। साहित्यदर्पण ४.१।।

३४. अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये।। साहित्यदर्पण ४.१३।।

३५. शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्। यत्र व्यङ्ग्यप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्। यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत् तृतीयम्। यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्।। रसगंगाधर प्रथम आनन।।

३६. प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः।। ध्वन्यालोक ३.३१।।

३७. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।। ध्वन्यालोक १.१।।

३८. किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्।।
अभिनवगुप्त।।

३९. दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।। व्यक्तिविवेक।।

४०. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।। व्यक्तिविवेक।।

४१. अस्त्यतिसन्धानावसरः। व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिंगत्वम्। अतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिंगप्रतीतिरेवेति लिंगलिंगीभाव एव तेषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नापरः कश्चित्।।
ध्वन्यालोक ३.३३ की वृत्ति।।

४२. एतच्च विविच्यमानमनुमानस्यैव संगच्छते नान्यस्य। तथापि अर्थस्य तावदुपसर्जनीकृतात्मत्वमनुपादेयमेव। तस्य अर्थान्तरप्रतीत्यर्थमुपात्तस्य तद् व्यभिचाराभावात्। न हि अग्न्यादिसिद्धौ धूमादिरूपादीयमानो गुणतामतिवर्तते।। व्यक्तिविवेक प्रथम विमर्श।।

४३. यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिंगितया अनुमानान्तर्भावमाख्यद् तद्वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावाद् अविचारिताभिधानम्। तदेतत् कुशाग्रीयधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनम्, इति नेह प्रतन्यते।। अलङ्कारसर्वस्व।।

४४ तदेवं महाविदुषां मार्गमनुसृत्य सहृदयशिक्षादराय विचारयतोऽस्य महामतेः न किञ्चित् पर्यानुयोगलेशस्याऽप्यवसर इत्यलमतिप्रसंगेन।। व्यक्तिविवेक पर रुय्यक की टीका।।

४५. विष्णुपद भट्टाचार्य कृत ध्वन्यालोक की अंग्रेजी व्याख्या की प्रस्तावना पृ०Lixiii.

४६. यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात् सामान्यमुपचर्यते।
लेशेनापि भवत् काञ्चिद् वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम्।।
यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलङ्कृतिः।
उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते।। वक्रोक्तिजीवित २.१३-१४।।

४७. वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः।। वक्रोक्तिजीवित १.८।।

उक्त कारिका पर वृत्ति -- ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः यस्माद् अर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपात्तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचारः।।

४८. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारण्म्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।। ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति।।

४९. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं गुणा एव गुणाः सदा।। औचित्यविचारचर्चा - ६।।

५०. तन्त्रं नाम अनेकार्थबोधनेच्छया पदस्यैकस्य सकृदुच्चारणम्।।

५१. बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः।। साहित्यदर्पण ५.२।।

५२. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।। ध्वन्यालोक १.७।।

५३. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।। काव्यप्रकाश २.१४-१५।।

५४. नाभिधा समयाभाद् हेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाऽप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।। काव्यप्रकाश २.१५-१६।।

५५. एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।। काव्यप्रकाश २.१७।।

५६. प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।। काव्यप्रकाश २.१७-१८।।

५७. प्रागसत्त्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे।
किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा।। साहित्यदर्पण ५.३।।

५८. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।। व्यक्तिविवेक।।

५९. याऽर्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता।। व्यक्तिविवेक।।

६०. नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधने क्षमम्।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः।। साहित्यदर्पण ५.४।।

६१. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः।। ध्वनलोक २.१६।।

६२. काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः..........शोकः श्लोकतया परिणतः।। ध्वन्यालोक १.५ की वृत्ति।।

६३. (क) स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्। इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्ति-ग्रन्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ। तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।।

ध्वन्यालोक १.५ पर लोचन टीका।।

(ख) रसस्य चर्बणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यतमात्मत्वमिति दर्शयति।।

ध्वन्यालोक १.१ पर लोचन टीका।।

६४. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।। काव्यप्रकाश ८.६६।।

६५. उभयाभावरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधम्।।

काव्यप्रकाश ४.२७-२८ की वृत्ति।।

६६. अलौकिकचमत्कारकरी शृङ्गारादिको रसः।। काव्यप्रकाश ४.२७-२८ की वृत्ति।।

६७. पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।।

रसगंगाधर प्रथम आनन।।

६८. रसो वै सः रसं लब्ध्वाऽऽनन्द्ययं स्यादिति श्रुतेः।
पक्षश्चरम एवात्र परमः परमास्पदम्।। साहित्यसार ४.१५।।

६९. शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्कारा परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः।। ध्वन्यालोक २.१८।।

७०. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।। ध्वन्यालोक २.१५।।

७१. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।। ध्वन्यालोक २.१७।।

७२. असमासा समासेन मध्यमेन तु भूषिता।
तथा दीर्घसमासेन त्रिधा संघटनोदिता।। ध्वन्यालोक ३.५।।

७३. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसादीन्..।। ध्वन्यालोक ३.६।।

७४. रुद्रटः काव्यालङ्कार १४.३७ और १५.२०।।

७५. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।। ध्वन्यालोक ३.४७।।

७६ प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित्।। वक्रोक्तिजीवित १.४०।।

७७. वाच्यत्वेनेति नोक्तं, व्यङ्ग्यत्वेनापि प्रतिपादनसम्भवात्।। वक्रोक्तिजीवित ३.१ की वृत्ति।।

७८. ध्वन्यालोक ३.३७ की वृत्ति।।

७९. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः।। ध्वन्यालोक ३.३२।।

८०. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।। ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति।।

८१ उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनिजीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षया इदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इति भावः।। ध्वन्यालोक १.१ पर लोचन टीका।।

....

चतुर्थ खण्ड

काव्यशास्त्र के विषय

प्रथम अध्याय

१. काव्य के प्रयोजन

काव्यशास्त्र के अन्तर्गत अनेक विषयों का विवेचन किया जाता है, जो कि काव्य की समालोचना की दृष्टि से उपयोगी है । काव्यशास्त्र के आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का द्वितीय खण्ड में पर्यवेक्षण करते हुये यह देखा गया था कि कुछ ग्रन्थकारों ने काव्यशास्त्र से सम्बन्धित सभी विषयों का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया था। 'साहित्यदर्पण', 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' आदि ग्रन्थ इसी कोटि के हैं।

कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें अन्य विषयों का विवेचन तो है, परन्तु नाट्य से सम्बन्धित विषयों का विवेचन नहीं है । 'काव्यालङ्कार', 'काव्यादर्श', काव्यालङ्कारसूत्र', 'काव्यप्रकाश', 'रसगङ्गाधर' आदि ग्रन्थ इसी कोटि के हैं ।

नाट्यशास्त्र का स्वयं में एक अतिविस्तृत क्षेत्र है और इस विषय का विवेचन स्वतन्त्र ग्रन्थों में किया जाना चाहिये। इसीलिये इन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में नाट्य की समालोचना को सम्मिलित नहीं किया होगा।

कुछ ग्रन्थों में केवल नाट्य से सम्बन्धित विषयों का ही विवेचन हुआ है। इस प्रकार के ग्रन्थ हैं - भरत का 'नाट्यशास्त्र', 'दशरूपक', 'नाट्यदर्पण' आदि।

कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जिनमें काव्यशास्त्र के एक ही विषय का विवेचन है। उदाहरण के लिये - 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि का, 'वक्रोक्तिजीवित' में वक्रोक्ति का, 'औचित्यविचारचर्चा' में औचित्य का, 'अभिधावृत्तिमातृका' में वृत्तियों का , 'रसतरङ्गिणी' में रस का और 'रसमञ्जरी' में नायक-नायिका भेद का विवेचन हुआ है। अनेक ग्रन्थों में केवल अलङ्कारों का ही विवेचन हुआ है । जैसे - रुय्यक का 'अलङ्कारसर्वस्व' और अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' और 'चित्रमीमांसा' ग्रन्थ हैं।

काव्यशास्त्र के अनेक विषय हो सकते हैं, जिनका कि क्षेत्र काव्य की समालोचना में है । इनमें निम्न प्रमुख हैं -

(१) काव्य के प्रयोजन

(२) काव्य के हेतु

(३) काव्य का लक्षण
(४) काव्य के भेद
(५) शब्द एवं अर्थ और उनकी वृत्तियां
(६) नाट्य सम्बन्धी तत्त्व
(७) ध्वनि
(८) रस
(९) गुण
(१०) रीति
(११) वक्रोक्ति
(१२) औचित्य
(१३) दोष
(१४) अलङ्कार

इन विषयों में से रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य और ध्वनि का सम्यक् विवेचन तीसरे खण्ड में काव्य की आत्मा के प्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है। नाट्य से सम्बन्धित विषयों का विवेचन स्वयं में एक पृथक् विस्तृत विषय है, जिसका विवेचन करने के लिये एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। शब्द और अर्थ तथा इनकी वृत्तियों का विवेचन भी बहुत विस्तृत है तथा उसके लिये भी स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त इनका सम्बन्ध एक ओर जहां काव्यशास्त्र से है, दूसरी ओर दर्शन एवं व्याकरणशास्त्र से भी है। यद्यपि इनका उल्लेख ध्वनि आदि के विवेचन के प्रसंग में थोड़ा बहुत किया जा चुका है, तथापि इनका विस्तृत विवेचन यहां विषयान्तर ही होगा । शेष विषयों - काव्य के प्रयोजन, काव्य के हेतु, काव्य का लक्षण, काव्य के भेद, गुण और दोष का विवेचन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

२. काव्य के प्रयोजनों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक कथन

मनुष्य किसी भी कार्य को करने के लिये किसी विशेष प्रयोजन या उद्देश्य से प्रवृत्त होता है। मूर्ख मनुष्य भी विना किसी उद्देश्य के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतः काव्य की रचना के भी प्रयोजन होने चाहियें।

भरत मुनि से लेकर वर्तमान समय तक काव्यशास्त्रियों ने विचार किया है कि काव्य की रचना के कौन से प्रयोजन हो सकते हैं। इन आचार्यों ने अनेक प्रयोजनों का निर्वचन किया था, जिनमें से एक या अनेक प्रयोजनों को लक्ष्य करके कवि काव्य की रचना कर सकता है। अनेक बार कवि किसी विशेष प्रयोजन के लिये काव्य की रचना करता है, परन्तु अन्य फल भी उसको स्वतः प्राप्त हो सकते हैं।

३. मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजन

काव्य के प्रयोजनों के सम्बन्ध में आचार्यों ने जिस प्रकार अपने अभिमतों को व्यक्त किया है, आचार्य मम्मट उसके मध्य बिन्दु कहे जा सकते हैं। मम्मट ने काव्य की रचना के ६ प्रयोजन बताये हैं[१] -

(१) यश, (२) धन की प्राप्ति, (३) लौकिक व्यवहार का ज्ञान, (४) अनिष्ट का निवारण, (५) आनन्द की प्राप्ति और (६) उपदेश।

अन्य आचार्यों ने काव्य के जो प्रयोजन प्रतिपादित किये थे, उनको इन ६ प्रयोजनों में ही समाहित किया जा सकता है। अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजनों पर विचार करने से पूर्व पहले मम्मट के इन ६ प्रयोजनों पर विचार कर लेना उचित होगा।

(i) यश -

काव्य की रचना से यश की प्राप्ति होती है। इसके उदाहरण के रूप में मम्मट ने कालिदास आदि कवियों को प्रस्तुत किया है, जिनका यश अपने काव्यों की रचना के कारण आज सहस्रों वर्षों के पश्चात् भी चारों दिशाओं में व्याप्त है।

(ii) अर्थ -

काव्य की रचना से धन की प्राप्ति होती है। कवि अपनी कविताओं से राजाओं और जनता को प्रभावित करके प्रचुर धन को प्राप्त करते हैं। इसके उदाहरण के रूप में मम्मट ने धावक आदि कवियों को प्रस्तुत किया, जिनको काव्य की रचना के कारण महाराज हर्ष से प्रचुर धन प्राप्त हुआ था।

(iii) लौकिक व्यवहार का ज्ञान -

मम्मट का विचार है कि काव्यों की रचना से तथा अध्ययन से लौकिक व्यवहार का ज्ञान भी प्राप्त होता है। काव्यों में अनेक प्रकार के चरितों तथा व्यवहारों को प्रस्तुत किया जाता है। कवि एवं पाठकों को उन व्यवहारों का ज्ञान सरलता से प्राप्त हो जाता है।

(iv) अनिष्ट का निवारण -

काव्यों की रचना से अनिष्ट भी दूर होते हैं। प्रभुभक्ति और देवभक्ति विषयक काव्यों की रचना करने से और पाठ करने से अनेक अनर्थ दूर हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में मम्मट ने मयूर कवि का उदाहरण दिया है। महाकवि बाण की पत्नी के शाप से मयूर कवि कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गये थे। तब उन्होंने गंगा के तट पर रह कर सूर्य की उपासना की तथा उनकी स्तुति में 'सूर्यशतक' नामक काव्य की रचना की। इससे उनका कुष्ठ रोग दूर हो गया।

(v) आनन्द की प्राप्ति -

काव्यों की रचना तथा अनुभूति के समय कवि को और सहृदयों को एक विशेष अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है । यह अनुभूति रस के आस्वादन से उत्पन्न होती

है। इस आनन्द की अनुभूति के समय अन्य विषयों के ज्ञान तिरोहित हो जाते हैं। मम्मट ने इस आनन्द की अनुभूति को काव्य का सबसे प्रधान प्रयोजन बताया है[२]।

(vi) उपदेश -

मम्मट के अनुसार काव्य का एक प्रयोजन उपदेश प्राप्त करना भी है। उपदेश तीन प्रकार के होते हैं - प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित और कान्तासम्मित। वेद आदि शास्त्र शब्दप्रधान हैं, यद्यपि इनमें भी उपदेश मिलते हैं, परन्तु ये आदेश रूप ही होते हैं। आदेश की कटुता होने से इनको प्रभुसम्मित कहा गया है। इन उपदेशों का अक्षरश: पालन करना अनिवार्य होता है।

पुराण आदि ग्रन्थों में शब्द की प्रधानता न होकर अर्थ की प्रधानता होती है। इनके उपदेशों का अक्षरश: पालन नहीं होता। जिस प्रकार एक मित्र अपने दूसरे मित्र को उचित कार्य करने का परामर्श देता है, उसी प्रकार पुराण आदि भी उचित कार्य करने का परामर्श देते हैं। इसलिये उनके उपदेश को मम्मट ने सुहृत्सम्मित कहा था।

तीसरे प्रकार का उपदेश काव्यों द्वारा प्राप्त होता है। काव्यों में शब्द और अर्थ दोनों की ही प्रधानता रहती है। व्यङ्ग्य अर्थ अति रमणीय होने से सरसता का आपादन करके उपदेश देता है। यह उपदेश ऐसा ही है, जैसे कि कोई प्रेमिका अपने प्रेमी को प्रेम के रस में सराबोर करके उचित मार्ग की ओर प्रवृत्त करती है। इसीलिये काव्य के उपदेश को मम्मट ने कान्तासम्मित उपदेश कहा था। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'रामायण' को प्रस्तुत किया।

'रामायण' में आदेश या परामर्श के रूप में यह कहीं नहीं कहा गया कि मनुष्य को राम के समान व्यवहार करना चाहिये तथा रावण के समान नहीं करना चाहिये। परन्तु इस काव्य में जो व्यङ्ग्यरूप ध्वनि है, उससे पाठकों को यह उपदेश अवश्य मिल जाता है कि राम के समान आचरण करना चाहिये, रावण के समान नहीं। अत: काव्य का एक महनीय प्रयोजन उपदेश भी है।

मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों का यह विवेचन स्वाभाविक, महनीय और वैज्ञानिक रूप से किया है। मम्मट से पहले तथा मम्मट के बाद भी काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इस विषय पर विचार किया था। काव्य के प्रयोजनों का निरूपण करते हुये कतिपय प्रमुख आचार्यों के मत को भी संक्षेप में जान लेना चाहिये।

४. कुछ अन्य शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजन

(i) भरत मुनि -

मम्मट से बहुत पहले भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य के उद्देश्यों के रूप में काव्य के प्रयोजनों का निरूपण किया था। 'नाट्यशास्त्र' में दी गई 'नाट्यवेद' की रचना की प्रस्तावना से ये प्रयोजन सुस्पष्ट हो जाते हैं। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में उन

प्रयोजनों को इस प्रकार कहा है -

"यह नाट्य उत्तम, मध्यम एवं अधम मनुष्यों के कर्मों का आश्रयभूत है; हितकारी उपदेश देने वाला है; धैर्य, मनोविनोद और सुख आदि का प्रदाता है एवं अवसर होने पर दुःखी, पीड़ित तथा शोकसन्तप्त व्यक्तियों को विश्रान्ति देने वाला है। यह धर्म, यश तथा आयु को बढाता है और संसार को उपदेश देने वाला है[३]।"

भरत ने काव्य (नाट्य) के जो प्रयोजन कहे हैं, उनका अन्तर्भाव मम्मट द्वारा प्रतिपादित छः प्रयोजनों में हो जाता है।

अनेक आचार्यों ने चतुर्वर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) को काव्य का प्रयोजन प्रतिपादित किया है। भामह, कुन्तक, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि आचार्य चतुर्वर्ग को काव्य का साधक मानते हैं। कुछ ने चतुर्वर्ग के अतिरिक्त प्रीति, यश और उपदेश को भी काव्य का प्रयोजन माना है। कुछ आचार्य केवल यश को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन मानते हैं।

(ii) भामह -

भामह का मत था कि उत्तम काव्य की रचना करने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है, कलाओं में विलक्षणता आती है, यश मिलता है और आनन्द प्राप्त होता है[४]।

(iii) वामन -

वामन द्वारा कहे गये काव्यों के प्रयोजन काफी संक्षिप्त हैं । उन्होंने काव्य की रचना के दो प्रयोजन माने हैं - यश और आनन्द। वे आनन्द को काव्य का दृष्ट प्रयोजन और यश को अदृष्ट प्रयोजन कहते हैं[५]। इसकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है -

"काव्य की रचना करने से यश प्रतिष्ठित होता है। बुरी कविता करने वाला अपकीर्ति का भागी होता है । यश के द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है तथा अपकीर्ति नरक में ले जाने वाली होती है। अतः कविश्रेष्ठों को चाहिये कि कीर्ति को उपार्जित करने तथा अपकीर्ति को दूर करने के लिये 'काव्यालङ्कार' के सूत्रों को समझ कर उत्तम कविता करें[६]।

(iv) भोज -

महाराज भोज ने काव्य-रचना के दो प्रयोजन माने हैं - यश और आनन्द की प्राप्ति । उनका कथन है कि दोषों से रहित, गुणों से युक्त, अलङ्कारों से अलङ्कृत तथा रस से सम्भृत काव्य की रचना करता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति को प्राप्त होता है[७]।

(v) कुन्तक -

कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में काव्य के प्रयोजनों को अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है -

"श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न राजपुत्र आदि के उपकार के लिये काव्य की रचना की जाती है। यह सुन्दर एवं सरस ढंग से कहा गया धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने का

उपाय है। उत्तम काव्य का अध्ययन करने से सहृदय को सभी प्रकार के व्यवहार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इससे भी बड़ी बात यह है कि काव्यरूपी अमृत के रस से सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग की प्राप्ति से भी श्रेष्ठ आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न होता है[८]।

कुन्तक के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे आनन्दानुभूति रूप चमत्कार को काव्य का सबसे प्रधान प्रयोजन मानते थे।

प्रयोजन की दृष्टि से कुन्तक ने शास्त्र एवं काव्य में भी भेद किया है। शास्त्र कड़वी औषधि के समान हैं, जो कि अविद्यारूपी रोग को नष्ट करते हैं। काव्य प्रसन्नतादायक अमृत के समान है, जो कि अविवेकरूपी रोग को दूर करता है[९]।

(vi) वाग्भट -

वाग्भट ने 'काव्यानुशासन' में काव्य के प्रयोजनों का विशद विवेचन किया था। इनका कहना था -

प्राचीन आचार्य काव्य के ६ प्रयोजन मानते हैं - आनन्द, अनर्थ का निवारण, व्यवहार का ज्ञान, धर्म-अर्थ-काम का लाभ, कान्तातुल्य उपदेश और कीर्ति[१०]। प्राचीन आचार्यों के मन्तव्य को उद्धृत करके वाग्भट ने कहा कि इन उद्देश्यों में से काव्य के पांच उद्देश्य तो जब अन्य साधनों से भी प्राप्त हो सकते हैं, तो उनके लिये काव्य की रचना करने से क्या लाभ ? अत: काव्य का एक ही प्रयोजन कीर्ति है[११]।

(vii) रुद्रट -

रुद्रट ने चतुर्वर्ग - धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों को काव्य का प्रयोजन प्रतिपादित किया था[१२]।

(viii) अग्निपुराण -

'अग्निपुराण' ने चारों पुरुषार्थों को काव्य का प्रयोजन नहीं माना। इस पुराण में यह प्रतिपादित किया गया है कि इनमें से त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) ही काव्य (नाट्य) का प्रयोजन हो सकते हैं[१३]।

(ix) नाट्यदर्पण -

'नाट्यदर्पण' के रचयिता रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में काव्य को चतुर्वर्ग का साधन माना। उन्होंने काव्य के प्रयोजनों का स्वतन्त्र रूप से तो वर्णन नहीं किया, किन्तु मंगलाचरण में इसका संकेत किया है। उन्होंने जैनी वाणी को चतुर्वर्ग रूप फल प्राप्त कराने वाली कहा[१४]। तदनन्तर उन्होंने जैनी वाणी को दृश्य काव्य के साथ सम्बन्धित किया था। काव्य के द्वारा धर्म-अर्थ-काम तो प्राप्त होते ही हैं, धर्म की प्राप्ति के कारण परम्परया मोक्ष भी प्राप्त होता है[१५]। नाट्यदर्पणकार धर्म-अर्थ-काम को समस्त एवं व्यस्त रूप से प्रधान फल मानते हैं एवं मोक्ष को गौण फल कहते हैं[१६]।

(x) विश्वनाथ -

विश्वनाथ ने काव्य के प्रयोजनों के सम्बन्ध में विशद विचार किया था। उन्होंने चतुर्वर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) को काव्य का प्रयोजन प्रतिपादित किया। उनका कथन है कि काव्य के जो प्रयोजन हैं, वे ही काव्यशास्त्र के भी हैं। उनका ग्रन्थ भी काव्य का अङ्ग है। अत: इसके भी वे ही प्रयोजन होंगे, जो काव्य के होते हैं। काव्य के प्रयोजनों का उन्होंने निम्न प्रकार से निर्देश किया -

" काव्य के द्वारा अल्प बुद्धि वाले मनुष्यों को भी सरलता से चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है[१७]।"

चतुर्वर्ग की प्राप्ति काव्य से किस प्रकार होती है, इसकी व्याख्या विश्वनाथ ने निम्न प्रकार से है[१८] -

"काव्य से धर्म की प्राप्ति इसलिये होती है, क्योंकि इसमें भगवान् नारायण आदि के चरणारविन्द की स्तुति आदि से धर्म प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त -**"एक: शब्द: सुप्रयुक्त: सम्यग्ज्ञात: स्वर्गे लोके कामधुग्भवति"**, इस प्रकार के वेद-वाक्य आदि का प्रमाण दिया जा सकता है। काव्य से धन की प्राप्ति प्रसिद्ध ही है, जो कि प्रत्यक्षसिद्ध है। काम की प्राप्ति धन के कारण होती है। अर्थ के द्वारा उत्थापित धर्म के फल के प्रति अनासक्ति मोक्ष का कारण है। काव्य में मोक्ष के लिये उपयोगी वाक्यों का प्रयोग होने से भी मोक्ष की प्राप्ति की सम्भावना रहती है।

चतुर्वर्ग की प्राप्ति वेद आदि शास्त्रों से भी होती है। परन्तु वे नीरस होते हैं, इसलिये उनके द्वारा परिपक्व बुद्धि वाले व्यक्ति ही चतुर्वर्ग को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु काव्यों के परम आनन्ददायक होने से कोमल बुद्धि वाले मनुष्य भी सरलता से चतुर्वर्ग को प्राप्त कर सकते हैं।

इस कथन से यह सन्देह उत्पन्न होता है कि यदि वेद आदि शास्त्रों से परिपक्व बुद्धि वालों को तथा काव्य से कोमल बुद्धि वालों को चतुर्वर्ग प्राप्त होता है तो वेदादि शास्त्रों के होते हुये परिपक्व बुद्धि वाले व्यक्ति काव्यों के प्रति प्रयत्न न करें।

इसका उत्तर यह है कि जो रोग कड़वी औषधियों से शान्त हो सकता हो और श्वेत खांड से भी शान्त हो सकता हो तो किस रोगी की प्रवृत्ति श्वेत खांड की ओर नहीं होगी। अत: परिपक्व बुद्धि वाले और कोमल बुद्धि वाले सभी व्यक्तियों की प्रवृत्ति काव्य की ओर होती है।

इस प्रकार विश्वनाथ प्रबल शब्दों में चतुर्वर्ग को काव्य का प्रयोजन सिद्ध करते हैं।

(xi) जगन्नाथ -

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्य के प्रयोजनों पर विचार किया था। परन्तु उन्होंने इस विषय का विस्तार से विवेचन नहीं किया। काव्य-प्रयोजनों के सम्बन्ध में

उन्होंने केवल एक ही पंक्ति लिखी थी -

"तत्र कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य"।

अर्थात्, काव्य के अनेक प्रयोजन होते हैं - कीर्ति, परम आह्लाद और गुरु,राजा एवं देवता की कृपा आदि। इसमें गुरु और देवता की कृपा से धन की प्राप्ति रूप प्रयोजन लिये जा सकते हैं। आदि पद के द्वारा व्यवहार-ज्ञान और कान्तासम्मित उपदेश का संकेत मिलता है।

'रसगङ्गाधर' के इस वाक्य से प्रतीत होता है कि काव्य के प्रयोजनों के प्रतिपादन की दृष्टि से पण्डितराज जगन्नाथ ने आचार्य मम्मट का ही अनुकरण किया था।

५. काव्य के प्रयोजनों की समीक्षा

काव्य-रचना के प्रयोजनों के सम्बन्ध में यहां विभिन्न आचार्यों के अभिमत दिये गये हैं। इन विभिन्न मतों का सूक्ष्म अवलोकन करने से यह स्पष्ट है कि इनमें मम्मट का मत ही सबसे अधिक बुद्धिगम्य एवं व्यावहारिक है। इसमें सभी आचार्यों के अभिमतों का अन्तर्भाव हो जाता है।

६. काव्य का प्रधानतम प्रयोजन

ऊपर काव्य के जिन प्रयोजनों का कथन है, उनमें कौनसा प्रयोजन सबसे प्रधान है , इस विषय पर भी विचार करना चाहिये। कुछ आचार्यों ने यश को काव्य का प्रधान प्रयोजन प्रतिपादित किया था। परन्तु अधिकांश आचार्य परम आह्लाद (सद्यःपरनिर्वृति) को सब प्रयोजनों में प्रधान मानते हैं। मम्मट ने भी इस प्रयोजन को सबसे मुख्य माना है। आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में सहृदयों के मन की प्रसन्नता को ही स्थान-स्थान पर काव्य का मुख्य प्रयोजन प्रतिपादित किया था[१९]।

७. काव्य-प्रयोजनों का कवि और सहृदय से सम्बन्ध

काव्य के प्रयोजनों पर एक और दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। काव्य का सम्बन्ध एक ओर तो काव्य के निर्माता कवि से है तथा दूसरी ओर पाठक, श्रोता या द्रष्टा (सहृदय) से है। काव्य के जो ६ प्रयोजन दिखाये गये हैं, उनमें कुछ का विशेष सम्बन्ध कवि से तथा कुछ का विशेष सम्बन्ध पाठक से होना चाहिये। यश तथा धन ये दो फल मुख्य रूप से कवि को प्राप्त होते हैं। व्यवहार का ज्ञान और उपदेश मुख्य रूप से काव्य के अध्येता को मिलते हैं। शेष दो फल अनर्थ का निवारण एवं परम आह्लाद की प्राप्ति कवि एवं काव्य के अध्येता इन दोनों को ही उपलब्ध होते हैं।

८. काव्य के प्रयोजनों के सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टि

काव्य के प्रयोजनों के विषय में आधुनिक एवं पाश्चात्य मत पर भी विचार करना उपयोगी हो सकता है। यद्यपि इस स्थल पर विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं हो सकेगा, तथापि

उनका अति संक्षेप से संकेत अवश्य दिया जा सकता है । काव्य के प्रयोजनों के सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य मनीषियों के विचार डॉ० राकेश गुप्त ने 'साहित्यानुशीलन' ग्रन्थ में इस प्रकार संगृहीत किये हैं[२०] -

(i) अतिरिक्त मनोवेगों के विरेचन द्वारा स्वास्थ्य का लाभ कराना। (अरस्तू)

(ii) मानव-मानव के मध्य सहानुभूति और प्रेम का आनन्दमय विस्तार करना। (शैले)

(iii) परस्परविरोधी मनोवेगों के द्वारा मनस्तोष उत्पन्न करना। (रिचर्ड्स)

(iv) आनन्द की सृष्टि द्वारा जीवनोपयोगी नैतिकता का विस्तार या जीवन की नूतन व्याख्या करना । (आर्नल्ड)

(v) मानव की शेष जगत् से मुक्ति के प्रसंग में सहायता करना। (सार्त्र)

(vi) वर्गमुक्ति के आन्दोलन में सहायता करना। (मार्क्स और सार्त्र)

(vii) मानव की दमित अतृप्तियों के लिये मानसिक रूप से भोग प्रस्तुत करना। (फ्रायड)

(viii) मानव की आन्तरिक या बाह्य विकृतियों का विश्लेषण और यथावत् अंकन करना। (प्रकृतिवाद और अतियथार्थवाद)

(ix) साहित्य का प्रमुख और प्रथम उद्देश्य है, कलात्मक सौष्ठव द्वारा सहृदय को आनन्दित करना। इसके बाद वह चाहे तो जीवनोपयोगी वस्तुओं, विचारों या भावों की अभिव्यक्ति भी कर सकता है। (वाल्टर प्रेटर, ब्रेडले)

(x) साहित्य अपनी सिद्धि अपने आप में है, इससे आगे कुछ नहीं। (वाइल्ड, पो आदि)

काव्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में पाश्चात्य मनीषियों के ये विचार भारतीय आचार्यों के काव्य प्रयोजनों में से आनन्द की प्राप्ति और उपदेश के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। काव्य की रचना स्वान्तःसुखाय होती है, काव्य का यह प्रयोजन निश्चय रूप से आनन्द की प्राप्ति ही है।

---- :o:----

सन्दर्भ -

१. काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। काव्यप्रकाश १.२।।

२. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।। काव्यप्रकाश १.२ की वृत्ति।।

३ उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्।।
दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।। नाट्यशास्त्र १.११३-११५।।

४ धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम्।।भामहः काव्यालङ्कार १.१२।।

५ काव्यं सद्दृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।। काव्यालङ्कारसूत्र १.१.५।।

६ प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ।।
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्।।
तस्मात्कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च निबर्हितुम्।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः।। काव्यालङ्कारसूत्र १.१.५ पर वृत्ति।।

७ निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।। सरस्वतीकण्ठाभरण १.२।।

८. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।। वक्रोक्तिजीवित १.३-५।।

९. कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्।। वक्रोक्तिजीवित १.७ की वृत्ति ।।

१०. काव्यम् । प्रमोदायानर्थपरिहाराय व्यवहारज्ञानाय त्रिवर्गफललाभाय कान्तातुल्यतयोपदेशाय कीर्तये च ।। वाग्भट-काव्यानुशासन-काव्यमाला सं० ४३(१९१५) पृ० २।।

११. वयं तु कीर्तिमेवैकां काव्यहेतुतया मन्यामहे....... अतः कीर्तिरिवैका काव्यहेतुः ।।
वाग्भट : काव्यानुशासन पृ० २।।

१२. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नो रसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः।।रुद्रट : काव्यालङ्कार १२.१।।

१३. त्रिवर्गसाधनं नाट्यम् ।। अग्निपुराण ३३८.७ ।।

१४ चतुर्वर्गफलां नित्यां जैनीं वाचमुपास्महे।
रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यया न्याय्ये धृतं पथि।। नाट्यदर्पण १.१।।

१५. धर्मस्य च मोक्षहेतुतया मोक्षोऽपि पारम्पर्येण फलम् ।। नाट्यदर्पण १.१ की वृत्ति।।

१६. धर्म-काम-अर्थाः व्यस्तसमस्ताः सत् प्रधानं फलं यत्र। मोक्षस्तु धर्मकार्यत्वात् गौणं फलम् ।। नाट्यदर्पण १.५ की वृत्ति।।

१७. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव.................................... ।। साहित्यदर्पण १.२।।

१८ किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, "एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति" इत्यादि......वेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव।अर्थ-प्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा। कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव। मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननु-सन्धानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायकत्वाच्च। चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव। ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम्। कटुकौषधशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्।।
साहित्यदर्पण १.२ की वृत्ति।।

१९. (क) तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ।। ध्वन्यालोक १.१ ।।

(ख) अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदया-नामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।। वही १.१ की वृत्ति।।

(ग) सहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् ।। वही १.१ की वृत्ति।।

२०. साहित्यानुशीलन पृ० २९।।

द्वितीय अध्याय

काव्य के हेतु

१. प्रारम्भिक कथन

काव्य की रचना के कौन से हेतु, कारण या उपादान हैं, जिनके द्वारा कवि काव्य की रचना करता है, इस विषय पर काव्यशास्त्र के आचार्यों ने गहन विचार किया है। काव्यशास्त्र के इतिहास के प्रारम्भ से ही आचार्य इस विषय पर विचार करते रहे हैं। इन आचार्यों के विवेचन के अन्तिम निष्कर्ष के रूप में काव्य की रचना के तीन हेतु कहे जा सकते हैं - प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास।

भामह का कथन था -

काव्य की रचना केवल प्रतिभाशाली ही कर सकता है[१]। विभिन्न शास्त्रों और कलाओं का अध्ययन करके, अन्य कवियों की रचनाओं को देख कर तथा काव्यविद् गुरुओं की सेवा करके ही काव्य की रचना हो सकती है[२]। महामनीषी दण्डी की मान्यता है -

"स्वाभाविक प्रतिभा, प्रचुर अध्ययन एवं निरन्तर अभ्यास , ये तीन तत्त्व काव्य के हेतु होते हैं[३]।"

काव्य के हेतुओं का निर्देश करने में वामन ने प्रायः भामह और दण्डी का अनुसरण किया है। परन्तु उन्होंने इस विषय की अधिक विकसित रूप में व्याख्या की। वामन का कथन है -

"लक्ष्यत्व, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभा तथा अवधान के द्वारा काव्य की रचना होती है।" इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार है -

काव्यों से परिचय करना लक्ष्यत्व है, काव्य की रचना के लिये उद्योग करना अभियोग है, काव्य का उपदेश करने वाले गुरु की सेवा करना वृद्धसेवा है, विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके पदों का आधान एवं उद्धरण करना अवेक्षण है, कवित्व का बीज प्रतिभा है और चित्त की एकाग्रता अवधान है। यह चित्त की एकाग्रता देश और काल से प्राप्त होती है[४]।

रुद्रट ने स्पष्ट शब्दों में शक्ति (प्रतिभा) और अभ्यास को काव्य का हेतु बताया है[५]। वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट भी शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास को काव्य का हेतु बताते हैं[६]।

अधिकांश आचार्यों द्वारा प्रतिभा ,व्युत्पत्ति और अभ्यास, इन तीन को काव्य के हेतु के रूप में प्रतिपादित करने पर भी कुछ आचार्य केवल प्रतिभा को काव्य का हेतु कहते हैं। इनमें राजशेखर प्रमुख हैं। उनका कथन है -

"काव्य की रचना का हेतु केवल प्रतिभा है"[७]।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अकेले प्रतिभा को काव्य का हेतु प्रतिपादित किया था[८]।

यद्यपि इन आचार्यों ने केवल प्रतिभा को काव्य का हेतु कहा था, तथापि उन्होंने व्युत्पत्ति और अभ्यास को महत्त्व न दिया हो, ऐसा नहीं है। इनका मन्तव्य था कि काव्य की रचना का मुख्य हेतु तो प्रतिभा ही है, परन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास सहायक हेतु हैं। राजशेखर का कथन है -

"प्रतिभा के उन्मीलन के लिये समाधि (मन की एकाग्रता) तथा अभ्यास आवश्यक हैं। समाधि और काव्य रचना के अभ्यास से शक्ति उत्पन्न होती है। इस शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति में ही प्रतिभा उद्भासित होती है। समाधि आन्तरिक प्रयत्न है एवं अभ्यास बाह्य प्रयत्न है। प्रतिभा के उद्भासन के लिये आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रयत्न आवश्यक होते हैं। पण्तिराज काव्य का हेतु यद्यपि एकमात्र प्रतिभा को मानते हैं, तथापि व्युत्पत्ति और अभ्यास को उन्होंने प्रतिभा का हेतु कहा था। उनके मत से प्रतिभा के दो हेतु हैं -

(i) देवता या महापुरुष की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट

(ii) विलक्षण व्युत्पत्ति या अभ्यास[९]

वाग्भट ने केवल प्रतिभा को काव्य का कारण कहा था[१०] तथा व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को प्रतिभा का संस्कार करने वाला प्रतिपादित किया था।

जयदेव ने वाग्भट का समर्थन किया । उन्होंने कहा -

"काव्य का हेतु केवल प्रतिभा होती है, परन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास इसका इसी प्रकार पोषण करते हैं, जिस प्रकार लता का कारण बीज है और मिट्टी एवं जल उस बीज का पोषण करते हैं[११]।"

आनन्दवर्धन ने प्रतिभा (शक्ति) और व्युत्पत्ति इन दोनों को ही काव्य का हेतु बताया था। परन्तु इन दोनों में भी वे प्रतिभा को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि अव्युत्पत्ति के कारण उत्पन्न दोष तो कवि की अपनी प्रतिभा से संवृत हो जाता है, परन्तु प्रतिभा के अभाव के कारण उत्पन्न दोष तुरन्त प्रकट हो जाता है[१२]।
काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों का कथन है -

"यदि कवि में जन्मजात प्रतिभा नहीं है, तो भी वह विद्या का अध्ययन करके एवं निरन्तर अभ्यास करके काव्य की रचना कर सकता है[१३]।

इसी तथ्य को पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसी प्रकार कहा था -

"व्युत्पत्ति और अभ्यास से प्रतिभा उत्पन्न हो सकती है ।"

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के भारतीय आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को ही किसी न किसी रूप में काव्य का हेतु माना था। कुछ आचार्य इन तीनों हेतुओं को समान रूप से महत्त्व देते हैं, परन्तु कुछ आचार्यों ने प्रतिभा को अधिक महत्त्व दिया और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को उस प्रतिभा का सहायक प्रतिपादित किया। आचार्य मम्मट का यह दृढ मत है कि काव्य के ये तीनों हेतु सम्मिलित रूप से काव्य की रचना के कारण हैं, पृथक्-पृथक् रूप में नहीं । इसी कारण वे अपनी कारिका में हेतु शब्द का प्रयोग एकवचन में करते हैं, बहुवचन में नहीं[१४]।

काव्य के इन तीनों हेतुओं का नाम जानने के अनन्तर इनके स्वरूप पर विचार करना चाहिये ।

२. प्रतिभा

प्रतिभा क्या है तथा यह कवि में किस प्रकार आती है, इस विषय पर आचार्यों ने विशद रूप रो विचार किया था। अधिकांश आचार्यों ने प्रतिभा को पूर्व जन्म के संस्कारों से उत्पन्न जन्मजात माना है। उनका विचार है कि जन्म-जन्मान्तरों से आत्मा पर जो संस्कार पड़ते हैं, उनसे ही प्रतिभा का उदय होता है और वह कवि को अलङ्कृत करती है।

दण्डी[१५] और वामन ने[१६] प्रतिभा को नैसर्गिक तथा जन्म-जन्मान्तरगत संस्कार माना था । अभिनवगुप्त के अनुसार कवित्व का बीजरूप यह प्रतिभा जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार से आती है[१७]। मम्मट भी इनको पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न जन्मजात मानते हैं। इसके विना काव्य की रचना नहीं हो सकती । यदि हो भी जावे तो वह रचना उपहासास्पद होगी[१८]।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा के लिये यद्यपि इस सिद्धान्त को अक्षरशः नहीं माना कि इसकी उत्पत्ति अदृष्ट से होती है, तथापि वे प्रतिभामय पूर्व जन्म के संस्कारों को कवि का आन्तरिक गुण मानते हैं[१९]।

अग्निपुराण का कथन है -

"कविता करने की सामर्थ्य (शक्ति) प्रतिभा से ही आती है। इस संसार में पहले तो मनुष्य का शरीर मिलना ही दुर्लभ होता है। यदि यह शरीर मिल भी जावे तो विद्या प्राप्त करना दुर्लभ होता है। यदि विद्या भी प्राप्त हो जावे तो कवित्व दुर्लभ होता है। कवित्व के होने पर भी शक्ति (प्रतिभा) तो सुदुर्लभ होती है[२०]। यह प्रतिभा ही उत्तम काव्य की प्रधान कारण है"।

कुन्तक का विचार है कि प्रतिभा केवल प्राक्तन संस्कारों के कारण ही उद्भावित नहीं होती । इस प्रतिभा का विकास प्राक्तन तथा अद्यतन दोनों प्रकारों के संस्कारों से होता है[२१]।

प्रतिभा का स्वरूप क्या है, इस विषय पर भी आचार्यों ने विचार किया था। आचार्य वामन के अनुसार प्रतिभा कवित्व का बीज है । प्रतिभा का वैज्ञानिक स्वरूप सबसे पहले भट्टतौत ने प्रदर्शित किया था । उनका कथन था -

नये-नये अर्थों के उन्मीलन करने में समर्थ प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहते हैं। उससे अनुप्राणित होकर कवि वर्णन करने में निपुण होता है और उसका कार्य काव्य कहलाता है[२२]। अभिनवगुप्त ने भी प्रतिभा का लक्षण इसी के अनुरूप लिखा था[२३]। राजशेखर का विचार है -

"प्रतिभा के द्वारा कवि परोक्ष वस्तु को भी प्रत्यक्ष के समान देखने लगता है। शब्दसमूह, अर्थसमूह, अलङ्कारों और उक्तियों को प्रतिभा हृदय में प्रतिभासित करा देती है। प्रतिभाहीन व्यक्ति के लिये प्रत्यक्ष पदार्थ भी परोक्ष होते हैं। परन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति परोक्ष पदार्थों को भी प्रत्यक्षवत् देखता है। मेधाविरुद्र और कुमारदास जन्मान्ध होते हुये भी श्रेष्ठ कवि थे[२४]।"

आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा के स्वरूप को और भी स्पष्ट किया है। वे उसको शक्ति नाम देते हैं। जिसके द्वारा मन के एकाग्र होने पर कवि में अर्थ का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं प्रतिभासित होते हैं, उसको शक्ति कहते हैं[२५]।

काव्यशास्त्र के आचार्यों का कथन है -

"कवि को अपनी प्रतिभा के कारण काव्य का विषय रमणीय दृष्टिगोचर होता है। वह अनुभूत सौन्दर्य को उपयुक्त भाषा में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। पाठकों की सुप्त अनुभूतियों को जाग्रत करके वह उनको अभिभूत कर सकता है। कवि में यह भी सामर्थ्य है कि वह विश्व के रूप को अपनी कल्पना के अनुसार सत्यवत् प्रत्यक्ष करा सकता है। उसको जैसा रुचता है, जगत् उसी प्रकार का हो जाता है[२६]। कवि एक सिद्ध पुरुष तथा भविष्यद्रष्टा है। वह अदृष्टपूर्व वस्तुओं को भी पाठकों के समक्ष प्रत्यक्ष के समान प्रस्तुत करने की सामर्थ्य रखता है।" आनन्दवर्धन ने शालिवाहन के श्लोक को ठीक ही उद्धृत किया और इसका हिन्दी अर्थ है -

"कवि की प्रतिभाशाली वाणी उस रमणीय रूप में स्थित न होने वाले भी मुख आदि पदार्थों को लोकोत्तर रमणीय रूप में पाठकों को हृदय में निवेशित कर देती है[२७]।"

इस सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है -

"महाकवियों की वाणी मधुर रस का निस्यन्दन करती हुई लोकोत्तर एवं परिस्फुरणशील विशेष प्रतिभा को अभिव्यक्त करती है[२८]।"

काव्य की रचना के हेतु के रूप में आचार्य महिमभट्ट ने प्रतिभा को बहुत महत्त्व दिया था। उनके अनुसार -

"रस के अनुरूप शब्द और अर्थ का चिन्तन करने वाले कवि की अपने स्वरूप के

स्पर्श से उत्पन्न प्रज्ञा ही प्रतिभा है। यह प्रतिभा मानों भगवान् का तीसरा नेत्र है। इसके द्वारा कवि तीनों कालों के अर्थों का दर्शन कर लेता है[२९]।"

प्रतिभा के स्वरूप का निदर्शन करते हुये आचार्यों ने विविध आधारों पर इसके भेदों का प्रतिपादन किया था। आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा के दो भेद बताये थे - सहजा और उत्पाद्या[३०]। हेमचन्द्र ने रुद्रट का अनुकरण करते हुये प्रतिभा के दो भेद किये - उत्पाद्या और औपाधिकी[३१]।

राजशेखर ने प्रतिभा के दो भेदों का विशद विवेचन किया था। उन्होंने प्रतिभा के दो भेद मुख्य किये - कारयित्री और भावयित्री। काव्य की रचना करने में समर्थ कवि की प्रतिभा कारयित्री कहलाती है। जिस प्रतिभा की सहायता लेकर समालोचक या पाठक कवि के अभिप्राय को समझने में समर्थ होता है, वह भावयित्री प्रतिभा है।

कारयित्री प्रतिभा तीन प्रकार की होती है - सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। सहजा प्रतिभा पूर्वजन्म के संस्कारों की अपेक्षा रखती है और स्वल्प से ही अभ्यास से उद्‌बुद्ध हो जाती है। आहार्या प्रतिभा जन्म एवं संस्कारों की अपेक्षा तो रखती है, परन्तु इसको उद्‌बुद्ध करने के लिये अधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। औपदेशिकी प्रतिभा वह है, जो मन्त्र, तन्त्र आदि के उपदेश से उत्पन्न होती है।

कुछ आचार्यों ने विशिष्ट प्रकार की प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है और इस प्रकार प्रज्ञा और प्रतिभा को पर्यायवाची प्रतिपादित कर दिया है। प्रतिभा या प्रज्ञा कविगत बुद्धि का एक ही प्रकार है। राजशेखर के अनुसार यह बुद्धि तीन प्रकार की होती है - स्मृति, मति और प्रज्ञा।

व्यतीत अर्थ का स्मरण कराने वाली बुद्धि स्मृति है। वर्तमान अर्थ का बोध कराने वाली बुद्धि मति कहलाती है। जो बुद्धि भविष्य अर्थ का दर्शन कराती है, वह प्रज्ञा कहलाती है[३२]।

'काव्यप्रकाश' की 'सम्प्रदायप्रकाशिनी' टीका में १. ३ कारिका की व्याख्या में स्मृति को व्यतीत अर्थ का दर्शन कराने वाली, मति को भविष्यत् अर्थ का दर्शन करने वाली तथा प्रज्ञा को त्रिकाल अर्थ का दर्शन कराने वाली कहा गया है[३३]।

प्रतिभा को पाश्चात्य समालोचकों ने कल्पना (imagination) नाम दिया है। इस विषय में कोलरिज, प्लेटो, कान्ट, शैली आदि विद्वानों ने विस्तृत विचार प्रकट किये हैं। इनको विस्तृत रूप में कहना तो यहां सम्भव नहीं है, तथपि संक्षेप से उसका सारांश दिया जा सकता है। डॉ० बलदेव उपाध्याय ने पाश्चात्य एवं भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार प्रतिभा का तुलनात्मक रूप निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है[३४] -

	कान्ट	कोलरिज	भारतीय पक्ष
१	Reproductive imagination	Fancy	कविप्रतिभा
२	Productive imagination	Primary imagination	स्मृति
३	Aesthetic imagination	Secondary imagination	सविकल्पक प्रत्यक्ष

३.व्युत्पत्ति

काव्य का दूसरा हेतु व्युत्पत्ति है। व्युत्पत्ति की विस्तृत व्याख्या आचार्यों ने की है। व्युत्पत्ति का अभिप्राय है -

लोकव्यवहार, शास्त्र, काव्य आदि का अध्ययन करके उनका ज्ञान प्राप्त करना। कवि की वाणी सभी विषयों का वर्णन करती है। कवि को सभी विषयों का व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिये। कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जो कि कवि के वर्णन की परिधि में न आता हो[३५]। यदि कवि किसी विषय को जानता है, तो उसके वर्णन में स्वाभाविकता एवं औचित्य होगा और वह पाठकों को प्रभावित कर सकेगा। यदि वह अपनी रचनाओं के विषय का समुचित वर्णन नहीं कर सकेगा तो उपहास को प्राप्त होगा। इसीलिये राजशेखर ने कहा है

"औचित्य एवं अनौचित्य का विवेक एवं बहुलता ही व्युत्पत्ति है।"

आचार्यों का कथन है कि प्रत्येक ज्ञान, प्रत्येक शिल्प, प्रत्येक विद्या और प्रत्येक कला काव्य का अङ्ग बन सकती है। अतः काव्य की रचना करने वाले कवि को पहले शब्दशास्त्र, छन्दःशास्त्र आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। भामह ने लिखा था -

"काव्य की रचना करने वाले कवि को पहले शब्दशास्त्र, छन्दःशास्त्र, कोष, इतिहास, कथायें, लोकव्यवहार, दर्शन, कला आदि को जानना चाहिये तथा अन्य कवियों के काव्यों का अवलोकन करना चाहिये[३६]।"

वामन ने काव्य के तीन अंग प्रतिपादित किये थे - लोक, विद्या और प्रकीर्ण[३७]। इनमें लोकव्यवहार लोक है। शब्दशास्त्र, स्मृति, अभिधानकोष, छन्दोविचिति, कला, कामशास्त्र, दण्डनीति आदि विद्यायें हैं। कवि को इन सबका ज्ञान होना चाहिये। वृद्धसेवा, प्रतिभा और अवधान प्रकीर्ण हैं।

इस प्रकार व्युत्पत्ति के अन्तर्गत अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित लोक-व्यवहार एवं शास्त्रों तथा काव्यों के अध्ययन को वामन ने भी काव्य के हेतु के रूप में प्रतिपादित किया

है।

आचार्य मम्मट ने व्युत्पत्ति का अभिप्राय बहुत अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने इस व्युत्पत्ति को निपुणता नाम दिया था और कहा था - लोक, शास्त्र काव्य आदि के अवेक्षण से निपुणता आती है[३८]। उन्होंने कारिका की वृत्ति में इसको और अधिक स्पष्ट करते हुये कहा -

"लोक का अभिप्राय है कि स्थावर एवं जङ्गमात्मक लोक का व्यवहार। छन्द, व्याकरण, अभिधानकोष, कला, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, गज, तुरग, खड्ग आदि लक्षण ग्रन्थ शास्त्र कहलाते हैं। महाकवियों द्वारा रचित कृतियां काव्य हैं। आदि शब्द से यहां इतिहास आदि का ग्रहण किया जाता है। इनके सम्यक् पर्यालोचन से जो व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है, उसको निपुणता कहते हैं[३९]।''

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि व्युत्पत्ति के अन्तर्गत लोकव्यवहार, शास्त्र, काव्य, इतिहास आदि के सम्यक् अवलोकन और अध्ययन से उत्पन्न विवेक का तथा औचित्य और अनौचित्य का ज्ञान समाविष्ट होता है।

४. अभ्यास

काव्य की रचना का तीसरा हेतु अभ्यास है। मम्मट आदि आचार्यों ने अभ्यास को भी काव्य के अन्य हेतुओं के समकक्ष स्थान दिया है, जबकि राजशेखर, जगन्नाथ आदि आचार्य अभ्यास को प्रतिभा का सहायक या उद्भावक मानते हैं।

अभ्यास का अभिप्राय है कि कवि काव्य के मर्मज्ञ वृद्धजनों की सेवा-सुश्रूषा करता हुआ उनके निर्देशन में काव्य की रचना करे। वामन ने वृद्धजनों की सेवा को काव्य की शिक्षा के लिये अनिवार्य रूप से प्रतिपादित किया था[४०]।

अभ्यास की व्याख्या आचार्य मम्मट ने अधिक विशद रूप से की थी। उनका कथन है -

"काव्य-रचना की शिक्षा प्राप्त करने का इच्छुक उन विद्वानों की सेवा में जावे; जो काव्य की रचना करना जानते हैं तथा काव्य की समालोचना के मर्मज्ञ हैं। उनके उपदेश के द्वारा वह शब्दों और अर्थों की योजना विषय के अनुकूल बनाता है तथा उनका संयोजन करके काव्य की रचना करता है। इस प्रक्रिया को पुनः पुनः करना भी अभ्यास है[४१]।"

कवियों की शिक्षा और कविता करने के अभ्यास करने के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों ने विस्तृत निर्देश दिये थे। उनका कहना था -

मनुष्य में आठ प्रकार की विशेषतायें उत्पन्न होने पर ही वह काव्य की रचना कर सकता है। ये आठ विशेषतायें काव्य की मातायें कहलाती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं -

"उत्तम स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, गुरुजनों के प्रति भक्ति, विद्वानों के साथ गोष्ठियां, बहुत अधिक अध्ययन, प्रबल स्मरण शक्ति और चित्त की प्रसन्नता[४२]।"

क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थ में कविता की रचना करने की पांच सरणियां निर्दिष्ट की थीं -

(i) अकवेः कवित्वप्राप्तिः -

जो कवि नहीं है, वह कवित्व को प्राप्त करे। इसके लिये दो प्रकार के उपाय हैं -

(क) देवता आदि की पूजा, मन्त्र, जप आदि और

(ख) पुरुषार्थ।

कवि गुरुजनों से विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करके और काव्य-रचना की शिक्षा प्राप्त करके अपने में कवित्व शक्ति को जाग्रत करता है।

(ii) शिक्षाप्राप्तगिरः कवेः -

काव्य-रचना की शिक्षा को प्राप्त करके उसको पूर्ण करना।

(iii) चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तौ -

काव्य-रचना की शिक्षा को प्राप्त करके जिस काव्य की रचना की जावे, उसमें चमत्कार या रमणीयता का आपादन करना परम आवश्यक है।

(iv) गुणदोषोद्गतिः -

काव्य की रचना करते हुये कवि को गुणों और दोषों का ज्ञान होना चाहिये। इस सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र ने तीन गुण और तीन दोष बताये हैं। शब्दवैमल्य, अर्थवैमल्य और रसवैमल्य ये तीन गुण हैं। शब्दकालुष्य, अर्थकालुष्य और रसकालुष्य ये तीन दोष हैं। काव्य की रचना में इन गुणों का ग्रहण कर दोषों का त्याग करना चाहिये।

(v) परिचयप्राप्तिः -

कवि को विविध शास्त्रों का परिचय होना चाहिये।

काव्य के हेतुओं के सम्बन्ध में दिये गये ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काव्य की रचना का हेतु माना गया है। अन्तर इतना ही है कि कुछ आचार्यों ने इन तीनों को समान रूप से समकक्ष रखते हुये अनिवार्य हेतु माना है, जबकि अन्य आचार्यों ने प्रतिभा को मुख्य मानते हुये अन्य दो - व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा के सहायक या उद्भावक के रूप में प्रतिपादित किया है।

५. तीनों हेतुओं का एकत्व

वस्तुतः प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास में परस्पर के प्रधानत्व या अप्रधानत्व का प्रश्न उठाना ही असंगत है। इन तीनों को समकक्ष रखना ही उचित है, क्योंकि एक के भी अभाव में काव्य-रचना में श्रेष्ठता नहीं होगी। ये तीनों हेतु एक ही कवि के व्यक्तित्व के तीन विभिन्न पक्ष हैं और परस्पर आश्रित हैं ।

प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का अधिक महत्त्व नहीं है और व्युत्पत्ति

तथा अभ्यास के अभाव में प्रतिभा कुण्ठित रहती है।

इसी दृष्टि से आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों को ही स्वतन्त्र रूप से कारण नहीं माना, अपितु तीनों को सम्मिलित रूप से एक ही कारण माना। इसीलिये मम्मट ने काव्यरचना के तीन हेतु देकर भी उनके लिये एकवचन का प्रयोग किया।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीन काव्य की रचना के हेतु हैं तथा तीनों सम्मिलित रूप से ही काव्य की रचना में कारण होते हैं।

सन्दर्भ -

१. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः। भामह - काव्यालङ्कार १.५।।

२. शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यपैरमी।।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यप्रबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।। वही १.९-१० ।।

३. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।। काव्यादर्श १.१०३।।

४. तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यत्वम्। काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः। काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्। कवित्वबीजं प्रतिभानम्। चित्तैकाग्र्यमवधानम्। तद्देशकालाभ्याम्।। काव्यालङ्कारसूत्र १.३.१२-१८।।

५. त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः।। रुद्रट - काव्यालङ्कार १.१४।।

६. शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।। काव्यप्रकाश १.३।।

७. सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः।। काव्यमीमांसा ६.११।।

८. तस्य च कारणं कविगता केवलं प्रतिभा।। रसगंगाधर, पृ० ८।।

९. तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषादिजन्यमदृष्टम्।क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ। रसगंगाधर, पृ० ८।।

१०. प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकौ न तु काव्यहेतू। वाग्भट - अलङ्कारतिलक, पृ० २।।

११. प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव ।। चन्द्रालोक १.६।।

१२. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते ।। ध्वन्यालोक ३.६ की वृत्ति।।

१३. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।। काव्यादर्श १.१०४।।
१४. इति त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भेदे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।।
काव्यप्रकाश १.३ की वृत्ति ।।

१५. काव्यादर्श १.१०४।।
१६. जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा।। काव्यालङ्कारसूत्र १.३.१६।।
१७. कवित्वबीजः जन्मान्तरसंस्कारगतविशेषः कश्चित् ।।
भरतनाट्यशास्त्र-अभिनवभारती टीका, पृ०३४६।।
१८ शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः,यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।
काव्यप्रकाश १.३ की वृत्ति ।।
१९. कवेः वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः।। रसगंगाधर पृ ८-९।।
२०. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुर्दुभा ।। अग्निपुराण ३३७.३-४।।
२१. प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।। वक्रोक्तिजीवित, पृ०४९।।
२२. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद् वर्णनानिपुणः कविः।।
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्.....................।।
हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में भट्टतौत के लुप्त ग्रन्थ 'काव्यकौतुक' से उद्धृत।।
२३. प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्।।
लोचन टीका, पृ० २९।।
२४. या शब्दसार्थमर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव। प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादयो जात्यन्धा कवयः श्रूयन्ते।। काव्यमीमांसा - अध्याय४,पृ०११-१२।।
२५. मनसि सदा सुसमाधीनि विस्फुरणमनेकधा ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।। रुद्रट - काव्यालङ्कार १.१५।।
२६. अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।। ध्वन्यालोक ३.४३ की वृत्ति।।
२७. अतथास्थितानपि तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी।।ध्वन्यालोक४.३ की वृत्ति।।
२८. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।। ध्वन्यालोक १.६।।
२९. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्तिनः।। व्यक्तिविवेक, पृ०१०८।
३०. रुद्रट - काव्यालङ्कार १.१६।।

३१. हेमचन्द्र - काव्यनुशासन पृ० ४-५।।

३२. त्रिधा च सा (बुद्धिः) स्मृतिः,मतिः प्रज्ञेति ।अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः, वर्तमानस्य मन्त्री मतिः, अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञा। सा कवीनामुपकर्त्री।। काव्यमीमांसा पृ० १०।।

३३. स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकी मता।।
काव्यप्रकाश १.३ पर सम्प्रदायप्रकाशिनी टीका।।
भारतीय साहित्यशास्त्र : बलदेव उपाध्याय प्रथम खण्ड (संवत् २००७) पृ० ४३१।।

३४. भारतीय साहित्यशास्त्र : बलदेव उपाध्याय प्रथम खण्ड (संवत् २००७) पृ० ४३१।।

३५. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः।।

३६. भामह : काव्यालङ्कार २.९-१०।।

३७. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।
लोकवृत्तं लोकः।। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १.३.२।।
शब्द-स्मृति-अभिधानकोश-छन्दोविचिति-कला-कामशास्त्र-दण्डनीतिपूर्वाः विद्याः।।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १.३.३।।

लक्ष्यत्वमभियोगो वृद्धसेवा-अवेक्षणं प्रतिभानम् अवधानञ्च प्रकीर्णम्।।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १.३.११।।

३८. निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।। काव्यप्रकाश १.३।।

३९. लोकस्य स्थावरजंगमात्मकलोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्ग-गजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्ति।।
काव्यप्रकाश १.३ की वृत्ति।।

४०. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.३.११ ।

४१. काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिः।।
काव्यप्रकाश १.३ की वृत्ति ।।

४२. स्वास्थ्यं प्रतिभाऽभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिर्दार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य।। काव्यमीमांसा।।

४३. त्रय समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्य उद्भवे, निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ।।
काव्यप्रकाश १.३ की वृत्ति ।।

तीसरा अध्याय

काव्य का लक्षण

१. प्रारम्भिक कथन

काव्य की समालोचना के प्रारम्भ होने तथा काव्यशास्त्र के क्रमबद्ध इतिहास को उन्मीलित करने के लिये काव्यशास्त्रकारों का प्रथम कर्तव्य है कि वे सबसे पहले काव्य के लक्षण की व्याख्या करें। काव्य के किस अङ्ग में प्रधान रूप से काव्यत्व निहित है, इस तथ्य को दृष्टि में रख कर विभिन्न आचार्यों ने काव्य के लक्षण प्रस्तुत किये थे। भरत और भामह से लेकर आधुनिक युग तक काव्यशास्त्र के आचार्य काव्य के लक्षण को अपनी मान्यता के अनुसार प्रस्तुत करते रहे हैं। यद्यपि सभी आचार्यों के विचारों को यहां प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, तथापि प्रमुख आचार्यों के विचारों का विश्लेषण संक्षेप से उपस्थित किया जा रहा है।

२. मम्मटकृत काव्य का लक्षण

प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने काव्य के जो लक्षण प्रस्तुत किये थे, उनमें मम्मट का लक्षण सबसे औचित्यपूर्ण, उपयोगी और वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इस लक्षण को केन्द्र बिन्दु मान कर अन्य आचार्यों के मतों का उसके साथ तुलनात्मक विश्लेषण करना अधिक उपयोगी होगा। आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण निम्न किया है –

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।" काव्यप्रकाश १.४ ।।

दोषों से रहित, गुणों से विभूषित एवं कहीं अलङ्कार से रहित होते हुये भी शब्द और अर्थ का युगल काव्य होता है।

मम्मट की दृष्टि में काव्य का शरीर शब्द और अर्थ से निर्मित है। ये शब्द और अर्थ सामान्य न होकर विशिष्ट होते हैं। इनको दोषों से रहित होना चाहिये और गुणों से विभूषित होना चाहिये। सामान्यतः काव्य के शरीर ये शब्द और अर्थ अलङ्कारों से अलङ्कृत होते हैं, परन्तु यदि कहीं स्फुट रूप से अलङ्कार न भी प्रतीत हों, तो भी वे काव्य रहते हैं। उनमें अकाव्यत्व की शङ्का नहीं करनी चाहिये। अतः अपनी कारिका की वृत्ति में आचार्य मम्मट ने लिखा है –

"क्वापीत्यनेनैतदाह, यत् सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फुटाङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः"। काव्यप्रकाश १.४ की वृत्ति।।

३. अन्य आचार्यों की काव्य की परिभाषायें

मम्मटकृत काव्य के लक्षण की परीक्षा करने से पूर्व कुछ अन्य प्रसिद्ध आचार्यों की काव्य की परिभाषाओं को देना उचित है -

(i) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। भामह - काव्यालङ्कार १.१६।।

(ii) तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।। दण्डी - काव्यादर्श १.१०।।

(iii) काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थ-वचनमात्रं गृह्यते। वामन - काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १.१.१।।

(iv) ....इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्।। अग्निपुराण ३३६. ६-७।।

(v) शब्दार्थौ काव्यम्।। रुद्रट - काव्यालङ्कार २.१।।

(vi) शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्।।
वाग्भट-काव्यानुशासन पृ० १४।।

(vii) अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
हेमचन्द्र काव्यानुशासन पृ० १६।।

(viii) सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।
आनन्दवर्धन - ध्वन्यालोक १.१ की वृत्ति।।

(ix) निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्।।
जयदेव - चन्द्रालोक १.७।।

(x) गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः।।
विद्यानाथ - प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ४२।।

(xi) शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः।
विद्याधर - एकावली १.१३।।

(xii) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।
कुन्तक - वक्रोक्तिजीवित १.१।।

(xiii) निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।। सर० कण्ठाभरण १.२।

(xiv) आस्वादजीवातु पदसन्दर्भः काव्यम्।

चण्डीदासकृत काव्यप्रकाशप्रदीपिका पृ० १३।।

(xv) काव्यं रसादिमद् वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।

शौद्धोदनि - अलङ्कारशेखर पृ० २।।

(xvi) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।। विश्वनाथ - साहित्यदर्पण १.३।।

(xvii) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।।

जगन्नाथ - रसगङ्गाधर पृ० २।।

विभिन्न आचार्यों ने काव्य के जो लक्षण किये हैं, उनको तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -

(१) कुछ आचार्यों ने विशिष्ट शब्दार्थ-युगल को काव्य माना है, जैसे कि भामह, वामन, मम्मट आदि का अभिमत है। यह शब्दार्थ-युगल विशिष्ट इस अर्थ में है कि यह दोषरहित, गुणसम्पन्न और अलङ्कारविभूषित होता है।

(२) कुछ आचार्य केवल शब्द को, जो कि विशिष्ट अर्थ से सम्पन्न है, काव्य मानते हैं। दण्डी, जगन्नाथ आदि ने यही अभिमत प्रकट किया है।

(३) कुछ आचार्यों ने काव्य की परिभाषा करने में शब्द और अर्थ को अधिक महत्त्व न देकर रस से सम्भृत वाक्य को काव्य कहा है। भोज, जयदेव, विश्वनाथ आदि का यही अभिमत है।

४. मम्मटकृत काव्य के लक्षण की परीक्षा

आचार्य मम्मट के काव्य के लक्षण के प्रत्येक पद की परीक्षा करने से प्रायः सभी आचार्यों के अभिमतों का विश्लेषण हो जावेगा और काव्य के पूरे स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा, अतः इसको यहां प्रस्तुत किया जाता है।

(i) शब्दार्थौ -

आचार्य मम्मट का मन्तव्य है कि शब्द और अर्थ का युगल ही काव्य होता है। शब्द या अर्थ अलग-अलग रूप में काव्य नहीं होते। भामह, वामन, रुद्रट, हेमचन्द्र, वाग्भट, कुन्तक आदि आचार्यों ने शब्द-अर्थ युगल को काव्य की संज्ञा दी है।

परन्तु कुछ आचार्यों ने शब्दार्थ-युगल को काव्य की संज्ञा देने का खण्डन किया और केवल शब्द को काव्य माना। दण्डी, अग्निपुराण, जगन्नाथ आदि इसी मत के हैं। जगन्नाथ ने शब्दार्थ-युगल को काव्य मानने में कठोर आपत्ति की है। उनका कथन है -

"काव्यत्व न तो शब्द-अर्थ के युगल में रहता है और नाहीं दोनों में अलग-अलग रूप से रहता है, अपितु वह शब्दनिष्ठ होता है।" शब्दार्थ-युगल को काव्य न मानने में जगन्नाथ ने निम्न युक्तियां दी हैं -

(क) शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में कोई प्रमाण नहीं है। काव्य को उच्च स्वर

से पढ़ा जाता है, काव्य से अर्थ का बोध होता है, काव्य सुन लिया परन्तु अर्थ का बोध नहीं हुआ, इस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। इन सब व्यवहारों में काव्य पदार्थ के रूप में शब्द को ही ग्रहण किया जाता है। इसलिये काव्यत्व शब्द में ही निहित होता है[१]। सभी व्यवहारों में काव्यत्व को शब्द रूप में ही ग्रहण किया जाता है।

(ख) शब्दार्थयुगल में काव्यत्व माना जावे तो इसके दो पक्ष हो सकते हैं - काव्यत्व या तो शब्दार्थ- युगल में व्यासज्य वृत्ति से (सम्मिलित रूप से) हो सकता है, या शब्द-अर्थ में प्रत्येक में अलग-अलग हो सकता है। शब्दार्थ-युगल में व्यासज्य वृत्ति से काव्यत्व की सम्भावना नहीं हो सकती। इसका हेतु यह है कि एक और एक मिल कर दो होते हैं, अर्थात् दो सम्मिलित इकाइयों को दो कहते हैं। दो के अवयव रूप एक को दो नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार श्लोक के वाक्य को काव्य नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि यह वाक्य काव्य का अवयव मात्र ही होगा। परन्तु व्यवहारतः श्लोक के वाक्य को काव्य कहा जाता है। शब्द और अर्थ में पृथक्-पृथक् रूप से काव्यत्व रहता है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक ही पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। अतः जिस प्रकार वेद शास्त्र आदि शब्दनिष्ठ होते हैं, उसी प्रकार काव्य भी शब्दनिष्ठ होता है[२]।

इस प्रकार शब्दार्थयुगल में काव्यत्व का खण्डन करने वाले पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल शब्द में ही काव्यत्व को माना था। परन्तु उनका यह शब्द सामान्य नहीं है, अपितु रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला है[३]।

पण्डितराज की इन युक्तियों का खण्डन स्वयं उनके टीकाकार नागेशभट्ट ने किया था[४]। नागेशभट्ट का कथन था -

"काव्य का प्रयोजन रस के आस्वादन की अभिव्यञ्जना करना है। वह शब्द और अर्थ दोनों में समान रूप से रहता है । इस कारण काव्यत्व को शब्दार्थोभयनिष्ठ ही मानना चाहिये, केवल शब्दनिष्ठ नहीं। अतः 'काव्यप्रकाश' के रचयिता ने काव्य का जो लक्षण दिया है, वह सर्वथा उचित है।" नागेशभट्ट ने पण्डितराज की युक्तियों का खण्डन इस प्रकार किया -

(क) यदि लोक-व्यवहार में यह देखा जाता है कि काव्य पढ़ा और सुना, तो यह भी देखा जाता है कि काव्य समझा। अतः काव्य पद का उभयविध व्यवहार होने से काव्यत्व उभयनिष्ठ होता है।

(ख) वेदशास्त्र केवल शब्दनिष्ठ होते हैं, यह कथन भी ठीक नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **"तदधीते तद्वेद"**, इस पाणिनीय(५.२.२९) सूत्र की व्याख्या में वेद आदि को उभयनिष्ठ माना है[५]। किसी विषय का अध्ययन करने और उसके अर्थ को समझने में यह सूत्र प्रत्यय का विधान करता है। वेदत्व को शब्दार्थोभयनिष्ठ मानने पर ही इस सूत्र के भाष्य की संगति लगती है। काव्य यद्यपि मुख्य रूप से व्यासज्य वृत्ति है, तथापि लक्षणा से

केवल शब्द में या अर्थ में काव्यत्व हो सकता है। अतः **"एको न द्वौ"** के समान **"श्लोकवाक्यं न काव्यम्"**, इस प्रकार का व्यवहार उपस्थित नहीं होगा।

वस्तुतः आस्वादव्यञ्जकता या चमत्कार शब्द और अर्थ दोनों में समान भाव से रहता है। काव्य की रचना भी कवि इसी प्रयोजन के लिये करता है। इस कारण शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्यत्व मानना चाहिये। काव्यत्व को केवल शब्द में ही सीमित कर देना उचित नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं भी प्रत्येक शब्द में काव्यत्व नहीं माना। उन्होंने उसी शब्द में काव्यत्व स्वीकार किया है, जो रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने में समर्थ है। इस प्रकार शब्द के साथ साथ अर्थ में वे स्वयं काव्यत्व का प्रतिपादन कर रहे हैं।

(ii) अदोषौ -

काव्य का लक्षण करते हुये मम्मट **"शब्दार्थौ"** के लिये तीन विशेषण देते हैं - **"अदोषौ"**, **"सगुणौ"** और **"अनलङ्कृती पुनः क्वापि"**। विश्वनाथ ने इन तीनों विशेषणों की कठोर आलोचना की है। उनका कथन है -

"मम्मट के तीनों विशेषण काव्य का लक्षण करने में अनावश्यक हैं और अपेक्षित नहीं हैं। मम्मट के काव्य के लक्षण में जितने पद हैं, उनसे भी अधिक संख्या में दोष हैं।"

''**अदोषौ**'' विशेषण के सम्बन्ध में विश्वनाथ का कथन है कि इसका अर्थ दो प्रकार से हो सकता है - सर्वथा दोषरहित अथवा ईषद् दोषरहित शब्द-अर्थ काव्य होता है। यदि हम पहले प्रकार से अर्थ करें और सर्वथा दोषरहित शब्द-अर्थ को काव्य मानें, तो यह उचित नहीं होगा। सर्वथा दोषरहित काव्य का मिलना कठिन है। इस प्रकार का काव्य या तो मिलेगा नहीं, और यदि मिलेगा भी तो बहुत कम मिलेगा। ध्वनिकार ने -

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिक्-धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः।।

इस श्लोक को ध्वनि काव्य (उत्तम काव्य) के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। मम्मट ने इसमें विधेयाविमर्श दोष को दिखाया है। यदि काव्य के लक्षण में **"अदोषौ"** पद रख कर उसको सर्वथा दोषरहित माना जावेगा, तो इस श्लोक में विधेयाविमर्श दोष होने से इसको काव्य ही नहीं माना जा सकेगा, उत्तम काव्य का तो कहना ही क्या है। यदि इसका समाधान यह दिया जावे कि श्लोक के जितने अंश में दोष है, वहां अकाव्यत्व है तथा जितने अंश में दोष नहीं है, वहां उत्तम काव्यत्व है, तो यह भी उचित नहीं होगा। क्योंकि छीना-झपटी में यह काव्य या अकाव्य कुछ भी नहीं रहेगा।

यदि **"अदोषौ"** पद में **"नञ्"** का अर्थ **"ईषद्"** लिया जावे तथा स्वल्प दोषयुक्त

उक्ति को काव्य कहा जावे, तो यह भी उचित नहीं है। इस अर्थ को स्वीकार करने पर तो और भी भयानक स्थिति उत्पन्न हो जावेगी और सर्वथा दोषरहित उक्ति को भी काव्य नहीं कहा जा सकेगा।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि पदार्थ के स्वरूप का निर्देश करने में दोषाभाव का उल्लेख करना अनुचित होता है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में कुछ न कुछ दोष सदा विद्यमान रहता है। यदि रत्नों को कीड़ों ने बींध दिया हो तो भी उनका रत्नत्व नष्ट नहीं हो जाता[६]। अतः मम्मट द्वारा काव्य का लक्षण करने में **"अदोषौ"** पद का प्रयोग करना सर्वथा अनुचित है।

काव्य का लक्षण करने के लिये मम्मट ने **"अदोषौ"** पद का जो प्रयोग किया, उस पर विश्वनाथ द्वारा इस प्रकार आक्षेप करना सर्वथा अनुचित है। विश्वनाथ ने काव्यगत दोष के स्वरूप को न समझ कर ही यह आक्षेप किया प्रतीत होता है।

काव्यगत दोष दो प्रकार के होते है - नित्य दोष और अनित्य दोष। नित्य दोष वे हैं, जो सभी स्थानों पर सभी परिस्थितियों में दोष होते हैं, जैसे कि च्युतसंस्कृति (व्याकरण की दृष्टि से दोष) सभी स्थानों पर दोष होता है। दूसरे अनित्य दोष हैं। ये सभी स्थानों पर दोष नहीं होते, जैसे कि श्रुतिकटुत्व आदि दोष अनित्य हैं।

श्रुतिकटुत्व दोष शृङ्गार आदि कोमल रसों की अभिव्यञ्जना के प्रसङ्ग में दोष है, परन्तु रौद्र आदि कठोर रसों की अभिव्यक्ति के प्रसङ्ग में दोष नहीं है। इन स्थलों में यह रसानुभूति का बाधक न रहकर साधक हो जाता है। काव्य के लक्षण में **"अदोषौ"** लिखने का मम्मट का अभिप्राय यही है कि काव्य को च्युतसंस्कृति आदि नित्य दोषों से रहित होना चाहिये।

मम्मट ने दोष का लक्षण किया है[७] -

"मुख्यार्थ का विघात करने वाला तत्त्व ही दोष है तथा मुख्यार्थ रस ही है।" इसका अभिप्राय यह है कि रस के अपकर्षक तत्त्व दोष कहलाते हैं। विश्वनाथ ने स्वयं भी रस के अपकर्षक तत्त्वों को दोष माना है[८]।

मम्मट ने काव्य के लक्षण में जो **"अदोषौ"** पद सम्मिलित किया था, उसका अभिप्राय यही था कि काव्य में रस की अनुभूति में बाधा डालने वाले दोष नहीं होने चाहियें। यदि काव्य में कुछ साधारण दोष हैं भी और वे रस की अनुभूति में व्याघात उत्पन्न नहीं करते तो दोष से युक्त होते हुये भी वह काव्य काव्य ही होगा, उसमें अकाव्यत्व की शङ्का नहीं की जा सकती। यदि काव्य सर्वथा गुणसम्पन्न है और रसनिष्ठ है तो उसमें एक सामान्य सा दोष होने पर वह अकाव्य नहीं हो जावेगा। उस दोष से तो वह और भी श्लाघनीय प्रतीत होगा, जैसे कि कालिदास ने कहा है -

"चन्द्रमा का कलंक उसकी शोभा का ही विस्तार करता है[९]।" पण्डितराज

जगन्नाथ ने भी मम्मट के काव्य के लक्षण में **"अदोषौ"** पद का खण्डन किया था। उन्होंने कहा था -

"दुष्टं काव्यम्" कहने पर दोषसहित उक्ति में भी क्योंकि काव्य का प्रयोग रहता ही है, अतः मम्मट का यह विशेषण समुचित नहीं है। जगन्नाथ के इस आक्षेप का निराकरण भी ऊपर के विवेचन से हो जाता है।

इस प्रकार मम्मट ने काव्य के लक्षण में **"अदोषौ"** पद का जो प्रयोग किया था, उसका औचित्य सिद्ध है।

(iii) सगुणौ -

काव्य के लक्षण में आचार्य मम्मट ने **"सगुणौ"** विशेषण का भी प्रयोग किया था। काव्य में माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण होते हैं। इन तीन गुणों से युक्त शब्दार्थयुगल काव्य होता है।

विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्य का लक्षण करने में मम्मट द्वारा प्रयुक्त इस **"सगुणौ"** विशेषण को भी अनुपयोगी और अनुचित बताया था। विश्वनाथ का कथन है -

"काव्य के लक्षण में **"सगुणौ"** पद को शब्द और अर्थ का विशेषण कहना सर्वथा अनुचित है। मम्मट ने स्वयं ही गुणों को रस का धर्म बताया है, अतः इनको शब्द और अर्थ का धर्म प्रतिपादित करना कहां तक उचित हो सकता है? यदि इसका यह उत्तर दिया जावे कि रस का अभिव्यञ्जक होने से यहां उपचार से गुण शब्द का प्रयोग किया गया है, तो यह भी उचित समाधान नहीं होगा। इस सम्बन्ध में दो अवस्थायें हो सकती हैं -

(क) काव्य के स्वरूप का निर्माण करने वाले शब्द और अर्थ में रस है या नहीं। यदि रस नहीं है तो वहां गुण नहीं होंगे, क्योंकि गुणों का रस के साथ नित्य सम्बन्ध है। यदि रस है तो **"सगुणौ"** विशेषण के स्थान पर **"सरसौ"** कहना अधिक उपयुक्त होगा।

(ख) काव्य के लक्षण में **"सगुणौ शब्दार्थौ"** पदों का यह अभिप्राय प्रतिपादित करने में कोई औचित्य नहीं है कि गुणों के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ ही काव्य में उत्कर्ष के आधायक होते हैं।

वस्तुतः गुण और अलङ्कार काव्य के उत्कर्ष के आधायक तो हो सकते हैं, परन्तु स्वरूप के आधायक नहीं होते। इस स्थल पर मम्मट काव्य के स्वरूप को बता रहे हैं, न कि उत्कर्ष को। इस कारण काव्य के लक्षण में **"सगुणौ"** पद को **"शब्दार्थौ"** के स्वरूप के विशेषण के रूप में प्रयुक्त करना उचित नहीं है।

पण्डितराज ने भी मम्मट द्वारा काव्य के लक्षण में **"सगुणौ"** के प्रयोग का खण्डन किया है। उनका कथन है -

अनेक उक्तियां ऐसी होती हैं, जिनमें गुण नहीं होते और वे तब भी काव्य होती हैं।

जैसे कि **"उदितं मण्डलं विधोः"** उक्ति में गुणों के न होने पर भी काव्यत्व हो सकता है।
इसलिये **"सगुणौ"** पद का काव्य के लक्षण करने में प्रयोग उचित नहीं है।

वस्तुतः काव्यशास्त्र के इन आचार्यों ने गुण के स्वरूप को अच्छी प्रकार से समझ न पाने के कारण ही मम्मट की इस प्रकार आलोचना की है। मम्मट द्वारा **"सगुणौ"** पद का प्रयोग करने पर रसवत्ता का स्वयं ग्रहण हो जाता है। मम्मट ने गुण का लक्षण किया है -

"जिस प्रकार शौर्य आदि गुण अंगी रूप में आत्मा के नित्य गुण होते हैं, उसी प्रकार काव्य में अंगी रूप रसों के माधुर्य आदि गुण होते हैं। ये रस का निश्चित रूप से उपकार करते हैं और जहां रस होता है, वहां वे अवश्य रहते हैं[१०]।"

गुण का लक्षण इस प्रकार मान लेने पर **"सगुणौ"** पद से रसवत्ता का स्वयं ग्रहण हो जाता है।

रस की ओर प्रवृत्त होने वाला कवि भी पहले गुणों की ओर प्रवृत्त होता है। इसका हेतु यह है -

रस सूक्ष्म एवं अलक्ष्य पदार्थ है और केवल अनुभूति का विषय है, इसके विपरीत गुण अधिक स्थूल हैं तथा लक्ष्य हैं। अतः रस की अभिव्यक्ति के लिये भी कवि गुणों को प्रदर्शित करने के लिये आग्रहवान् होता है।

गुणों का सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ के साथ सर्वथा नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि गुणों का नित्य वास्तविक सम्बन्ध रस के साथ ही है, तथापि गौण रूप से उनका सम्बन्ध शब्द और अर्थ के साथ भी प्रतिपादित किया गया है[११]। इसलिये मम्मट के काव्य लक्षण के **"सगुणौ"** पद को **"शब्दार्थौ"** का विशेषण रखने में कोई दोष नहीं है। इसमें कोई अनौचित्य नहीं है, न ही किसी दोष की कल्पना करनी चाहिये।

(iv) अनलङ्कृती पुनः क्वापि -

काव्य में अलङ्कारों का संयोजन करने के सम्बन्ध में मम्मट का अभिमत है - "काव्य में शब्द और अर्थ प्रायः अलङ्कृत होते हैं।" परन्तु उनका यह भी विचार है कि यदि किसी सरस काव्य में स्फुट रूप से अलङ्कार प्रतीत न भी हो रहा हो तो उसमें काव्यत्व नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता[१२]। उसके उदाहरण के रूप में मम्मट ने जो पद्य दिया है[१३], उसमें मम्मट के अनुसार स्फुट रूप में कोई अलङ्कार नहीं है, तथापि विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यक्ति के कारण यह काव्य है।

मम्मट ध्वनिवादी आचार्य थे और उन्होंने काव्य में अलङ्कारों को उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना कि अलङ्कारवादी आचार्य देते रहे थे। अलङ्कारवादी आचार्यों ने अलङ्कारविहीन काव्य की उपमा विधवा सरस्वती से दी **(गुणालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती)**। उनका यह भी मत था कि जिस प्रकार युवती का मुख सुन्दर होते हुये भी विना

अलङ्कारों के शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार काव्य की शोभा भी विना अलङ्कारों के नहीं होती[१४]। अलङ्कारविहीन काव्य सहृदयों के मनों को आनन्दित नहीं करता।

ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों के शोभाकरत्व धर्म को स्वीकार करके भी उनको काव्य का बहिरंग माना। अलङ्कार का लक्षण देते हुये मम्मट ने कहा[१५] -

"जो रस का साक्षात् रूप से उपकार न करके शब्द और अर्थ के द्वारा करते हैं; सदा करते भी हों, ऐसा नहीं है; कभी उपकार करते हैं और कभी नहीं भी करते, रस की उपस्थिति होने पर हो भी सकते हैं; नहीं भी हो सकते; रस के न होने पर भी हो सकते हैं; वे उपमा, अनुप्रास आदि अलङ्कार कहलाते हैं।"

विश्वनाथ ने भी अलङ्कार की परिभाषा बहुत कुछ इसी प्रकार की है[१६]।

ध्वनिवादी आचार्यों ने अलङ्कारों की स्थिति को रस की अपेक्षा से माना था। आनन्दवर्धन ने यही विचार प्रकट किया था। मम्मट का भी यही कथन था कि काव्य में अलङ्कार तो होने चाहियें, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वे सर्वत्र स्फुट रूप से हों।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने अलङ्कारों को काव्य का अनिवार्य तत्त्व तो स्वीकार किया, परन्तु उनकी स्थिति का रस की अपेक्षा से ही समर्थन किया। उनको इतना महत्त्व नहीं दिया, जितना अलङ्कारवादी आचार्य देते थे।

काव्य के लक्षण में मम्मट के इस **"अनलङ्कृती"** विशेषण से कुछ अलङ्कारवादी आचार्य, जो कि काव्य में अलङ्कारों की अनिवार्यता को प्रतिपादित करते थे, बहुत अप्रसन्न थे। चन्द्रालोककार जयदेव तो इससे इतने अधिक अप्रसन्न हुये कि उन्होंने यहां तक कह दिया -

"जो विद्वान् काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को अलङ्कार से शून्य मान सकता है,वह अग्नि को भी उष्णता से शून्य क्यों नहीं मान लेता[१७]।"

परन्तु जयदेव का मम्मट के प्रति इस प्रकार का आक्षेप लगाना किसी प्रकार भी समुचित नहीं माना जा सकता। मम्मट ने यह कभी भी नहीं कहा कि काव्य अलङ्कार से रहित हो सकता है। **"सर्वत्र सालङ्कारौ"** कहकर उन्होंने काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता प्रतिपादित की थी। परन्तु उनका साथ में यह भी कहना था कि यदि काव्य सरस है तो स्फुट अलंकार के न होने पर भी वहां काव्यत्व अवश्य होगा। मम्मट के इस कथन से वामनाचार्य झलकीकर ने काव्य में निम्न परिस्थितियों को स्वीकार किया है -

(i) सरसं स्फुटालङ्कारसहितम्
(ii) सरसमस्फुटालङ्कारसहितम्
(iii) सरसमलङ्काररहितम्
(iv) नीरसं स्फुटालङ्कारसहितम्
(v) नीरसमलङ्कारसहितम्
(vi) नीरसमलङ्काररहितम्

वामनाचार्य महोदय का कहना है कि मम्मट के अनुसार इनमें पहली चार परिस्थितियों में काव्यत्व हो सकता है।

विश्वनाथ ने भी मम्मट के **"अनलङ्कृती"** पद की आलोचना की थी। उनका कहना है -

मम्मट द्वारा काव्य को सर्वत्र सालङ्कार मानना और कहीं अनलङ्कृत मानना उचित नहीं है। काव्य के विशेषण के रूप में अलङ्कृत या अनलङ्कृत पद का प्रयोग ही अनुपयोगी है। इसका कारण यह है कि अलङ्कारों से काव्य के स्वरूप का निर्धारण नहीं होता, अपितु उत्कर्ष का ही आधान ही होता है।

दूसरी बात यह है कि मम्मट ने **"यः कौमारहरः स एव हि वरः०"** श्लोक को अस्फुट अलङ्कार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। परन्तु इस श्लोक में अनुप्रास अलङ्कार स्फुटित होता है। परन्तु यदि यह मान भी लिया जावे कि यह अनुप्रास विप्रलम्भ शृङ्गार जैसे कोमल रस का अभिव्यञ्जक या उपकारक नहीं है तथा इसका अलङ्कारत्व काव्य के अनुरूप नहीं है, तो भी इसमें विभावना और विशेषोक्ति नामक अलङ्कारों का सौन्दर्य है।

कारणों के न होने पर भी समुत्कण्ठारूप कार्य के उत्पन्न होने से यहां विभावना अलङ्कार है तथा उत्कण्ठा के अभाव रूप कारणों की विद्यमानता होने पर भी अनुत्कण्ठा रूप कार्य के उत्पन्न न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार है। इन दोनों अलङ्कारों के साधक-बाधक प्रमाण के न होने से किसी एक अलङ्कार का निश्चय न होने के कारण यहां सन्देहसंकर अलङ्कार भी है।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार का यह उदाहरण अलङ्कार की अस्फुट प्रतीति का उदाहरण नहीं है, अपितु सुकुमार विप्रलम्भ शृङ्गार रस का अभिव्यञ्जक होने से रससम्भृत काव्य का उदाहरण है। इस रस को किसी अलङ्कार से उपकृत होने की अपेक्षा नहीं है।

विश्वनाथ की ये युक्तियां समालोचकों को ग्राह्य नहीं हैं। यह काव्य यद्यपि रस से सम्भृत है, तथापि इसमें अलङ्कारों की योजना स्फुट रूप से नहीं की गई है। विश्वनाथ का यह कथन कि इस काव्य में विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कारों की स्फुट रूप से प्रतीति है तथा दोनों के साधक-बाधक प्रमाणों के न होने से सन्देहसंकर अलङ्कार भी यहां विद्यमान है, स्वयं में विरोध से ग्रस्त है। विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कार यदि यहां स्फुट रूप में विद्यमान होते, तो सन्देह की उपस्थिति ही कहां से होती? पूर्वपक्षियों द्वारा यहां ये अलङ्कार भाव रूप से नहीं, अपितु अभाव रूप से निकाले जा रहे हैं। ये स्पष्ट नहीं हैं, किन्तु बलात् खींच-तान करके प्रतिपादित किये जा रहे हैं। इस प्रकार खींच-तान करके यहां जिस प्रकार विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कारों की उद्भावना की गई है, उसी प्रकार इस काव्य में दीपक, तुल्ययोगिता आदि अलङ्कारों की भी खोज की जा सकती है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस काव्य में जो भी अलङ्कार प्रदर्शित किये गये हैं, वे अस्फुट ही हैं। इसलिये मम्मट का यह कथन सर्वथा उचित है कि अस्फुट अलङ्कार के विरह में भी काव्यत्व हो सकता है। वहां काव्यत्व की हानि नहीं है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी मम्मटकृत काव्य-लक्षण में सालङ्कारता के राहित्य के प्रतिपादन का विरोध किया है। उनका कथन है -

"अलङ्कार काव्य-शरीर के उसी प्रकार शोभाधायक हैं, जिस प्रकार कुण्डल आदि शरीर के हैं। अतः जिस प्रकार कुण्डल आदि को शरीर के स्वरूप का आधायक नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार अलङ्कार भी काव्य के स्वरूप के आधायक नहीं हो सकते। आभूषणों से विहीन नारी में नारीत्व नहीं है, यह कौन कह सकता है ? इसी प्रकार अलङ्कार से विहीन काव्य में काव्यत्व नहीं है, यह भी कोई नहीं कह सकता।"

मम्मट ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है। परन्तु यदि इन शब्द-अर्थ में चमत्कार नहीं है, तो उनमें काव्यत्व नहीं होगा। रूप और रस से विहीन नारी जिस प्रकार नारीत्व के होने पर भी किसी को आकृष्ट नहीं कर सकती, उसी प्रकार अलङ्कार और रस से विहीन काव्य भी किसी को आह्लादित करने में समर्थ नहीं हो सकता। काव्य के शरीर शब्द और अर्थ का उपकार करके अलङ्कार रस को भी उपकृत करते ही हैं। इसी कारण मम्मट ने काव्य के लक्षण में शब्द और अर्थ की सालङ्कारता की अपेक्षा की है।

(v) तत् शब्दार्थौ काव्यम् -

काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुये मम्मट ने **"शब्दार्थौ"** के विशेषण में **"तत्"** पद का प्रयोग किया है। इसमें सामान्यतः व्याकरण की अशुद्धि प्रतीत हो सकती है। **"शब्दार्थौ"** में द्विवचन का और **"तत्"** में एकवचन का प्रयोग है। वाक्य-रचना के नियम के अनुसार विशेषण और विशेष्य में समान विभक्ति और वचन होने चाहियें।

"शब्दार्थौ" पद में द्विवचन का प्रयोग होते हुये भी **"तत्"** पद में एकवचन का प्रयोग मम्मट ने विशेष अभिप्राय से किया है। इसमें व्याकरण की अशुद्धि या वाक्य रचना का दोष नहीं समझना चाहिये। मम्मट का इस प्रकार का प्रयोग करने का अभिप्राय है -

शब्द और अर्थ एकरूप होकर ही काव्य का शरीर कहलाते हैं। अकेला शब्द या अकेला अर्थ ही काव्य नहीं होता, परन्तु दोनों व्यासज्य वृत्ति से, अर्थात् सहित रह कर ही काव्य कहलाते हैं। काव्य में ये दोनों एकवृत्ति हैं। यही कारण है कि मम्मट के काव्य लक्षण में **"तत्"** पद में एकवचन का प्रयोग हुआ है। इसलिये काव्य को साहित्य भी कह दिया जाता है।

५. साहित्य

साहित्य पद की रचना शब्द और अर्थ के साहित्य भाव से हुई है। शब्द और अर्थ

सहित रहने पर ही काव्य पद को धारण करते हैं। साहित्य पद की व्युत्पत्ति है -

"सहितयो: शब्दार्थयो: भाव: साहित्यम्"।

भामह, वाग्भट, कुन्तक आदि आचार्यों ने काव्य का लक्षण करते हुये सहित शब्द का जो प्रयोग किया था, मम्मट ने उस भाव को **"शब्दार्थौ"** के विशेषण **"तत्"** पद में एकवचन का प्रयोग करके अभिव्यक्त कर दिया। मम्मट के इस भाव का सभी आचार्यों ने समर्थन किया है। शब्द और अर्थ के साहित्य वृत्ति से रहने के कारण इस विद्या को साहित्य विद्या भी कहा गया। इस सम्बन्ध में राजशेखर का कथन है -

"यह साहित्य विद्या लोक व्यवहार की निमित्त चार विद्याओं - आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का सार है।" साहित्यविद्या पद की निष्पत्ति इस प्रकार है -

"शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या"।

ऊपर के विवेचन का सार यही है कि शब्द और अर्थ परस्पर सहित रह कर साहित्य की रचना के कारण होते हैं तथा व्यासज्य वृत्ति से ही काव्य के शरीर का निर्माण करते हैं।

सन्दर्भ -

१. यत्तु प्राञ्चः (काव्यप्रकाशकारादयः) शब्दार्थौ काव्यमित्याहुः, तत्र विचार्यते। शब्दार्थयुगलं न काव्य-शब्दवाच्यम्, मानाभावात्। काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं तु श्रुतम् अर्थो न ज्ञातः, इत्यादिविश्वजनीनव्यवहारतः, प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थप्रतिपत्तेश्च।।

रसगङ्गाधर - प्रथम आनन।।

२. अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तं प्रत्येकपर्याप्तं वा? नाद्यः, एको न द्वौ इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः,एकस्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारस्यापत्तेः। तस्माद् वेदपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।

रसगङ्गाधर प्रथम आानन।।

३. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।। रसगङ्गाधर प्रथम आनन।।

४ आस्वादव्यञ्जकत्वस्योभयत्रान्यविरोधात् चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयतावच्छेदकधर्मत्वरूपस्या-नुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्तलक्ष्यतावच्छेदकस्य उभयवृत्तित्वाच्चकाव्यं पठितं श्रुतं, काव्यं बुद्धमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति। अत एव वेद-त्वादेरुभयवृत्तिप्रतिपादकः "तदधीते तद्वेद"(पा० ५.२.२९) इति सूत्रभ्थो भगवान् पतञ्जलिः संगच्छते। लक्षणयान्तरस्मिन्नपि तत्त्वात् "एको न द्वौ" इति वत् न तदापत्तिः। तेनानुपहसनीय-काव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्।।

जगन्नाथ के "उचिता" पद पर नागेश नागेश भट्‌ट की टीका।।

५. तदधीते तेद। किमर्थमुभावपि अर्थौ निर्दिश्येते। न योऽधीते वेत्त्यपि असौ। यस्तु वेत्ति अधीतेऽप्यसौ। नैतयोरावश्यक: समावेश:। भवति हि कश्चित् संपाठं पठति न वेत्ति तथा, तथा कश्चिद् वेत्ति न च संपाठं पठति।। पाणिनीय ४.२.२९ पर पातञ्जल भाष्य।।

६. कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगत: स्फुट:।। साहित्यदर्पण १.३ की वृत्ति।।

७. मुख्यार्थहतिर्दोष: रसश्च मुख्य:।। काव्यप्रकाश ७.४९।।

८. रसापकर्षका: दोषा:।। साहित्यदर्पण ७.१।।

९. मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।। अभिज्ञानशाकुन्तल १.१७।।

१०. ये रसस्याङ्गिनो धर्मा: शौर्यादय इवात्मन:।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा:।। काव्यप्रकाश ८.६६।।

११. गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्ति: शब्दार्थयोर्मता।। काव्यप्रकाश ८.७१।।

१२. क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्व-हानि:।। काव्यप्रकाश १.४ की वृत्ति।।

१३. य: कौमारहर: स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभय: प्रौढा: कदम्बानिला:।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेत: समुत्कण्ठते।। काव्यप्रकाश १.४ का उदाहरण।।

१४. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।। भामह - काव्यालङ्कार ।।

१५. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय: ।। काव्यप्रकाश ८.६७।।

१६. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माश्शोभातिशायिन:।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्।। साहित्यदर्पण १०.१।।

१७. अङ्गीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।। चन्द्रालोक।।

चौथा अध्याय

काव्य के भेद

१. प्रारम्भिक कथन

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य के लक्षण का निरूपण करके उसके भेदों का भी कथन किया। उन्होंने इन भेदों का वर्गीकरण भी किया था। इस वर्गीकरण के मुख्य रूप से दो आधार हो सकते हैं -

(१) काव्य के बाह्य रूप (विधा) के आधार पर।

(२) काव्य के अर्थ के आधार पर।

इन दोनों आधारों के अनुसार किये गये वर्गीकरण को यहां संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

२. विधा के आधार पर काव्यों के भेदों का वर्गीकरण

काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने काव्य के स्वरूप आदि के विवेचन के साथ ही इसके विविध भेदों का वर्गीकरण किया था। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में मुख्य रूप से दृश्य काव्यों (रूपकों) का वर्गीकरण किया था। भरत के पश्चात् भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों के ग्रन्थों में काव्य के वर्गीकरण को अधिक विशद किया गया। तदनन्तर विश्वनाथ ने काव्यों की विभिन्न विधाओं का सुन्दर वर्गीकरण किया। इस स्थल पर काव्यों का विधाओं के अनुसार वर्गीकरण करने में मुख्य रूप से विश्वनाथ के साहित्यदर्पण को आधार के रूप में लिया गया है।

काव्य के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं - दृश्य और श्रव्य[१]। इन दृश्य और श्रव्य काव्यों के पुनः अनेक भेद हैं।

(i) दृश्य काव्य -

दृश्य काव्य अभिनेय होता है और इसको रूपक कहा जाता है। यह रूपक दो प्रकार के होते हैं - रूपक और उपरूपक।

रूपकों के भेदों का सर्वप्रथम कथन भरत ने किया था। उन्होंने दस प्रकार के रूपकों तथा ११वीं नाटिका के लक्षण किये थे। भरत के अनुसार दस प्रकार के रूपक निम्न

हैं[२] -

नाटक, प्रकरण, अङ्क, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग।

रूपकों के भेदों का विस्तार से निरूपण भरत के पश्चात् नाट्यदर्पणकार ने किया। उन्होंने रूपकों के १२ भेदों की गणना की। इनमें ११ भेद तो नाटिका सहित भरत के ही सदृश हैं। परन्तु १२ वां भेद प्रकरणी अतिरिक्त है[३]। नाट्यदर्पणकार ने रूपकों के इन १२ भेदों के अतिरिक्त **"अन्यान्यपि च रूप्याणि दृश्यन्ते"** कह कर २३ भेद और परिगणित किये थे[४] -

सट्टक, श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, अपसार, गोष्ठी, हल्लीसक, नर्तक, शम्या, लास्य ,छलित, प्रेक्षणक, रासक, पिण्डी, शृङ्खला, मेद्यक, नाट्यरासक, काव्य, शुद्ध, सङ्कीर्ण, चित्र, भाणक और भाणिका।

'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने सबसे पहले रूपकों के दो विभाग किये - रूपक और उपरूपक। उन्होंने रूपकों के १० तथा उपरूपकों के १८ भेद गिनाये[५]।

(ii) श्रव्य काव्य -

श्रव्य काव्य के मुख्य रूप से तीन भेद कहे गये हैं - **गद्यकाव्य, पद्यकाव्य और गद्यपद्यमयकाव्य।** इनके स्वरूप निम्न प्रकार से हैं -

(क) गद्यकाव्य -

जो रचना छन्दोबद्ध नहीं है, उसको गद्य कहा जाता है। गद्य में जिस काव्य की रचना होती है, उसको गद्यकाव्य कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने गद्यकाव्य के मुख्य रूप से दो भेद किये थे - **कथा और आख्यायिका।** 'अग्निपुराण' में गद्यकाव्य के पांच भेद कहे गये हैं। गद्यकाव्य के भेदों का विस्तृत विवेचन पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने 'गद्यकाव्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ में किया है। इसमें इन्होंने प्राचीन भेदों के साथ नवीन भेद भी परिगणित किये हैं। वे गद्यकाव्य को उपन्यास नाम देते हैं तथा इसके मुख्य नौ भेद निम्न प्रकार से प्रतिपादित करते हैं[६] -

कथा, कथानिका, कथन, आलाप, आख्यान, आख्यायिका, खण्डकथा, परिकथा और संकीर्ण।

(ख) पद्यकाव्य -

पद्यकाव्य के भेदों को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - **अनिबद्ध काव्य** और **प्रबन्ध काव्य**।

(अ) अनिबद्ध काव्य -

अनिबद्ध काव्य वे हैं, जिनमें किसी सुनियोजित कथाबन्ध की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार के काव्य में एक, दो या कुछ अधिक श्लोकों में अन्य श्लोकों से सम्बन्ध

हुये विना काव्यत्व निहित होता है। सामान्यतः इस प्रकार के काव्य को मुक्तक कहा जाता है। परन्तु एक, दो, तीन, चार एवं पांच श्लोकों की परस्पर सम्बद्धता की दृष्टि से विश्वनाथ ने इस प्रकार के काव्य के पांच भेद किये हैं -

(१) मुक्तक -

एक ही श्लोक में विना अन्य श्लोक की अपेक्षा किये काव्यत्व निहित हो जाने पर मुक्तक काव्य होता है।

(२) युग्मक -

दो परस्पर सम्बद्ध श्लोकों की रचना करने पर युग्मक काव्य होता है।

(३) सन्दानितक -

तीन परस्पर सम्बद्ध श्लोकों की रचना होने पर सन्दानितक नाम का काव्य होता है।

(४) कलापक -

चार परस्पर सम्बद्ध श्लोकों की रचना से बनने वाले काव्य को कलापक कहते हैं।

(५) कुलक -

यदि पांच परस्पर सम्बद्ध श्लोकों की रचना की जावे तो इस काव्य को कुलक कहा जाता है।

(ब) प्रबन्ध काव्य -

जिस काव्य में किसी सुनियोजित लम्बी कथा का आयोजन किया जाता है, उसको प्रबन्ध काव्य कहते हैं। इसके दो मुख्य भेद होते हैं - **महाकाव्य और खण्डकाव्य।**

(१) महाकाव्य -

महाकाव्य का कथानक अति विस्तृत होता है और इसका विभाजन सर्ग, परिच्छेद, आख्यान आदि में किया जाता है। महाकाव्य के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या भामह, दण्डी, रुद्रट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने की है।

(२) खण्डकाव्य -

खण्डकाव्य का रूप तो महाकाव्य जैसा ही होता है, परन्तु इसका कथानक छोटा होता है और यह स्वल्पकाय होता है।

(३) कोषकाव्य -

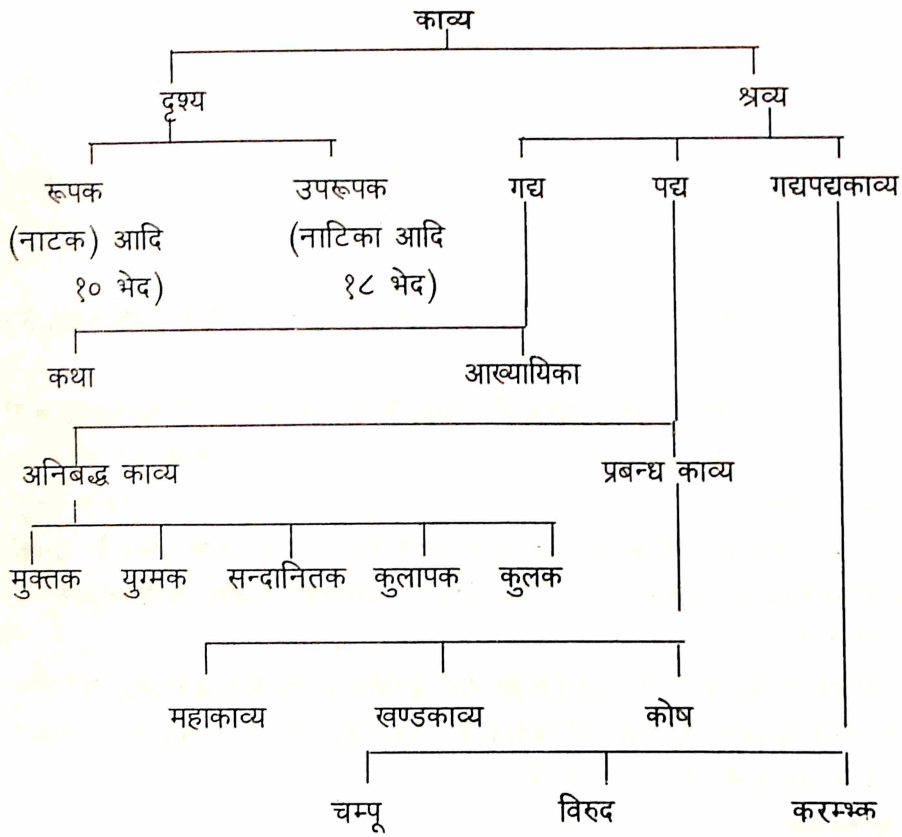
विश्वनाथ ने पद्यकाव्य का एक और भी भेद किया है - कोषकाव्य। इसमें एक ही विषय से सम्बन्धित परस्पर अनक्षेप श्लोकों का संग्रह होता है। 'सूक्तिमुक्तावली' आदि काव्य ग्रन्थ इसी वर्ग के हैं।

(ग) गद्यपद्यमय काव्य -

गद्यपद्यमय काव्य को सामान्य रूप से चम्पू कहा जाता है[७]। परन्तु विश्वनाथ ने

गद्यपद्यमय काव्य के दो भेद भी किये थे - विरुद तथा करम्भक। विरुद में गद्य और पद्य के मिश्रण द्वारा राजस्तुति की जाती है। करम्भक की रचना अनेक भाषाओं में की जाती है[८]।

विधा के अनुसार काव्य का जो वर्गीकरण किया गया है, उसको निम्न चित्र के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है -



३. अर्थ के आधार पर काव्य के भेदों का वर्गीकरण

ध्वनिवादी आचार्यों ने अर्थ के अनुसार भी काव्यों का वर्गीकरण किया था। आनन्दवर्धन का मन्तव्य था कि काव्य में अर्थ दो प्रकार का होता है - वाच्य और प्रतीयमान।[९] इन अर्थों की प्रधानता या अप्रधानता के आधार पर काव्य के भेद ध्वनिवादी आचार्यों ने किये थे। इस दृष्टि से काव्य के प्राय: तीन भेद किये जाते हैं - **ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य** और **चित्रकाव्य।**

(क) ध्वनिकाव्य -

वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता यदि हो तो यह ध्वनिकाव्य कहलाता

है[१०]। इसको उत्तम काव्य भी कहा जाता है। ध्वनि काव्य के भेदों का विस्तृत वर्णन 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'रसगंगाधर' आदि ग्रन्थों में किया गया है।

वास्तविक रूप में ध्वनि के एक ही होने पर भी लोक-व्यवहार का आश्रय लेकर ध्वनिवादियों ने ध्वनिकाव्य के अनेक भेद प्रदर्शित किये थे। ध्वनि सम्प्रदाय के अध्याय में इस विषय पर पहले भी प्रकाश डाला गया है।

पहले तो ध्वनिकाव्य दो प्रकार का है - अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) और विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल)। अविवक्षितवाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ के बाधित होने के कारण उसकी विवक्षा नहीं होती। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ के बाधित न होने पर भी वह व्यङ्ग्यार्थपरक होता है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं - अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो भेद होते हैं - संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और असंलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों का क्रम लक्षित होता है। इसमें वाच्य अर्थ की पहले प्रतीति होकर व्यङ्ग्य अर्थ की बाद में प्रतीति होती है। परन्तु असंलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम ध्वनि में वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों की प्रतीति में यह क्रम लक्षित नहीं होता। रस, भाव आदि के भेद से यह अनेक प्रकार का होता है। इसके भेद अनन्त हो सकते हैं, अतः इसका एक ही भेद माना गया है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के तीन भेद होते हैं - शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और उभयशक्त्युद्भव।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेद कल्पित किये गये हैं - अलङ्काररूप और वस्तुरूप। अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १२ भेद होते हैं। पहले तो इनको तीन वर्गों में विभक्त किया गया है - स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। तदनन्तर प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं - वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ और अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १२ भेद होते हैं। उभयशक्त्युद्भव ध्वनि का एक ही भेद कहा गया है।

इस प्रकार मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि के १८ भेद कहे हैं -

(१) अविवक्षितवाच्य ध्वनि के भेद -	२
(२) असंलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम ध्वनि के भेद -	१
(३) शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद -	२
(४) अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद -	१२
(५) उभयशक्त्युद्भव ध्वनि के भेद -	१
कुल	१८

(ख) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य -

वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ के अतिशयित न होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। इसी को मध्यम काव्य कहते हैं[११]। मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के ८ भेदों की गणना की है[१२]।

(१) **अगूढव्यङ्ग्य** - जहां व्यङ्ग्य अर्थ अगूढ होता है, अर्थात् असहृदय जनों को भी उसकी प्रतीति तुरन्त हो जाती है।

(२) **अपरस्याङ्ग** - जहां व्यङ्ग्य अर्थ वाक्य के तात्पर्य रूप किसी अन्य प्रधान अर्थ का अंग बन जाता है।

(३) **वाच्यसिद्ध्यंग** - जहां व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ का साधनरूप हो जाता है, अर्थात् वाच्य अर्थ का प्रतिपादन व्यङ्ग्य अर्थ के द्वारा होता है।

(४) **अस्फुटव्यङ्ग्य** - जहां व्यङ्ग्य अर्थ को समझने में सहृदय जनों को भी कठिनाई होती है।

(५) **सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य** - जहां यह सन्देह होता है कि वाच्य अर्थ की प्रधानता है या व्यङ्ग्य अर्थ की।

(६) **तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य** - जहां वाच्य अर्थ और व्यङ्ग्य अर्थ समान रूप से प्रधान हों, अर्थात् दोनों समान रूप से चमत्कारजनक हों।

(७) **काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य** - जहां व्यङ्ग्य अर्थ के द्वारा काकु नामक स्वर के विकार से वाच्य अर्थ की तुरन्त प्रतीति हो जाती है।

(८) **असुन्दर** - जहां व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा कम चमत्कारपूर्ण होता है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के भेदों की परिगणना में विश्वनाथ ने भी मम्मट का अनुसरण करते हुये ये ही ८ भेद कहे हैं[१३]।

(ग) चित्रकाव्य -

जहां व्यङ्ग्य अर्थ की विवक्षा न हो, परन्तु कवि अलङ्कारों के चमत्कार को प्रदर्शित करने के लिये काव्य की योजना करता है, वह चित्रकाव्य कहलाता है। इसी को अधम काव्य भी कहा गया है। यह काव्य दो प्रकार का कहा गया है[१४] -

(१) **शब्दचित्र** - जिस काव्य में शब्दालङ्कार चमत्कार के जनक होते हैं, वह शब्दचित्र काव्य कहलाता है।

(२) **अर्थचित्र** - जिस काव्य में अर्थालङ्कार चमत्कार के जनक होते हैं, वह अर्थचित्र काव्य होता है।

(घ) चित्रकाव्य के काव्यत्व और अकाव्यत्व का निर्णय -

चित्रकाव्य को काव्य माना जावे या नहीं, यह विषय विवादास्पद रहा है। मम्मट ने

चित्रकाव्य में काव्यत्व तो स्वीकार किया है, परन्तु इसको अधम कहा है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों की विवेचना करके चित्रकाव्य के वर्णन में कहा -

"ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य से भिन्न जो काव्य है, वह चित्रकाव्य है। शब्द तथा अर्थ के भेद से यह दो प्रकार का है - शब्दचित्र और अर्थचित्र[१५]।"

ध्वनिकार ने चित्रकाव्य का वर्णन करके भी उसमें काव्यत्व को मानने से संकोच किया था। वे ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य को ही मुख्यतः काव्य मानते हैं। उन्होंने कहा -

"जो रस, भाव आदि के तात्पर्य से रहित है, विशेष व्यङ्ग्य अर्थ को प्रकाशित करने की शक्ति से शून्य है, जिसमें केवल शब्दों तथा अर्थों के वैचित्र्य (अलङ्कार) का ही चित्र खींचा गया हो, वह चित्रकाव्य होता है। वह मुख्य काव्य नहीं है, अपितु काव्य की अनुकृति मात्र है[१६]।"

विश्वनाथ ने भी चित्रकाव्य में काव्यत्व नहीं माना था। वे काव्य को रसात्मक मानते थे और रस सदा ही व्यङ्ग्य अर्थ होता है। इसलिये उनके मत में व्यङ्ग्य अर्थ के अभाव में काव्यत्व नहीं हो सकता। विश्वनाथ ने मम्मट के इस तीसरे चित्रकाव्य भेद का खण्डन किया और कहा कि चित्रकाव्य को काव्य नहीं कहा जा सकता।

चित्रकाव्य के लक्षण में मम्मट के **"अव्यङ्ग्यम्"** पद की आलोचना करते हुये विश्वनाथ ने कहा -

यदि **"अव्यङ्ग्यम्"** पद का अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ का सर्वथा अभाव लिया जावे तो ऐसी व्यङ्ग्यहीन उक्ति में काव्यत्व नहीं होगा। यदि इस **"अव्यङ्ग्यम्"** का अर्थ ईषद् व्यङ्ग्य से युक्त लिया जावे तो ईषद् व्यङ्ग्य से युक्त उक्ति दो प्रकार की होगी - आस्वाद्य अथवा अनास्वाद्य। यदि यह उक्ति आस्वाद्य है तो इसका अन्तर्भाव ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में हो जावेगा। यदि यह उक्ति अनास्वाद्य है तो यह काव्य नहीं होगी[१७]।

४. काव्य-भेदों के सम्बन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ का अभिमत

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के भेदों का परिगणन करते हुये मम्मट के सिद्धान्त को तो स्वीकार कर लिया था, तथा भेदों के करने में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता के आधार को मान लिया था, परन्तु उन्होंने तीन के स्थान पर काव्य के चार भेद किये -

(१) **उत्तमोत्तम** - मम्मट ने ध्वनिकाव्य को उत्तमोत्तम कहा।

(२) **उत्तम** - गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को उत्तम कहा।

(३) **मध्यम** - अर्थचित्र को मध्यम काव्य नाम दिया।

(४) **अधम** -शब्दचित्र काव्य को अधम काव्य नाम दिया।

पण्डितराज का कथन था कि अर्थचित्र एवं शब्दचित्र दोनों प्रकार के काव्यों को एक ही कोटि में रखना तथा समान रूप से अधम कह देना उचित नहीं है। शब्दचित्र काव्य की अपेक्षा अर्थचित्र काव्य सहृदय जनों द्वारा अधिक माननीय होता है।

५. वर्गीकरण के अन्य आधार

काव्य के वर्गीकरण के इन दो आधारों - विधा तथा अर्थ के अतिरिक्त कुछ अन्य आधार भी प्राचीन आचार्यों ने प्रस्तुत किये थे। काव्य समीक्षा साहित्य में उनका अधिक आदर नहीं है। उदाहरण के लिये भाषा के भेद को लिया जा सकता है। दण्डी ने काव्य को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीन वर्गों में विभाजित किया था। रुद्रट के अनुसार भाषा की दृष्टि से काव्य ६ प्रकार का हो सकता है -

संस्कृत, प्राकृत, मागध, पैशाच, शूरशेन और अपभ्रंश।

हेमचन्द्र ने भाषा की दृष्टि से काव्य के चार भेद किये थे -

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्यापभ्रंश।

इसी प्रकार से काव्यशास्त्र की रचना करने वाले अन्य आचार्यों के मतों की भी समीक्षा की जा सकती है।

सन्दर्भ -

१. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्। साहित्यदर्पण ६.१।।

२. नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः।।
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाट्यलक्षणे।। नाट्यशास्त्र १८.२-३।।

३. नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरण्यथ।
व्यायोगः समवकारो भाणः प्रहसनं डिमः।।
अङ्क ईहामृगो वीथीं ....।। नाट्यदर्पण १.३-४।।

४. नाट्यदर्पण - चतुर्थ विवेक।।

५. नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।
नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा।।
संल्लापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीसो भाणिका चेति।।
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।। साहित्यदर्पण ६.३-६।।

६. पं० अम्बिकादत्त व्यास - एक अध्ययन पृ० ३८।।

७. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।। साहित्यदर्पण ६.३३६ ।।

८. गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते ।
करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ।। साहित्यदर्पण ६.३३७ ।।

९. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभावुभौ स्मृतौ ।। ध्वन्यालोक १.२ ।।

१०. इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।। काव्यप्रकाश १.४ ।।

११. अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।। काव्यप्रकाश १.५ ।।

१२. अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ।।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदः स्मृताः ।। काव्यप्रकाश ५.४५-४६ ।।

१३. तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्ध्यङ्गम् ।
सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम् ।।
व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ।। साहित्यदर्पण ४.१३-१४ ।।

१४. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।। काव्यप्रकाश १.५ ।।

१५. ....ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ।
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ।। ध्वन्यालोक ३.४१-४३ ।।

१६. ततोन्यद् रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवल-वाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् । न तन्मुख्यं काव्यम् । काव्यानुकारो ह्यसौ । ध्वन्यालोक ३.४३ की वृत्ति ।।

१७. केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति । तदाहुः -"शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।।" इति ।।

तन्न । यदि हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्ति इति प्रागेवोक्तम् । ईषद् व्यङ्ग्यत्वमिति चेत्, किं नामेषद्व्यङ्ग्यत्वम् ? आस्वाद्यव्यङ्ग्यत्व-मनास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वं वा ? आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्तःपातः द्वितीये त्वकाव्यत्वम् ।।

साहित्यदर्पण - चतुर्थ परिच्छेद - अन्तिम भाग ।।

....

पांचवां अध्याय

गुण

१. काव्यगत गुणों की विवेचना की भूमिका

काव्यों की समालोचना के प्रारम्भिक काल से ही काव्यगत गुणों के स्वरूप पर विचार किया जाता रहा है। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में १० गुणों का कथन किया था[१]। उन्होंने माधुर्य और औदार्य गुणों को कह कर ओज के स्वरूप को भी बताया था[२]। अन्य गुणों के स्वरूप के विषय में उन्होंने विशेष नहीं कहा, वे केवल नाममात्र कहे हैं।

भरत के पश्चात् भामह ने कहा कि काव्य में तीन गुण होते हैं - माधुर्य, ओज और प्रसाद। दण्डी ने गुणों के स्वरूप का विवेचन अधिक विस्तार से किया। गुणों के अतिरिक्त उन्होंने काव्य के दो मार्ग भी बताये - वैदर्भ और गौड। गुण इन्ही के प्राणभूत हैं। दण्डी के अनुसार श्लेष आदि १० गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं तथा इनके विपरीत गुण गौड मार्ग के प्राण हैं[३]।

'अग्निपुराण' में गुणों की विवेचना कुछ भिन्न प्रकार से है। इस ग्रन्थ में गुणों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है - शब्दगुण, अर्थगुण, और उभयगुण।

श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सती और यौगिकी ये सात शब्दगुण हैं[४]। **माधुर्य, संविधान, कोमलत्व, उदारता, प्रौढि, और सामयिकत्व** ये छः अर्थगुण हैं[५]। **प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक और राग** ये छः उभयगुण हैं[६]।

गुण के स्वरूप के विषय में 'अग्निपुराण' में कहा गया है कि जो तत्त्व काव्य में महती छाया को उत्पन्न करते हैं, वे गुण हैं[७]।

गुणों की संख्या के विषय में राजा भोज का मन्तव्य अन्य आचार्यों से भिन्न रहा। उन्होंने गुणों की संख्या २४ निर्धारित की और सभी गुणों को शब्दगुण माना था। भोज के अनुसार गुणों के नाम निम्न हैं -

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता, उदात्तता, ओजः, और्जित्य, प्रेयान्, सुशब्दता, समाधि, सूक्ष्मता, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, संमितता, भाविकत्व, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि[८]।

गुणों की संख्या तथा स्वरूप के प्रतिपादन के सम्बन्ध में कुन्तक का मत भी कुछ भिन्न रहा। कुन्तक ने कहा -

काव्य के तीन मार्ग हैं - सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इन तीन मार्गों के दो प्रकार के गुण होते हैं - विशिष्ट और साधारण। विशिष्ट गुण चार हैं - **माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य**। साधारण गुण दो हैं - **औचित्य और सौभाग्य**।

गुणों का विवेचन करने वाले आचार्यों को दो वर्गों में रखा जा सकता है - प्राचीन और नवीन। प्राचीन आचार्यों में अलङ्कारवादी और रीतिवादियों की गणना की जा सकती है और नवीन आचार्यों में ध्वनिवादियों की। प्राचीन आचार्यों ने गुणों की संख्या और स्वरूप का जो प्रतिपादन किया, उसमें एकता और निश्चितता नहीं है। भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने गुणों की संख्या और स्वरूप के सम्बन्ध में एक निश्चित अभिमत को प्रकट नहीं किया। नवीन ध्वनिवादी आचार्यों - आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने गुणों की संख्या तथा स्वरूप को अधिक निश्चित रूप से निर्धारित किया। इसके अनुसार गुणों की संख्या तीन है - **माधुर्य, ओजः और प्रसाद**। इनका विवेचन अधिक वैज्ञानिक, बुद्धिगम्य और युक्तियुक्त है।

२. वामनकृत गुणविवेचन

प्राचीन आचार्यों में वामन ने जो गुणों का विवेचन किया था, वह अधिक सुसम्बद्ध और तर्कसंगत है। उन्होंने रीतियों के साथ गुणों के साक्षात् सम्बन्ध का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार रीति तो काव्य की आत्मा है तथा रीति की आत्मा गुण है[९]।

ध्वनिवादी आचार्यों से पूर्व गुणों के सम्बन्ध में वामन के मत का प्रचार ही सबसे अधिक हुआ था। परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में गुणों का निरूपण करते हुये प्राचीन आचार्यों में वामन के मत को ही अधिक महत्त्व दिया था।

गुणों के स्वरूप का विवेचन करते हुये वामन ने गुणों और अलङ्कारों के भेद को भी बताया। वामन के अनुसार गुण काव्य के अन्तरंग हैं और अलङ्कार बाह्य अंग हैं। इस प्रसंग की वे निम्न प्रकार से व्याख्या कते हैं -

"काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण हैं तथा उस शोभा में अतिशय को उत्पन्न करने वाले धर्म अलङ्कार हैं। ओजः, प्रसाद आदि गुण काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म हैं। यमक, उपमा आदि अलङ्कार स्वयं में काव्य में शोभा को उत्पन्न नहीं करते, परन्तु वे उस शोभा के अतिशय को प्रतिपादित करते हैं। जिस प्रकार युवती के शरीर में सौन्दर्य आदि गुणों के होने पर ही अलङ्कार उसकी शोभा को बढाते हैं, शारीरिक सौन्दर्य के न होने पर , धारण किये हुये भी अलङ्कार व्यर्थ होते हैं, उसी प्रकार की स्थिति काव्य में है। काव्य में ओजः, प्रसाद आदि गुणों के होने पर ही उपभा आदि अलङ्कार उसकी शोभा की वृद्धि कर सकते हैं। इस प्रकार ओजः, प्रसाद आदि गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, क्योंकि उनके विना काव्य में शोभा की उत्पत्ति नहीं हो सकती[१०]।

वामन के अनुसार गुणों की संख्या २० है। इनमें १० शब्दगुण हैं और १० अर्थगुण

हैं। शब्दगुणों और अर्थगुणों के नाम तो एक ही हैं, परन्तु इनके लक्षण भिन्न हैं[११]। गुणों के लक्षण वामन ने निम्न प्रकार से प्रतिपादित किये हैं -

शब्दगुण - गाढबन्धत्वमोजः। शैथिल्यं प्रसादः। मसृणत्वं श्लेषः। मार्गाभेदः समता। आरोहावरोहक्रमः समाधिः। पृथक्पदत्वं माधुर्यम्। अजठरत्वं सौकुमार्यम्। विकटत्वमुदारता। अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः। औज्ज्वल्यं कान्तिः।[१२]

अर्थगुण - अर्थस्य प्रौढिरोजः। अर्थवैमल्यं प्रसादः। घटना श्लेषः। अवैषम्यं समता। अर्थदृष्टिः समाधिः। उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। अपारुष्यं सौकुमार्यम्। अग्राम्यत्वमुदारता। वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। दीप्तरसत्वं कान्तिः।[१३]

३. ध्वनिवादी आचार्यों का गुण विवेचन

नवीन ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों का विवेचन प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा भिन्न प्रकार से किया था। गुणों की संख्या के विषय में तो इन आचार्यों ने भामह का अनुकरण किया था और तीन गुण - माधुर्य, ओजः और प्रसाद स्वीकार किये थे। परन्तु गुणों के स्वरूप के सम्बन्ध में भामह से वे सहमत नहीं थे। उन्होंने गुणों का स्वरूप भामह की अपेक्षा विलक्षण रूप से प्रतिपादित किया था। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करके आनन्दवर्धन ने गुणों का नियत अंगत्व प्रतिपादित किया। आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य में रस अंगी हैं और गुण उनके अंग रूप में रहते हैं। अलङ्कार काव्य के शरीर शब्द एवं अर्थ का आश्रय लेते हैं[१४]।

ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा की गई गुणों की विवेचना अधिक तर्कसंगत और संगठित है। इस कारण गुणों की विवेचना में इन आचार्यों के मन्तव्यों का अनुसरण करना अधिक उपयोगी होगा। इस विवेचन में मुख्य रूप से मम्मट के 'काव्यप्रकाश' को आधार बनाया गया है, क्योंकि उन्होंने सभी पक्षों का संक्षिप्त और सारगर्भित विवेचन किया है। गुणों का विवेचन करने के लिये इस विषय को पांच शीर्षकों में विभक्त कर दिया गया है -

(i) गुणों का लक्षण और उनका काव्य में स्थान
(ii) गुणों और अलङ्कारों में भेद
(iii) गुणों का स्वरूप
(iv) गुणों की संख्या
(v) गुणों की व्यञ्जना के हेतु

इन शीर्षकों पर क्रमशः विचार किया जा रहा है।

(i) गुणों का लक्षण और उनका काव्य में स्थान -

आचार्य मम्मट ने गुण के स्वरूप और लक्षण का निदर्शन करते हुये काव्य में इसके स्थान को भी निर्धारित किया था। इनका मन्तव्य था -

"काव्य में रस अंगी रूप में रहते हैं तथा गुण उन रसों में नियत रूप से रहते हुये

उनका उपकार करते हैं। काव्य के अंगीभूत रस में गुण उसी प्रकार से रहते हैं, जिस प्रकार शरीर के अंगी आत्मा में शौर्य आदि गुण रहते हैं[१५]।"

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने भी काव्य में गुण के इसी लक्षण तथा स्थान को स्वीकार किया था[१६]। पण्डितराज जगन्नाथ का भी गुण के विषय में यही अभिमत था।

(ii) गुणों और अलङ्कारों में भेद -

गुण के लक्षण और स्थान को निर्धारित करके मम्मट ने अलङ्कार के स्वरूप और स्थान को भी निर्धारित किया। इसके द्वारा उन्होंने गुण और अलङ्कार के भेद का निर्णय किया। मम्मट ने कहा -

उपमा आदि जो अलङ्कार हैं, वे काव्य में विद्यमान रस का वाच्यवाचक रूप अंग के द्वारा कभी(निरन्तर रूप से नहीं) उपकार करते हैं। यह उपकार इसी प्रकार है, जिस प्रकार हार आदि अलङ्कार शरीर की शोभा को बढ़ा कर उसका उपकार करते हैं[१७]।

गुणों तथा अलङ्कारों के इस रूप के विवेचन से तथा उनके स्थान को निर्धारित करने से उनके परस्पर भेद का भी स्पष्टीकरण होता है। इन दोनो तत्त्वों में निम्न भेद हैं -

(क) गुण काव्य के आत्मभूत रस के धर्म होते हैं, परन्तु अलङ्कार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ का उपकार करते हैं।

(ख) गुण रस का साक्षात् रूप से उपकार करते हैं, परन्तु अलङ्कार शब्द और अर्थ के माध्यम से रस का उपकार करते हैं।

(ग) गुणों की स्थिति रस के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहती है। रस के होने पर गुण भी अवश्य होते हैं और रस के न होने पर वे नहीं होते। वे रस के नियत धर्म हैं। परन्तु अलङ्कारों की स्थिति ऐसी नहीं हैं। रस के न होने पर अलङ्कार हो भी सकते हैं तथा नहीं भी हो सकते। अलङ्कारों के होने पर रस हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते।

(घ) गुण विद्यमान रस का नियत रूप से उपकार करते हैं, परन्तु अलङ्कार रस के होने पर उसका उपकार कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते।

गुण और अलङ्कार के भेदों का निदर्शन करते हुये मम्मट ने इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के मत का भी विश्लेषण किया था। भामह के टीकाकार उद्भट ने 'भामहविवरण' में गुणों और अलङ्कारों में अभेद का प्रतिपादन किया था। उनका कथन था कि काव्यगत गुणों और अलङ्कारों में वास्तविक भेद कोई नहीं है। लौकिक शौर्य आदि गुणों और कुण्डल आदि अलङ्कारों में तो भेद है, क्योंकि शौर्य आदि गुणों का आत्मा से समवाय सम्बन्ध है एवं कुण्डल आदि अलङ्कारों का शरीर से संयोग सम्बन्ध है। परन्तु काव्य में क्योंकि ओज आदि गुण और अनुप्रास आदि अलङ्कार दोनों ही समवाय सम्बन्ध

से रहते हैं, अतः काव्य में गुणों और अलङ्कारों में भेद नहीं किया जा सकता। गुणों और अलङ्कारों में भेद का करना क्योंकि परम्परा से चला आ रहा है अतः भेड़ाचाल से इनमें भेद की कल्पना की जाती रही है[१८]।

परन्तु मम्मट आदि आचार्यों ने उद्भट के इस कथन को स्वीकार नहीं किया। उनका अभिमत है -

गुणों के रसनिष्ठ धर्म होने तथा अलङ्कारों के शब्दनिष्ठ धर्म होने से इनमें भेद मानना ही चाहिये।

वामन ने गुण तथा अलङ्कार में जिस प्रकार भेद का प्रतिपादन किया था, मम्मट ने उसको भी स्वीकार नहीं किया। वामन ने गुणों को शोभा को उत्पन्न करने वाला तथा अलङ्कारों को उस शोभा में वृद्धि करने वाला बता कर दोनों को शब्दार्थनिष्ठ बताया था। परन्तु रीतिवादी आचार्य वामन के रीति के सिद्धान्त के आधार पर ही मम्मट ने उनके कथन का खण्डन किया।

मम्मट का कथन था -

रीतिवादी आचार्य गुणों को शब्दार्थनिष्ठ मान कर काव्य का व्यवहार गुणों द्वारा दो प्रकार से कर सकते हैं -

(१) गुणों का समस्त समुदाय प्रत्येक रीति की आत्मा है अथवा

(२) कोई विशेष गुण किसी विशेष रीति की आत्मा है।

यदि रीतिवादी काव्य का व्यवहार समस्त गुणों से करते हैं तो केवल वैदर्भी रीति ही काव्य के व्यवहार का प्रवर्तक हो सकेगी। क्योंकि इसी रीति में समस्त गुण होते हैं। गौडी तथा पाञ्चाली रीति, जिनमें कि समस्त गुण नहीं होते , कुछ ही गुण होते हैं, काव्य के व्यवहार की प्रवर्तक न होने से काव्य की आत्मा नहीं हो सकेगी।

यदि मान भी लिया जावे कि किन्हीं विशेष गुणों से भी काव्य के व्यवहार का प्रवर्तन हो सकता है तो -

"अद्रावत्र प्रज्ज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः"।

इत्यादि वाक्यों में ओज गुण की स्थिति होने के कारण काव्यत्व मानना पड़ेगा, परन्तु इसमें काव्यत्व है नहीं।

इसके अतिरिक्त कुछ काव्य ऐसे हैं, जिनमें गुणों के अभाव में भी केवल अलङ्कारों द्वारा काव्यत्व निष्पन्न हो जाता है। जैसे -

स्वर्गप्राप्तिरनेनैन देहेन वरवर्णिनी।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्।।

इस उदाहरण में गुणों के अभाव में विशेषोक्ति और व्यतिरेक अलङ्कार काव्यत्व के प्रवर्तक हैं। अतः गुण के काव्य का अनिवार्य अंग न होने से रीति को काव्य की आत्मा

नहीं माना जा सकता और गुण को भी काव्य का नित्य रूप से शोभा का आधायक धर्म नहीं माना जा सकता।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष प्रतिपादित होता है कि गुण और अलङ्कार में इस भेद को प्रदर्शित करना कि गुण काव्य के शोभोत्पादक धर्म हैं, उचित नही है। गुणों और अलङ्कारों में भेद उसी प्रकार से करना चाहिये, जैसे कि पहले कहा गया है। गुण काव्य में रसनिष्ठ ही होते हैं तथा अलङ्कार शब्दार्थनिष्ठ होते हैं। गुणों को रसनिष्ठ प्रतिपादित करके भी मम्मट ने यह कहा है -

"काव्य-शरीर में रहने के कारण गुणों को उपचार से शब्दार्थनिष्ठ भी माना जा सकता है[१९]।"

(iii) गुणों की संख्या -

प्राचीन आचार्यों ने गुणों की संख्या के विषय में विभिन्न मत प्रकट किये थे। जैसे कि पहले कहा जा चुका है कि भरत ने दस, भामह ने तीन, दण्डी ने दस, 'अग्निपुराण' ने उन्नीस, वामन ने बीस, कुन्तक ने छः और भोज ने चौबीस गुण माने थे। ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों की संख्या नियत करके तीन गुण निर्धारित किये - माधुर्य, ओजः और प्रसाद। उत्तरवर्ती आचार्यों ने गुणों की संख्या के विषय में इस सिद्धान्त का समर्थन किया और कहा कि गुणों की संख्या तीन ही होनी चाहिये[२०]।

मम्मट से पूर्व गुणों के स्वरूप तथा संख्या के विषय में वामन का मत ही अधिक प्रचलित था। वामन ने दस शब्दगुण तथा दस अर्थगुण प्रतिपादित किये थे। इस सम्बन्ध में मम्मट का कथन था -

"वामन के दस शब्दगुणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन गुणों - माधुर्य, ओज और प्रसाद में हो जाता है तथा इसके दस अर्थगुणों को गुण ही नहीं माना जा सकता।" वामन द्वारा प्रतिपादित दस शब्दगुणों की विस्तृत समालोचना करते हुये मम्मट ने कहा -

"वामन द्वारा कहे गये कुछ गुणों का अन्तर्भाव तो इन तीन गुणों में ही किया जा सकता है, कुछ गुण दोषाभाव मात्र हैं और कुछ कहीं दोषरूप ही होते हैं[२१]।"

वामन के दस शब्दगुणों तथा दस अर्थगुणों की समालोचना मम्मट ने निम्न प्रकार से की है, जिससे कि माधुर्य, ओजः और प्रसाद इन तीन गुणों का ही अस्तित्व प्रतिपादित होता है -

गुणों के नाम	गुणों के लक्षण	अन्तर्भाव
(क) शब्दगुण		
(१) श्लेष	बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा (अनेक पदों का एक पद के समान प्रतीत होना)	ओज में

(२) समाधि	आरोहावरोहक्रमरूप: (वाक्य में आरोह तथा अवरोह के क्रम को बनाये रखना)	ओज में
(३) उदारता	विकटत्वलक्षणा (पदों की विकटता अर्थात् विच्छेद के कारण नृत्यप्रायता)	ओज में
(४) प्रसाद	ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा (ओज से मिश्रित शिथिलता रूप)	ओज में
(५) ओज:	बन्धवैकटच्यम् (रचनाओं में विकट पदों को बांधना)	ओज में
(६) माधुर्य	पृथक्पदत्वरूपम् (पदों का पृथक् पृथक् रखना, अर्थात् समास का अभाव)	माधुर्य में
(७) अर्थव्यक्ति	झटिति अर्थज्ञानम् (तुरन्त अर्थ का बोध हो जाना)	प्रसाद में
(८) समता	मार्गाभिदरूपा (वैदर्भी आदि रीतियों में कहीं भेद न करना)	कहीं दोष है
(९) सुकुमारता	कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्निराकरणात् तन्निराकरणेन अपारुष्यरूपम् (कष्टत्व और ग्राम्यत्व दोषों को बतलाने के कारण उनका निराकरण करके पारुष्य को दूर रखना)	दोष का अभावमात्र
(१०) कान्ति	औज्ज्वल्यरूपा (उज्ज्वलता का रूप होना)	दोष का अभावमात्र

(ख) अर्थगुण –

(१)ओज:	ओज पांच प्रकार का है – (१) पदार्थे वाक्यरचनम् (पद के लिये वाक्य की रचना करना) (२) वाक्यार्थे च पदाभिधा (वाक्य के लिये पद की रचना करना) (३) व्यास (संक्षिप्त कथन को विस्तार से कहना) (४) समास (विस्तृत कथन को संक्षेप से कहना)	विचित्रता मात्र है
	(५) साभिप्रायत्वम् (अभिप्राय से गर्भित वचनों को कहना)	अपुष्टार्थत्व दोष का अभावमात्र
(२) प्रसाद	अर्थवैमल्यात्मा (अधिकपदत्व का निराकरण करके अर्थ की निर्मलता)	अधिकपदत्व दोष का अभावमात्र

(३) माधुर्य	उक्तिवैचित्र्यरूपम् (उक्ति की विचित्रता मात्र)	अनवीकृतत्व दोष का अभावमात्र
(४) सौकुमार्य	अपारुष्यरूपम्(कठोरता का न होना)	अमङ्गल रूप दोष का अभावमात्र
(५) उदारता	अग्राम्यत्वरूपा (ग्राम्यत्व दोष का न होना)	अश्लील दोष का अभावमात्र
(६) अर्थव्यक्ति	वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा (स्वाभावोक्ति अलङ्कार के द्वारा वस्तु के स्वभाव का विशद वर्णन)	स्वभावोक्ति अलङ्कार में
(७) कान्ति	दीपरसत्वरूपा (रसध्वनि और गुणी - भूतव्यङ्ग्य में रस का प्रतीयमान होना)	रसध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य में
(८) श्लेष	(क्रमकौटिल्यानुल्वणोपपत्तियोगरूपघटनात्मा) क्रम के उल्लंघन की अस्फुटता को युक्ति पूर्वक मिला देना)	विचित्रतामात्र
(९) समता	अवैषम्यरूपा (विषमता का न होना)	विषमतारूप दोष का अभावमात्र
(१०) समाधि	अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा इति द्विविधः अर्थदृष्टिरूपः (अर्थ का दर्शन रूप, जो कि दो प्रकार का है - (१) जो कवि की प्रतिभा से स्वयं उद्भूत हो, प्राचीन कवि द्वारा न कहा गया हो। (२) प्राचीन कवियों के भावों को अन्य प्रकार से नये ढ़ंग से कहना)	अर्थदर्शनमात्र

इस प्रकार आचार्य मम्मट वामन के २० गुणों की आलोचना करके कुछ गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों में करके, कुछ को दोष का अभावमात्र कहकर और कुछ में दोषत्व का प्रतिपादन करके, दस शब्दगुणों को तीन गुणों के रूप में प्रतिपादित करते हैं और अर्थगुणों को गुण ही स्वीकार नहीं करते।

विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी प्रकार मम्मट के मार्ग का अनुसरण करके वामनोक्त २० गुणों का समाहार तीन गुणों में किया है। इनके प्रतिपादन को अधिक विस्तार से कहना तो यहां सम्भव नहीं है, तथापि विश्वनाथ का कथन संक्षेप से प्रस्तुत किया जा रहा है।

विश्वनाथ ने कहा था -

प्राचीन आचार्यो द्वारा कहे गये शब्दगुणों में से ओज, श्लेष, समाधि, उदारता, तथा

प्रसाद का अन्तर्भाव ओज में हो जाता है। समासरहित पदरचना द्वारा माधुर्य गुण की अभिव्यक्ति होने से प्राचीन आचार्यों का पृथक्पदत्व रूप माधुर्य गुण ग्रहण होता है। तत्काल ही अर्थबोधनरूप अर्थव्यक्ति गुण का ग्रहण प्रसाद से होता है। कान्ति एवं सुकुमारता गुण ग्राम्यत्व तथा दुःश्रवत्व दोषों के परिहारमात्र हैं। समता नामक गुण कहीं दोष भी होता है और यदि कहीं यह गुण प्रतीत भी होता है तो इसका अन्तर्भाव अन्य गुणों से हो जाता है[२२]।

प्राचीन आचार्यों के अर्थगुणों में ओज, प्रसाद, माधुर्य. सुकुमारता और उदारता केवल दोष अभावमात्र है। अर्थव्यक्ति स्वभावोक्ति अलङ्कार ही है। कान्ति नामक गुण का ग्रहण ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्यों में हो जाता है। श्लेष विचित्रतामात्र है तथा समता दोषाभावमात्र है। समाधि भी गुण नहीं है। अतः अर्थगुण वस्तुतः गुण नहीं है[२३]।

इस प्रकार नवीन ध्वनिवादी आचार्य काव्य में केवल तीन शब्दगुणों - माधुर्य, ओजः और प्रसाद को ही स्वीकार करते हैं।

(iv) गुणों का स्वरूप तथा विशेष रसों से इनका सम्बन्ध -

गुणों के स्वरूप तथा संख्या का निर्णय होने के पश्चात् प्रत्येक गुण के लक्षण को जानना तथा किस रस के साथ किस गुण का सम्बन्ध है, इसको भी जानना चाहिये। इस विषय में आनन्दवर्धन ने जो अभिमत प्रकट किया था, उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रायः उसका ही अनुसरण किया। इसका विवेचन क्रमशः किया जाता है :-

(क) माधुर्य -

माधुर्य गुण आह्लादरूप है और यह द्रुति का कारण होता है। द्रुति का अभिप्राय है- सहृदय के हृदय का द्रवीभूत हो जाना। यह माधुर्य गुण संभोग शृङ्गार में ,करुण में, विप्रलम्भ शृङ्गार में और शान्त रस में विद्यमान रहता है। इन रसों में भी इस गुण का क्रमशः उत्तरोत्तर में अतिशय होता है। सहृदय का मन इसके प्रति सबसे अधिक आकर्षित होता है[२४]।

(ख) ओजः -

ओज गुण दीप्ति को अर्थात् परम उज्ज्वलता को उत्पन्न करता है। इसका स्वरूप चित्त की अत्यधिक विस्तृति है। यह वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में विद्यमान रहता है और क्रमशः उत्तरोत्तर में इसका अतिशय होता है[२५]।

(ग) प्रसाद -

जिस प्रकार अग्नि सूखे ईंधन को व्याप्त कर लेती है और जल स्वच्छ वस्त्र को व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार प्रसाद गुण चित्त को सहसा व्याप्त कर लेता है। यह सभी रसों और रचनाओं में व्याप्त रहता है[२६]।

(v) गुणों की अभिव्यञ्जना के हेतु -

आनन्दवर्धन ने विशेष प्रकार के वर्ण, समास, संघटना तथा प्रबन्ध को विशेष रसों की अभिव्यञ्जकता का हेतु बताया था[२७]। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इन तत्त्वों को गुणों की अभिव्यञ्जकता के हेतुओं के रूप में प्रस्तुत किया। गुणों के रसधर्म होने के कारण, वर्ण

आदि हेतुओं से अभिव्यक्त गुण रसों की अभिव्यक्ति करने वाले होंगे, अतः इन आचार्यों द्वारा वर्ण आदि को गुणों की अभिव्यञ्जकता के हेतु के रूप में प्रस्तुत करना उपयुक्त ही है।

आचार्यों का यह भी अभिमत है -

"यद्यपि विशिष्ट वर्ण, समास तथा रचना का प्रयोग विशिष्ट गुणों की अभिव्यक्ति वाला होता है, ऐसा नियम है, तथापि यह नियम ऐकान्तिक नहीं है। वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध की दृष्टि से इनका प्रयोग अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है[२८]।"

अब क्रमशः प्रत्येक गुण के अभिव्यञ्जक वर्ण आदि का उल्लेख किया जाता है -

(क) माधुर्य -

ट, ठ, ड और ढ को छोड़ कर क से लेकर म पर्यन्त (कवर्ग, चवर्ग, तवर्ण तथा पवर्ग के सभी वर्ण) सभी वर्ण, स्पर्श वर्ण, ह्रस्व स्वर से व्यवहित र और ण वर्ण, माधुर्य गुण के व्यञ्जक हैं। समासरहित अथवा अल्प समास वाली मधुर रचनायें भी माधुर्य की अभिव्यञ्जक हैं[२९]।

(ख) ओजः -

वर्गों के प्रथम तथा तृतीय वर्णों का अपने बाद से द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों के साथ संयोग (क-ग, च-ज, त-द, प-ब, का ख-घ, छ-झ, थ-ध, फ-भ के साथ संयोग), वर्णों का र के साथ संयोग, तुल्य वर्णों का योग, टवर्ग के पहले चार वर्ण(ट, ठ, ड, ढ,), श और ष ये सभी वर्ण ओजः गुण के अभिव्यञ्जक है। दीर्घ समास और उद्धत रचना भी ओज गुण की अभिव्यञ्जक हैं[३०]।

(ग) प्रसाद -

जिन वर्णों, समासों तथा रचनाओं के श्रवण मात्र से अर्थ की प्रतीति हो जाती है, वे सब प्रसाद गुण की अभिव्यञ्जक हैं[३१]।

माधुर्य, ओजः और प्रसाद गुणों के सम्बन्ध में एक शङ्का उत्पन्न हो सकती है। वह यह कि इन गुणों को जबकि रस का धर्म कहा जाता है, तो इनको शब्दगुण क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है -

"जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म होने पर भी उपचार से शरीर के मान लिये जाते हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के धर्म होने पर भी उपचार से शब्दगुण कह दिये गये हैं[३२]।"

सन्दर्भ : –

१. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते।। भरत नाट्यशास्त्र १७.९६।।

२. समासवद्भिर्विविधैर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सा तु स्वरैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते।। भरत नाट्यशास्त्र १६.१९।।

३. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिः समाधयः।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते काव्यवर्त्मनि।। काव्यादर्श १.४१-४२ ।।

४. शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं यः स तद्गुणः।
श्लेषो लालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता।।
सत्येव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा।। अग्निपुराण ३४६.५-६

५. उच्यमानस्य शब्देन येन केनाऽपि वस्तुनः।
उत्कर्षमावहन्नर्थो गुण इत्यभिधीयते ।।
माधुर्यं संविधानञ्च कोमलत्वमुदारता।
प्रौढिः सामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति।। अग्निपुराण ३४६.१०-११।।

६. शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणाः स्मृताः।
तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्तता।।
पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चविपञ्चिताः।। अग्निपुराण ३४६.१८-१९।।

७. यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः। अग्निपुराण ३४६.३।।

८. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता।।
ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत् समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः।।
संक्षेपः सम्मितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा।।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरथैषां लक्ष्यलक्षणे।। सरस्वतीकण्ठाभरण १.५८-६०।।

९ रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।।

काव्यालङ्कारसूत्र १.२.६-८।।

१० काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते च ओजःप्रसादादयः। न यमकोपमादयः। कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजःप्रसादादीनान्तु केवलानामस्ति। काव्यशोभाकरत्वम् इति। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। तस्याः काव्यशोभाया अतिशयस्तदतिशयः, तस्य हेतवः। तु शब्दो व्यतिरेके। अलङ्काराश्च यमकोपमादयः। अत्र श्लोकौ -

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते तदप्यतीव
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्करणविकल्पकल्पनाभिः।
अपि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते।।

पूर्वे नित्याः। पूर्वे गुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।।

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३.१.१-३।।

११ प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयः शब्दगुणाः।। त एवार्थगुणाः।।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३.२.१।।

१२ काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३.२.२।।

१३ काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३.१.५।।

१४ तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत्।। ध्वन्यालोक २.६।।

१५ ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।। काव्यप्रकाश ८.६६।।

१६ रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः...।। साहित्यदर्पण ८.१।।

१७ उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। काव्यप्रकाश ८.६७।।

१८ एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः, संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः।।
काव्यप्रकाश में अष्टम उल्लास में मम्मट द्वारा उद्धृत भट्टोद्भट का अभिमत।।

१९ गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।। काव्यप्रकाश ८.७१।।

२०. माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।। काव्यप्रकाश ८.६८।।

२१. केचिदन्तर्भजन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।। काव्यप्रकाश ८.७१।।

२२. श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः।।
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते।।
माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम्।
पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवाङ्गीकृतं पुनः।।
अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः।
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम्।।
ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता।
क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी।।
अन्ययोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम्।। साहित्यदर्पण ८.९-१३।।

२३. ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता।
तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगाः गुणाः।।
अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यत्यलङ्कारेण तथा पुनः।
रसध्वनिः गुणीभूतव्यङ्ग्यानां कान्तिनामकः।।
श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समया परम्।
न गुणत्वं समाधेश्च तेन नार्थगुणाः पृथक्।। साहित्यदर्पण ८.१४-१६।।

२४. (क) शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति।।
शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ।। ध्वन्यालोक २.७-८।।

(ख) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।। काव्यप्रकाश ८.६८-६९।।

(ग) चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्।। साहित्यदर्पण ८.२।।

२५. (क) रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।

तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्।। ध्वन्यालोक २.९।।

(ख) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।

बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।। काव्यप्रकाश ८.६९-७०।

(ग) ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।

वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु।। साहित्यदर्पण ८.४-५।।

२६. (क) समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।

स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः।। ध्वन्यालोक २.१०।।

(ख) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।

व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वसाधारणक्रियः।। काव्यप्रकाश ८.७०-७१।।

(ग) चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।। साहित्यदर्पण ७.८।।

२७. ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत।।

२८. वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित्।

रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते।। काव्यप्रकाश ८.७७।।

२९. (क) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।

अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।। काव्यप्रकाश ८.६४।।

(ख) मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विताः।

रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः।।

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।। साहित्यदर्पण ८.३-४।।

३०. (क) योग आद्यातृतीयाभ्यामन्त्ययोः रेण तुल्ययोः।

टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि।। काव्यप्रकाश ८.७५।।

(ख) वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ।

उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह।।

शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः।

तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी।। साहित्यदर्पण ८.४-७।।

३१. (क) श्रुतिमात्रेण यस्मात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।

साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।। काव्यप्रकाश ८.७६।।

(ख) शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः।। साहित्यदर्पण ८.८।।

३२. एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः।। साहित्यदर्पण ८.९।।

छठा अध्याय

दोष

१. काव्यगत दोषों के विवेचन की भूमिका

काव्यशास्त्र के विवेच्य विषयों में दोषों का प्रकरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य की निर्दोषिता पर बहुत बल दिया था और कहा था कि काव्य की रचना को दोषों से रहित होना चाहिये। काव्यशास्त्र के आचार्यों का अभिमत था -

"दोष काव्य का अपकर्ष या विघटन करते हैं, अतः कवि को काव्य की रचना करते समय इनसे सावधान रहना चाहिये।"

काव्य के दोषों का सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि ने किया था। 'नाट्यशास्त्र' के १६वें अध्याय में उन्होंने १० दोषों का उल्लेख किया था[१] तथा उनके लक्षण लिखे थे[२]। परन्तु भरत ने उनकी विशद व्याख्या नहीं की।

भामह ने भी काव्यगत दोषों का उल्लेख किया था। भामह का कथन था -

"कवि को यह ध्यान रखना चाहिये कि काव्य में एक भी दोषयुक्त शब्द का प्रयोग न हो। दोष से युक्त काव्य कुत्सित पुत्र के समान निन्दनीय होता है। कवि न होने से तो मनुष्य पाप का, रोग का या दण्ड का ही भागी हो सकता है, परन्तु ज्ञानी मनुष्यों के अनुसार बुरा कवि होना तो मृत्यु के समान है[३]। भामह ने 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ में ११ दोषों का उल्लेख किया है।

दण्डी भी काव्य में दोषों के परिहार को महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि काव्य के छोटे से छोटे दोष को भी अक्षम्य समझना चाहिये। काव्य में छोटा सा भी दोष इस प्रकार का होता है, जैसे कि सुन्दर शरीर पर कोढ का दाग हो और इससे घृणा का भाव उत्पन्न होता है[४]। दण्डी ने १० दोषों का उल्लेख किया है[५]।

प्राचीन आचार्यों ने दोषों का वर्णन सामान्य रूप से किया था। इसको इन्होंने काव्यशास्त्र के एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। उत्तरवर्ती आचार्यों के समान उन्होंने दोषों का विभाजन पद, वाक्य, अर्थ, रस आदि की दृष्टि से नहीं किया।

दोषों की विवेचना में उनका वर्गीकरण सबसे पहले वामन ने किया था। वामन ने

यह वर्गीकरण पद-पदार्थ और वाक्य-वाक्यार्थ दोषों के रूप में किया था। उन्होंने अलङ्कारों के दोष भी बताये थे। मम्मट आदि आचार्यों ने वामन के इस विषय-विभाजन को कुछ अंशों में तो स्वीकार किया था, परन्तु सम्पूर्ण रूप से नहीं। उदाहरण के लिये, मम्मट ने वामनोक्त अलङ्कार दोषों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनके अनुसार इनका अन्तर्भाव पद दोषों में ही हो जाता है।

भरत से लेकर विश्वनाथ तक अनेक आचार्यों ने दोषों के स्वरूप तथा उनके भेदों का विवेचन किया है। परन्तु सबसे अधिक पूर्ण तथा सन्तुलित विवेचन मम्मट और विश्वनाथ का है। दोनों का विवेचन प्रायः एक सा है। इनके विवेचन में जिस प्रकार सभी दोषों का समावेश हो गया है, उससे अन्य सभी आचार्यों के दोष-वर्णनों का समाहार हो जाता है। अतः दोषों का वर्णन करने में इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों की सहायता मुख्य रूप से ली गई है।

२. दोष का स्वरूप

काव्य में दोष कैसे सम्भव होते हैं? काव्यगत दोष का स्वरूप क्या है, पहले इस विषय पर संक्षेप से विचार कर लेना चाहिये। मम्मट ने दोष का स्वरूप इस प्रकार कहा है -

"मुख्य अर्थ का अपकर्ष करने वाले तत्त्व दोष कहलाते हैं। काव्य में रस ही मुख्य अर्थ है, अतः रस का अपकर्ष करने वाले तत्त्व दोष हैं। क्योंकि रस की अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ का आश्रय लेकर होती है, अतः ये दोष शब्द और अर्थ में भी हो सकते हैं[६]।"

विश्वनाथ ने दोष का जो स्वरूप बताया है, वह मम्मट से अधिक भिन्न नहीं है। उनके अनुसार -

"रस के अपकर्षक तत्त्व दोष हैं[७]।" इसके अनन्तर उन्होंने दोषों का विभाजन पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगत के रूप में किया है।

जयदेव अलङ्कारवादी आचार्य थे। उन्होंने दोष का निम्न प्रकार से लक्षण किया था -

"दोष वह होता है, जिसके द्वारा मन में उद्वेग उत्पन्न होता है और काव्य की रमणीयता नष्ट होती है। यह दोष शब्द और अर्थ में रहता है[८]।"

दोष के स्वरूप का निर्णय करते हुये उनके नित्यत्व एवं अनित्यत्व पर भी विचार करना चाहिये। इस दृष्टि से आचार्यों ने इनके दो वर्ग किये थे - नित्य दोष और अनित्य दोष।

यह विभाजन रस की अभिव्यक्ति की दृष्टि से किया गया था। कुछ दोष ऐसे हैं, जो सभी अवस्थाओं में दोष होते हैं। जैसे, च्युतसंस्कृति आदि दोष सदा दोष रहते हैं और ये नित्य दोष कहलाते हैं। परन्तु कुछ दोष ऐसे हैं, जो किन्हीं रसों की अभिव्यक्ति में दोष

दोष

न रहकर गुण बन जाते हैं। जैसे कि श्रुतिकटु आदि दोष हैं, जो कि शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति में तो दोष हैं, परन्तु रौद्र रस की अभिव्यक्ति में वे गुण होते हैं[९]। ये अनित्य दोष हैं। इस विषय पर आगे विस्तार से विचार किया जायेगा।

३. दोषों का वर्गीकरण

दोष की परिभाषा करते हुये मम्मट ने तीन प्रकार के दोषों का उल्लेख किया था- रसदोष, अर्थदोष तथा शब्ददोष। तदनन्तर उन्होंने शब्ददोष के भी तीन विभाग किये - पददोष, पदांशदोष और वाक्य दोष। इस प्रकार मम्मट दोषों को पांच वर्गों में विभक्त करते हैं -

पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष, अर्थदोष और रसदोष।

विश्वनाथ ने सीधे ही दोषों का पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस इन पांच वर्गों में विभाजन किया था[१०]।

अलङ्कार दोषों को पदगत मानते हुये भी इनका पृथक् से विवेचन कर दिया गया है। अतः इस प्रकरण में दोषों का क्रमशः वर्णन छः वर्गों में किया जा रहा है - पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष, अर्थदोष, रसदोष और अलङ्कारदोष।

(क) पददोष -

मम्मट और विश्वनाथ इन दोनों ही आचार्यों ने पद दोषों के १६ भेद प्रदर्शित किये थे[११]। इनका क्रमशः विवेचन निम्न है -

(१) श्रुतिकटु -

कठोर वर्णों का विन्यास होने के कारण जो पद कानों को कटु लगता हो वहां श्रुतिकटु दोष होता है।

(२) च्युतसंस्कृति -

यदि व्याकरण के नियम के विरुद्ध किसी पद का प्रयोग किया गया हो, तो वहां च्युतसंस्कृति दोष होता है।

(३) अप्रयुक्त -

व्याकरण आदि की दृष्टि से शुद्ध होते हुये भी किसी पद विशेष का इस प्रकार के अर्थ में प्रयोग करना, जो कि कवियों में प्रचलित न हो, अप्रयुक्त दोष कहलाता है।

(४) असमर्थ -

अभीष्ट अर्थ का वाचक होने पर भी यदि पद प्रसङ्गविशेष में अपने अभीष्ट अर्थ को प्रतिपादित न कर सके, तो वहां असमर्थ दोष होता है।

(५) निहतार्थ -

यदि किसी पद के दो अर्थ हैं, उनमें से एक प्रसिद्ध है और दूसरा अप्रसिद्ध है, तो उस पद का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करने पर निहतार्थ दोष होता है।

(६) अनुचितार्थ -

यदि पद से किसी अनुचित अर्थ की प्रतीति होती हो, तो वहां अनुचितार्थ दोष होता है।

(७) निरर्थक -

यदि पद विशेष का प्रयोग केवल पद की पूर्ति के लिये किया जावे, तथा वह किसी विशेष अर्थ की प्रतीति न कराता हो, तो वहां निरर्थक दोष होता है।

(८) अवाचक -

यदि पद विशेष का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जावे, जहां कोश आदि के अनुसार वह उस अर्थ का वाचक नहीं है, तो अवाचक दोष होता है।

(९) अश्लील -

यह दोष तीन प्रकार का होता है - व्रीडाव्यञ्जक, जुगुप्साव्यञ्जक और अमङ्गल व्यञ्जक। अनुचित व्रीडा के व्यक्त होने पर, अनुचित जुगुप्सा के व्यक्त होने पर अथवा अनुचित अमङ्गल के व्यक्त होने पर यह दोष होता है।

(१०) सन्दिग्ध -

जहां पद की दो अर्थो में संगति होती हो, परन्तु उनमें यह सन्देह बना रहे कि कौन सा अर्थ प्रस्तुत किया गया है, तो सन्दिग्ध दोष होता है।

(११) अप्रतीत -

जहां इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनका प्रयोग केवल शास्त्र में होता है, तो वहां अप्रतीत दोष होता है।

(१२) ग्राम्य -

ऐसे पदों का प्रयोग करना, जो ग्राम्य जनों द्वारा प्रयुक्त किये जाते हों, परन्तु शिष्ट जनों द्वारा प्रयोग में न लाये जाते हों, यह ग्राम्य दोष कहलाता है।

(१३) नेयार्थ -

ऐसे पदों का प्रयोग करना, जहां खींच-तान कर लक्षणा द्वारा अर्थ करने का प्रयत्न किया जावे परन्तु ,न तो वहां रूढा लक्षणा और नाहीं प्रयोजनवती लक्षणा संगत होती हो, नेयार्थ दोष कहलाता है।

(१४) क्लिष्ट -

ऐसे पदों का प्रयोग करना, जिनसे बोधित अर्थ की प्रतीति बहुत कठिनाई से हो, क्लिष्ट दोष कहलाता है।

(१५) अविमृष्टविधेयांश -

जहां वाक्य का विधेय अंश (प्रधान अंश) प्रधान रूप से निर्दिष्ट न किया गया हो और वह अप्रधान बन जाता हो, वहां अविमृष्टविधेयांश दोष होता है।

(१६) विरुद्धमतिकृत् -

जहां विवक्षित अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है, वहां विरुद्धमतिकृत् दोष होता है।

इन १६ प्रकार के पद दोषों में से क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश और विरुद्धमतिकृत् दोष केवल समासगत होते हैं। समास के अभाव में ये पद-दोष न रह कर वाक्यगत दोष हो जाते हैं।

(ख) पदांश दोष -

ऊपर जिन पद दोषों का उल्लेख किया गया है, उनमें ही कुछ दोष पदांशगत भी होते हैं[१२]। विश्वनाथ ने पदांश दोष केवल पांच कहे हैं - दुःश्रवत्व, निहितार्थत्व, अवाचकत्व, अश्लीलत्व और नेयार्थत्व। परन्तु मम्मट ने ये दोष ७ प्रकार के कहे थे -

(१) श्रुतिकटु, (२) निहतार्थत्व,(३) निरर्थकत्व, (४) अवाचकत्व, (५) अश्लीलत्व, (६) सन्दिग्धत्व और (७) नेयार्थत्व।

इन दोषों के स्वरूप वे ही हैं, जो पदगत दोषों के हैं।

(ग) वाक्य दोष -

वाक्य दोष दो प्रकार के कहे गये हैं। इनमें कुछ वाक्यदोष तो वे ही हैं, जो कि पद दोषों में कहे गये हैं। परन्तु कुछ दोष ऐसे हैं,जो कि केवल वाक्य में होते हैं। पहले जो १६ पद दोष कहे गये हैं, उनमें से च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक को छोड कर शेष १३ वाक्यदोष भी होते हैं[१३]। इस प्रकार १३ वाक्य दोष पद दोषों के ही समान हैं। ये इस प्रकार हैं -

(१) श्रुतिकटु, (२) अप्रयुक्त, (३) निहतार्थ, (४) अनुचितार्थ, (५) अवाचक, (६) तीन प्रकार का अश्लील, (७) सन्दिग्ध, (८) अप्रतीत, (९) ग्राम्य, (१०) नेयार्थ, (११) क्लिष्ट, (१२) अविमृष्टविधेयांश, (१३) विरुद्धमतिकृत्।

इन सामान्य वाक्य दोषों के अतिरिक्त मम्मट ने २१ अन्य दोषों का भी वर्णन किया था, जो कि केवल वाक्य में ही होते हैं[१४]।इनका वर्णन निम्न है -

(१) प्रतिकूलवर्ण -

प्रकृत रस की अभिव्यञ्जना के लिये उसके प्रतिकूल वर्णों का प्रयोग करना वाक्यगत प्रतिकूलवर्ण दोष है।

(२) उपहतविसर्ग -

जहां विसर्ग अधिक रूप में उत्व को प्राप्त हो जाता हो, वहां उपहतविसर्ग दोष वाक्यगत होता है।

(३) लुप्तविसर्ग -

यदि वाक्य में विसर्गों का अधिक रूप में लोप हो जाता हो तो लुप्तविसर्ग दोष है।

(४) विसन्धि -

सन्धि की विरूपता विसन्धिदोष है। यह विरूपता तीन प्रकार की हो सकती है -

(अ) **विश्लेष** - सन्धि करने के स्थान पर सन्धि न करना विश्लेष है।

(ब) **अश्लीलत्व** - सन्धि के कारण अश्लीलता प्रतीत होना अश्लीलत्व है।

(स) **कष्टत्व** - सन्धि के कारण श्रुतिकटुत्व उत्पन्न होना कष्टत्व है।

(५) हतवृत्त -

छन्द का हत अर्थात् निन्दित होना हतवृत्त दोष है। यह दोष भी तीन प्रकार का होता है -

(अ) छन्दःशास्त्र के अनुसार छन्द के शुद्ध होने पर भी बुरा लगना।

(ब) छन्द का रस के अनुगुण न होना।

(स) पाद के अन्त में लघुवर्ण का गुरु न हो सकना।

(६) न्यूनपद -

वाक्य में अभिप्रेत अर्थ के वाचक किसी पद का न होना न्यूनपद दोष है।

(७) अधिकपद -

अभिप्रेत अर्थ के वाचक पदों से अतिरिक्त अनावश्यक पद का प्रयोग करना अधिकपद दोष है। इस प्रकार का वाक्य अधिकपद दोष से दूषित होता है।

(८) कथितपद -

किसी वाक्य में एक ही पद का अनावश्यक रूप से बार-बार प्रयोग करना कथित-पद दोष है। इस प्रकार का वाक्य कथितपद दोष से युक्त होता है।

(९) पतत्प्रकर्ष -

आरम्भ से लेकर अन्त तक चमत्कार का निर्वाह न हो पाना, चमत्कार का निरन्तर कम होते जाना पतत्कर्ष दोष है। इस प्रकार का वाक्य पतत्कर्ष दोष से युक्त होता है।

(१०) समाप्तपुनरात्त -

विवक्षित अर्थ के द्योतक वाक्य के समाप्त हो जाने पर भी पुनः कुछ कथन करना वाक्यगत समाप्तपुनरात्त दोष है।

(११) अर्धान्तरैकवाचक -

जब वाक्य का प्रथमार्ध द्वितीयार्धगत पद की आकांक्षा करता हो या द्वितीयार्ध प्रथमार्धगत पद की आकांक्षा रखता हो, तो अर्धान्तरैकवाचक दोष होता है।

(१२) अभवन्मतयोग -

वाक्य के पदों में अभीष्ट परस्पर सम्बन्ध का न होना अभवन्मतयोग दोष है।

(१३) अनभिहितवाच्य -

अवश्य कहने योग्य पद का कथन वाक्य में न करना अनभिहितवाच्य दोष है।

(१४) अपदस्थपद -

वाक्य में पद का प्रयोग उचित स्थान पर न करके अन्य स्थान पर करना वाक्यगत अपदस्थपद दोष है।

(१५) अपदस्थसमास -

वाक्य में समास का प्रयोग उचित स्थान पर न करके अन्य स्थान पर करना वाक्यगत अपदस्थसमास दोष है।

(१६) सङ्कीर्ण -

एक वाक्य के पदों का दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जाना वाक्यगत सङ्कीर्ण दोष होता है।

(१७) गर्भित -

एक वाक्य के अन्दर दूसरे वाक्य का प्रविष्ट हो जाना गर्भित दोष होता है।

(१८) प्रसिद्धिहत -

कविप्रसिद्धियों के सामान्य नियम का उल्लंघन करना, उनमें विरुद्ध कथन करना वाक्यगत प्रसिद्धिहत दोष है।

(१९) भग्नप्रक्रम -

विना किसी विशेष हेतु के प्रकरण या क्रम का भंग हो जाना भग्नप्रक्रम दोष है।

(२०) अक्रम -

पदों के क्रम का विद्यमान न होना, अर्थात् वाक्य में पदों को जिस क्रम से रखा जाना चाहिये, उस क्रम से न रखना वाक्यगत अक्रम दोष है।

(२१) अमतपरार्थ -

यदि वाक्य में दो अर्थ निकलते हों, उस अवस्था में दूसरे अर्थ का प्रकृत अर्थ से विरुद्ध होना अमतपरार्थ दोष है। इस प्रकार का वाक्य अमतपरार्थ दोष से युक्त होता है।

इस प्रकार मम्मट ने २१ वाक्य दोष बताये थे। ये दोष केवल वाक्य में ही हो सकते हैं। विश्वनाथ ने २३ वाक्यदोष कहे हैं। परन्तु इनकी दोषों की संख्या समान ही है। मम्मट ने विसन्धि नामक एक ही दोष कहा है, जिसके विश्लेष, अश्लीलत्व तथा कष्टत्व तीन भेद हैं। परन्तु विश्वनाथ ने इन तीनों दोषों की गणना अलग-अलग की है, इसलिये उसके द्वारा परिगणित वाक्य दोषों की संख्या २३ हो गई है।

(घ) अर्थदोष -

काव्य में वाच्य अर्थ के दोषयुक्त होने पर अर्थदोष होता है। मम्मट और विश्वनाथ दोनों ने ही २३ अर्थदोषों का वर्णन किया है। मम्मट के अनुसार अर्थदोष निम्नलिखित

हैं१५-

(१) अपुष्ट -

मुख्य अर्थ के अनुपकारक अर्थ की योजना करने पर अपुष्ट दोष होता है।

(२) कष्ट -

जब कोई अर्थ अति कठिनाई से समझ में आता है, तो कष्ट दोष होता है।

(३) व्याहत -

पहले किसी वस्तु का उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाकर पुनः उसका अपकर्ष या उत्कर्ष दिखाना व्याहत दोष है।

(४) पुनरुक्त -

प्रतिपादित अर्थ को प्रकारान्तर से पुनः प्रतिपादित करना पुनरुक्त दोष है।

(५) दुष्क्रम -

वस्तुओं के वर्णन के क्रम में औचित्य का न होना दुष्क्रम दोष है।

(६) ग्राम्य -

ग्राम्य मनुष्यों के समान वार्ताओं का कथन करना ग्राम्य दोष है।

(७) सन्दिग्ध -

यदि दो अर्थों की प्रतीति हो रही हो तो यह सन्देह होना कि कौन सा अर्थ उपयुक्त है, सन्दिग्ध दोष होता है।

(८) निर्हेतु -

ऐसे अर्थ को प्रस्तुत करना, जिसका कोई हेतु न हो, निर्हेतु दोष कहलाता है।

(९) प्रसिद्धिविरुद्ध -

लोक प्रसिद्धि या कवि प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ को प्रस्तुत करना प्रसिद्धिविरुद्ध दोष है।

(१०) विद्याविरुद्ध -

शास्त्र के विरुद्ध अर्थ को प्रस्तुत करना विद्याविरुद्ध दोष है।

(११) अनवीकृत -

एक ही पद को विना किसी नवीनता या चमत्कार के पुनः प्रस्तुत करना अनवीकृत दोष है।

(१२) सनियमपरिवृत्त -

जहां नियमन किया जाना आवश्यक न हो, वहां नियम की सीमा बांधनां सनियमपरिवृत्त दोष है।

(१३) अनियमपरिवृत्त -

जहां नियमन किया जाना आवश्यक हो, वहां नियम की सीमा को न बांधना अनियमपरिवृत्त दोष है।

(१४) **विशेषपरिवृत्त** -

विशेष वाचक शब्द के प्रयोग के आवश्यक होने पर सामान्यवाचक पद का प्रयोग करना विशेषपरिवृत्त दोष है।

(१५) **अविशेषपरिवृत्त** -

सामान्यवाचक शब्द के प्रयोग के आवश्यक होने पर विशेषवाचक शब्द का प्रयोग करना अविशेषपरिवृत्त दोष है।

(१६) **साकांक्ष** -

ऐसे पद का कथन न करना, जिससे कि अर्थ विशेष की आकांक्षा बनी रहे, साकांक्ष दोष है।

(१७) **अपदयुक्त** -

अस्थान में या अनुचित स्थान में अनावश्यक पदों को जोड़ दिया जाना अपदयुक्त दोष है।

(१८) **सहचरभिन्न** -

विशेष पदार्थों के साथ उनकी प्रकृति से विरुद्ध पदार्थों का वर्णन करना, उत्कृष्ट पदार्थों के साथ निकृष्ट पदार्थों का वर्णन करना अथवा निकृष्ट पदार्थों के साथ उत्कृष्ट पदार्थों का वर्णन करना सहचरभिन्न दोष है।

(१९) **प्रकाशितविरुद्ध** -

कवि के अभिप्रेत अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होना प्रकाशितविरुद्ध दोष है।

(२०) **विध्ययुक्त** -

विधेय अर्थ को उचित प्रकार से प्रस्तुत न करना विध्ययुक्त दोष है।

(२१) **अनुवादयुक्त** -

उद्देश्य का कथन करने में उसके अनुकूल प्रतीत न होने वाले अर्थ का कथन न करना अनुवादयुक्त दोष है।

(२२) **त्यक्तपुनःस्वीकृत** -

वाक्य के निराकांक्ष रूप से पूरा हो जाने पर भी उस अर्थ को किसी उपाय से पुनः प्रस्तुत करना त्यक्तपुनःस्वीकृत दोष है।

(२३) **अश्लील** -

जुगुप्साजनक, व्रीडाजनक या अमंगलसूचक अर्थ की प्रतीति होना अश्लील दोष है।

(ङ) रसदोष -

रसगत दोषों का निरूपण आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में किया था[१६]। परन्तु वह निरूपण अधिक व्यवस्थित और सुसंगठित नहीं था। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में और विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में रस-दोषों का विवेचन अधिक व्यवस्थित और तर्क-संगत

रूप में किया।

मम्मट ने १३ रस-दोषों का उल्लेख अपनी कारिकाओं में किया था, परन्तु विश्वनाथ ने १४ रस-दोष बताये। विश्वनाथ ने १४वां रस-दोष अर्थानौचित्य बताया है।[१७] अर्थानौचित्य को ध्वन्यालोककार ने रस-दोष (रसभंग) का एकमात्र कारण कहा[१८] था। मम्मट ने अपनी कारिकाओं में "**रसे दोषाः स्युरीदृशाः**" कह कर इस दोष को प्रकट किया तथा १३ या १४ रस-दोषों का वर्णन करके ध्वन्यालोककार की अर्थानौचित्य विषयक उक्ति को उद्धृत कर इस दोष को रसभंग का कारण माना है।

मम्मट द्वारा कहे गये १३ दोष इस प्रकार हैं[१९] -

(१) व्यभिचारी भावों की स्वशब्दवाच्यता -

निर्वेद, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव रस की अभिव्यक्ति में कारण होते हैं। इनको स्वशब्दवाच्य नहीं होना चाहिये। वाक्य में इनका स्वशब्दवाच्य होना दोष होता है।

(२) रस की स्वशब्दवाच्यता -

काव्य में रस अभिव्यङ्ग्य होता है। रस का या शृङ्गार आदि का स्वशब्दवाच्य होना काव्य में दोष होता है।

(३) स्थायी भावों की स्वशब्दवाच्यता -

काव्य में रति आदि स्थायी भाव भी अभिव्यङ्ग्य होते हैं। काव्य में उनका स्वशब्दवाच्य होना दोष होता है।

(४) अनुभावों की कष्टकल्पना -

रसविशेष की अभिव्यक्ति में भी, इस बात का निश्चय करने में कठिनाई हो कि यह अनुभाव किस रस का है, तो यह कष्टकल्पना है और दोष है।

(५) विभावों की कष्टकल्पना -

रसविशेष की अभिव्यक्ति में यदि इस बात का निश्चय करने में कठिनाई हो कि यह विभाव किस रस का है, तो भी कष्टकल्पना होने से दोष होता है।

(६) प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण -

प्रकृत रस के विपरीत विभाव आदि का वर्णन करना दोष है।

(७) पुनः पुनः दीप्ति -

किसी रसविशेष का प्रसंग समाप्त हो जाने पर भी उसको अनावश्यक रूप से पुनः पुनः उद्दीप्त करना दोष है।

(८) अकाण्डे प्रथन -

रसविशेष का अवसर न होने पर भी उस रस का आयोजन करना दोष है।

(९) अकाण्डे छेद -

रसविशेष का अवसर न होने पर भी उसका विच्छेद कर देना दोष है।

(१०) अंग की अतिविस्तृति -

काव्य में अप्रधानभूत रस का इतने विस्तार से वर्णन करना कि प्रधान रस दब जावे, दोष है।

(११) अंगी का अननुसन्धान -

अन्य वर्णनों में इतना उलझ जाना कि प्रधान रस के निर्वाह का ध्यान ही न रहे, तो यह दोष है।

(१२) प्रकृतियों का विपर्यय -

काव्य के कथानक के पात्र प्रकृति हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं - दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। काव्य में वीर, रौद्र, शृङ्गार और शान्त रस की प्रधानता को दृष्टि में रख कर क्रमशः चार प्रकार के नायक होते हैं - धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। ये भी तीन तीन प्रकार के होते हैं - उत्तम, मध्यम और अधम। काव्य में प्रकृतियों के औचित्य को दृष्टि में रख कर इनका नियोजन करना चाहिये। ऐसा न होने पर अनौचित्य होता है। यह एक महान् दोष है। कवि को चाहिये कि वह देश, काल, आयु, जाति आदि का और वेश, व्यवहार आदि का आयोजन औचित्य के अनुकूल करे।

(१३) अनंग का अभिधान -

इस प्रकार का वर्णन करना कि जो प्रकृत रस का उपकारक न हो या उसके उत्कर्ष में सहायक न हो, तो वह दोष होता है।

इन १३ रसदोषों का वर्णन करके मम्मट ने अर्थानौचित्य रूप दोष को भी प्रदर्शित किया है। यह मुख्य रूप से रसभंग का कारण है। विश्वनाथ ने उसको १४वां दोष वर्णित किया है। यह इस प्रकार है -

(१४) अर्थानौचित्य -

देश, काल, परम्परा आदि के अनुकूल वर्णन न करना अर्थानौचित्य दोष है। इससे रस का अनौचित्य प्रकट होता है।

(च) अलङ्कार दोष -

प्राचीन आचार्यों ने कुछ अलङ्कार दोषों का भी वर्णन किया था। उनका कथन था कि अलङ्कारों की आयोजना करने में इन दोषों से बचना चाहिये। मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों का मन्तव्य है -

"अलङ्कार दोषों का अलग से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इनका अन्तर्भाव पहले कहे गये दोषों में ही हो जाता है[२०]।" तथापि उन्होंने कुछ अलङ्कार दोषों का वर्णन किया है और साथ में यह भी दिखाया है कि इन दोषों का अन्तर्भाव किस प्रकार पहले कहे गये दोषों में होता है। कुछ दोषों को निदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है -

(१) अनुप्रास दोष -

अनुप्रास अलङ्कार के तीन दोष कहे गये हैं - प्रसिद्ध्यभाव, वैफल्य और वृत्तिविरोध। इनका अन्तर्भाव प्रसिद्धिविरुद्ध, अपुष्टार्थ और प्रतिकूलवर्ण दोषों में हो जाता है।

(२) यमक दोष -

यमक का तीन चरणों में प्रस्थापन अयुक्तत्व दोष कहा गया है। इसका अन्तर्भाव अप्रयुक्त दोष में होता है।

(३) उपमा दोष -

उपमा अलङ्कार के अनेक दोष कहे गये हैं -

(क) उपमा में उपमान की जातिगत तथा प्रमाणगत न्यूनता एवं अधिकता का दोष वस्तुतः अनुचितार्थत्व दोष है।

(ख) साधारण धर्म में रहने वाले न्यूनत्व और अधिकत्व दोष वस्तुतः न्यूनपदत्व और अधिकपदत्व दोष हैं।

(ग) उपमान एवं उपमेय का लिंगभेद या वचन भेद दोष वस्तुतः भग्नप्रक्रम दोष है।

(घ) उपमा के कालभेद, पुरुषभेद और विध्यादिभेद दोषों का अन्तर्भाव भी भग्नप्रक्रम दोष में होता है।

(ङ) उपमा में असादृश्य और असम्भव दोष वस्तुतः अनुचितार्थ दोष हैं।

(४) उत्प्रेक्षा दोष -

उत्प्रेक्षा के निम्न दोष हैं -

(क) उत्प्रेक्षा का कथन मन्ये, ध्रुवम्, शङ्के आदि पदों से होता है। यथा आदि पदों से इसका कथन करना वस्तुतः अवाचकत्व दोष है।

(ख) उत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षित का निर्विषयत्व दोष अनुचितार्थत्व दोष ही है।

(५) समासोक्ति दोष -

समासोक्ति अलङ्कार में साधारण विशेषणों के द्वारा उपमान के प्रतीयमान होने पर भी उसका शब्दों द्वारा कथन करना अनुपादेयत्व दोष है। इसका अन्तर्भाव पुनरुक्त दोष में होता है।

(६) अप्रस्तुतप्रशंसा दोष -

अप्रस्तुतप्रशंसा में साधारण विशेषणों के सामर्थ्य से व्यञ्जना द्वारा ही उपमेय की प्रतीति होती है। पुनः शब्दों द्वारा उसका कथन करना अनुपादेयत्व दोष है। इस दोष का अन्तर्भाव भी पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत होता है।

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कारों के जो दोष प्रतिपादित किये थे, उनका

अन्तर्भाव मम्मट आदि आचार्यों ने पूर्वोक्त पद आदि दोषों में प्रतिपादित कर दिया था और इस कारण अलङ्कार दोषों के पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं समझी थी। दिशानिर्देश के रूप में कुछ का ऊपर कथन किया गया है।

४. दोषों का नित्यत्व और अनित्यत्व और कुछ दोषों में दोषत्व का अभाव

पहले यह संकेत दिया जा चुका है कि प्राचीन आचार्यों ने दोषों में नित्यत्व और अनित्यत्व की व्यवस्था दी थी। कुछ दोष किन्ही विशेष अवस्थाओं में दोष नहीं रहते। इस विषय का का संक्षेप से निर्देश करना उचित होगा।

(i) सभी दोषों की निर्दोषिता -

आचार्यों का कथन है कि जब कवि किसी वक्ता द्वारा दोषयुक्त पदों का प्रयोग अनुकरण के रूप में करता है, तो वह दोष नहीं रहता[२१]।

(ii) दुःश्रवत्व दोष का अदोषत्व -

क्रोध के आवेश से युक्त वक्ता की, वर्ण्य विषय के औद्धत्य की और रसों की अभिव्यक्ति की अवस्था में दुःश्रवत्व दोष को दोष न समझ कर गुण ही समझना चाहिये[२२]।

(iii) अश्लीलत्व दोष का अदोषत्व -

कामगोष्ठी आदि की परिस्थिति में अश्लीलत्व दोष भी दोष नहीं रह कर गुण हो जाता है[२३]।

(iv) अप्रयुक्तत्व दोष का अदोषत्व -

श्लेष आदि की अवस्था में अप्रयुक्तत्व दोष को भी दोष नहीं कहना चाहिये।

(v) निहतार्थत्व दोष का अदोषत्व -

श्लेष आदि की अवस्था में निहतार्थत्व दोष भी दोष नहीं रहता[२४]।

(vi) अप्रतीतत्व दोष का अदोषत्व -

वक्ता और श्रोता दोनों यदि विषय के ज्ञाता हों एवं विद्वान् वक्ता स्वयं परामर्श कर रहा हो तो अप्रतीतत्व दोष भी दोष न होकर गुण होता है[२५]।

(vii) कथितपदत्व दोष का अदोषत्व -

निम्न परिस्थितियों में कथितपदत्व दोष भी दोष न रह कर गुण प्रतीत होता है[२६]-

(क) उद्देश्य का निर्देश करने में

(ख) विषाद में

(ग) विस्मय में

(घ) क्रोध में

(ङ) दीनता में

(च) लाटानुप्रास में

(छ) अनुकम्पा में

(ज) किसी के प्रति कृपा करने में

(झ) अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य में

(ञ) हर्ष में

(ट) विषय का निश्चय करने में

(viii) सन्दिग्ध दोष का अदोषत्व -

यदि वाच्य की समाप्ति व्याजस्तुति में हो रही हो तो सन्दिग्धत्व दोष भी गुण हो जाता है[२७]।

(ix) कष्टत्व दोष का अदोषत्व -

यदि वक्ता और श्रोता दोनों को वैयाकरण होने का अभिमान हो तो कष्टत्व या दुःश्रवत्व दोष को दोष नहीं समझा जाता [२८]।

(x) ग्राम्यत्व दोष का अदोषत्व -

अधम पुरुषों की उक्तियों में ग्राम्यत्व दोष नहीं माना जाता[२९]।

(xi) निर्हेतुत्व दोष का अदोषत्व -

प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुता दोष नहीं है[३०]।

(xii) ख्यातविरुद्धता दोष का अदोषत्व -

कवि समय की प्रसिद्धियों के प्रसङ्ग में ख्यातविरुद्धता दोष न रह कर गुण हो जाती है[३१]। इन कवि प्रसिद्धियों का विस्तृत वर्णन साहित्यदर्पणकार ने किया है[३२]।

(xiii) पुनरुक्त दोष का अदोषत्व -

कतिपय पदों में पुनरुक्त दोष को दोष नहीं माना जाता । जैसे कि 'ज्या' आदि पदों के लिये 'धनुर्ज्या' आदि पदों का प्रयोग किया जा सकता है।[३३]

(xiv) न्यूनपदत्व दोष का अदोषत्व -

आनन्दविभोर या शोक में मग्न आदि व्यक्तियों की उक्तियों में न्यूनपदत्व को दोष नहीं माना जाता[३४]।

(xv) अधिकपदत्व दोष का अदोषत्व -

अनेक स्थानों पर अधिकपदत्व भी दोष न रह कर गुण प्रतीत होता है[३५]।

(xvi) समाप्तपुनरात्तत्व दोष का अदोषत्व -

समाप्तपुनरात्तत्व दोष भी कहीं तो न तो दोष होता है और न गुण होता है[३६]।

(xvii) गर्भितत्व दोष का अदोषत्व -

गर्भितत्व दोष भी कहीं गुण हो जाता है[३७]।

(xviii) पतत्प्रकर्ष दोष का अदोषत्व -

पतत्प्रकर्ष दोष भी कहीं कहीं गुण हो जाता है[३८]।

५. रसगत दोषों का अनित्यत्व तथा दोषों का परिहार

पहले जो १४ प्रकार के रसदोष कहे गये हैं, वे सभी अवस्थाओं में दोष नहीं रहते, किन्तु विशेष अवस्थाओं में उनमें दोषत्व न रहकर गुणत्व ही होता है। पहले कहा जा चुका है कि अनौचित्य रसभंग का सबसे बड़ा कारण है। यदि विशेष अवस्थाओं में रस के औचित्य का भंग नहीं होता, तो वहां रस दोष नहीं होंगे। निम्न अवस्थाओं में रस दोषों में दोषत्व नहीं रहता -

(i) यदि विभावों और अनुभावों द्वारा किसी व्याभिचारी भाव की उचित रूप से (विशद रूप से) प्रतीति न होती हो, तो व्यभिचारी भाव के स्वशब्दवाच्य होने पर भी वहां दोष नहीं होता[३९]।

(ii) प्रकृत रस के विरुद्ध विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का बाध्यत्व रूप से कथन करना दोष न होकर गुण ही होता है[४०]।

(iii) निम्न अवस्थाओं में परस्पर विरोधी रसों का वर्णन करने में भी दोष नहीं रहता[४१] -

(क) प्रकृत रस के विरोधी रस का स्मर्यमाण रूप से वर्णन करना।

(ख) विरोधी रस का साम्य रूप से विवक्षित होना।

(ग) दो विरोधी रसों का किसी तीसरे प्रधान रस का अंगभूत हो जाना।

(iv) निम्न उपायों से रसों के विरोध रूप दोष का परिहार किया जा सकता है[४२]-

(क) जो रस आश्रय के ऐक्य से विरोधी हैं, उनका भिन्न आश्रय में वर्णन करके विरोध को दूर किया जा सकता है।

(ख) जो रस निरन्तरता में रखे जाने के कारण विरोधी होते हैं, उनके मध्य में अविरोधी रस का आयोजन करके यह दोष दूर किया जा सकता है।

मम्मट आदि आचार्यों का कथन है -

"काव्य में दोष नियत नहीं हैं, कोई भी दोष सभी अवस्थाओं में दोष नहीं रहता। कवि अपनी प्रतिभा से दोषों को भी गुणों में परिणत कर सकता है।"

मम्मट और विश्वनाथ ने अनेक दोषों की उन अवस्थाओं का वर्णन किया है, जबकि वे दोष न रह कर गुण हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य और भी अवस्थायें हो सकती हैं, जबकि इन दोषों में दोषत्व न रह कर गुणत्व उत्पन्न हो जाता है। विश्वनाथ का कथन है कि विद्वान् मनुष्य औचित्य की दृष्टि से दोषों में भी अदोषता, गुणता को समझ सकते हैं।[४३]

सन्दर्भ -

१. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषयं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः।। भरत - नाट्यशास्त्र १६.८८।।

२. भरत - नाट्यशास्त्र १६.८९-९४।।

३. सर्वथा पदमप्येकं न निगद्यमवद्यवत्।
विलक्षणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।।
अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।। भामह - काव्यालङ्कार १.९-१०।।

४ तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेनैकेन दुर्भगम्।। काव्यादर्श १.७।।

५. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम्।।
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवेते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः।। काव्यादर्श ३.१२५-१२६।।

६. मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यः तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।। काव्यप्रकाश ७.४९।।

७. रसापकर्षका: दोषाः।। साहित्यदर्पण ७.१।।

८. स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम्।। चन्द्रालोक १.२।।

९. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः।। ध्वन्यालोक २.११।।

१०. ....ते पुनः पञ्चधा मताः।
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत्।। साहित्यदर्पण ७.१।।

११. दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्।।
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम्।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव।। काव्यप्रकाश ७.५०-५१।।

१२. पदस्यांशेऽपि केचन।। काव्यप्रकाश ७.५२।।

१३. अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते.................।। काव्यप्रकाश७.५२।।

१४. प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम्।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्।।
अर्धान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम्।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम्।।
भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा।। काव्यप्रकाश ७.५३-५५।।

१५. अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ।
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः ।
साकांक्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धश्च ।।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः ।। काव्यप्रकाश ७.५५-५७ ।।

१६. विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ।।
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ।। ध्वन्यालोक ३.१८-१९ ।।

१७. अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगताः स्मृताः ।। साहित्यदर्पण ७.१५ ।।

१८. अनौचित्याद्दते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।। ध्वन्यालोक ३.१४ की वृत्ति ।।

१९. व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ।।
प्रतिकूलविभादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ।।
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं स्याद् रसे दोषाः स्युरीदृशः ।। काव्यप्रकाश ७.६०-६२ ।।

२०. (क) एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः ।। काव्यप्रकाश १०.१४२ ।।
(ख) एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव संभवः ।। साहित्यदर्पण ७.१५ ।।

२१. (क) अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।। काव्यप्रकाश ७.५९ ।।
(ख) अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता ।। साहित्यदर्पण ७.३१ ।।

२२. वक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।
रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ।। साहित्यदर्पण ७.१६ ।।

२३. सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः ।। साहित्यदर्पण ७.१७ ।।

२४. स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते ।। साहित्यदर्पण ७.१७ ।।

२५. गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद् वक्तृवाच्ययोः ।
स्वयं वापि परामर्शे................................ ।। साहित्यदर्पण ७.१८ ।।

२६. ....कथितं च पदं पुनः ।
विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।।
दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ।
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।। साहित्यदर्पण ७.१८-२० ।।

२७. सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ।। साहित्यदर्पण ७.२० ।।

२८. वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तरि ।
कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा..................... ।। साहित्यदर्पण ७.२१ ।।

२९. ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु ।। साहित्यदर्पण ७.२१ ।।

३०. निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति।। साहित्यदर्पण ७.२१।।

३१. कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता।। साहित्यदर्पण ७.२२।।

३२. (क) मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः
रक्तौ च क्रोधरागौ सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादिः।
तोयाधारोऽखिलोऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः।।
पादाघातादशोको विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यै-
र्यूनामङ्गेषु हाराः स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः।
मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-
र्भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत्।।
अह्न्यम्भोजं निशायां विकसति कुमुदं चन्द्रिका शुक्लपक्षे
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाऽप्यशोके फलं स्यात्।
न स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-
मित्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे।।सा०द० ७.२३-३५।।

(ख) स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिंगनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमधुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः।। कोई अज्ञात कवि।।

३३ धनुर्ज्यादिशब्देषु शब्दास्तु धनुरादयः।
आरूढत्वादिबोधाय प्रयोक्तव्याः स्थिता अमी।। साहित्यदर्पण ७.२६।।

३४. उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः।। साहित्यदर्पण ७.२७।।

३५. गुणः क्वाप्यधिकं पदम्।। साहित्यदर्पण ७.२७।।

३६. समाप्तपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः क्वचित्।। साहित्यदर्पण ७.२८।।

३७. गर्भितत्वं गुणः क्वापि।। साहित्यदर्पण ७.२८।।

३८. पतत्प्रकर्षता तथा।। साहित्यदर्पण ७.२८।।

३९. क्वाचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्याभिचारिणः।
अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता।। साहित्यदर्पण ७.२९।।

४०. सञ्चायदिर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः।। साहित्यदर्पण ७.३०।।

४१. स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमापन्नौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्।। काव्यप्रकाश ७.६५।।

४२. आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तारितो नैरन्तर्येण यो रसः।। काव्यप्रकाश ७.६४।।

४३. अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता।। साहित्यदर्पण ७.३२।।

परिशिष्ट

परिशिष्ट - १

ग्रन्थ में वर्णित प्राचीन प्रसिद्ध आचार्य, उनकी कृतियां और प्रसिद्ध टीकायें

१. अग्निपुराणकार

अग्निपुराण पृ० ७१ - ७८

२. अप्पय दीक्षित

(क) वेदान्तविषयक ग्रन्थ पृ० ३३९ -३४५

(१) श्रीपरिमल

(२) श्रीसिद्धान्तलेशसंग्रह

(३) वेदान्तनक्षत्रावली

(४) मध्वतन्त्रमुखदर्शनम्

(५) मध्वमतविध्वंसनम्

(६) न्यायरक्षामणि

(ख) रामानुजमतविषयक ग्रन्थ

(७) नखमयूखमालिका

(८) नखमयूखमालिकाव्याख्या

(९) श्रीवेदान्तदेशिकविरचित यादवाभ्युदय की व्याख्या

(१०) श्रीवेदान्तदेशिकविरचित पादुकासहस्र की व्याख्या

(११) वरदराजस्तव

(ग) माध्वसिद्धान्तानुसारी ग्रन्थ

(१२) न्यायरत्नावली

(१३) न्यायरत्नावली की व्याख्या

(घ) पूर्वमीमांसाविषयक ग्रन्थ

(१४) नक्षत्रवादावली

(१५) विधिरसायनम्

(ङ) व्याकरणविषयक ग्रन्थ

(१६) नक्षत्रवादावली

(च) भक्तिविषयक ग्रन्थ

(१७) शिखरिणीमाला

(१८) शिवतत्त्वविवेक

(१९) ब्रह्मतर्कस्तव

(२०) आदित्यस्तवरत्नम्

(२१) आदित्यस्तवरत्न की व्याख्या
(२२) शिवाद्वैतनिर्णय
(२३) शिवध्यानपद्धति
(२४) पञ्चरत्न
(२५) पञ्चरत्न की व्याख्या
(२६) आत्मार्पणम्
(२७) मानसोल्लास
(२८) शिवकर्णामृतम्
(२९) आनन्दलहरी
(३०) चन्द्रिका
(३१) शिवमहिमकालिकास्तुति
(३२) रत्नत्रयपरीक्षा
(३३) रत्नत्रयपरीक्षा की व्याख्या
(३४) अरुणाचलेश्वरस्तुति
(३५) अपीतकुचाम्बास्तव
(३६) चन्द्रकलास्तव
(३७) शिवार्कमणिदीपिका
(३८) शिवपूजाविधि
(३९) नयमणिमाला
(४०) नयमणिमाला की व्याख्या

(छ) अलङ्कारविषयक ग्रन्थ
(४१) वृत्तिवार्तिक
(४२) चित्रमीमांसा
(४३) कुवलयानन्द

(ज) अलङ्कार-ग्रन्थों की टीकायें
(i) कुवलयानन्द की टीकायें
(१) अलङ्कारचन्द्रिका - वैद्यनाथ तत्सत्
(२) अलङ्कारसुधा - नागेशभट्ट
(३) कारिकादीपिका - आशाधर भट्ट
(४) रसिकरञ्जनी - गङ्गाधर
(५) विषयपदव्याख्याषट्पदानन्द - नागेश भट्ट
(६) काव्यमञ्जरी - न्यायवागीश भट्टाचार्य
(७) मथुरानाथकृतटीका

(८) रामचरण तर्कवागीशकृत टीका
(९) प्रभाटीका - गोपीनाथ
(१०) लघ्वलङ्कारचन्द्रिकाटीका - देवीदत्त

(ii) चित्रमीमांसा की टीकायें
(१) गूढार्थप्रकाशिका - बालकृष्ण पायगुण्ड
(२) दोषधिक्कार - अतिरात्रयज्वन्
(३) सुधाटीका - परानन्द
(४) चित्रालोकटीका

३. **अभिनवगुप्त** - पृ० १८६ - १९१
(१) ध्वन्यालोकलोचन की टीका
(२) भरतनाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका
(३) काव्यकौतुकविवरण
(४) तन्त्रालोक
(५) मालिनीविजयवार्तिक
(६) परात्रिंशिकाविवरण
(७) तन्त्रालोकसार
(८) ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी
(९) ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी
(१०) स्तोत्राणि -
भैरवस्तोत्र, कर्मस्तोत्र, बोधपञ्चाशिका इत्यादि

४. **अमरचन्द्र** पृ० २६१ - २६५
(१) काव्यकल्पलता
(२) काव्यकल्पलतावृत्ति
(३) जिनेन्द्रचरित
(४) बालभारत
(५) स्यादिशब्दसमुच्चय
(६) छन्दोरत्नावली
(७) काव्यकल्पलतापरिमल
(८) अलङ्कारप्रबोध

५. **आनन्दवर्धन** - पृ० १५१ - १६७
(१) ध्वन्यालोक
(२) देवीशतक
(३) विषमबाणलीला

(४) अर्जुनचरित
(५) तत्त्वालोक
(६) प्रमाणविनिश्चय की टीका की टीका

ध्वन्यालोक का प्राचीन टीकायें

(१) लोचनटीका - अभिनवगुप्त
(२) चन्द्रिका टीका
(३) कौमुदी टीका - उदयोत्तुङ्ग
(४) रत्नाकर व्याख्या

६. **आशाधर भट्ट** पृ० ३४६ - ३५०

(१) कोविदानन्द
(२) अद्वैतवेदान्त
(३) प्रभापटल
(४) त्रिवेणिका
(५) कारिकादीपिका (कुवलयानन्द की टीका)

७. **उद्भट** - पृ० १२४ - १३१

(१) अलङ्कारसारसङ्ग्रह
(२) भामहविवरण
(३) कुमारसम्भव
(४) भरतनाट्यशास्त्र की टीका

अलङ्कारसारसङ्ग्रह की टीकायें

(१) अलङ्कारसारसङ्ग्रह - लघुविवृति - प्रतिहारेन्दुराज
(२) उद्भटविवेक - राजानकतिलक

८. **कर्णपूर** - पृ० ३३६ - ३३७

(१) अलङ्कारकौस्तुभ
(२) चैतन्यचन्द्रोदय

अलङ्कारकौस्तुभ की टीकायें

(१) सारबोधिनी - विश्वनाथ चक्रवर्ती
(२) दीधितिप्रकाशिका - वृन्दावन
(३) लोकनाथचक्रवर्तिकृत टीका

९. **कविचन्द्र** - पृ० ३३८

(१) काव्यचन्द्रिका
(२) सारलहरी
(३) धातुचन्द्रिका

(२९) शशिवंशमहाकाव्य
(३०) समयमातृका
(३१) सुवृत्ततिलक
(३२) सेव्यसेवकोपदेश
(३३) नृपावलि

१३. **जगन्नाथ** पृ० ३५१ - ३६०

(१) अमृतलहरी (यमुनालहरी)
(२) लक्ष्मीलहरी
(३) करुणालहरी
(४) पीयूषलहरी (गङ्गालहरी)
(५) जगदाभरण
(६) आसफविलास
(७) भामिनीविलास
(८) प्राणाभरण
(९) यमुनावर्णनचम्पू
(१०) चित्रमीमांसाखण्डन
(११) मनोरमाकुचमर्दन
(१२) रसगङ्गाधर

रसगङ्गाधर की प्राचीन टीकायें

(१) विषमपदी टीका
(२) गुरुमर्मप्रकाशिका टीका - नागेश भट्ट

१४. **जयदेव** - पृ० २७८ -२८२

(१) चन्द्रालोक
(२) अनर्घराघव
(३) भाष्यालोक

चन्द्रालोक की टीकायें

(१) शारदागम - प्रद्योतन भट्ट
(२) रमा - वैद्यनाथ पायगुण्ड
(३) राकागम टीका (सुधागमटीका) विश्वेश्वर भट्ट (गागाभट्ट)
(४) प्रदीपिका
(५) शारदशर्वरी
(६) वाजचन्द्रकृत टीका

२०. **नागेशभट्ट** - पृ० ३६१ - ३६३

(१) गुरुमर्मप्रकाशिका टीका (रसगङ्गाधर की)

(२) लघु उद्योतटीका और बृहद् उद्योतटीका - गोविन्द-ठक्करकृत काव्यप्रकाशसङ्केतटीका की टीका

(३) उदाहरणदीपिका (काव्यप्रकाश के उदाहरणों का स्पष्टीकरण)

(४) भानुदत्तकृत रसतरङ्गिणी की टीका

(५) भानुदत्तकृत रसमञ्जरी की टीका

(६) अलङ्कारसुधाविषयपदव्याख्यान

(७) षट्पदानन्द

२१. **भट्टतौत** - पृ० १७० -१७२

(१) काव्यकौतुक

काव्यकौतुक की टीका

(१) अभिनवगुप्तकृत विवरणटीका

२२. **भट्टनायक** - पृ० १७३ -१७७

(१) सहृदयदर्पण अथवा हृदयदर्पण

२३. **भट्टि** पृ० ८५ - ८९

(१) भट्टिकाव्य

भट्टिकाव्य की टीकायें

(१) जयमङ्गला टीका

(२) मल्लिनाथकृत टीका

२४. **भरत मुनि** - पृ० ४१ - ६५

(१) नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र की टीकायें

(१) उद्भट

(२) भट्टलोल्लट

(३) शङ्कुक

(४) भट्टनायक

(५) राहुल

(६) भट्टयन्त्र

(७) अभिनवगुप्तकृत नवभारती टीका

(८) कीर्तिधर

(९) हर्षवार्तिक

(१०) मातृगुप्त

२५. भानुदत्त — पृ०३१५ -३२२

(१) रसतरङ्गिणी
(२) रसमञ्जरी
(३) अलङ्कारतिलक
(४) गीतगौरीपति
(५) कुमारभार्गवीय
(६) रसपारिजात

रसमञ्जरी की टीकायें

(१) व्यङ्ग्यार्थकौमुदी - अनन्तभट्ट
(२) प्रकाशटीका - नागेशभट्ट
(३) परिमलटीका - शेषचिन्तामणि
(४) विकासटीका - गोपालाचार्य
(५) रसिकरञ्जनी - द्रविडगोपाल भट्ट
(६) समञ्जसा (व्यङ्ग्यार्थकौमुदी) - विश्वेश्वर पाण्डेय
(७) आमोदटीका - रङ्गशालिन्
(८) व्यङ्ग्यार्थदीपिका - आनन्दशर्मा
(९) भानुभावप्रकाशिनी - महादेव
(१०) रसिकरञ्जन टीका - व्रजराज दीक्षित
(११) रसमञ्जरी स्थूलतात्पर्य टीका

रसतरङ्गिणी की टीकायें -

(१) गङ्गारामजडिकृत टीका
(२) दिनकरकृत टीका
(३) अयोध्याप्रसादकृत टीका
(४) नूतनतरि - भगवद्भट्ट
(५) रसोदधि टीका - गणेश
(६) सेतु टीका - जीवराज
(७) रसिकरञ्जनी - गोपाल भट्ट
(८) रसिकरञ्जनी - वेणीदत्त भट्टाचार्य
(९) रसोदधि टीका - महादेव
(१०) साहित्यसुधा टीका - नेमिसाह
(११) नागेशभट्टकृत टीका

२६. भामह - पृ० ९० - १०६

(१) काव्यालङ्कार

काव्यालङ्कार की टीका

(१) भामहविवरण - उद्भट

२७. भोजराज पृ०२०४ - २१५

(१) सरस्वतीकण्ठाभरण (काव्यशास्त्र)
(२) शृङ्गारप्रकाश
(३) आदित्यप्रतापसिद्धान्त
(४) आयुर्वेदसर्वस्व
(५) चम्पूरामायण
(६) चाणक्यनीति
(७) चारुचर्या
(८) तत्त्वप्रकाश
(९) नाममालिका
(१०) भुजबलभीम
(११) युक्तिकल्पतरु
(१२) राजमार्तण्ड (पातञ्जलयोगसूत्र टीका)
(१३) राजमार्तण्ड (वेदान्तदर्शनविषयक)
(१४) राजमार्तण्ड (ज्योतिषविषयक)
(१५) राजमृगाङ्क
(१६) विद्याविनोदकाव्य
(१७) विद्वज्जनबल्लभ
(१८) विश्रान्तविद्याविनोद
(१९) व्यवहारसमुच्चय
(२०) शब्दानुशासन
(२१) शालिहोत्र
(२२) शिवतत्त्वरत्नकलिका
(२३) शृङ्गारमञ्जरी
(२४) समराङ्गणसूत्रधार
(२५) सरस्वतीकण्ठाभरण (व्याकरण)
(२६) सिद्धान्तसङ्ग्रह
(२७) सुभाषितप्रबन्ध

सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका

(१) रत्नदर्पण - रत्नेश्वर

२८. **मम्मट** - पृ०२२२ - २३५

(१) काव्यप्रकाश

(२) शब्दव्यापारविचार

काव्यप्रकाश की टीकायें

(१) सङ्केतटीका - रुय्यक (रुचक)

(२) सङ्केतटीका - माणिक्यचन्द्र

(३) चित्तानुरञ्जनी - नरहरि

(४) दीपिका - जयन्तभट्ट

(५) काव्यादर्श - सोमेश्वर

(६) वाचस्पतिकृत टीका

(७) दीपिका - चण्डीदास

(८) काव्यप्रकाशदर्पण - विश्वनाथ

(९) काव्यप्रदीप - गोविन्द ठक्कर

(१०) सुबोधिनी (सुधासागर) - भीमसेन

(११) सुबोधिनी - वामनाचार्य झलकीकर

(१२) विस्तारिका - परमानन्द भट्ट

(१३) निदर्शना - आनन्दकवि

(१४) सारबोधिनी - श्रीवत्सलाञ्छन

(१५) विस्तृता टीका - कमलाकर भट्ट

(१६) नरसिंहमनीषा - नरसिंह

(१७) आदर्श टीका - महेश्वर

(१८) तात्पर्यविवृति टीका - महेशचन्द्र

(१९) लघूद्योत-बृहदुद्योतटीका - नागेश भट्ट

(२०) उदाहरणदीपिका - नागेशभट्ट

(२१) उदाहरणचन्द्रिका - वैद्यनाथ

(२२) अवचूरि टीका - राघव

(२३) श्रीधरकृत टीका

(२४) देवनाथकृत टीका

(२५) साहित्यदीपिका - भास्कर

(२६) सुबुद्धिमिश्रकृत टीका

(२७) पद्मनाभकृत टीका

(२८) अच्युतकृत टीका
(२९) रत्नपाणिकृत टीका
(३०) काव्यदर्पण - भट्टाचार्य
(३१) तत्त्वबोधिनी टीका
(३२) कौमुदी टीका
(३३) आलोक टीका
(३४) प्रकाशतिलक टीका - जयराम
(३५) यशोधरकृत टीका:
(३६) विद्यासागरकृत टीका
(३७) मुरारिमिश्रकृत टीका
(३८) पक्षधरकृत टीका
(३९) मणिसार टीका
(४०) रहस्यप्रकाशिका टीका - सूरि
(४१) रहस्यनिबन्ध टीका - भास्कर
(४२) काव्यप्रकाशभावार्थ टीका - रामकृष्ण

२९. **महिमभट्ट** - पृ०१९८ - २०३
(१) व्यक्तिविवेक
(२) तत्त्वोक्तिकोष

व्यक्तिविवेक की टीकायें
(१) रुय्यककृत टीका
(२) तिलकरत्ना टीका

३०. **मुकुलभट्ट** - पृ०१६८ - १६९
(१) अमिधामातृकावृत्ति

३१. **मेधाविन्** पृ० ६६ - ६९

३२. **राजशेखर** - पृ०१७७ -१८५
(१) काव्यमीमांसा
(२) बिद्धसालभञ्जिका
(३) कर्पूरमञ्जरी
(४) बालरामायण
(५) बालभारत

३३. रामचन्द्र-गुणचन्द्र पृ०२७३ -२७७
(१) नाट्यदर्पण

(२) कौमुदीमित्रानन्दप्रकरण
(३) नलविलासनाटक
(४) निर्भयभीमव्यायोग
(५) मल्लिकामकरन्दप्रकरण
(६) यादवाभ्युदयनाटक
(७) रघुविलासनाटक
(८) राघवाभ्युदयनाटक
(९) रोहिणीमृगाङ्कप्रकरण
(१०) वनमालानाटिका
(११) सत्यहरिश्चन्द्रनाटक
(१२) सुधाकलशनाटक

३४. **रुद्रट** - पृ० १३९ -१४६

(१) काव्यालङ्कार

काव्यालङ्कार की टीकायें

(१) रुद्रटालङ्कार - बल्लभदेव
(२) नेमिसाधुकृत टीका
(३) आशाधरभट्टकृत टीका

३५. **रुद्रभट्ट** पृ० १४७ -१५०

(१) शृङ्गारतिलक

शृङ्गारतिलक की टीका

(१) रसतरङ्गिणी - गोपाल भट्ट

३६. **रुय्यक** - पृ० २३६ -२४९

(१) अलङ्कारसर्वस्व
(२) काव्यप्रकाशसङ्केत टीका
(३) सहृदयलीला
(४) नाटकमीमांसा
(५) व्यक्तिविवेकविचार
(६) हर्षचरितवार्तिक
(७) साहित्यमीमांसा
(८) श्रीकण्ठस्तव
(९) अलङ्कारानुसारिणी
(१०) अलङ्कारमञ्जरी
(११) अलङ्कारवार्तिकम्

अलङ्कारसर्वस्व की टीकायें

(१) राजानक अलककृत टीका
(२) विवरणटीका - समुद्रबन्ध
(३) सञ्जीवनीटीका - विद्याधरचक्रवर्ती
(४) अलङ्कारविमर्शिणी - जयरथ

३७. **रूपगोस्वामी** पृ० ३३०- ३३५

(क) काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ -

(१) नाटकचन्द्रिका
(२) भक्तिरसामृतसिन्धु
(३) उज्ज्वलनीलमणि

(ख) रूपक -

(४) दानकेलिकौमुदी
(५) ललितमाधव
(६) विदग्धमाधव

(ग) खण्डकाव्य -

(७) हंसदूत
(८) उद्धवसन्देश

(घ) अन्य कृतियां -

(९) लघुभागवतामृत
(१०) पद्यावली
(११) स्तवमाला
(१२) उत्कलिकामञ्जरी
(१३) आनन्दमहोदधि
(१४) मथुरामहिमा
(१५) गोविंन्दविरुदावली
(१६) मुकुन्दमुक्तावली
(१७) अष्टादश छन्द
(१८) गौराङ्गस्तवकल्पतरु
(१९) कुसुमस्तबक
(२०) यमुनास्तोत्र
(२१) चतु:पुष्पाञ्जलिस्तव

उज्ज्वलनीलमणि की टीकायें

(१) लोचनारोचनी - जीवगोस्वामी
(२) आनन्दचन्द्रिका - विश्वनाथ चक्रवर्ती

३८. वाग्भट प्रथम पृ० २५३ - २५६

(१) वाग्भटालङ्कार (काव्यालङ्कार)

वाग्भटालङ्कार की टीकायें -

(१) जिनवर्धमानसूरिकृत टीका
(२) सिंहदेवगणिकृत टीका
(३) समासान्वयटिप्पणी - क्षेमहंसगणि
(४) विवरणटीका - गणेश
(५) राजहंसोपाध्यायकृत टीका
(६) समयसुन्दरकृत टीका
(७) अवचूरि टीका
(८) कृष्णशर्मकृत टीका
(९) ज्ञानप्रमोदिका
(१०) वामनाचार्य ज्ञानप्रमोदगणिकृत टीका

३९. **वाग्भट द्वितीय** - पृ० २५७ - २५९

(१) काव्यानुशासन

काव्यानुशासन की टीका

(१) शृङ्गारतिलकवृत्ति

४०. **वामन** - पृ० १३२ - १३८

(१) काव्यालङ्कारसूत्र
(२) काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति की टीकायें

(१) सहदेवकृतटीका
(२) कामधेनुटीका - योगेन्द्र तिप्पभूपाल
(३) भट्टगोपालकृत टीका
(४) महेश्वरकृत टीका

४१. **विद्याधर** - पृ० २८३ - २८५

(१) एकावली
(२) केलिरहस्य

एकावली की टीका

(१) सरला टीका - मल्लिनाथ

४२. विद्यानाथ पृ०२८६ -२८७

(१) प्रतापरुद्रयशोभूषण

प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीकायें

(१) रत्नापण टीका - कुमारस्वामी

(२) रत्नशाण टीका

४३. विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार पृ० ७९ - ८४

(१) विष्णुधर्मोत्तरपुराण

४४. विश्वनाथ कविराज - पृ०२८८ -२९८

(१) साहित्यदर्पण

(२) काव्यप्रकाशदर्पण

(३) राघवविलासमहाकाव्य

(४) कुवलयाश्वचरित

(५) प्रभावतीपरिणय

(६) चन्द्रकलानाटिका

(७) प्रशस्तिरत्नावली

(८) नसिंहविजय

साहित्यदर्पण की टीकायें -

(१) लोचन टीका - अनन्तदास

(२) विवृति टीका - रामचरण तर्कवागीश

(३) टिप्पणी टीका - मथुरानाथ शुक्ल

(४) प्रभा टीका - गोपीनाथ

(५) विज्ञप्रिया - महेश्वर भट्ट

४५. विश्वनाथदेव - पृ०३२३ -३२९

(१) साहित्यसुधासिन्धु

(२) मृगाङ्कलेखा

(३) चित्रमीमांसा

४६. विश्वेश्वर कविचन्द्र पृ० ३०८ -३१४

(१) आनन्दकोशप्रहसन

(२) करुणाकन्दल

(३) अभिराममराघव

(४) वीरनाद
(५) वीरभद्रविजृम्भण
(६) महेश्वरानन्द
(७) अमोघराघव
(८) कन्दर्पसम्भव
(९) रत्नपञ्चालिका
(१०) चमत्कारचन्द्रिका

४७. **विश्वेश्वर पाण्डेय** - पृ० ३६४ - ३६८

(१) अलङ्कारकौस्तुभ
(२) अलङ्कारमुक्तावली
(३) आर्यासप्तशती
(४) कवीन्द्रकण्ठाभरण
(५) काव्यतिलक
(६) काव्यरत्न
(७) तर्ककुतूहल
(८) दीधितिप्रवेश
(९) नवमालिका
(१०) नैषधीयकाव्यटीका
(११) मन्दारमञ्जरी
(१२) रसचन्द्रिका
(१३) रसमञ्जरी
(१४) रोमावलीशतक
(१५) लक्ष्मीविलास
(१६) वक्षोज:शतक
(१७) शृङ्गारमञ्जरीसट्टक
(१८) षड्ऋतुवर्णन
(१९) सिद्धान्तसुधानिधि (वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधि)
(२०) होलिकाशतक
(२१) कुछ तान्त्रिक ग्रन्थ

४८. **शारदातनय** पृ० ३०२ - ३०४

(१) भावप्रकाशन

४९. **सागरनन्दी** पृ० २५० - २५२

(१) नाटकलक्षणरत्नकोष

५०. **सिंहभूपाल** पृ० ३०५ - ३०७

(१) रसार्णवसुधाकर

(२) सङ्गीतसुधाकर

५१. **हेमचन्द्र** - पृ० २६० - २६३

(१) काव्यानुशासन

(२) अनेकार्थकोष

(३) अनेकार्थशेष

(४) अभिधानचूडामणि

(५) अलङ्कारचूडामणि

(६) उणादिसूत्रवृत्ति

(७) छन्दोऽनुशासन

(८) धातुपारायण

(९) छन्दोऽनुशासनवृत्ति

(१०) देशीनाममाला

(११) द्व्याश्रयकाव्य

(१२) धातुपाठ

(१३) धातुमाला

(१४) नाममाला

(१५) नाममालाशेष

(१६) निघण्टुशेष

(१७) प्रमाणमीमांसा

(१८) बालभाषाव्याकरणसूत्रवृत्ति

(१९) बलाबलसूत्रबृहद्वृत्ति

(२०) योगशास्त्र

(२१) विभ्रमसूत्र

(२२) लिङ्गानुशासन

(२३) शेषसङ्ग्रह

(२४) शेषसङ्ग्रहसारोद्धार

काव्यानुशासन की टीकायें

(१) अलङ्कारचूडामणि

(२) विवेक टीका

परिशिष्ट-२

उद्धृत कारिकाओं की अनुक्रमणिका

परिशिष्टम्–३

उद्धृत गद्यांशों की अनुक्रमणिका

परिशिष्ट् - ४

उद्धृत उदाहरणों की अनुक्रमणिका

परिशिष्ट - ५

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

अग्निपुराण

अथर्ववेदः

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

अभिधामातृकावृत्तिः

अभिनवभारतीटीका

अम्बिकादत्त व्यास - एक अध्ययन (डा० कृष्णकुमार)

अर्थशास्त्र (चाणक्यः)

अलङ्कारकौस्तुभ (कर्णपूरः)

अलङ्कारकौस्तुभ (विश्वेश्वरः)

अलङ्कारतिलक

अलङ्कारमुक्तावली

अलङ्कारशेखर

अलङ्कारसर्वस्व

अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिणी

अलङ्कारसारसंग्रह

अवन्तिसुन्दरीकथा

अष्टाध्यायी (पाणिनिः)

आपस्तम्बधर्मसूत्र

आसफविलास

इण्डियन एन्टीकिटीज

उज्ज्वलनीलमणि

उत्तररामचरित

ऋग्वेद

एकावली

एन इन्ट्रोडक्शन टु डी स्टडी ऑफ लिटरेचर (हडसन)

एपिग्राफिका इण्डिका

ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर (विन्टरनिट्ज)

ऐहोल शिलालेखः

औचित्यविचारचर्चा

कठोपनिषद्

कर्पूमञ्जरी

कविकण्ठाभरण

कविकल्पलता

कामसूत्र

कारिकादीपिका

काव्यकल्पलता

काव्यकल्पलतावृत्ति

काव्यचन्द्रिका

काव्यप्रकाश

काव्यप्रकाशसङ्केत

काव्यमञ्जरी

काव्यमीमांसा

काव्यादर्श

काव्यादर्शप्रकाश

काव्यानुशासन (वाग्भट द्वितीय)

काव्यानुशासन (हेमचन्द्र)

काव्यालङ्कार (भामह)

काव्यालङ्कार (रुद्रट)

काव्यालङ्कार (वाग्भट प्रथम)

काव्यालङ्ारसारसंग्रह

काव्यालङ्कारसूत्र

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति
काशिकावृत्ति
कुट्टनीमत
कुमायूं का इतिहास
कुमारसम्भव
कुवलयानन्द
कोविदानन्द
गीतगोविन्द
चन्द्रकला नाटिका
चन्द्रालोक
चमत्कारचन्द्रिका
चान्द्रव्याकरण
चित्रमीमांसा
छान्दोग्योपनिषद्
जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी
जर्नल ऑफ रायल ओरियन्टल सोसाइटी
तन्त्रालोक
तिरुमलई श्रीवेङ्कटेश्वर जर्नल
तिलकमञ्जरी
तैत्तिरीयोपनिषद्
त्रिवेणिका
दशकुमारचरित
दशरूपक
दशरूपक - अवलोकटीका
दशावतारचरित
दानसागर
देवीशतक
ध्वन्यालोक
ध्वन्यालोक लोचनटीका
नञ्जराजयशोभूषण
नम्बर ऑफ रसाज (वी० राघवन)
नलचरितनाटक
नवसाहसाङ्कचरित
नाटकचन्द्रिका
नाटकलक्षणरत्नकोष
नाट्यदर्पण
नाट्यशास्त्र (भरत)
नाट्यशास्त्र (अभिनवभारतीटीका)
निरुक्त
नैषधीयचरित
न्यायमञ्जरी
परमलघुमंजूषा
प्रतापरुद्रयशोभूषण
प्रसन्नराघव
बालभारत
बालरामायण
बृहदारण्यकोपनिषद्
भक्तिरसामृतसिन्धु
भट्टिकाव्य (रावणवध)
भण्डारकर कृत संस्कृत पुस्तकों की खोज
भारतीय साहित्यशास्त्र (बलदेव उपाध्याय)
भावप्रकाशन
भृङ्गदूत
भोजप्रबन्ध
मत्स्यपुराण
मनुस्मृति
मन्दारमञ्जरी
मन्दारमन्दचम्पू
महाभारत
महाभाष्य
महावीरचरित
मालतीमाधव
मालिनीविजयवार्तिक

मुण्डकोपनिषद्
मृच्छकटिक
यजुर्वेद
यशस्तिलकचम्पू
याज्ञवल्क्यस्मृति
रसगङ्गाधर
रसतरङ्गिणी
रामायण (वाल्मीकि)
रावणवध
वक्रोक्तिजीवित
वाक्यपदीय
वाग्भटालङ्कार
विक्रमाङ्कदेवचरित
विक्रमोर्वशीय
विष्णुपुराण
विष्णुधर्मोत्तरपुराण
वृत्तरत्नाकर
वृत्तिवार्तिक
व्यक्तिविवेक
शङ्करजय
शतपथब्राह्मण
शाङ्र्गधरपद्धति
शिवलीलार्णव
शिशुपालवधं
श्रीकण्ठचरित
श्लोकवार्तिक
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (पी.वी. काणे)
संस्कृत पाण्डुलिपियों की सूची
संस्कृत साहित्य का इतिहास
सङ्गीतरत्नाकर
सङ्गीतसुधाकर
सम कान्सेप्ट्स ऑफ अलङ्कारशास्त्र (वी.राघवन)
सर राल्फ टरनर अभिनन्दन ग्रन्थ
सरस्वतीकण्ठाभरण
सामवेद
साहित्यकौमुदी
साहित्यदर्पण
साहित्यसार
साहित्यसुधासिन्धु
साहित्यानुशीलन (राकेश गुप्त)
सियादोनी शिलालेख
सुभाषितरत्नभाण्डागार
सुभाषितहारावली
सुवृत्ततिलक
सूक्तिमुक्तावली
स्कन्दपुराण
हर्षचरित
हिन्दी अलङ्कारसर्वस्व (रेवाप्रसाद द्विवेदी)
हिन्दी साहित्य कोश
हिप्दी साहित्यदर्पण (सत्यव्रतसिंह)
हिस्ट्री ऑफ तिरहुत
हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स

काव्यशास्त्रविमर्श

डा० कृष्णकुमार का संक्षिप्त परिचय

जन्मतिथि - १० फरवरी १९२५

जन्मस्थान - मुरादाबाद, उत्तरप्रदेश

परिवार -

डा० कृष्णकुमार के आदरणीय पिता स्व० श्री भूषणशरण मुरादाबाद नगर के सम्भ्रान्त अग्रवाल परिवार के थे। सार्वजनिक सेवा में संलग्न रह कर उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में कृष्णमन्दिर को भी सुशोभित किया। लेखक के बड़े भाई श्री राजकुमार ने भी स्वतन्त्रता संग्राम में जेल यात्रा की। माता श्रीमती रामप्यारी धार्मिक प्रवृत्ति की गृहिणी थीं। श्रीमान् भूषणशरण जी ने अपने जीवन काल में ही इस भारत भूमि की स्वतन्त्रता के सुख का अनुभव करके १० अक्टूबर १९४८ में विधि के विधान का पालन करते हुये स्वर्गलोक के लिये प्रयाण कर दिया।

डा० कृष्णकुमार ने बीसलपुर निवासिनी श्रीमती दमयन्ती देवी को अपनी जीवनसंगिनी बनाया। इनके तीन पुत्र - प्रदीपकुमार, आलोककुमार और मयंककुमार तथा एक पुत्री मंजुलाकुमारी हुये।

शिक्षा -

भारतीय स्वतन्त्रता के अनुरागी श्री भूषणशरण ने अपने पुत्र कृष्णकुमार को सरकारी विद्यालय से उठा कर सन् १९३१ में राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में प्रविष्ट कराया। यहां से प्रथम श्रेणी में स्नातक उपाधि ग्रहण करके (१९४५)इन्होंने प्रथम श्रेणी में ही एम.ए (संस्कृत) उत्तीर्ण कर (१९५५) पी-एच.डी (१९६४) और डी.लिट् (१९८१) उपाधियां प्राप्त कीं। आपकी यह शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, आगरा विश्वविद्यालय, संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी और गढवाल विश्वविद्यालय में हुई।

अध्यापन -

डा० कृष्णकुमार के अध्यापन के कार्यस्थल रहे - गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, सनातन धर्म कालेज मुजफ्फरनगर, उत्तरप्रदेश के विभिन्न राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय और गढवाल विश्वविद्यालय। १९८५ में गढवाल विश्वविद्यालय से संस्कृत विभागाध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त होकर विद्यानुरागी आपने संस्कृत के प्राचीन केन्द्र हरिद्वार को ही सरस्वती- साधना का केन्द्र बना कर स्वयं को लेखन, अध्यापन और शोध में ही समर्पित कर दिया।

शोध एवं अन्य प्रशासनिक कार्य -

लगभग ३० वर्षों तक प्रवक्ता, विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय में संस्कृत के संयोजक, अकादमिक काउन्सिल के सदस्य, समय समय पर प्रधानाचार्य पद, विभिन्न संस्थाओं का निरीक्षण, परीक्षा आदि कार्यों का कार्यभार आदि के अतिरिक्त निम्न अकादमिक तथा शोध कार्य -

(१) लगभग ६० शोध छात्रों को शोध निर्देशन और १०० से भी अधिक शोध परीक्षण

(२) १०० के लगभग शोध-लेख तथा रेडियो वार्तायें।

शोध योजनायें -

(१) केदारखण्ड पुराण का सम्पादन, अनुवाद और विवेचनात्मक अध्ययन

(२) संस्कृत रूपकों में जन्तुओं और वनस्पतियों की स्थिति

(३) प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास

(४) प्राचीन भारत की राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्थायें

(५) प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति

(६) गढवाल के प्राचीन अभिलेख और उनका ऐतिहासिक महत्त्व

लेखन -

विभिन्न विषयों पर निम्न ग्रन्थ प्रकाशित हैं -

(क) प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास -

(१) भारतीय संस्कृति के आधार तत्त्व

(२) वैदिक साहित्य का इतिहास

(३) संस्कृत साहित्य का इतिहास

(४) गढवाल के प्रमुख तीर्थ

(५) गढवाल के संस्कृत अभिलेख

(६) गढवाल के प्राचीन अभिलेख और उनका ऐतिहासिक महत्त्व

(७) प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास

(८) प्राचीन भारत की राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्थायें

(ख) समालोचनात्मक ग्रन्थ -

(९) पं० अम्बिकादत्त व्यास - एक अध्ययन

(१०) संस्कृत-नाटक-सूक्ति-तरंगिणी

(११) संस्कृत नाटकों का भौगोलिक परिवेश

(१२) संस्कृत नाटकों का वानस्पतिक पर्यावरण

(१३) संस्कृत नाटकों का जीव-जगत्

(ग) अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ -

(१४) अलंकारशास्त्र का इतिहास

(१५) ध्वन्यालोक व्याख्या

(१६) छन्दोऽलंकारप्रकाश

(१७) काव्यशास्त्रविमर्शः (संस्कृत)

(१८) काव्यशास्त्रविमर्श (हिन्दी)

(घ) वैदिक साहित्य -

(१९) वैदिक साहित्य का इतिहास

(२०) ऋक्सूक्तसंग्रह

(२३) वैदिकसूक्तसंग्रह

(२१) ऋक्सूक्तसुधाकर

(२२) चतुर्वेदसूक्तसुधाकर

(ङ) काव्य-व्याख्या-ग्रन्थ -

(२४) अभिज्ञानशाकुन्तलम्

(२५) प्रियदर्शिका नाटिका

(२६) प्रतिमा नाटक

(२७) रघुवंशम्

(२८) किरातार्जुनीयम्

(२९) शिवराजविजय

(३०) कुन्दमाला

(३१) कुसुमलक्ष्मी

(३२) हर्षचरितम्

(च) काव्यानुवाद -

(३३) मेघदूतानुशीलनम्

(३४) चौरपञ्चाशिका

(छ) ग्रन्थविवरणी -

(३५) संस्कृत पाण्डुलिपियों की ग्रन्थविवरणी भाग १

(३६) संस्कृत पाण्डुलिपियों की ग्रन्थविवरणी भाग २

(३७) संस्कृत पाण्डुलिपियों की ग्रन्थविवरणी भाग ३

(ज) पुराण -

(३८) केदारखण्ड पुराण - प्रथम खण्ड

(३९) केदारखण्ड पुराण - द्वितीय खण्ड

(४०) केदारखण्ड पुराण - तृतीय खण्ड

(४१) केदारखण्ड पुराण - चतुर्थ खण्ड

(झ) मौलिक संस्कृत काव्यरचना -

(४२) उदयनचरितम् (संस्कृत उपन्यास)

(४३) तपोवनवासिनी (संस्कृत उपन्यास)

(४४) विधिपौरुषम् (संस्कृत उपन्यास)

(४५) अस्ति-कश्चिद्-वागर्थीयम् (संस्कृत नाटक)

(ञ) हिन्दी कथा साहित्य -

(४६) प्राचीन कथायें

(४७) तपोवनवासिनी

(४८) भाग्य और पुरुषार्थ

(४९) वत्सराज उदयन

(ट) चिकित्साग्रन्थ -

(५०) विषविज्ञान

(५१) पोषण के लिये खनिज और विटामिन

(५२) अन्तःस्रावी ग्रन्थियां -

प्रकाशनार्थ पाण्डुलिपियां -

(१) वाल्मीकि-रामायण (सम्पादन और अनुवाद)

(२) केदारखण्ड प्रदेश के तीर्थ-स्थल और तीर्थयात्रा

(३) प्राचीन भारत की न्याय-व्यवस्था

(४) विषैली वनस्पतियां

(५) प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति

पुरस्कार -

डा० कृष्णकुमार को अपने लेखन तथा संस्कृत-सेवा कार्यों के लिये अनेक पुरस्कार मिले हैं। इनमें निम्न मुख्य हैं -

(क) उ०प्र० संस्कृत संस्थान -

विशिष्ट पुरस्कार। (२) बाण भट्ट पुरस्कार - तपोवनवासिनी। व्यास पुरस्कार - विधिपौरुषम्। संस्कृत उपन्यास प्रतियोगिता - प्रथम पुरस्कार उदयनचरितम्। संस्कृत नाटकों का जीवजगत्।

(ख) उ०प्र० हिन्दी संस्थान -

विषविज्ञान। गढवाल के प्राचीन अभिलेख।

(ग) संस्कृत अकादमी दिल्ली -

नाटक लेखन प्रथम पुरस्कार - अस्ति-कश्चिद्-वाग्विशेषः। तपोवनवासिनी।

....